

Year-64, Volume-1
January-March 2011

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKĀNTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक- रुपये 20/- वार्षिक- रु. 80/-

This issue- Rs. 20/- Yearly- Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

मुनिवर-स्तुति

वे मुनिवर कब मिलि हैं ? उपकारी ।

साधु दिगम्बर, नगन निरम्बर,
संवर भूषण धारी।
वे मुनिवर कब मिलि हैं उपकारी।
कंचन कांच बराबर जिनके
ज्यों रिपु त्यों हितकारी,
महल, मसान, मरण अरु जीवन
सम गरिमा अरु गांरी।
वे मुनिवर कब मिलि हैं उपकारी।
सम्यग्ज्ञान प्रधान पवन बल
तप पावक परजारी,
शोधत जीव सुवर्ण सदा जो,
काय-कारिमा टारी।
वे मुनिवर कब मिलि हैं उपकारी।
जो युगल कर भूधर विनवे
तिन पद धोक हमारी
भाग उदय दरसन जब पाऊँ
ता दिन की बलिहारी।
वे मुनिवर कब मिलि हैं उपकारी।

- पं.भूधरदास जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
मुनिवर-स्तुति	- पं. भूधरदास जी	3
विषयानुक्रमणिका	-	4
1. संपादकीय -	- जयकुमार जैन	5-6
2. जिनेन्द्र का लघुनन्दन- श्रावक	- जमनालाल जैन	7-14
3. धर्मस्वरूप गतांक से आगे	- प्रो. उदयचन्द जैन	15-19
4. आर्यिकाओं की आचार पद्धति	- प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'	20-28
5. जैनपरम्परा का श्रावकाचारः आधुनिक संदर्भ में	- डॉ. कमलेश कुमार जैन	29-36
6. प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था	- डॉ. मुक्ता बंसल एवं डॉ. मुकेश कुमार	37-46
7. वेदान्त और स्वरूपसम्बोधन परिशीलन	- डॉ. जयकुमार जैन	47-51
8. जैन धर्मः करुणा की एक अजस्र धारा	- श्री सुमत प्रसाद जैन	52-62
9. विष्णुपुराण में जैनधर्म	- डॉ. रमेशचन्द जैन	63-66
11. पूजा में मंत्रों की उपादेयता	- डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन	67-72
12. भरत चक्रवर्ती प्रवर्तित विद्यासंस्कार	- प्रो. हीरालाल पांडे	73-80
13. देवलोकः कौन उपास्य कौन अनुपास्य	- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	81-88
14. तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य विमर्श	- आलोक कुमार जैन	89-96

संपादकीय

हार्दिक श्रद्धाञ्जलि

जैन समाज के सूक्ष्म तत्त्वों को समुद्घाटित करने में सतत संलग्न, व्यवहार में वज्र से भी कठोर किन्तु स्वभाव में कुसुम से भी अधिक सुकुमार श्री पं. पद्मचन्द्र जैन शास्त्री जी का 2 जनवरी 2007 (1 जनवरी 2007 की मध्यरात्रि) में अवसान हो गया था। वे वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित अनेकान्त के पर्याय के रूप में विख्यात थे। उनकी स्पष्ट अवधारणा थी कि जैन धर्म का मूल अपरिग्रहवाद है। जब तक समाज परिग्रह की खाई से नहीं उबरता है, तब तक वह धर्म के मर्म को नहीं समझ सकता है। चाहे कोई साधारण गृहस्थ हो, प्रतिमाधारी श्रावक हो या साधु परमेष्ठी हो, उन्होंने कभी भी उनके भय से सिद्धान्त से समझौता नहीं किया। प्राकृत भाषा के तो विशिष्ट अध्येता विद्वान् थे। मैंने जनवरी 2000 से उनके आदेश से अनेकान्त का संपादन दायित्व सम्हाला था। संपादनकाल में 7 वर्ष तक मुझे उनका आशीर्वाद/ परामर्श सतत मिलता रहा। आज विगत चार वर्ष से वे हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु अब भी मैं जब भी किसी तरह की उलझन में होता हूँ, तो उनके वचनों को अपनी स्मृति में सदा पाता हूँ। उनकी पुण्यतिथि पर नम नेत्रों से, मैं समादरणीय पण्डित जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि इस दीपस्तंभ की स्मृति से मैं उनके मार्ग के अनुकरण का जो प्रयास कर रहा हूँ, उसमें मुझे सफलता मिलेगी।

प्राकृत भाषा के विकास में भारत सरकार का सहयोग

राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) मानव संसाधन विकास मंत्रालय भारत सरकार के अधीनस्थ एक संस्कृत भाषा का उत्कृष्ट संस्थान है। इसके जयपुर परिसर में प्राकृत भाषा विषयक अनेक शोध परियोजनायें गतिशील हैं। माननीय कुलपति प्रो. राधाबल्लभ त्रिपाठी द्वारा मनोनीत विशेषज्ञ के रूप में मुझे समस्या समाधान एवं सुझाव/ निर्देश हेतु 17 जनवरी से 23 जनवरी तक वहाँ समस्या समाधान करने का अवसर मिला। प्राचार्य प्रो. अर्कनाथ चौधरी तथा प्राकृत अध्ययन शोध-केन्द्र के विकास अधिकारी डॉ. धर्मेन्द्र जैन का मधुर एवं समर्पित व्यवहार अनुकरणीय है। यदि जैन समाज प्रयत्नशील होकर माननीय कुलपति जी से संपर्क/ निवेदन करे तो यह प्राकृत अध्ययन शोध केन्द्र स्थायी हो सकेगा तथा अन्य परिसरों में भी प्राकृत अध्ययन की व्यवस्था हो सकेगी। प्रो. दामोदर शास्त्री जी भी प्राकृत के विकास के लिए सतत प्रयासशील हैं। इसी क्रम में 14-16 मार्च 2011 को लखनऊ परिसर में भी जाने का अवसर मिला। प्राचार्य प्रो. सुरेन्द्र कुमार झा, प्रोफेसर विजय कुमार जैन एवं डॉ. राका जैन के आत्मीय व्यवहार की जितनी प्रशंसा की जाये, वह कम है।

पं. चैनसुखदास स्मृति व्याख्यान माला

प्राचार्य प्रोफेसर (डॉ.) शीतलचन्द्र जैन शास्त्री के आमंत्रण पर मुझे रविवार 23 जनवरी 2011 को श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय जयपुर द्वारा आयोजित पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति व्याख्यानमाला में 'श्रमण और वैदिक संस्कृति का तुलनात्मक विश्लेषण' विषय पर व्याख्यान का अवसर मिला। इसकी अध्यक्षता जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाड़नू की कुलपति प्रोफेसर समणी चारित्रप्रज्ञा ने की थी। उनके साथ मेरे मित्र डॉ. जिनेन्द्र जैन भी उपस्थित थे। जयपुर के विशिष्ट बुद्धिजीवियों एवं श्रमण संस्कृति संस्थान के छात्रों के बीच मैंने अनुभव किया कि यदि विविध संस्कृतियों की समानता के पक्ष को उजागर किया जाये तो समाज में सौमनस्य का वातावरण बनेगा तथा इससे देश का बहुमुखी विकास हो सकेगा। प्रो. समणी चारित्रप्रज्ञा ने जैन धर्म के सभी संप्रदायों में सामाजिक ऐक्य एवं सौमनस्य पर बल दिया।

एक आदर्श पंचकल्याणक

4 फरवरी से 10 फरवरी 2011 तक श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र वहलना (मुजफ्फरनगर) में परमपूज्य उपाध्याय श्री नयनसागर जी महाराज के पावन सान्निध्य में उन्हीं की पावन प्रेरणा से निर्मित 31 फीट उत्तुंग पार्श्वनाथ भगवान् के जिनबिम्ब का पंचकल्याणक महोत्सव संपन्न हुआ। इस अवसर पर मुनिवर श्री वैराग्य सागर जी की भी मंगल उपस्थिति रही। इस आयोजन में प्रशासन का प्रशंसनीय सहयोग मिला। विशेषरूप से डॉ. चन्द्रभूषण त्रिपाठी, नगर मजिस्ट्रेट तथा उनकी अधीगिनी डॉ. अंजना त्रिपाठी ने जो सहयोग प्रदान किया उसे शब्दों की सीमा में बाँधना संभव नहीं है। वे लगभग प्रतिदिन स्वयं उपस्थित रहे। जिलाधिकारी महोदय ने कहा कि 40-50 हजार की भीड़ वाली जन्मकल्याणक की शोभायात्रा जिस संयम से चली, वह जैन समाज के लोगों में ही संभव है। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा समिति को श्री शांतिनाथ युवा संघ, मुनीम कालोनी, मुजफ्फरनगर के स्वयंसेवकों ने जो अभूतपूर्व सहयोग दिया, वह न केवल काबिले तारीफ है, अपितु अनुकरणीय एवं पुरस्करणीय भी है। मैंने अपने जीवन में इतना अच्छा सुव्यवस्थित पंचकल्याणक महोत्सव न तो देखा है और न सुना है। मैं क्षेत्र के सभी पदाधिकारियों, संयोजक श्री राजकुमार जैन नावला वाले एवं संचालक श्री रवीन्द्र कुमार जैन वहलना वाले और श्री पुनीत जैन को हार्दिक धन्यवाद देना अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ।

- जयकुमार जैन

जिनेन्द्र का लघुनन्दन- श्रावक

- जमनालाल जैन

‘श्रावक’ शब्द सामान्य ‘गृहस्थ’ शब्द से ऊँचा, अर्थ-गम्भीर और भावपूर्ण है। श्रावक शब्द का अर्थ शिष्य या सुनने वाला भी है। जैन और बौद्ध परंपरा के अनुसार ‘श्रावक’ वह है जो सद्धर्म पर श्रद्धा रखता है, गृहस्थोचित व्रत या दायित्वों का निष्ठापूर्वक पालन करता है, पाप-क्रियाओं से दूर रहता है और अपनी सीमा में आत्म-कल्याण के पथ पर चलते हुए श्रमणों या भिक्षुओं की उपासना करता है- उनके आत्मकल्याण में सहायक होता है; विवेकी और क्रियावान् होता है। कविवर बनारसीदास ने श्रावक को ‘जिनेन्द्र का लघुनन्दन’ कहकर उसे गौरव के शिखर पर चढ़ा दिया है। ऐसा सम्यग्दृष्टिसंपन्न श्रावक गृहस्थ होते हुए भी संसार-प्रपंच में लिप्त नहीं होता-‘गेही पै गृह में न रचै ज्यों जलतैं भिन्न कमल है’। श्रावक अर्थात् सम्यक् श्रवण करने वाला, प्राणों से श्रवण करने वाला, समग्र चेतना से श्रवण करने वाला।

काल-प्रवाह के थपेड़े खाते-खाते आज श्रावक शब्द का अर्थ-गौरव भले ही खो गया हो, लेकिन तब भी वह शुचिर्भूत, शालीन, पवित्र, सरस, प्रतीतिपूर्ण निर्भय, निरामय, स्फटिकवत् निर्मल-स्वच्छ जीवन का कीर्तिकेश है। तीर्थंकरों के धर्मसंघ का संवाहक श्रावक ही होता है, वही धर्मरथ की धुरी होता है। परम श्रावकत्व की पराकाष्ठा तक पहुंचे बिना मुनिधर्म के तपोमार्ग पर आरोहण संभव ही नहीं है। मुनि की प्रतिष्ठा का आधार श्रावक ही है।

जैन-आगम नाम से प्रसिद्ध प्राचीनतम प्राकृत वाङ्मय में श्रमण या अनगारधर्म का ही वर्णन विशेष रूप से मिलता है। बड़े-बड़े सम्राटों तथा श्रेष्ठि-पुत्रों ने ही नहीं, अतिमुक्तक जैसे छोटे-छोटे बालकों या किशोरों ने भी सीधे श्रमण-धर्म की दीक्षा लेकर तपस्या की और मुक्ति प्राप्त की। उपासकदशांग जैसे एकाध ग्रंथ में उपासकों के व्रती-जीवन का वर्णन अवश्य मिलता है; किन्तु प्रायः सारा आगम-वाङ्मय श्रमण-जीवन अंगीकार करने वालों की कथाओं से भरा है। आगमयुग के पश्चात्तर्वती काल में ही श्रावकाचार-प्रतिपादक ग्रंथों की रचना की ओर आचार्यों का ध्यान गया है। आगम-युग में और संभवतः भगवान् महावीर की दृष्टि में अनगारधर्म ही कर्ममुक्ति के लिए आवश्यक समझा गया था। बड़े-बड़े संपत्तिशाली गृहस्थपुत्र और राजपुत्र भरी जवानी में पाँच-पाँच सौ पत्नियों को बिलखती छोड़कर श्रमणपथ पर चल पड़ते हैं। और वैभव भी कैसा? भद्रापुत्र शालिभद्र की 32 पत्नियों ने बीस-बीस लाख स्वर्णमुद्राओं के रत्नकम्बल पैर पोंछकर यों फेंक दिया मानो पुछन्ना हो! धनलिप्त लोगों को वैभव के नशे से विरत करने के लिए सर्वस्व त्याग का मार्ग ही आवश्यक था। महावीर जिस प्रकार की सामाजिक या धार्मिक क्रान्ति का सपना

देख रहे थे, उसे साकार करने के लिए सुविधा का या यथाशक्ति त्याग का उपाय शायद यथेष्ट फलदायक नहीं था, क्योंकि विषमता चरम सीमा तक पहुंच गयी थी। हर क्षेत्र में विषमता थी, शोषण था और महावीर थे समता के प्रेरक। समाज में समता लाने के लिए वैभव की प्रतिष्ठा को नीचे उतारना आवश्यक था। अपहरण के द्वारा प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा महावीर ने अपरिग्रह द्वारा प्रतिष्ठित होने का मार्ग खोला और हम देखते हैं कि झुण्ड के झुण्ड लोग, युवक और युवतियाँ उनके श्रमणसंघ में शामिल होते हैं, श्रमण बनते हैं और घर-घर से भिक्षा लेकर समता की अलख जगाते हैं। क्रांति के संवाहक युवक ही होते हैं। जब-जब भी देश और समाज में किसी प्रकार की क्रांति-चेतना जगी है, तो उसकी मशाल युवकों के हाथों में रही है। महावीर की धर्मक्रान्ति का संचालन भी युवकों ने ही किया।

बाद में, ऐसे गृहत्यागी श्रमणों का समर्थ संघ बन जाने पर, यह आवश्यकता अनुभव होने लगी कि साधना का एक ऐसा मार्ग भी होना चाहिए जो सामान्य गृहस्थ के उपयुक्त हो और श्रमणधर्म का पूरक और संरक्षक भी हो। चूँकि श्रमणधर्म का पालन सामान्यतः कठिन होता है, अतः श्रावकधर्म का मध्यम अर्थात् अणुव्रत का मार्ग खुल गया। यह इसलिए भी आवश्यक था कि सामाजिक मर्यादाएँ तथा संतुलन बना रहे, स्वेच्छाचार पर नियंत्रण रहे, समाज में नैतिक वातावरण वृद्धिगंत हो और श्रमणों का संरक्षण भी हो।

श्रावक के आचार-धर्म को भले ही अणुव्रत का मार्ग कहा जाता हो, किन्तु वह श्रमण-धर्म से कम महत्त्व का कतई नहीं है। महाव्रत अंगीकार करके सर्वसंगपरित्यागी तथा अरण्यविहारी बनकर मुक्ति की साधना करने की अपेक्षा परिवार के बीच, समाज में रहकर अपने को संयत और लोककल्याणाभिमुख बनाने में अधिक पुरुषार्थ एवं तपस्या अपेक्षित है। ऐसे अणुव्रती या श्रावक को लोकसंग्रह भी करना पड़ता है, पारस्परिक सौहार्द भी जगाना पड़ता है, व्यक्तिगत तथा सामाजिक बुराइयों का सामना भी करना पड़ता है। वह 'कर्म' से विमुख नहीं हो सकता। निरन्तर व्यवहार निरत तथा लोक संपर्क में रहते हुए उसे मन, वचन और कायगत संयम रखना पड़ता है। पग-पग पर उसके सामने आकर्षण और प्रलोभन की फिसलन होती है, किन्तु उसे प्रतिपल सतर्क रहना पड़ता है। उसका जीवन वास्तव में सामूहिक साधना का कर्मक्षेत्र होता है। एक प्रकार से वह अपने गले में सर्पमाल धारण करके कर्मक्षेत्र में उतरता है। वह पलायनवादी नहीं होता। वह कर्दममय सांसारिकता में ही कमल की भाँति ऊपर उठता है। स्वामी समंतभद्र अपने समय में बड़ी क्रांतिकारी बात कह गये हैं कि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ उत्तम होता है। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो गृहस्थों का जो क्रीड़ाक्षेत्र है, वह मुनियों के लिए दुष्कर तपस्याभूमि है—मुनि उसमें अपने को सम्हाल ही नहीं सकते। आज तो आचार्य समन्तभद्र को भी उलटकर अपनी बात में संशोधन करके कहना पड़ता कि 'मुनि भले ही निर्मोही हो, लेकिन श्रेष्ठ तो अल्पांश मोही गृहस्थ ही माना जायेगा।' मानवधर्म का यथार्थ प्रतिनिधि वस्तुतः श्रावक ही है।

श्रावक के आधारभूत व्रत बारह कहे गये हैं। श्रावकाचार विषयक ग्रंथों में इन व्रतों की

पाँच-पाँच भावनाओं तथा पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन भी मिलता है। इन व्रतों का सांगोपांग या अल्पांश में दृढ़तापूर्वक पालन करने वालों की तथा चोरी-छिपे विकारवृत्ति के प्रलोभनवश इनका भंग करने वालों की दृष्टांत-कथाएँ भी उद्बोधन के लिए लिखी हुई मिलती हैं। मनुष्य ही नहीं, अपितु सिंह, हाथी, सर्प, भालू, बैल और वानर जैसे पशु तथा पक्षी भी धर्म का उपदेश सुनकर तथा जातिस्मरण होने के फलस्वरूप किसी एक व्रत के अर्थात् अहिंसा के किसी एक अंश का पालन करके, कष्ट सहन करके, प्राणत्याग करके सद्गति प्राप्त कर चुके हैं। अपने एक पैर के नीचे आश्रय लेने वाले खरगोश की प्राणरक्षा की अनुकम्पा भावना से प्रेरित हाथी का जीव सद्गति प्राप्त करता है और बाद में वह श्रेणिकपुत्र मेघकुमार के रूप में जन्म लेता है। महावीर का दंश करने वाले चंडकौशिक सर्प की कथा प्रसिद्ध ही है। आज भी परिवारों में परस्पर विरोधी वृत्ति के जानवर प्रेम करते हुए पाये जाते हैं। ये प्राणी बुद्धि में मनुष्य की अपेक्षा निम्नकोटि के माने जाते हैं, लेकिन इनका स्नेहपूर्ण बर्ताव और एक दूसरे के लिए त्याग देखकर मनुष्य गद्गद हो जाता है। कई बार ये मूक प्राणी मनुष्य के गुरु या मार्गदर्शक तक बन जाते हैं। ये नहीं जानते कि वे किस व्रत का किस अंश में पालन कर रहे हैं और उनकी क्या गति होगी? हाँ, स्नेह की, ममता की, करुणा की और पारस्परिकता की साधना मनुष्य के लिए महाकठिन है। श्रावक इसी महाकठिन साधना करने में जीवन को खपाता है।

व्रतों की संख्या का या उनकी शास्त्रीय परिभाषाओं का, सीमा-रेखा का महत्त्व सुविस्तृत एवं मार्गसूचक पट्टिकाएँ हैं कि मार्ग लम्बा है या कंटकाकीर्ण, सूना है या भयावना; लू-लपट वाला है या धूल-धक्कड़ से भरा है; ऊबड़-खाबड़ है या सीधा-समतल; टेढ़ा-मेढ़ा है या ऊँचा-नीचा। मनुष्य की शारीरिकशक्ति एवं सामर्थ्य की एक सीमा है। यह मनुष्य की विवेकशक्ति पर निर्भर है कि वह देश, काल, शक्ति, परिस्थिति देखकर पथ पर कितनी ऊँचाई तक जाने में समर्थ है। व्रत एक भी हो सकता है, बारह भी हो सकते हैं और बारह सौ भी हो सकते हैं। एक व्रत के अंश के अनन्त आयाम हो सकते हैं और प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग हो सकते हैं। जैनधर्म ने सदैव व्यक्तिस्वातन्त्र्य को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। मनुष्य का धर्म वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार का है। उसके पुरुषार्थ की सफलता इसी में है कि वह दोनों में संतुलन साधे। प्रवाहशील परंपरा में से अपनी उपयोगिता और आवश्यकतानुसार सारतत्त्व ग्रहण करके आगे बढ़ने में ही सार्थकता है।

यह विज्ञान और विकासशीलता का युग है। यों युग कभी अवैज्ञानिक नहीं रहा, समाज सदैव प्रगतिशील ही रहा है। फिर भी आज युग अन्तरिक्ष वैज्ञानिकता में प्रवेश कर गया है। मानव ने अपने से सहस्रों गुना शक्ति, यंत्रों में संचित करके समय और देहशक्ति की बचत करने में सफलता प्राप्त कर ली है। समाज का स्वरूप और नक्शा बड़ी तेजी से बदलता जा रहा है और यह बदलाव ही उसके विकास का द्योतक है। इस बदलाव से मनुष्य नित नूतनता प्राप्त करता है और जीर्ण-शीर्ण को उतारता-फेंकता चलता है। शास्त्र-निर्देशित विधान या परिभाषाएँ उसके समक्ष नये-नये परिवेश तथा नये-नये अर्थ में

प्रस्तुत होती हैं और इस तरह वह क्रियाजड़ता में न उलझकर प्रगति करता जाता है। व्रतों के परिपालन में जड़ता तभी आती है, जब व्रतों की लीक पीटी जाती है—लीक पिटती रह जाती है, जीवन आगे बढ़ चुका होता है। मक्षिका के स्थान पर मक्षिका तो मारकर ही रखी जा सकती है। जड़ शब्दों की पकड़ में गतिशीलता कहाँ?

व्रतपालन का विधान या संकेत या संख्या इसलिए नहीं है कि वैसा करने से मनुष्य को प्रतिष्ठा या स्वर्ग का ऐश्वर्य मिले। किसी भी प्रकार की कामना की आकांक्षा से व्रत का पालन करना भयजन्य पलायन है, समस्याओं से मुंह चुराना है और सदाचरण का, सामाजिक दायित्व का सौदा करना है—अपने को बेचने जैसा है। शक्ति और सामर्थ्य से हीन दासवृत्ति से भरा हुआ मनुष्य आदेशों का अक्षरशः पालन करके स्वामिभक्त या प्रिय पात्र बना रह सकता है और इस कला में वह अभ्यास द्वारा इतना निष्णात भी हो सकता है कि उसमें कोई गलती या चूक न हो— इतना यांत्रिक बन सकता है। लेकिन यही सबसे बड़ी आत्मबन्धना है। आत्मबन्धक या जड़ मनुष्य व्रतों का पालन बड़ी सावधानी तथा सतर्कतापूर्वक करते हैं। बार-बार वे शास्त्रों के प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। नैतिकता का, संयम का, धार्मिकता का मुखौटा लगाकर विचरने वाले ही ये लोग व्रतों से अपने बचाव के अनेक उपाय खोज लेते हैं। इस लोकव्यापी जड़ता में से ही दिखावा, छलावा और भुलावा **निपजता** है। नियमों तथा आदेशों का पालन तो सैनिक और कारखाने के मजदूर भी करते हैं, सर्कस के प्राणी भी करते हैं। लेकिन इसे आंतरिक विकास का प्रमाण नहीं कहा जा सकता। नियमों या व्रतों का अन्धानुकरण आकर्षक और चमत्कारिक हो सकता है, लेकिन उसमें स्वायत्त चेतना नहीं होती। श्रावक व्रतों का पालन व्रतों से ऊपर उठने के लिए करता है, अपने को माँजने के लिए करता है। व्रतातीत अवस्था ही मुक्ति है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा, संयम व तप रूप धर्म को 'उत्कृष्ट मंगल' कहा है। जिस व्यक्ति में इसका दर्शन होता है, उसे देवता भी नमन करते हैं। पाँच व्रतों को भी इन तीनों में समाहित किया जा सकता है। अचौर्य और अपरिग्रह संयम में आ जाते हैं, सत्य और ब्रह्मचर्य तप में और सबके सब अहिंसा में समा जाते हैं। अहिंसा पारम्परिक रूढ़ अर्थ में जीवदया या जीवरक्षण नहीं है। अहिंसाव्रती श्रावक के समक्ष अन्तर्मुखी जीवन की सहस्रविध धाराएँ नित्य नये रूपों में व्यक्त होती रहती हैं और सभी धाराएँ परस्पर विरोधी भी भासती हैं। वस्तुतः अहिंसा तो आत्मवत् सर्वभूतेषु का चरम उत्कर्ष है। इसमें सीमा और मर्यादा का, प्रमाण और अंश का, संकल्प और विकल्प का, कम और ज्यादा का, सुविधा और असुविधा का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो जीवन की प्रत्येक क्रिया अहिंसा से ओतप्रोत होगी। वही अभिव्यक्त होगी। क्रियाएँ या तो अहिंसक होती हैं या फिर हिंसक। आंशिक अहिंसा का व्रत लेकर कुछ क्रियाओं के करने में हिंसा की छूट लेना एक प्रकार से अपनी कमजोरी का बचाव करना है या अपनी वासना को छूट देना है। क्रिया मात्र में हिंसा मानकर अक्रियमाण होकर बैठ जाना भी अहिंसा का मजाक है। क्रिया का संबन्ध बाह्य से अधिक आंतरिक है। क्रियाशीलता के अभाव में अहिंसा की कल्पना तक नहीं की जा सकती। क्रियाशीलता ही अहिंसा की कसौटी है।

एक उदाहरण से हम अपनी बात स्पष्ट करें। एक आदमी को जोर की प्यास लगी है। वह ऐसे क्षेत्र में है जहां मीलों तक पानी का मिलना कठिन है। किसी तरह एक गिलास पानी का प्रबन्ध हो सका है। गिलास उसके हाथ में आ गया है और मुंह से लगाते-लगाते एक दूसरा प्यासा आ जाता है। वह गिलास उसे थमा दिया जाता है। इस क्रिया में अहिंसा, संयम और तप तीनों निहित हैं। तीनों की समवेत अनुभूति प्रथम प्यासे मनुष्य में अपार आनंद भर देती है। जब मनुष्य 'क्षेमं सर्वप्रजानां' की उदात्त भावना से जीने लगता है, तब उसमें अपने-पराये का भेद रह ही नहीं जाता है। उसका भोग भी योग बन जाता है, चलना ही परिक्रमा बन जाती है, शयन ही प्रणति बन जाती है, कर्म ही पूजा बन जाता है, श्रम-स्वेद ही अमृतरस बन जाता है। उसका वचन ही शास्त्र बन जाता है। संपूर्ण त्रिलोक उसी के रूपाकार में व्यक्त हो उठता है। उसका यही आनन्द धर्म उसे संसार-दुःख से उठाकर उत्तम सुख में अधिष्ठित करता है। यह उत्तम सुख न परलोक की वस्तु है, न क्रय की जाने वाली चीज। इसलिए श्रावक के लिए कहा जाता है कि वह निरंतर श्रवण करता रहता है-पांचों इंद्रियों की क्षमता का संयमपूर्वक सम्यक् उपयोग करता है, उन्हें साम्ययोग में एकाकार कर देता है, न उनको बहकने देता है, न उनको बांधकर रखता है। उसकी लोकाभिमुख, फिर भी योगनिष्ठ समग्रता निरंतर अप्रमाद में, रमणीयता में, सरसता में हिलोरें मारती रहती है, प्रेम का अथाह सागर इसमें गंभीर ध्वनि गर्जन करता रहता है। वह प्रतिपल वर्तमान में, अभिनव वर्तमान में रहता है। अपने कर्म को भूत व भविष्य से जोड़ने की भूल वह नहीं करता। वर्तमान ही उसका सत्य होता है, यही उसका संबल होता है।

श्रावक का दर्शन विशुद्ध होता है। मिथ्यात्व अथवा भ्रांति के अंधकार से वह उज्ज्वल प्रकाश में आ गया होता है। वह अपने को सबमें और सबको अपने में देखता है। जाति, वेश, लिंग, परंपरा, वर्ण, वर्ग सबके प्रति उसकी दृष्टि आत्मरूप होती है, समतापूर्ण होती है। वह निःशंकित भाव से दृढ़तापूर्वक सबको अपने में स्थिर करते हुए, प्यार की अमृत वर्षा करते हुए, निःकांक्ष होकर वात्सल्य बांटता चलता है। रत्नत्रय का मोर मुकुट धारण कर प्रेम की बंसी बजाते हुए वह पारस्परिक जुगुप्सा वा घृणाभावना पर विजय प्राप्त करता है, दोषों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, बल्कि अपनापन इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सबके अनेक दोष उसे अपने में ही संचित दिखाई देने लगते हैं। वह राग की ज्वाला से बचने-बचाने के लिए प्रयत्नशील हो उठता है।

ऐसे अष्टगुणधारी सम्यग्दृष्टि श्रावक का बाह्य जीवन भी नदी की भांति सदा सौख्यकारी होता है। उसके आसपास बहने वाली वायु भी जगत् के जीवों के प्राणों का संचार करती है। उसके स्मित मात्र से या दृष्टिक्षेप मात्र से प्रकृति रसप्लावित हो उठती है। श्रावक स्वयं नहीं जानता कि वह क्या है? उसका जीवन कैसा है? वह तो बस समाज में रहता है, बहता है और जल की भांति जहां रिक्तता देखता है, दौड़ जाता है और रिक्तता को भर देता है। वस्तुतः जीवन का आनन्द दूसरों को जीने का अवसर देकर, दूसरों को जिलाकर जीने में है। अतिथिसंविभाग त्रत इसी ओर इंगित करता है। बांटकर खाने का आनन्द अनिर्वचनीय है। 'जीओ और जीने दो' से यह भूमिका ऊँची और उदात्त है।

‘जिलाकर जीओ’ में एक मानवीय स्पर्श है, रसानुभूति है, सहज पावन संस्पर्श है। श्रावक श्रमणत्व का उपासक अर्थात् श्रमिक होता है। न वह किसी का स्वामी बनना चाहता है, न किसी को दास बनाना। श्रमपूर्ण कर्मठता और कर्म को अकर्म बना डालने की साधना ही उसके जीवन का सौंदर्य है।

जैन आचार में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विधान है। ये मनुष्य को उत्तरोत्तर सेवा की पराकाष्ठा तक पहुँचाती हैं। पारंपरिक शब्दार्थ और आचार प्रणाली में तो आज इन प्रतिमाओं का उद्देश्य ही लुप्त हो गया है और यही कारण है कि इन प्रतिमाओं (सोपानों) के प्रतिपालक खान-पान के झमेले से या प्रपंच से ऊपर नहीं उठ पा रहे हैं। आज का ग्यारहवीं प्रतिमाधारी भी सम्यक् रूप में पहली प्रतिमा पर खड़ा नहीं हो पा रहा है। ऊँचा से ऊँचा देशसेवक या जनसेवक बनने की दृष्टि से इन प्रतिमाओं में अद्भुत आशय निहित है। अहिंसा, संयम और तप का त्रिवेणी-संगम इन प्रतिमाओं का प्राणतत्त्व है। सत्यं, शिवं और सुन्दरं का समवेत स्वरूप प्रतिमाधारक के रोम-रोम से व्यक्त हो, तभी वह श्रावक कहलाने का अधिकारी है।

श्रावक धर्म की परिपूर्णता में श्राविका के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। दोनों मिलकर श्रावकत्व को परिपूर्णता प्रदान करते हैं। शुचिर्भूत श्राविका की कोख से ही धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर आदि महाप्राण पुरुषोत्तम अवतरित होते हैं। श्राविका ही श्रावक को परम अकाम में ले जाती है। मोक्ष या परमब्रह्म की साधना के लिए उसे तजकर अरण्यवास करने की, पलायन की भूमिका ने ही समाज और व्यक्ति को उत्तम सुख से वंचित कर दिया है। नितांत अक्रिय व्यक्तिमत्ता अध्यात्म के नाम पर पुजने लगी और श्रम की यथार्थ देवी श्राविका तिरस्कृत हो गयी। भेदमूलक दृष्टि के कारण ही आज श्रावक धर्म अपना महत्त्व एवं प्रभाव खो बैठा है। कहते हैं महावीर के संघ में श्रावकों से दोगुनी संख्या श्राविकाओं की थी और वे संघ का संचालन भी करती थीं। नारी को, श्राविका को, जगज्जननी को नरक की खान या वासना की पुतली कहकर मनुष्य ने अपने को समग्र ब्रह्म से तोड़ लिया है और समझ यह रहा है कि वह ब्रह्म में रमण कर रहा है! इस भ्रांति और मिथ्याचरण का परिणाम सामने है।

व्रत साध्य नहीं, साधन मात्र हैं। व्रत तभी तक उपयोगी एवं आवश्यक हैं, जब तक मन में द्वैत है, तमस् का आचरण छाया है या विकारों का प्रभाव है। अन्ततः तो व्रतातीत होना ही मुक्ति है। व्रतातीत हुए बिना वास्तविक आनन्द, सहजानुभूति संभव नहीं। मुक्ति की कामना से मुक्त हुए बिना मुक्ति नहीं। चलना सीख जाने पर बालक माँ की अँगुली तज देता है, वैसे ही व्रत पीछे छूट जाने चाहिए। व्रतों में उत्तीर्ण होकर ही श्रावकत्व का कमल खिलता है। शरीर के अंगों का स्वस्थ स्थिति में जैसे भार नहीं लगता, पता ही नहीं चलता, वैसे ही व्रत भाररूप नहीं होने चाहिए। कामना, प्रतिष्ठा, यशस्विता या भय से व्रतों का पालन करना भार ही है। इससे प्रतिक्रिया पैदा होती है और यह मनुष्य को पतन में ढकेलती है। श्रावक का जीवन सहज होता है, वह केवल प्रसन्नता के लिए प्रवृत्त होता है। उसमें कोई शल्य नहीं रह जाती। उसका चित्त चन्दन की तरह शीतल हो जाता है। वह

स्वार्थ और परमार्थ में एक जैसा होता है। उसके व्यवहार में परमार्थ भी होता है और परमार्थ में भी वह व्यवहार की भूमिका को हेय नहीं मानता। वह आत्मगवेषक होता है। समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ उसे अपने भीतर दीखने लगती हैं और वह अपनी आंतरिक लक्ष्मी के कारण लखपति होता है। उसका हृदय विराग रस से आपूरित सुखसागर होता है। मोह की अभेद्य चट्टान को भेदने की अकूत शक्ति उसमें आ जाती है। उसका प्रयास अपने में अपने को पाने का होता है। कविवर बनारसीदास ने मुग्धभाव से ऐसे सम्यक्त्वी श्रावक की, पारदर्शी श्रावक की, प्रकाशपुंज श्रावक की वंदना की है। हम यहाँ उनके नाटक समयसार से ऐसे तीनों कवित्त उद्धृत कर रहे हैं:

भेद-विज्ञान जग्यौ जिन्हके घट, शीतल चित्त भयौ जिमि चन्दन।
केलि करैं शिव-मारग मैं, जगमाहि जिनेसुर के लघुनन्दन॥
सत्य स्वरूप सदा जिन्हकै, प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकन्दन।
संत दशा तिन्हकी पहिचान, करै कर जोरि बनारसि वन्दन॥

स्वारथ के सांचे परमारथ के सांचे चित्त सांचे, सांचे बैन कहैं, सांचे जैनमती हैं।
काहू के विरुद्ध नाहिं, परजाय-बुद्धि नाहिं, आतमगवेषी, न गृहस्थ हैं न जती हैं॥
सिद्धि-रिद्धि वृद्धि दीसै घट में प्रगट सदा, अन्तर की लच्छीसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवंत के, उदास रहैं जगत सौं, सुखिया सदीव, ऐसे जीव समकिती हैं॥
जाके घट प्रगट विवेक गणधर कौ सौ, हिरदै हरख महामोह कौं हरतु है।
सांचौ सुख मानै निज महिमा अडोल जानैं, आपुहि मैं आपनो सुभाव लै धरतु है॥
जैसे जल-कर्म कतक-फल भिन्न करै, तैसें जीव-अजीव बिलक्षुन करतु है।
आतम सकति साधै, ज्ञान को उदौ आराधै, सोई समकिती भवसागर तरतु है॥

-मंगलाचरण, सम्यग्दृष्टि की स्तुति

सम्यक्त्वी श्रावक का भवसागर यों ही पार नहीं हो जाता- अभ्यास, साधना और सातत्य से ही मंजिल निकट आती है। पलभर की असावधानी जन्म-जन्मान्तर तक व्यथा में, पीड़ा में, दुःख के महागर्त में ले जाती है। गमनसिद्ध पैर, वर्षों के अभ्यास के पश्चात् भी इस तरह लड़खड़ा या फिसल जाते हैं कि उठना कठिन हो जाता है। सम्यक्त्वी साधक अपने शरीर को देवालय मानकर उसे सक्षम, पवित्र, स्वच्छ रखता है। अनावश्यक भार लादकर काया को सताना वह पाप समझता है। तन को वह कारगृह नहीं समझता, उसे पंगु और क्षीण नहीं करता। बस इतना ही समझता है कि देह साधन है, पर साधन को भी साध्य में ऐसे एकरूप कर देता है जैसे दूध में शर्करा। वह अपने तन की उपेक्षा नहीं करता, उसे धरोहर समझता है। उसकी समस्त इन्द्रिय प्रवृत्तियाँ इतनी सहज, नम, कमनीय, सुन्दर बन जाती हैं कि उसका स्पर्शमात्र शीतलता प्रदान करता है। इसके लिए वह कतिपय गुणों की अपने में अवधारणा करता है। पारस्परिक व्यवहार की कसौटी ये ही गुण हैं, जिन पर वह खरा उतरने का प्रयास करता है। ये गुण महाकवि बनारसीदास के शब्दों में इक्कीस हैं जो मानव की व्यापक निष्ठा, उदात्त मनोभावना और सहज कर्मठता के परिचायक हैं।

ये गुण परस्पर पूरक तो हैं ही, एकरूप भी हैं, अखण्ड स्रोत की भाँति। ये गुण तो मनुष्य को 'इक्कीस' यानी परिपूर्ण या अहिंसक बना देते हैं। कवि के शब्दों में वे गुण हैं:-

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवंत, परदोष को ढकैया, पर-उपकारी है।

सौमदृष्टि, गुणग्राही गरिष्ट, सबकों इष्ट, शिष्टपक्षी, मिष्टवादी, दीर्घविचारी है।

विशेषज्ञ, रसज्ञ, कृतज्ञ, तज्ञ, धरमज्ञ, न दीन न अभिमानी, मध्य-विवहारी है।

सहजै विनीत पापक्रिया सों अतीत, ऐसो श्रावक पुनीत इकबीस गुनधारी है॥

नाटकसमयसार, अधि. 14, पद 54

- अभय कुटीर, सारनाथ
वाराणसी (उ०प्र)

परिग्रह: मूर्च्छाभाव

कहते हैं सत्य बड़ा कड़वा अमृत है। जो इसे हिम्मत करके एक बार पी लेता है वह अमर हो जाता है और जो इसे गिरा देता है वह सदा पछताता है। हम एक ऐसा सत्य कहने जा रहे हैं जिसे जनमानस जानता है, मानता नहीं और यदि मानता है तो उस सत्य का अनुगमन नहीं करता। उस दिन एक सज्जन मेरे हस्ताक्षर लेने आ गए। दूर से आए थे, कह रहे थे- आपके सुलझे और निर्भीक विचारों को 'अनेकान्त' में पढ़ता रहता हूँ। कारणवश दिल्ली आना हुआ। सोचा आपके दर्शन करता चलूँ। उनके आग्रहवश मैंने हस्ताक्षर दे दिए। वे पढ़कर बोले-आप जैन हैं, आपने अपने को जैन नहीं लिखा- केवल पद्मचन्द्र शास्त्री लिखा है। मैंने कहा-हाँ, मैं ऐसा ही लिखता हूँ। इससे आप ऐसा न समझें कि मैं इस समुदाय का नहीं। मैं तो इसी में पैदा हुआ हूँ, बड़ा भी इसी में हुआ हूँ और चाहता हूँ मरूँ भी यहीं। काश! लोग मुझे जैन होकर मरने दें! यानी- **‘ये तन जावे तो जावे, मुझे जैनधर्म मिल जावे’**। मैंने कहा- पर अभी मुझे जैन या जिन बनने के लिए क्या कुछ, और कितना करना पड़ेगा? यह मैं नहीं जानता। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि मैं मूर्च्छा-परिग्रह को कृश कर सकूँ तो वह दिन दूर नहीं रहेगा जब मैं अपने को जैन लिख सकूँ।

साभार- मूल जैन संस्कृति: अपरिग्रह

धर्मस्वरूप (गतांक से आगे)

- प्रो. उदयचन्द्र जैन

उत्तम-तवधम्मो-

चरण- उज्जमो तवो तप्पदे तवयणं संजमणं णियेष्णं सुद्धसरूवे सो तवो। जो आद-सहावं जाणितुं णिच्चं झादि अरहं कसाय-इंदिय-विसय-समणत्थं कुणेदि संजमं णाण-णिलयं णादुं सज्जेदि सज्जायं धम्मणाणं सुक्कज्झाणं पत्तुं चरेदि रदणत्तय धम्मे।

उत्तम तप धर्म

चारित्र के प्रति उद्यम होना तप है। तपाना, संयमन करना और निजात्म के शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर होना तप है। जो आत्म स्वभाव जानने के लिए अर्हत् को ध्याता, कषाय, इन्द्रिय विषय में शमनार्थ संयम पालन करना, ज्ञान निलय को जानने के लिए स्वाध्याय तथा धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान की प्राप्ति को रत्नत्रय धर्म में प्रविष्ट होता है।

भगवदी आराहणाए पण्णत्तो-

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होदि।

सो एव जिणेहि तवो भणिदो असढं चरंतस्स। (भ.आ. १०)

भगवती आराधना में कहा गया है- चारित्र में जो उद्यम शील होता है, उसका तप धर्म होता है।

जो सम्मदंसणं रित्तो कोडि-तवं-तवेज्जदे।

णत्थि तं बोहि लाहो वि इच्छाणिरोह-संवरो॥

जो सम्यग्दर्शन के बिना करोड़ों वर्षों तक तप करता है, उसको बोधिलाभ नहीं होता है। तप इच्छाओं के निरोध का नाम है।

सुद्धोवजोग विसुद्ध आदे संलीणत्तणं च भासदे तवो। सो दुविधो पण्णत्तो-अणसणोमोदरिय-वित्ति-परिसंखाण रस-परिच्चाग-विवित्तसेज्जासण-कायकिलोसा। पायच्छित्त-विणय-वेय्यावच्च-सज्जाय-उस्सग्ग-झाणं च। तावएज्ज अट्ठविध कम्मं च तवो। कम्मक्खयत्थं तप्पदे साहगो।

शुद्धोपयोग विशुद्ध आत्मा में संलीनता को भी तप कहते हैं। वह दो प्रकार का कहा गया- अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शैयासन और कायक्लेश से छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अंतरंग तप हैं जो आठ प्रकार के कर्म को तपाता है वह तप है। साधक कर्मक्षयार्थ तपता है।

उत्तमचागो-

संविभागो त्ति चागो। आइरिय-उवज्झाय-साहुणो सम्मं विहिं पुव्वगं संविभागो
आहारादीणं उत्तम चागो।

उत्तमत्याग-संविभाग करना त्याग है। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को आहारादि
का सम्यक् विधिपूर्वक संविभाग करना/ दान देना उत्तम त्याग है।

संजदस्स सुजोग्गं च णाणादिदाण-सत्तिणा। जधाविहि-पजुज्जंतं तस्स चागो
हवेदि हि॥ चागो णिउत्ति-संगत्तो बहिरब्भितरो त्ति। कत्तिकेय मुणिणा पण्णत्तो-
जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवयरणं राय-दोस-संजणयं।

वसदिं ममत्तहेदुं चायगुणो सो हवे तस्स॥ (कार्तिकेयानुप्रेक्षा.४०१)

संयत के योग्य ज्ञानादि का यथाशक्ति, यथाविधि युक्त दान देना त्याग है।

परिग्रह- बाह्य और आभ्यन्तर होते हैं, उनकी निवृत्ति त्याग है।

कार्तिकेय मुनि ने कहा- जो मिष्टभोजन, उपकरण, राग-द्वेष की प्रवृत्ति, वसति एवं
ममत्व के कारणों को छोड़ता है उसका त्याग गुण होता है।

सत्तिणो चाग दाणं च आहाराभय-णाणगं। स-पर-उवकारस्स अणुगहस्स
अदिसग्गो दाणं। अप्पणो सेए अप्प-कल्लाणे रदा साहगा तेसिं साहगाणं रदणत्तय
विगासत्थं अप्पदव्वस्स अदिसज्जणं दाणं चागो त्ति।

शक्ति से दान/ देना त्याग है। वह आहार, अभय और ज्ञान रूप है। स्व-पर उपकार
या अनुग्रह के लिए त्याग करना दान है। जो अपने श्रेय एवं आत्मकल्याण में रत साधक
हैं, उन साधकों के रत्नत्रय विकास हेतु अपने द्रव्य का अतिसर्जन, दान देना त्याग है।

अप्पवित्त परिच्चागो दाणं। चाग-माहप्पो- जो जणो बहिरब्भितर-परिग्गहादो
णिव्वुत्तो होदि तस्स चागो। चागेण जादि पारिवारिग सुहं सामाजिग-सुह-संती
रट्ठिय-जीवण विगासोत्ति।

अपने धन का परित्याग दान है। त्याग की महिमा-जो मनुष्य बाह्य और आभ्यन्तर
परिग्रह से निवृत्त होता है, उसका त्याग होता है। त्याग से पारिवारिक सुख, सामाजिक सुख
शान्ति होती है, इससे राष्ट्रीय जीवन भी विकसित होता है।

चागे सुहं दुहं भोगे। राग-दोस-परिच्चागे आद-हिदो पर-हिदो वि। अणुवजोगी-
अहिदयारी वत्थूणं परिच्चागं णो भासदे चागो। सोत्तु विहिदव्व-दाउ-पत्त-विसेसादो
जदि दिण्णं तदो सो सुहं उप्पज्जेदि। चागो वत्थु संविभागे वि होदि।

त्याग में सुख है और भोग में दुःख। राग-द्वेष के परित्याग होने पर अपना और
दूसरे का हित होता है। अनुपयोगी, अहितकारी आदि वस्तुओं के परित्याग को त्याग नहीं
कहते। वह तो विधि पूर्वक दाता के द्वारा पात्र की विशेषता से यदि दिया गया है, उससे
वह त्याग सुख उत्पन्न करता है। त्याग वस्तु के संविभाग से भी होता है।

उत्तम साहगो पत्तो सो रदणत्तय मग्गामी पडिदिणं अप्पहिदं परिहिदं च
कुव्वेदि। णो केवलं पर दव्वाणं दाणं चागो, अवित्तु परदव्वाणिं पडि जायमाणं

रागस्स दोसस्स मोहस्स होदि। णियप्प-सुद्धप्पा विहावादो अदिदूरो। सो सहावेण णिम्मलो णिरंजणो त्ति। दाणे होदि परुवयारभावो, चागे आदहिदो।

उत्तम साधक पात्र हैं, वह सदा रत्नत्रय मार्गगामी अपना हित और दूसरे का हित भी करता है। न केवल परद्रव्यों को देना त्याग है, अपितु पर द्रव्यों के प्रति उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष एवं मोह का त्यागना/ छोड़ देना त्याग है। निजात्म शुद्धात्मा विभावों से अतिदूर है। वह स्वभाव से निर्मल एवं निरंजन भी है। दान में परोपकार भाव होता है और त्याग में आत्महित।

उत्तम आकिंचणह धम्मो-

णिस्संग णिय-अप्पाणं णिप्परिग्गहसंलहे। आकिंचणह समो धम्मो वत्थु ग्रहण मुत्तिणो॥

उत्तम आकिंचन्य धर्म-

जो निस्संग अपने आत्म स्वरूप को परिग्रह से रहित देखता है जो वस्तु ग्रहण से रहित हैं। उन श्रमण का आकिंचन्य धर्म है।

सयलंग्थ चागो आकिंचणहधम्मो। गंथो त्ति परिग्गहो सो बहिरब्भितरो दुविधो। तत्तो णिस्संगो होदूण जो साहगो आदसहावं झाएदि तस्स वट्टदि आकिंचणहधम्मो।

जहाँ सकल ग्रंथ/परिग्रह का त्याग है वहाँ आकिंचन्य धर्म है। ग्रंथ का अर्थ परिग्रह है जो बाह्य और आभ्यंतर दो प्रकार का है। उसका निस्संग होकर जो साधक आत्म स्वभाव को ध्याता है, उसका भाव आकिंचन्यधर्म होता है।

णो किंचणं अत्थि तं आकिंचणहं। आकिंचणहत्तणं सयलंग्थचागो सव्वलोग-ववहार-विरदो णिप्परिग्गहो णिरारंभो सरीर-सक्कार-परिहरो त्ति। णत्थि त्ति किंचणो आकिंचणहो तस्स भावो कम्मो वा आकिंचणहं। होदूण य णिस्संगो

णियभावं णिग्गहित्तु सुह-दुहदं। णिद्धदेण दु वट्टदि अणयारो तस्साकिंचणहं॥

जिसके कुछ नहीं, उसे आकिंचन्य कहते हैं। आकिंचन्य अर्थात् सकलग्रन्थत्याग, सर्वलोक व्यवहार से विरत निष्परिग्रह, निरारंभ एवं शरीर संस्कार से रहित होना है। कुछ भी नहीं होना आकिंचन है, उसका भावकर्म आकिंचन्य है। जो अनगार निःसंग होकर अपने सुख-दुःख के निजभाव को ग्रहण करके निर्द्वन्द्वभाव से युक्त होना आकिंचन्य है।

आदभाव अणुसीलणं (द्वादशानुप्रेक्षा.७९)

बहि-अब्भितर-परिग्रह-सयलचागं कुणिदूण जो चरेदि आद-भावे तस्स आकिंचणह- धम्मो होदि। आसत्ति-ममत्त-मुच्छा परिग्गहो तस्स किंचि णो भावो मे।

आत्मभाव का अनुशीलन-

बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह का पूर्ण त्याग करके जो आत्मभाव में रमण करता है, उसका आकिंचन्य धर्म होता है। आसक्ति, ममत्व एवं मूर्च्छा परिग्रह है। मेरा उसके लिए कुछ भाव नहीं।

काय-कम्पवहि-सव्वे बहि-परिग्गहो। अब्भितर-परिग्गहो रागो दोसो मोहो कामो कोहो लोहो आदि त्ति। तेसिं परिचत्तिदुं कोवि समत्थो णो। बहि-अब्भितरसंगादो चागो जत्थ होदि तत्थ अत्थि आकिंचणह धम्मो। भावपाहुडम्हि कुंदकुंदेण पण्णत्तो-

भाव-विसुद्धि-णिमित्तं बहिर-गंथस्स कीरए चागो।

बाहिरचाओविहलो अब्भितर गंथ-जुत्तस्स॥

काय, कर्म और उपाधि से सभी बाह्य परिग्रह हैं। आभ्यन्तर परिग्रह राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध एवं लोभ आदि हैं। उनके छोड़ने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है। बाह्य और आभ्यन्तर संग से जहाँ दूरी है वहाँ है आकिंचन्यधर्म। भावपाहुड में कुंदकुंद स्वामी ने कहा- भाव विशुद्धि के निमित्त बहिरंग ग्रंथ/परिग्रह का त्याग किया जाता है, परन्तु रागादि भाव रूप आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग बिना यह विफल है।

मुच्छा परिग्रहो। वत्थुं पडि पदत्थं पडि अत्थं पडि मुच्छा आसत्ति-कंखा-अहिलासा संगहस्स इच्छा परपदत्थगहणस्स भावणा परिग्रहो त्ति। ममिदं बुद्धिलक्खणो परिग्रहो। परपदत्थाणं ममत्तभावो त्ति मिच्छत्तो। मिच्छत्ता भावादो आकिंचणहधम्मो॥

मूर्च्छा परिग्रह है। वस्तु, पदार्थ, अर्थ के प्रति मूर्च्छा, आसक्ति, आकांक्षा, अभिलाषा, संग्रह की इच्छा एवं परपदार्थ के ग्रहण की भावना परिग्रह है। यह मेरा है, ऐसी बुद्धि करना परिग्रह है। पर पदार्थों के प्रति ममत्व भाव होना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के अभाव से आकिंचन्य धर्म है।

जस्स णो किंचणं अत्थि सो त्ति आकिंचणो हवे। तस्स भावो आकिंचणं सम्मत्त-पडिभावणा। उपादेयो त्ति सम्मत्तो रदणत्तय-भावणा। अप्पणो परिणामो त्ति मुणेज्ज मुणि-माणवा॥

जिसका कुछ नहीं, वह आकिंचन है, उसका भाव (त्याग का भाव) आकिंचन्य है, जो सम्यक्त्व की उत्तम भावना है। जो मुनि या मननशील व्यक्ति होते हैं, वे अपने आत्म परिणाम युक्त रत्नत्रय की भावना सम्यक्त्व है, ऐसा सोचकर उसे उपादेय मानते हैं

उत्तम बंहचेरो

बंभे चरिज्ज-अप्पणो बंहचेरो। सव्वसंग-विमुत्तो आदा सो एव बंभो तम्हि चेव चरियो बंभचेरो। णाण-सरूव-आदा बंहो तम्हि सम्मचरियं बंहचेरो बंहो बंहो एव बंहम्हि चरेज्ज जो तस्स मुणेज्ज बंहचेरियो। अहिंसादि गुणा जस्सि बिद्धिं पपेति बड्ढएति तस्स णामो बंहो तस्सि जो चरेज्ज तस्स बंहचेरधम्मो।

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।

सो बंहचेरभावं सक्कदि खलु दुब्बरं धरदि॥ (द्वा.८०)

उत्तम ब्रह्मचर्य

जो ब्रह्म रूप में अपने आत्मा में विचरण करता है वह ब्रह्मचर्य है। सभी परिग्रह से विमुक्त आत्मा है, वही आत्मा ब्रह्म है, उसमें ही विचरण करना ब्रह्मचर्य है। ज्ञान स्वरूप आत्मा ब्रह्म है, उसमें सम्यक् रूप में स्थित होना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म ब्रह्म है, उस ब्रह्म में

स्थित होना ब्रह्मचर्य कहलाता है।

अहिंसादि गुण जिसमें बढ़ते हैं उसका नाम ब्रह्म है, उसमें जो विचरण करता है, उसका ब्रह्मचर्य धर्म होता है। स्त्रियों के सभी अंगों को देखता हुआ, जो उनमें दुर्भाव/ कामना को छोड़ता है, उसमें मुग्ध नहीं होता है, वही दुर्धर ब्रह्मचर्य धारण करने में समर्थ होता है। जो इत्थी विसयाहिलासं परिचत्तिदूण बंहणि अप्पणि अप्पे सुब्ब-बुब्ब-पबुब्ब-चरिए चरेज्ज तं बंहचेरं वदंते एवं साहगा पत्तेति।

जो स्त्रियों की विषयाभिलाषा को छोड़कर अपने ब्रह्म स्वरूप शुद्ध, बुद्ध एवं प्रबुद्ध आत्मा में विचरण करता है, उस ब्रह्मचर्य व्रत को वे ही साधक प्राप्त करते हैं।

सदारसंतोसो अंगणाणं सब्वाणं मद-मोह-आसत्ति-कामुत्तेजगा संति। उपत्ताणुपत्ते वि तेसिं पडि आसत्ती णो जायदे जस्स तस्स बंहचेर धम्मो सदारसंतोसो एव।

स्व-दार-संतोष- अंगनाओं के प्रत्येक अंग, मद, मोह, आसक्ति एवं काम भावना को उत्पन्न करते हैं। उन्हें प्राप्त या अप्राप्त न होने पर भी उसमें आसक्ति न होना ब्रह्मचर्य है, जिसके उसमें आसक्ति नहीं होती, उसका ब्रह्मचर्य धर्म है। वह स्वदार-संतोषी है।

बंहचरिय-अज्झप्प-विगासस्स मेरुदंडो। परदव्व-विगद-सुब्ब-बुब्ब-णाण-सरूव णिम्मल-आदमिह संलग्गेदि जो तस्स बंहचेर धम्मो जादि। आदाबंहपरो सुब्बो बोह-णिलय-णिम्मलो। वदेसु सब्ब-उक्किट्ठो सो अदिंदिय-णंदगो॥ देह विरत्त-साणंदो सम्मदंसण-णाणगो। आद-संसिद-आरामो उत्तम-बंहचेरिगो॥ अणंत-णाण-दंसण-सुह- संतिजुद-आद-सहावोत्थि तमिह वंह-आदमिह रदो जो होदि तस्स बंहचेरधम्मो। एस सम्मत्तमूलो तिथि णियम-णाण-दंसणं। चारित्त-चारू-आरामो रमेज्ज साहु-साहगो॥

ब्रह्मचर्य अध्यात्म विकास का मेरुदंड है। पर द्रव्यों से विगत शुद्ध, बुद्ध, ज्ञान स्वरूप निर्मल आत्मा में जो संलग्न होता है, उसका ब्रह्मचर्य धर्म है। आत्मा परब्रह्म स्वरूप है, शुद्ध है, निर्मल बोध का निलय है। यह सर्वव्रतों में उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनंद देने वाला है। जो देह से विरक्त, देहासक्ति रहित सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान सहित आत्माश्रित आराम स्थान है वह ब्रह्मचर्य है। अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख एवं शान्तियुक्त आत्मा का स्वभाव है, उस आत्म स्वभाव में जो रत होता है, उसका ब्रह्मचर्य धर्म है। यह सम्यक्त्व का मूल है, यह नियम का आराम है, ज्ञान, दर्शन और चारित्र का रमणीय उद्यान है। साधक साधु इसमें अच्छी तरह लीन होते हैं।

बंहचेरोत्थि अज्झप्प देदिप्पमाणमणी जा धम्मिगाणं देहिग-माणासिग-णेदिग-गुणं पडि आकस्सेदि।

ब्रह्मचर्य अध्यात्म की दैदीप्यमान मणि है, जो धार्मिकजनों को शारीरिक, मानसिक दृष्टि से भी नैतिक गुणों की ओर ले जाती है।

-पिऊ कुंज अरविन्दनगर,
उदयपुर (राजस्थान)

आर्यिकाओं की आचार पद्धति

- प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान-

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ में 'आर्यिका' का दूसरा स्थान है। श्वेताम्बर जैन परंपरा के प्राचीन आगमों में भी यद्यपि इन्हें अज्जा, आर्या, आर्यिका कहा है, किन्तु इस परंपरा में प्रायः इन्हें 'साध्वी' शब्द का ज्यादा प्रयोग हुआ है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर तथा इनकी उत्तरवर्ती परंपरा में आर्यिका संघ की एक व्यवस्थित आचार पद्धति एवं उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। श्रमण संस्कृति के उन्नयन में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका की सभी सराहना करते हैं। यद्यपि भगवान् महावीर के जीवन के आरंभिक काल में स्त्रियों को समाज में पूर्ण सम्मान का दर्जा प्राप्त नहीं था किन्तु उन्होंने जब समाज में स्त्रियों की निम्न स्थिति तथा घोर उपेक्षापूर्ण जीवन देखा तो भगवान् महावीर ने स्त्रियों को समाज और साधना के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान देने में सबसे पहले पहल की और आगे आकर इन्होंने अपने संघ में स्त्रियों को 'आर्यिका' (समणी या साध्वी) के रूप में दीक्षित करके इनके आत्म-सम्मान एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन बौद्ध संघ पर भी पड़ा और महात्मा बुद्ध को भी अन्ततः अपने संघ में स्त्रियों को भिक्षुणी के रूप में प्रवेश देना प्रारंभ करना पड़ा।

आचार विषयक दिगम्बर परंपरा के प्रायः सभी ग्रंथों में जिस विस्तार के साथ मुनियों के आचार-विचार आदि का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है, आर्यिकाओं के आचार-विचार का उतना स्वतंत्र विवेचन नहीं मिलता। साधना के क्षेत्र में मुनि और आर्यिका में किंचित् अन्तर स्पष्ट करके आर्यिका के लिए मुनियों के समान ही आचार-विचार का प्रतिपादन इस साहित्य में मिलता है। मूलाचारकार आ. बट्टेकर एवं इसके वृत्तिकार आ. वसुनन्दि ने कहा है कि जैसा समाचार (सम्यक्-आचार एवं व्यवहार आदि) श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल, अभ्रावकाश एवं आतापन आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र संबन्धी संपूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रूप में समझना चाहिए।¹ इसीलिए स्वतंत्र एवं विस्तृत रूप में आर्यिकाओं के आचारादि का प्रतिपादन आवश्यक नहीं समझा गया।

वस्तुतः वृक्षमूलयोग (वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे खड़े होकर ध्यान करना), आतापनयोग (प्रचण्ड धूप में भी पर्वत की चोटी पर खड़े होकर ध्यान करना), अभ्रावकाश (शीत ऋतु में खुले आकाश में तथा ग्रीष्म ऋतु में दिन में सूर्य की ओर मुख करके खड्गासन मुद्रा में ध्यान करना) एवं अचेलकत्व (नग्नता) आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं, जो स्त्रियों की शारीरिक

प्रकृति के अनुकूल न होने के कारण आर्यिकाओं को मुनियों जैसे आचार का पालन संभव नहीं है। इसलिए उन्हें उपचार से मूलगुणों का धारक माना है। इसलिए दिगम्बर परंपरा में स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी नहीं माना! क्योंकि मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण तथा तप हैं, उनका प्रकर्ष स्त्रियों में संभव नहीं है। इसी तरह वे सबसे उत्कृष्ट पाप के कारणभूत अंतिम (सप्तम) नरक भी नहीं जा सकतीं, जबकि पुरुष जा सकता है।

इसी तरह वस्त्र ग्रहण की अनिवार्यता के कारण बाह्य परिग्रह तथा स्व शरीर का अनुरागादि रूप आभ्यन्तर परिग्रह भी स्त्रियों में पाया जाता है और फिर शास्त्रों में वस्त्ररहित संयम स्त्रियों को नहीं बतलाया है। अतः विरक्तावस्था में भी स्त्रियों को वस्त्र धारण का विधान है। अतः निर्दोष होने पर भी उन्हें अपना शरीर सदा वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है।² इसीलिए दिगम्बर परंपरा में स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी होने का विधान नहीं है।³ आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत भी श्रमण संघ की व्यवस्था मात्र के लिए कहे गये हैं किन्तु उपचार में साक्षात् होने की सामर्थ्य नहीं होती। यदि स्त्री तद्भव से मोक्ष जाती होती तो सौ वर्ष की दीक्षिता आर्यिका के द्वारा आज का नवदीक्षित मुनि भी वंदनीय कैसे होता? वह आर्यिका ही उस श्रमण द्वारा वंदनीय क्यों न होती?⁴

विरक्त स्त्रियों को भी वस्त्र धारण के विधान में उनकी शरीर प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है, क्योंकि प्रतिमास चित्तशुद्धि का विनाशक रक्त-स्रवण होता है, कोख, योनि और स्तन आदि अवयवों में कई तरह के सम्मूर्च्छन सूक्ष्मजीव उत्पन्न और मरण को प्राप्त होते रहने से उनसे पूर्ण संयम का पालन संभव नहीं हो सकता।⁵ इसीलिए इन्हीं सब कारणों के साथ ही⁶ स्वभाव से पूर्ण निर्भयता, निराकुलता एवं निर्मलता का अभाव, परिणामों में शिथिलता का सद्भाव तथा निःशंक रूप में एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान का अभाव होने के कारण ऐसा कहा गया है।⁷ इस प्रकार पूर्वोक्त कारणों के साथ ही उत्तम संहनन के अभाव के कारण शुद्धोपयोग रूप परिणाम एवं सामायिकचारित्र की ही प्राप्ति होना संभव नहीं है, अतः इनमें उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं।

श्वेताम्बर परंपरा के बृहत्कल्प में भी कहा है कि साध्वियाँ भिक्षु प्रतिमाये धारण नहीं कर सकतीं। लकुटासन-उत्कटकासन, वीरासन आदि आसन नहीं कर सकतीं। गाँव के बाहर सूर्य के सामने हाथ ऊँचा करके आतापना नहीं ले सकतीं तथा अचेल एवं अपात्र (जिनकल्प) अवस्था धारण नहीं कर सकतीं।⁸ इस सबके बावजूद श्वेताम्बर परंपरा में स्त्रियों को मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। बौद्ध परंपरा में भी स्त्री सम्यक्-सम्बुद्ध नहीं हो सकती।⁹

आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द-

वर्तमान समय में सामान्यतः दिगम्बर परंपरा में महाव्रत आदि धारण करने वाली दीक्षित स्त्री को 'आर्यिका' तथा श्वेताम्बर परंपरा में इन्हें 'साध्वी' कहा जाता है। दिगम्बर प्राचीन शास्त्रों में इनके लिए आर्यिका,¹⁰ आर्या,¹¹ विरती,¹² संयता,¹³ श्रमणी¹⁴ आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। प्रधान आर्यिका को 'गणिनी'¹⁵ तथा संयम, साधना एवं दीक्षा में ज्येष्ठ

वृद्ध आर्यिका को स्थविरा (थेरी)¹⁶ कहा गया है।

आर्यिकाओं का वेष-

आर्यिकायें निर्विकार, श्वेत, निर्मल वस्त्र एवं वेष धारण करने वाली तथा पूरी तरह से शरीर संस्कार (साज-श्रृंगार आदि) से रहित होती हैं। उनका आचरण सदा अपने धर्म, कुल, कीर्ति एवं दीक्षा के अनुरूप निर्दोष होता है।¹⁷ आचार्य वसुनन्दी के अनुसार-आर्यिकाओं के वस्त्र, वेष और शरीर आदि विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक होते हैं अर्थात् वे रंग-बिरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भूविकार-कटाक्ष आदि से रहित वेष को धारण करने वाली होती हैं। जो किसी भी प्रकार का शरीर संस्कार नहीं करतीं, ऐसीं ये आर्यिकायें क्षमा, मार्दव आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं।¹⁸

सुत्तपाहुड तथा इसकी श्रुतसागरीय टीका में तीन प्रकार के वेष (लिंग) का कथन है- 1. मुनि, 2. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक एवं क्षुल्लक तथा 3. आर्यिका¹⁹ कहा है। तीसरा लिंग (वेश) स्त्री (आर्यिका) का है। इसे धारण करने वाली स्त्री दिन में एक बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे तथा वस्त्रावरण युक्त अवस्था में ही आहार ग्रहण करे।²⁰

वस्तुतः स्त्रियों में उत्कृष्ट वेश को धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका, ये दो होती हैं। दोनों ही दिन में एक बार आहार लेती हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र तथा क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय ओढ़ने के लिए एक चादर भी रखती हैं। भोजन करते समय एक सफेद साड़ी रखकर ही दोनों आहार करती हैं। अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है पर क्षुल्लिका एक साड़ी सहित किन्तु चादर रहित होकर आहार करती हैं। भगवती आराधना में क्षुल्लिका का उल्लेख मिलता है।²¹

भगवती आराधना में संपूर्ण परिग्रह के त्यागरूप औत्सर्गिक लिंग में चार बातें आवश्यक मानी गई हैं- अचेलता, केशलोच, शरीरसंस्कार त्याग और प्रतिलेखन (पिच्छी)।²² किन्तु स्त्रियों के अचेलता (नग्नता) का विधान न होते हुए भी अर्थात् तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखते हुए भी उनमें औत्सर्गिक लिंग माना गया है अर्थात् उनमें भी ममत्व त्याग के कारण उपचार से निर्ग्रन्थता का व्यवहार होता है। परिग्रह अल्प कर देने से स्त्री के उत्सर्ग लिंग होता है।²³ इसलिये सागर धर्माभूत में भी कहा है कि एक कौपीन (लंगोटी) मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) भी महाव्रती नहीं कहलाता जबकि आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।²⁴

वस्तुतः स्त्रियों की शरीर प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें अपने शरीर को वस्त्र से सदा ढके रखना आवश्यक है। इसीलिए आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है।²⁵ श्वेताम्बर परंपरा के बृहत्कल्पसूत्र (5/19) में भी कहा है- 'नो कप्पई निगंथीए अचेलियाए होत्तए' अर्थात् निर्ग्रन्थियों (आर्यिकाओं) को अचेलक (निर्वस्त्र) रहना नहीं कल्पता। आचार्य कुन्दकुन्द कृत प्रवचनसार की प्रक्षेपक गाथा में कहा होने पर भी आर्यिकाओं को अपना शरीर वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है अतः विरक्तावस्था में भी

उन्हें वस्त्र धारण का विधान है।²⁶

दौलत 'क्रिया कोश' में कहा है कि आर्यिकायें एक सादी सफेद धोती (साड़ी), पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र रखती हैं। बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं तथा अपने हाथों से केशलुञ्चन करती हैं।²⁷ इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण (उपचार से) और समाचार विधि का आर्यिकायें पालन करती हैं। साड़ी मात्र परिग्रह धारण करती हैं अर्थात् एक बार में एक साड़ी पहनती हैं, ऐसे दो साड़ी का परिग्रह रहता है।²⁸

श्वेताम्बर परंपरा में साध्वी को चार वस्त्र रखने का विधान है। एक वस्त्र दो हाथ का, दो वस्त्र तीन हाथ के और एक वस्त्र चार हाथ का।²⁹ किन्तु ये वस्त्र श्वेत रंग के ही होने चाहिए। श्वेत वस्त्र छोड़कर विविध रंगों आदि से विभूषित जो वस्त्र धारण करती हैं वह आर्या नहीं अपितु उसे शासन की अवहेलना करने वाली वेष-विडम्बनी कहा है।³⁰

आर्यिकाओं की वसतिका-

श्रमणों की तरह आर्यिकाओं को भी सदा अनियत विहार करते हुए संयम धर्मसाधना करते-कराते रहने का विधान है, किन्तु उन्हें विश्राम हेतु रात्रि में या कुछ दिन या चातुर्मास आदि में जहां, जब रुकना पड़ता है, तब उनके ठहरने की वसतिका कैसी होनी चाहिए? इस सबका यहां शास्त्रोक्त रीति से प्रतिपादन किया है।

गृहस्थों के मिश्रण से रहित वसतिका, जहाँ परस्त्री-लंपट, चोर, दुष्टजन, तिर्यज्चों एवं असंयत जनों का संपर्क न हो, साथ ही जहाँ यतियों का निवास या उनकी सन्निकटता न हो, असंज्ञियों (अज्ञानियों) का आना-जाना न हो ऐसी संक्लेश रहित, बाल, वृद्ध आदि सभी के गमनागमन योग्य, विशुद्ध संचार युक्त प्रदेश में दो, तीन अथवा इससे भी अधिक संख्या में एक साथ मिलकर आर्यिकाओं को रहना चाहिए।³¹ श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार जहाँ मनुष्य अधिक एकत्रित होते हों- ऐसे राजपथ-मुख्यमार्ग, धर्मशाला और तीन-चार रास्तों के संगम स्थल पर आर्यिकाओं को नहीं ठहरना चाहिए। खुले स्थान पर तथा बिना फाटक वाले स्थान पर भी नहीं रहना चाहिए।³² जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ साधुओं को नहीं रहना चाहिए किन्तु साध्वियाँ रह सकती हैं।³³

वसतिकाओं में आर्यिकायें मात्सर्यभाव छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल तथा एक दूसरे के रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर रहती हैं। रोष, बैर और मायाचार जैसे विकारों से रहित, लज्जा, मर्यादा और उभयकुल-पितृकुल, पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुकूल आचरण (क्रियाओं) द्वारा अपने चरित्र की रक्षा करती हुई रहती हैं।³⁴ आर्यिकाओं में भय, रोष आदि दोषों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। तभी तो ज्ञानार्णव में कहा है शम, शील और संयम से युक्त अपने वंश में तिलक के समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित ये नारियाँ (आर्यिकायें) धन्य हैं।³⁵

समाचार: विहित एवं निषिद्ध-

चरणानुयोग विषय जैन साहित्य में श्रमण और आर्यिकाओं दोनों के समाचार आदि प्रायः समान रूप से प्रतिपादित हैं।³⁶ मूलाचारकार ने इनके समाचार के विषय में कहा है कि

आर्यिकायें अध्ययन, पुनरावृत्ति (पाठ करने), श्रवण, मनन, कथन, अनुप्रेक्षाओं का चिंतन, तप, विनय तथा संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास रूप उपयोग में सतत तत्पर रहती हैं तथा मन, वचन और कायरूप योग के शुभ अनुष्ठान से सदा युक्त रहती हुई अपनी दैनिकचर्या पूर्ण करती हैं।³⁷

किसी प्रयोजन के बिना परगृह चाहे वह श्रमणों की ही वसतिका क्यों न हो या गृहस्थों का घर हो, वहाँ आर्यिकाओं का जाना निषिद्ध है। यदि भिक्षा, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विशेष प्रयोजन से वहाँ जाना आवश्यक हो तो गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) से आज्ञा लेकर अन्य कुछ आर्यिकाओं के साथ मिलकर जा सकती हैं, अकेले नहीं।³⁸ स्व-पर स्थानों में दुःखार्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन, स्नान (बालकों को स्नानादि कार्य) कराना, भोजन कराना, रसोई पकाना, सूत कातना तथा छह प्रकार का आरंभ अर्थात् जीवघात की कारणभूत क्रिया में आर्यिकायें पूर्णतः निषिद्ध हैं। संयतों के पैरों में मालिश करना, उनका प्रक्षालन करना, गीत गाना आदि कार्य उन्हें पूर्णतः निषिद्ध हैं।³⁹ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और कला- ये जीवघात के हेतुभूत छह प्रकार की आरंभ क्रियायें हैं।⁴⁰ पानी लाना, पानी छानना (छेण), घर को साफ करके कूड़ा-कचरा उठाना, फेंकना, गोबर से लीपना, झाड़ू लगाना और दीवालों को साफ करना- ये जीवघात करने वाली छह प्रकार की आरंभ क्रियायें भी आर्यिकायें नहीं करतीं।⁴¹ मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार में आहार संबन्धी उत्पादन के सोलह दोषों के अन्तर्गत धायकर्म, दूतकर्म आदि कार्य भी इन्हें निषिद्ध हैं।

श्वेताम्बर परंपरा के गच्छाचारपइन्ना नामक प्रकीर्णक ग्रंथ में कहा है- जो आर्यिका गृहस्थी संबन्धी कार्य जैसे- सीना, बुनना, कढ़ाई आदि कार्यों को और अपनी या दूसरे की तेल मालिश आदि कार्य करती हैं वह आर्यिका नहीं हो सकतीं।⁴² जिस गच्छ में आर्यिका गृहस्थ संबन्धी जकार, मकार आदि रूप शासन की अवहेलना सूचक शब्द बोलती हैं वह वेश विडम्बनी तथा अपनी आत्मा को चतुर्गति में घुमाने वाली हैं।⁴³

आहारार्थ गमन विधि-

आहारार्थ अर्थात् भिक्षा कार्य के लिए वे आर्यिकायें तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में स्थविरा (वृद्धा) आर्यिका के साथ मिलकर उनका अनुगमन करती हुई परस्पर एक दूसरे के रक्षण (संभाल) का भाव रखती हुई ईर्या समितिपूर्वक आहारार्थ निकलती हैं।⁴⁴ देव-वन्दना आदि कार्यों के लिए भी उपर्युक्त विधि से गमन करना चाहिए।⁴⁵ आर्यिकायें दिन में एक बार सविधि बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं।⁴⁶ गच्छाचार पइन्ना में कहा है- कार्यवश लघु आर्या मुख्य आर्या के पीछे रहकर अर्थात् स्थविरा के पीछे बैठकर श्रमण प्रमुख के साथ सहज, सरल और निर्विकार वाक्यों द्वारा मृदु वचन बोले तो वही वास्तविक गच्छ कहलाता है।⁴⁷

स्वाध्याय संबन्धी विधान-

मुनि और आर्यिका आदि सभी के लिए स्वाध्याय आवश्यक होता है। बट्टेकर स्वामी ने स्वाध्याय के विषय में आर्यिकाओं के लिए लिखा है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर, इनके द्वारा कथित सूत्रग्रंथ, अंगग्रंथ तथा पूर्वग्रंथ, इन सबका

अस्वाध्यायकाल में अध्ययन मन्दबुद्धि के श्रमणों और आर्यिका समूह के लिए निषिद्ध हैं। अन्य मुनीश्वरों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की शुद्धि के बिना उपर्युक्त सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध हैं। किन्तु इन सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान, आवश्यक तथा धर्मकथा संबन्धी ग्रंथों को एवं ऐसे ही अन्यान्य ग्रंथों को आर्यिका आदि सभी अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकती हैं।⁴⁸

वंदना-विनय संबन्धी व्यवहार-

यह पहले ही कहा गया है कि शास्त्रों के अनुसार सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका से भी नव दीक्षित श्रमण पूज्य और ज्येष्ठ माना गया है। अतः स्वाभाविक है कि आर्यिकायें श्रमण के प्रति अपना विनय प्रकट करती हैं। आर्यिकाओं के द्वारा श्रमणों की वंदना विधि के विषय में कहा है कि आर्यिकाओं को आचार्य की वंदना पाँच हाथ दूर से, उपाध्याय की वंदना छह हाथ दूर से एवं साधु की वंदना सात हाथ दूर से गवासन पूर्वक बैठकर ही करनी चाहिए।

यहाँ सूरि (आचार्य), अध्यापक (उपाध्याय) एवं साधु शब्द से यह भी सूचित होता है कि आचार्य से पाँच हाथ दूर से ही आलोचना एवं वंदना करना चाहिए। उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर अध्ययन करना चाहिए एवं सात हाथ दूर से साधु की वंदना, स्तुति आदि कार्य करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं।⁴⁹ मोक्षपाहुड (गाथा 12) की टीका के अनुसार श्रमण और आर्यिका के बीच परस्पर वंदना उपयुक्त तो नहीं है, किन्तु यदि आर्यिकायें वंदना करें तो श्रमण को उनके लिए “समाधिरस्तु” या “कर्मक्षयोऽस्तु” कहना चाहिए। श्रावक जब इनकी वंदना करता है तो उन्हें सादर “वन्दामि” शब्द बोलता है।

आर्यिका और श्रमण संघः परस्पर संबन्धों की मर्यादा-

आचार विषयक जैन आगम साहित्य में श्रमण संघ को निर्दोष एवं सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक दृष्टियों से स्त्रियों के संसर्ग से, चाहे वह आर्यिका भले ही हो, दूर रहने का विधान किया है। यही कारण है कि श्रमण संघ आरंभ से अर्थात् प्राचीन काल से आज तक बिना किसी बाधा या अपवाद के अपनी अक्षुण्णता बनाये हुए है।

श्रमणों और आर्यिकाओं का संबन्ध (परस्पर व्यवहार) धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। यदि आवश्यक हुआ तो कुछ आर्यिकायें एक साथ मिलकर श्रमण से धार्मिक शास्त्रों के अध्ययन, शंका-समाधान आदि कार्य कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले श्रमण और आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा-वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञाकोप, अनवस्था (मूल का ही विनाश), मिथ्यात्वाराधना, आत्मनाश और संयम की विराधना, इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों से दूषित होगा।⁵⁰

अध्ययन या शंका-समाधान आदि धार्मिक कार्य के लिए आर्यिकायें या स्त्रियाँ यदि श्रमण संघ आयें तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए किन्तु कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना भी ठीक है।⁵¹ एक आर्यिका कुछ प्रश्नादि पूछे तो अकेला श्रमण उसका उत्तर न दे, अपितु कुछ श्रमणों के सामने उत्तर दे। यदि कोई आर्यिका अपनी पुस्तक अर्थात् आर्यिका गणिनी के साथ उसे

आगे करके कोई प्रश्न पूछे तब अकेले श्रमण उसका उत्तर दे सकता है अर्थात् मार्गप्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रश्नोत्तरों आदि का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं।⁵²

आर्यिकाओं की वसतिका में श्रमणों को नहीं जाना, ठहरना चाहिए, वहाँ क्षणमात्र या कुछ समय तक की (अल्पकालिक) क्रियायें भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा-ग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियायें पूर्णतः निषिद्ध हैं।⁵³

वृद्ध तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य (प्रामाणिक) श्रमण भी यदि आर्याजन (आर्यिका आदि) से संसर्ग रखता है तो वह लोकापवाद का भागी (लोगों की निंदा का स्थान) बन जाता है।⁵⁴ तब जो श्रमण अवस्था में तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं है और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजन के संसर्ग से लोकापवाद के भागी क्यों नहीं होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे। अतः यथासंभव इनके संसर्ग से दूर रहकर अपनी संयमसाधना करना चाहिए।

आर्यिकाओं के उपाश्रय में ठहरने वाला श्रमण लोकापवाद रूप व्यवहार निंदा तथा व्रतभंग रूप परमार्थ निंदा इन दोनों को प्राप्त होता है।⁵⁵ इस प्रकार साधु को केवल आर्याजनों के संसर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए अपितु अन्य भी जो-जो वस्तु साधु को परतंत्र करती हैं उस-उस वस्तु का त्याग करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसके त्याग से उसका संयम दृढ़ होगा। क्योंकि बाह्य वस्तु के निमित्त से होने वाला असंयम उस वस्तु के त्याग से ही संभव होता है।⁵⁶

आर्यिकाओं के गणधर

आर्यिकाओं की दीक्षा, शंका-समाधान, शास्त्राध्ययन आदि कार्यों के लिए श्रमणों के संपर्क में आना आवश्यक होता है। श्रमण संघ की इस व्यवस्था के अनुसार साधारण श्रमणों की अकेले आर्यिकाओं से बातचीत आदि का निषेध है। आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि विधि संपन्न कराने के लिए गणधर मुनि की व्यवस्था का विधान है।

आर्यिकाओं के गणधर (आचार्य आदि विशेष) को निम्नलिखित गुणों से संपन्न माना गया है। प्रियधर्मा, दृढधर्मा, संविग्नी (धर्म और धर्मफल में अतिशय उत्साह वाला), अवद्य (पाप) भीरू, परिशुद्ध (शुद्ध आचरण वाले), संग्रह (दीक्षा, उपदेश आदि द्वारा शिष्यों के ग्रहण संग्रह) और अनुग्रह में कुशल, सतत सारक्षण (पापक्रियाओं से सर्वथा निवृत्ति) से युक्त, गंभीर, दुर्द्धष (स्थिर चित्त एवं निर्भय अन्तःकरण युक्त), मितभाषी, अल्पकौतुकयुक्त, चिरप्रवर्जित और गृहीतार्थ (तत्त्वों के ज्ञाता) आदि गुणों से युक्त आर्यिकाओं के मर्यादा उपदेशक गणधर (आचार्य) होते हैं।⁵⁷

इन गुणों से युक्त श्रमण तो अपने आप में पूर्णत्व को प्राप्त करने वाला होता है और यह तो श्रमणत्व की कसौटी भी है। ऐसे गणधर आर्यिकाओं को आदर्श रूप में प्रतिक्रमणादि विधि संपन्न करा सकते हैं। उपर्युक्त गुणों से रहित श्रमण यदि गणधरत्व धारण करके आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण कराते एवं प्रायश्चित्तादि देता है तब उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ, इन चार कालों की विराधना होती है। अथवा छेद, मूल, परिहार और पारिचिक, ये चार प्रायश्चित्त लेने पड़ते हैं। साथ ही ऋषिकुल रूप गच्छ

या संघ, कुल, श्रावक एवं मिथ्यादृष्टि आदि इन सबकी विराधना हो जाती है। अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओं का पोषण करते हैं तो व्यवस्था बिगड़ जाने से संघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नहीं करेंगे। इससे संघ और उसका अनुशासन बिगड़ता है।

इस प्रकार श्रमणसंघ के अन्तर्गत आर्यिकाओं की विशिष्ट आचार पद्धति और उसकी महत्ता का यहाँ प्रतिपादन किया गया, शेष नियमोपनियम श्रमणों जैसे ही हैं।

संदर्भ-

1. मूलाचार सवृत्ति 4/187
2. ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं॥ प्रवचनसार, 225/5
3. स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात्- मोक्खपाहुड टीका, 12
4. वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खओ साहू।
अभिगमण वंदण नमसणेण विणएण सो पुज्जो॥ मोक्खपाहुड टीका 12/1
5. प्रवचनसार, 225/7
6. सुत्तपाहुड गाथा 7
7. सुत्तपाहुड 26
8. बृहत्कल्प 5/11-34 तक (चारित्र प्रकाश, पृ. 139)
9. अंगुत्तरनिकाय 1/9
10. भगवती आराधना 296 तथा वि. टीका 421
11. वही 4/180, 10/61
12. मूलाचार वृत्ति 4/177
13. त्यक्ताशेष गृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता। पद्मपुराण
14. श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिका। वही
15. गणिणी...मूलाचार 4/178, 192, गणिनीं महत्तरिकां- वही वृत्ति 4/178, 192
16. थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरति सदा। मूलाचार 4/194
17. मूलाचार 4/190
18. मूलाचार वृत्ति 4/190
19. सुत्तपाहुड 10, 21, 22
20. लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ॥ सुत्तपाहुड 22
21. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका 22
22. खुड्डा य खुड्डियाओ.... भ. आ. 296
23. भ. आ. 79
24. भ. आ. 80 विजयोदया टीका सहित
25. सागारधर्मामृत 8/37
26. आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया- भ.आ. विजयोदया 423, पृष्ठ 324
27. प्रवचनसार गाथा 225 के बाद प्रक्षेपक गाथा 5
28. क्रियाकोषः महाकवि दौलतरामकृत
29. प्रायश्चित्त संग्रह 119
30. आचारांग सूत्र 2/5/141
31. अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विशुद्धसंचारो।

- दो तिणिण व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति॥ मूलाचार 4/191 वृत्तिसहित
32. बृहत्कल्प भाष्य उ. 1/2, 2/11, 1
33. बृहत्कल्प सूत्र प्रथम उद्देश प्रतिबद्धशयासूत्र (जै. सा. का. वृ. इति. भाग 2, पृष्ठ 241)
34. अण्णोणणणुकूलाओ अण्णोणाहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ॥ मूलाचार 4/188
35. ज्ञानार्वण 12/57
36. हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पृष्ठ 473
37. मूलाचार 4/189
38. ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छिता संघाडेणेव गच्छेज्ज॥ मूलाचार 4/192
39. रोदणणहावणभेयजपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खणं धोवणगेयं च ण य कुज्जा॥ -मूलाचार 4/193
40. असिमसिकृषि वाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून्। -मूलाचार वृत्ति 4/193
41. कुन्द. मूलाचार 4/74
42. गच्छाचार पइन्ना 113
43. वही 110
44. तिणिण व पंच व सत्त व अज्जओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरन्ति सदा॥ मूलाचार 4/194
45. वही वृत्ति
46. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका 22 तथा दौलत क्रियाकोश
47. गच्छाचार पइन्ना, 129-130
48. मूलाचार 5/80-82, वृत्तिसहित
49. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधु य।
परिहरिऊण ज्जाओ गवासणेणेव वंदंति॥ -मूलाचार 4/195 वृत्ति सहित
50. मूलाचार 4/179 वृत्ति सहित
51. वही 4/177 वृत्ति सहित
52. तासिं पुण पुच्छओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं॥ वही 4/178 वृत्ति सहित
53. मूलाचार 4/180, 10/61 वृत्ति सहित।
54. वही, 331
55. मूलाचार 10/62
56. भगवती आराधना गाथा 334, 338
57. मूलाचार 4/183, 184, बृहत्कल्प भाष्य 2050

- बी-23/45, अनेकान्त भवन,
शारदा नगर कालोनी,
खोजवाँ, वाराणसी (उ०प्र०)

जैनपरम्परा का श्रावकाचारः आधुनिक संदर्भ में

- डॉ. कमलेश कुमार जैन

जीव या आत्मा को जड़ या अचेतन से भिन्न एक स्वतंत्र पदार्थ स्वीकार करके उसके सर्वश्रेष्ठ स्वरूप की खोज के रूप में मुक्ति या मोक्ष की अवधारणा भारतीय चिंतन का अद्वितीय अवदान है। जैन परंपरा में मुक्ति या मोक्ष प्राप्ति के लिए संन्यस्त एवं गृहस्थ की स्वतंत्र आचार संहिता का विधान व विकास हुआ है और आचार की परिपूर्णता के लिए वस्तु तत्त्व के प्रति सम्यग्दृष्टि और उसका परिज्ञान अपरिहार्य माना गया है। इन दोनों के बिना चारित्र का पालन भी सम्यक् नहीं हो सकता। यह चारित्र चाहे संन्यस्त श्रमण का हो अथवा गृहस्थ श्रावक का, दोनों के लिए सदृष्टि एवं शुद्ध ज्ञान अनिवार्य माने गये हैं। श्रमण या मुनि जहाँ मूलगुणों व उत्तरगुणों के आधार पर अपनी मोक्ष साधना के सोपान तय करता है, वहीं गृहस्थ श्रावक अहिंसादि बारहव्रतों, दर्शनादि ग्यारह प्रतिमाओं अथवा अष्टमूलगुणों या षडावश्यकों आदि के द्वारा अपनी मुनि या आर्यिका बनने की साधना पूर्ण करता है और अन्त में दोनों, सल्लेखना व्रत को धारण कर अपने शरीर का अन्त करते हैं।

जैन परंपरा में चतुर्विध संघ की स्थापना अहिंसा की प्रतिष्ठा एवं समभाव की साधना के लिए की गई है। जिस प्रकार वैदिक परंपरा में चातुर्वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र) व्यवस्था के द्वारा सामाजिक जीवन का विधान किया गया है, उसी प्रकार जैन परंपरा में चतुर्विध संघ (मुनि-आर्यिका अथवा साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका) व्यवस्था का प्रतिपादन है। इस समाज व्यवस्था का आधार भी पाश्विक वृत्तियों के नियंत्रण की दृष्टि से स्वतंत्र महत्त्व रखता है।

इस प्रकार जैन परंपरा में चतुर्विध संघ की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये चार ऐसे घटक तत्त्व हैं, जिनके ऊपर जिनधर्म या जैन परंपरा का महाप्रासाद आधारित है। शास्त्रों में इन्हें श्रमण-श्रमणोपासक, अनगार-सागार, संन्यस्त-गृहस्थ, व्रती-अव्रती आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। इन सभी नामों की अपनी स्वतंत्र महत्ता एवं उपयोगिता है। जिस प्रकार किसी मकान या महल के चार खम्भों में से किसी एक खम्भे के कमजोर या असंतुलित हो जाने पर संपूर्ण मकान या महल का संतुलन बिगड़ जाता है, उसी प्रकार यदि चतुर्विध संघ में से कोई एक अंग अस्वस्थ होता है तो समस्त ढांचा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अतएव जैनधर्म में प्रत्येक घटक का अपना स्वतंत्र एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आज के भोगप्रधान, उत्सव एवं प्रदर्शन प्रिय भौतिकवादी युग में श्रावक-श्राविका के आचार की चर्चा समय की मांग है और समय की यह भी अपेक्षा है कि परंपरा प्राप्त शास्त्रों में वर्णित श्रावकाचार विषयक विधानों/ निर्देशों की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करके

उनकी उपयोगिता एवं महत्ता स्पष्ट की जाये।

आचार या चरित्र का अर्थ है आचरण। गृहस्थ श्रावक के द्वारा किये जाने वाला आचरण या व्यवहार श्रावकाचार कहलाता है। इस प्रकार व्यक्ति का सोचना, बोलना और करना, उसका आचार कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के द्वारा मन, वचन और शरीर का उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ प्रयोग ही मनुष्य को स्वयं सुखी-दुःखी करता है और दूसरों को सुखी-दुःखी करता है।

वस्तुतः विश्व में दो विचारधाराएँ प्रायः प्रारंभ से प्रचलित रही हैं और आज भी प्रचलित हैं। एक है भौतिक, भोगवादी या प्रवृत्तिपरक धारा और दूसरी धारा है त्यागपरक, आध्यात्मिक अथवा निवृत्तिपरक। पहली भौतिकधारा भोगप्रधान है, इसका लक्ष्य या प्रयोजन असीम और अनन्त भोग हैं। दर्शन की भाषा में इसे चार्वाकी धारा कहा जा सकता है। उसका उद्घोष है- खाओ, पीओ और मौज करो। इस धारा का आदर्श है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥^१

प्रायः संपूर्ण विश्व इस विचारधारा से ग्रस्त है। दूसरी धारा त्यागमयी या निवृत्तिपरक है। इस धारा का उद्देश्य अनन्त एवं असीम भोगों को भोगना और भोगने की इच्छा नहीं, अपितु उन अनन्त एवं असीम भोगों को त्यागना और परिमाण में भोगना है। इस निवृत्तिपरक धारा का प्रतिनिधित्व निर्ग्रन्थ या जैनपरंपरा करती है। निर्ग्रन्थ परंपरा में मान्य गृहस्थ श्रावक उक्त दोनों परंपराओं के बीच की स्थिति में होता है। यह श्रावक भोगों का पूर्णतः त्यागी न होकर उनकी मर्यादाएँ तय करता है, परिमाण निश्चित करता है। इन्हीं भावनाओं के अन्तर्गत उसके अहिंसादि बारह व्रत, अष्टमूलगुण, षडावश्यक आदि आते हैं।

श्रावक या श्राविका शब्द का सामान्य अर्थ है सुनने वाला या सुनने वाली। वह आचार्य आदि परमेश्वरी गुरुओं से धार्मिक उपदेश को सुनता या सुनती है। तीर्थंकर रूप परमगुरु की समवशरण सभा में भी यही गृहस्थ मनुष्य धर्मोपदेश का श्रोता होता है। इसीलिए श्रावक की परिभाषा करते हुए कहा गया है- **शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः।^२** इस प्रकार श्रावक शब्द का अर्थ सामान्य गृहस्थ से उत्कृष्ट और अर्थगंभीर वाला है। अन्यत्र भी श्रावक की यही परिभाषा की गई है-

शृणोति धर्मतत्त्वं यः परान् श्रावयति श्रुतम्।

श्रद्धावान् जैनधर्मे सः सत्क्रियश्रावको बुधः॥^३

अर्थात् जो व्यक्ति धर्मतत्त्व को सुनता है और सुने हुए धर्मतत्त्व को दूसरों को सुनाता है तथा जिनधर्म या जैनधर्म में आस्था रखने वाला है, वह सत्क्रियाओं से युक्त समझदार श्रावक कहलाता है। **श्रावं श्रावं करोतीति श्रावकः^४** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो बार-बार सुनता है, वह भी श्रावक कहलाता है।

जैन परंपरा में श्रावक-श्राविकाओं के आचार संबद्ध अनेक परंपराओं या पद्धतियों का विकास हुआ है। इस सब विषय को देखकर पता चलता है कि विवक्षा भेद से अथवा उस समय की सामाजिक परिस्थितियों के कारण जैन आचार्यों एवं लेखकों की विवेचन

पद्धति में कुछ अन्तर पाया जाता है। अहिंसादि पाँच अणुव्रत, दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत और सामायिकादि चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों का आचरण और मरणान्त में सल्लेखना, यह एक पद्धति है।⁵ दूसरी पद्धति के अनुसार श्रावक के अष्ट मूलगुण हैं। इन आठ मूलगुणों के विषय में भी आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में गृहस्थ के आठ मूलगुण बताए हैं। इन आठ मूलगुणों के अन्तर्गत अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का पालन एवं मद्य, मांस और मधु (शहद) इन तीन मकारों का त्याग आता है। वे कहते हैं-

मद्य-मांस मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्ग्रहिणां श्रमणोत्तमाः॥⁶

आचार्य जयसेन ने अष्टमूलगुणों में पाँच अणुव्रतों के साथ मद्य एवं मांस को स्वीकार करते हुए मधु के स्थान पर द्यूत (जुआ) के त्याग का उपदेश दिया है। कुछ आचार्यों ने (शिवकोटि, जयसेन, अमृतचन्द्र, सोमदेव, रङ्गू आदि ने) पाँच उदम्बर (बड़, पीपल, गूलर, कटूमर, ऊमर) फलों के त्याग के साथ मद्य, मांस एवं मधु के त्याग को श्रावक के अष्ट मूलगुण बताया है। पं. आशाधर ने तो मद्य, मांस, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पाँच उदम्बर एवं बहुजीवी फल त्याग, नियमित देवदर्शन, जीवदया एवं जलगालन, ये आठ मूलगुण गिनाए हैं।⁷

पण्डितप्रवर आशाधर ने श्रावक या श्राविका धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि दोष रहित सम्यक्त्व, अतिचार (दोष) रहित अहिंसादि पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों (दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत) और चार शिक्षाव्रतों (सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और भोगोपभोगपरिमाणव्रत) तथा मरते समय विधिपूर्वक सल्लेखना व्रत ग्रहण, यह सब सागार या श्रावक धर्म कहलाता है-

सम्यक्त्वममलममलान्यगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।

सल्लेखना च विधिना पूर्णसागारधर्मोऽयम्॥⁸

श्रद्धा, विवेक और शुद्ध आचरण पूर्वक उपर्युक्त व्रतों (नियमों) का पालन करना तथा अहिंसादि महाव्रतों आदि को धारण करने की भावना (वह घड़ी कब पाऊँ मुनिव्रत धर वन को जाऊँ) भाते रहना और उसके अनुसार प्रयत्नशील रहना, श्रावकाचार है। इस प्रकार श्रावकाचार मुनि योग्य महाव्रतों को धारण करने का आधार है।

यहाँ पर अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रत एवं अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रत के विशेष संदर्भ में श्रावकाचार की चर्चा की जा रही है।

अनर्थदण्डविरति-

श्रावक के बारह व्रतों के अन्तर्गत तीन गुणव्रत हैं। ये गुणव्रत इसलिए कहलाते हैं कि इनके द्वारा पाँच अणुव्रतों में गुणात्मक वृद्धि होती है। इन तीन में भी अनर्थदण्ड एक ऐसा पापात्मक प्रबल कारण है, जिसके त्याग को शास्त्रकारों ने बारहव्रतों का मूल तक कह दिया है। बात यह है कि हमारे दैनन्दिन कार्यों में अधिकतम प्रवृत्तियाँ निष्प्रयोजनीय होती हैं। यदि

श्रावक या श्राविका एक मात्र इसी व्रत का दोष रहित पालन करे तो बहुत से पापाम्रवों से बचा जा सकता है।

दिशाओं की मर्यादा पूर्वक, बिना प्रयोजन पापबन्ध के कारणभूत कार्यों से विरक्त होना अनर्थदण्डविरति कहलाता है।⁹ अनर्थदण्ड पापाम्रव का एक ऐसा कारण है, जिससे व्यक्ति बिना किसी मतलब के पाप कार्य करता है, इससे अपना प्रयोजन तो सिद्ध होता नहीं है, केवल पाप का बन्ध होता है। अनर्थदण्डविरति में निष्प्रयोजनभूत पाप कार्यों का त्याग किया जाता है।

अनर्थदण्ड पाँच कारणों से होता है, इसलिए अनर्थदण्ड के पाँच प्रकार माने गये हैं— (1) पापोपदेश, (2) हिंसादान, (3) अपध्यान, (4) दुःश्रुति और (5) प्रमादचर्या।¹⁰ आचार्य अमृतचन्द ने द्यूतक्रीड़ा (जुआ) को छठा अनर्थदण्ड घोषित किया है।¹¹

१. पापोपदेश अनर्थदण्ड—

बिना प्रयोजन दूसरों को पाप का उपदेश अर्थात् परामर्शादि देना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अनुसार बिना कारण किसी पुरुष को आजीविका के साधन विद्या, वाणिज्य (व्यापार), लेखन-कला, खेती, नौकरी और शिल्प आदि अनेक प्रकार के कार्यों एवं उपायों का उपदेश देना, यह सब अनर्थदण्ड (बेकार की हिंसा) के अन्तर्गत आता है। वे कहते हैं—

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसां।

पापोपदेशदान कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्॥^{१२}

अतः गृहस्थ श्रावकों को इस तरह के उपदेश-सलाह आदि का त्याग कर देना चाहिए। कुछ शास्त्रकारों का तो यह भी कहना है कि हिंसा, झूठ, खेती-व्यापार एवं स्त्री-पुरुष समागम आदि से संबद्ध समस्त उपदेश आदि वचन व्यापार पापोपदेश के अन्तर्गत हैं—

जो उवएसो दिज्जदि किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु।

पुरसित्थीसंजोए अणत्थदण्डो हवे विदिओ॥^{१३}

एक समय था जब व्यापार-उद्योग आदि का निर्णय करते समय यह विशेष ध्यान रखा जाता था कि अमुक व्यापार या उद्योगादि में हिंसा तो नहीं होगी परन्तु आज कितने लोग हैं जो इन सब बातों पर विचार करके व्यापारादि कार्य करते हैं।

२. हिंसादान अनर्थदण्ड—

बिना प्रयोजन हिंसाजनक उपकरणों का दान, जिनसे हिंसा हो सकती हो, हिंसादान अनर्थदण्ड कहा जाता है। अस्त्र, शस्त्र, कीटनाशक, विषैली गैस, फरसा, तलवार, धनुष, कुदाल, हल, करवाल, सांकल, काटा, विष, रस्सी, चाबुक, दण्ड, अग्नि आदि हिंसा के उपकरणों का दान हिंसादान कहलाता है।¹⁴

स्वामी कार्तिकेय ने तो बिल्ली, कुत्ता आदि हिंसक जानवरों को पालने में हिंसादान नामक अनर्थदण्ड बताया है।¹⁵ आजकल यह देखने में आता है कि तथाकथित आधुनिकता अथवा बच्चों के कहने पर या स्वयं ही अपनी इच्छा से कुछ घरों में कुत्ते-बिल्लियाँ आदि

पाले जाते हैं। उन्हें इस विषय में अवश्य विचार करना चाहिए।

३. अपध्यान अनर्थदण्ड

अपने व दूसरों के बारे में बुरा सोचना-विचारना अपध्यान कहलाता है। दूसरों की हार, जीत, मारना, बांधना, अंग छेदना, धन का चुराना आदि कार्य कैसे किये जायें, यह एवं इसी प्रकार का अशुभ चिंतन करना, अपध्यान की श्रेणी में आता है। इन सब का फल पाप बंध ही होता है।

इस तरह के कार्यों में कितने गृहस्थ श्रावक अपने समय व शक्ति का अपव्यय करते हैं, इस पर सबको विचार करने की जरूरत है।

४. दुःश्रुति अनर्थदण्ड

दुःश्रुति को अशुभश्रुति भी कहते हैं। हिंसा, राग-द्वेष, मिथ्यात्व, परिग्रह, आरंभ, दुःसाहस, कामवासना, गर्व आदि को बढ़ाने वाली दूषित कथाओं को पढ़ना, सुनना, उनकी शिक्षा देना आदि कार्य दुःश्रुति के अन्तर्गत आता है। गन्दे मजाक, वशीकरण, कामभोग कथा, परदोषों की चर्चा सुनना भी दुःश्रुति कही जाती है।

आजकल दूरदर्शन (टी.वी.) के विभिन्न चैनल्स पर जो फिल्म, धारावाहिक और अन्यान्य कार्यक्रम दिखाये जाते हैं वे सभी इस दुःश्रुति के अन्तर्गत आते हैं। कारण यह है इन कार्यक्रमों को देख सुनकर हृदय राग-द्वेषादि से कलुषित हो जाता है, इसलिए इन्हें सुनने के कारण इन्हें दुःश्रुति या अशुभश्रुति कहते हैं। यद्यपि इन कार्यक्रमों में कुछ एक कार्यक्रम ऐसे भी होते हैं जो घर परिवार व समाज के लिए उपयोगी व शिक्षा प्रदान करते हैं, परन्तु ऐसे कार्यक्रमों की संख्या नगण्य होती है। अतः इस संबन्ध में भी गृहस्थ को चिंतन करना चाहिए।

५. प्रमादचर्या

विना प्रयोजन वृक्षादि का छेदना, भूमि का कूटना या खोदना, पानी का सींचना, अग्नि आरंभ, वायु आरंभ आदि पाप कार्य प्रमादाचरित या प्रमादचर्या कहलाते हैं।¹⁸

अतिथिसंविभाग व्रत-

चार शिक्षाव्रतों में अतिथिसंविभाग एक ऐसा व्रत है, जिसका संबन्ध स्व-पर से अधिक होता है। भोजन करने के पहले साधु-संतों के लिए द्वार पर प्रेक्षण (देखा) किया जाता है। गृहस्थ श्रावक अतिथिसंविभाग व्रत के पालन हेतु व्रती आदि को भक्तिपूर्वक आहारादि कराता है। अतिथिसंविभाग का सरल सा अर्थ है- उचित मात्रा में अन्य लोगों को लाभ। इस तरह महाव्रती, व्रती अथवा अव्रती श्रावक, इन तीन प्रकार के पात्रों को स्वयं के लिए बनाए अथवा अपने परिवार के लिए तैयार किये गये पवित्र भोजनादि में से विभाग करके विधि पूर्वक दान देना, अतिथिसंविभाग कहलाता है।¹⁹

मुनि या महाव्रती की रत्नत्रय साधना चलती रहे, इसके लिए उसका शरीर से स्वस्थ रहना परमावश्यक है। कहा भी गया है- शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्। शरीर की स्थिति बनाए रखने के लिए मूलभूत आवश्यकता भोजन है। अतः गृहस्थ श्रावक का परम कर्तव्य

है कि महाव्रती आदि को भक्तिपूर्वक शुद्ध आहार दान दे।

प्रश्न यह उठता है कि आज गृहस्थ के घर में इतना पवित्र, शुद्ध एवं सात्त्विक भोजन तैयार होता है? जो किसी व्रती या महाव्रती को परोसा जा सके। आज तो संकट यह होता है कि चौका कौन लगाये? और संयोग से महाव्रतियों का संघ आ जाये तो स्थिति और विषम हो जाती है। इसका कारण शायद यही है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने गृहस्थों की रसोई में धावा बोल रखा है। डिब्बा बन्द संस्कृति हमारे घरों में प्रवेश कर गई हैं। माताएँ बहिर्न इतनी सुखशील होती जा रही हैं या कहें कि तथाकथित आधुनिकता के कारण उन्हें घर के कार्य करते हुए अच्छा नहीं लगता या शर्म आती है। बाजार सामग्रियों से पटे पड़े हैं। बाजार जाओ और अपने-अपने पसंद का सामान बंद पैकिटों में घर ले आओ न समय की मर्यादा है, और न भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार और न किसी अन्य बात की चिन्ता। प्रीजर्वेटिब्स (रसायन विशेष) ने वस्तुओं की उम्र कई गुना बढ़ा दी है। यही रसायन जब वस्तुओं के माध्यम से हमारे शरीर में जाता है तो अनेक प्रकार के रोग भी पैदा करता है।

वस्तुतः आज के समय में गृहस्थ की दोहरी भूमिका है। एक ओर वह महाव्रतियों का संरक्षक या पोषणकर्त्ता है दूसरी ओर वह स्वयं साधक है और मुनि संस्था का नियंत्रक पर्यवेक्षक भी। लेकिन शायद वह अपनी इस दोहरी भूमिका को निभा नहीं पा रहा है। इसीलिए प्रायः यह एक आलोचना का विषय बना रहता है कि श्रमण संघ परिग्रही होता जा रहा है। यह बात किसी हद तक सही भी है। परन्तु हमें यह भी विचार करना है कि इस सबमें गृहस्थों की क्या भूमिका है? इस विषय में एक-दो प्रसंग ध्यान देने योग्य हैं—

एक बार कुछ लोगों ने आचार्य शान्तिसागर के पास जाकर शिकायत करते हुए कहा कि महाराज! कुछ साधुओं में आचार के प्रति शिथिलता देखी जाती है, परिग्रह का साथ देखा जाता है, इससे जैन परंपरा के साधुओं, विशेषकर दिगम्बर साधुओं की छवि खराब होती है। इससे बचने का उपाय बताइये। तब आचार्य श्री ने कहा था—साधु-साध्वियों को परिग्रह देता कौन है? उन्हें शिथिल बनाता कौन है? आप गृहस्थ ही न। इसलिए पहले गृहस्थ को सुधारना आवश्यक है। श्रावक अपने श्रावक धर्म अर्थात् कर्त्तव्य को समझे/जाने। श्रावकों में शिक्षा व स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ने से ही वे अपने साधु-संतों के धर्म (कर्त्तव्य) को अच्छी तरह समझ सकेंगे।^{१०}

आचार्य धर्मसागर महाराज ने भी किसी प्रसंग में कहा था कि जब मुनि या आर्यिका दीक्षा होती है तो दीक्षित व्यक्ति के पास पीछी कमण्डलु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता। श्रावकों के पुनः संपर्क में आकर कुछ मुनि परिग्रह संबन्धी दोष से युक्त हो जाते हैं। इससे समाज में उनकी आलोचना होती है। अतः समाज के लोगों को चाहिए कि वे साधक को परिग्रही न बनाएँ।

वस्तुतः मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविका, परस्पर में एक दूसरे के पूरक हैं, शोभा के कारण हैं। जिस प्रकार कमल से जल की शोभा होती है और जल से ही कमल अलंकृत होता है, लेकिन सरोवर या तालाब में जब जल और कमल, दोनों हों तो वह सुशोभित होता है और कंगन की शोभा उसमें मणि-मोतियों के लगे होने पर होती है और मणि मोती भी

कंगन आदि में जड़े होने पर शोभा पाते हैं। परन्तु हाथ की शोभा तो मणि-मोती जड़े कंगन से ही होती है। जैसा कि किसी ने कहा है-

पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः।

मणिना वलयं वलयेन मणिः मणिना वलयेन विभाति सरः॥^{१९}

उसी प्रकार श्रावक-श्राविकाओं से मुनि-आर्यिकाओं, साधु-साध्वियों की शोभा है, अस्तित्व है और मुनि-आर्यिकाओं अथवा साधु-साध्वियों से श्रावक-श्राविकाओं की शोभा है तथा मुनि आर्यिकाओं और श्रावक-श्राविकाओं से समाज, संघ व राष्ट्र की शोभा है, वशर्ते कि दोनों अपनी सीमाओं का उल्लंघन न करें और अपने-अपने कर्तव्यों को समझें।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जैनसंघ एवं संस्कृति में श्रावक की महत्वपूर्ण भूमिका है। जैन साहित्य में निर्देशित श्रावक की आचार संहिता आज के अर्थप्रधान भौतिकतावादी युग में और अधिक प्रासंगिक हो गयी है। श्रावकाचार विषयक व्रतों/ नियमों का पालन करने से व्यक्ति स्वयं सुख, शांति एवं संतोष का अनुभव तो करता ही है, उसके साथ रहने वाले और संपर्क में आने वाले जन भी उससे प्रभावित होते हैं तथा सुख, संतोष एवं शांति का अनुभव करते हैं। श्रावकाचार के पालन से व्यक्ति घर, समाज एवं देश का सभ्य, सुशील एवं अनुकरणीय नागरिक बन जाता है और अन्त में अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक कर्तव्यों का आचरण करते हुए आत्म कल्याण कर सकता है। परन्तु आजकल जिस तरह परंपरागत मूल्य एवं मर्यादाएँ निरंतर टूट रही हैं, उससे लगता है कि यदि यही क्रम रहा तो जिनधर्म एवं संस्कृति का हास व लोप भी हो सकता है, अतः सभी को सतर्क जागृत एवं संभलने की जरूरत है।

संदर्भ-

1. चार्वाकमत के रूप में प्रसिद्ध कथन।
2. श्रावकाचारः दिशा और दृष्टि, अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् ट्रस्ट, जयपुर सन् 2003, पृष्ठ 23 पर उद्धृत।
3. संयमप्रकाश, श्रावकाचारः दिशा और दृष्टि, पृ. 24 पर उद्धृत।
4. वही, पृष्ठ 24 पर उद्धृत।
5. तत्त्वार्थसूत्र और उनके टीकाकार आदि।
6. रत्नकरण्डश्रावकाचार, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद् सन् 1994, श्लोक 66
7. श्रावकाचारः दिशा और दृष्टि, पृष्ठ 8-9
8. सागारधर्मामृत, श्रावकाचारः दिशा और दृष्टि, पृ. 151 पर उद्धृत।
9. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 74
10. वही, श्लोक 75
11. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अनेकान्तविद्वत् परिषद् पद्य 141-147
12. वही, पद्य 142
13. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, सन् 2005 पद्य 345 एवं टीका।
14. रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक 77
15. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्य 347 एवं टीका।
16. सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सन् 2003, 7.21.703 एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 78

17. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 79
18. वही, श्लोक 80
19. सर्वार्थसिद्धि 7.21.703
20. श्रावकाचार : दिशा और दृष्टि, पृष्ठ 165 पर उद्धृत।
21. सुभाषित (अज्ञात)

- उपाचार्य- राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय) जयपुर परिसर,
जयपुर (राजस्थान)

ज्ञानी-अज्ञानी

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानी समाश्रयः ।

ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः॥

-इष्टोपदेश

अज्ञानी की उपासना करने से अज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञानियों की उपासना से ज्ञान की। जिसके पास जो होता है वह वही तो दे सकता है यह बात तो पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। कपड़े की दुकान पर कपड़ा ही मिलेगा और किराने की दुकान पर किराना, रागी-द्वेषी के पास राग-द्वेष मिलेगा और वीतरागी के पास वीतरागता। अब हमारा विवेक किसकी शरण में जाता है, ये हमें स्वयं विचार करना है।

प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था

- डॉ. मुक्ता बंसल एवं डॉ. मुकेश कुमार

प्राचीन भारतीय व्यवस्थाकारों ने समाज एवं मनुष्य को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने के लिए जिन मान्य परंपराओं, प्रथाओं तथा विधानों को लिपिबद्ध किया है, उन्हीं नियमों को विधि और कानून की संज्ञा प्रदान की गयी। इन विधिक सिद्धांतों को राज्य-संस्था द्वारा स्वीकृत किया गया। इसी कारण इनके अनुपालन के लिए राज्यशक्ति का प्रयोग आवश्यक हुआ। वैदिक युग से ही विधि एवं विधिक संस्थाओं की स्थापना प्रारंभ हो गयी थी। वैदिक साहित्य में विधि द्वारा न्याय करने के संकेत मिलते हैं। उत्तर वैदिक काल में धर्मशास्त्रों, सूत्रसाहित्यों तथा स्मृतिग्रंथों में विभिन्न प्रकार से विधि का स्वरूप निर्मित हुआ। सूत्र साहित्य में विधि का मुख्य आधार वेदों को ही माना गया। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार धर्म-व्यवस्था के मूल स्रोत वेद हैं तथापि इतिहास, स्मृति और आचार से भी धर्म-व्यवस्था का बोध होता है।¹

वैदिक युग में वरुण को प्रशासन और न्याय का अधिष्ठातृ-देवता कहा गया है, जिसके प्रतिनिधि के रूप में राजा इस लोक में राज्य करता है, जो पापियों को दण्ड देता है और सज्जनों की रक्षा करता है। महावीरचरित नाटक में कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रजाजनों के विरुद्ध आचरण करता है और जानबूझकर पाप और अपराध करता है, उसको राजा अवश्य दण्ड देता है।² प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था उन व्यक्तियों द्वारा निर्मित की गयी थी, जो समस्त जीवन का अनुभव प्राप्त किये हुए मनुष्य की चरम अवस्था को प्राप्त कर, सांसारिक जीवन के स्वार्थों से निर्लिप्त थे और जो समाज की व्यवस्था-निर्माण के लिए सबसे अधिक योग्य थे। यह व्यवस्था 'आप्त' वाक्यों के रूप में श्रुति-साहित्य; वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में दी गयी थी और आगे चलकर जिनका स्पष्टीकरण नियमों तथा उपनियमों के रूप में स्मृतियों, धर्मसूत्रों तथा वेदांगों आदि में किया गया था।

प्राचीन भारत में समाज के नियम बनाने का अधिकार राज्य को प्राप्त नहीं था। भारतीय विचारकों तथा समाज-व्यवस्थापकों की धारणा थी कि राजतंत्रात्मक, गणतंत्रात्मक या कुलीनतंत्रात्मक किसी भी राज्य का अधिकार जिन लोगों के पास रहता है, वे सांसारिक दृष्टि से महत्वाकांक्षी होते हैं और अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए वे समस्त उपायों या युक्तियों को करने के लिए तत्पर रहते हैं, वे निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप में सांसारिक जीवन के संघर्षों और स्वार्थों से ऊपर उठकर विचार कर ही नहीं सकते, अतः ऐसे व्यक्तियों के हाथों में समाज के नियम बनाने का अधिकार देना उन्हें मान्य नहीं था। यही कारण है कि समाज के नियम तथा उन नियमों के स्पष्टीकरण के अधिकार के लिए 'परिषद्' नाम की एक संस्था का निर्माण किया गया। 'परिषद्' के

विषय में मनुस्मृति में कहा गया है कि इस स्मृति में बताये गये धर्म के विषय में यदि कोई शंका हो तो जिस नियम को शिष्ट ब्राह्मण मान्यता दे, उसी को शंकारहित होकर धर्म समझना चाहिये अथवा दस या तीन श्रेष्ठ ब्राह्मण की 'परिषद्' में धर्म का निर्णय होना चाहिए।³ याज्ञवल्क्य व पाराशरस्मृतियों तथा गौतमधर्मसूत्र में भी परिषद् के संबंध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं कि धर्म-संशय के निर्णय के लिए तीन व्यक्तियों की परिषद् में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञाता ही रहने चाहिए।⁴ समाज-व्यवस्था के नियमों का समावेश सर्वप्रथम धर्मशास्त्रों; जिनके अन्तर्गत श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराण आदि आते हैं; में किया गया; इनमें राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, वैयक्तिक, शैक्षिक, वैवाहिक आदि सभी प्रकार के नियमों का समावेश किया गया था। इस दृष्टि से धर्मशास्त्रों के नियम भी विधि के रूप में मान्यता रखते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि राज्य कोई नियम ही नहीं बना सकता था। राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू किये जाते थे, उन्हें ही 'राज्यानुशासन' कहा गया है।⁵ कौटिल्य ने विधि के चार स्रोतों का वर्णन करते हुए कहा है कि धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज्यानुशासन व्यवहार के चार पद हैं। इनमें धर्म सत्य में, व्यवहार साक्षियों पर, चरित्र मनुष्यों के संग्रह में और राज्यानुशासन राज्य की आज्ञा में स्थित है।⁶

धर्मशास्त्रों तथा विधिशास्त्रों में आपसी विवादों के नियमों को व्यवहार नाम से संबोधित किया गया है। व्यवहार का अर्थ पारस्परिक विवाद के विविध संदेहों को हरण करने के साधन से है। व्यवहार के नियम धर्मसम्मत होते थे। शुक्रनीति और याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है कि स्मृतियों और आचार के उल्लंघन से यदि कोई दूसरों द्वारा पीड़ित हो और वह राजा के यहाँ आवेदन करे, तो वह क्रिया व्यवहार पद है।⁷ प्राचीन भारतीय मनीषियों एवं राजनैतिक चिंतकों ने राज्य संरचना एवं समाज संरचना में ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया कि सभी प्रकार की विधियों का निर्णय उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा हो, जो उन नियमों की भावनाओं को ठीक प्रकार से समझ सकें और जो उन नियमों के प्रयोग में अधिकृत रीति से बोल सकें।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को मनुष्य का प्रबल शत्रु माना गया है। इनके वशीभूत होकर मनुष्य अपने धर्म का उल्लंघन कर अन्य व्यक्तियों को कष्ट अथवा हानि पहुँचाता है, जो समाज में कलह और द्वेष-भावना की वृद्धि का कारण बन जाता है, उस द्वेष और कलह की भावना को रोकने के लिए प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने न्याय व्यवस्था का विधान किया था। राज्य एवं शासन-संस्था के विकास के साथ-साथ प्राचीन काल में न्याय-व्यवस्था का भी समुचित विकास हुआ। सर्वमान्य जनता को अराजक स्थिति से मुक्ति दिलाने तथा सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए एक सुव्यवस्थित शासनपद्धति ने जन्म लिया। इस व्यवस्था के लिए आवश्यक था कि सामान्य जन भी परस्पर न्यायोचित व्यवहार कर राज्य के नियमों का पालन करें। प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था और प्रशासन के दो मुख्य उद्देश्य थे। पहला सत्य का ज्ञान करना और दूसरा न्याय से संबन्धित वादों के नियमों का पालन करना और कराना। राजा की तुलना एक शल्यचिकित्सक से करते

हुए कहा गया है कि वह आवश्यकता पड़ने पर अंगच्छेदन भी करता है। न्यायालय विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों, नियुक्तों-अनियुक्तों एवं चरों आदि से सत्य की जानकारी प्राप्त करके ही विधि का कार्यान्वयन करता है, क्योंकि सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही न्याय का मुख्य उद्देश्य है।

प्राचीन भारत में राजा विधिनिर्माण के स्थान पर न्यायिक प्रशासन का नेतृत्व करता था। न्यायाधीशों पर भी विधि के अतिरिक्त अन्य कोई दबाव नहीं था। कार्यपालिका और न्यायपालिका के क्षेत्र अलग-अलग निर्धारित थे। यद्यपि दोनों का अध्यक्ष एक ही होता था। न्यायिक प्रशासन में समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का विशेष प्रभाव था और न्यायिक प्रशासन भी सामाजिक परिवर्तनों को स्वीकार करता था। अश्वघोष के अनुसार न्याय का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र में सुख और समृद्धि का प्रसार करना था, ताकि सबल व्यक्ति दुर्बलों को न सताने पाए। दण्ड्य व्यक्ति दण्ड से मुक्त न हो और अदण्ड्य व्यक्ति दण्डित न हो।⁸ प्राचीन भारत में राज्य प्रशासन का महत्त्व न्यायिक प्रशासन में अधिक नहीं था और वह स्वयं ऐसा कोई आदेश नहीं कर सकता था, जो देशदृष्ट एवं शास्त्रसम्मत नियमों के विरुद्ध हो। स्वाभाविक रूप से प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों में अनेक ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे पता चलता है कि स्वयं राजा भी विधि के अधीन था और न्याय से ऊपर नहीं था। अपराध सिद्ध हो जाने पर राजा भी दण्डित होता था। मनुस्मृति में स्पष्ट व्यवस्था दी गयी है कि जिस अपराध के लिए साधारण व्यक्ति को एक कार्षापण का दण्ड दिया जाए, उसके लिए राजा को एक सहस्र कार्षापण का दण्ड दिया जाना चाहिए।⁹

प्राचीन भारतीयशास्त्रों के अनुसार राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा को माना गया है और उसे 'न्याय का आस्पद' कहा गया है।¹⁰ न्याय करना राजा के पद का कर्तव्य माना गया है।¹¹ भास के अनुसार राजा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा के पारस्परिक विवादों को शान्त कर राज्य में शांति स्थापित करता है।¹² मालविकाग्निमित्र में राजा अग्निमित्र प्रजा को न्याय देने में संलग्न बताया गया है।¹³ राजा के लिए सबसे बड़ा यज्ञ उचित न्याय की व्यवस्था मानी गयी है, यही कारण है कि वह समाज और विधि की मर्यादाओं के अंतर्गत रहकर न्याय का आयोजन करता था। राजा का कर्तव्य था कि अपराधी को दण्ड मिले तथा निरपराध व्यक्ति दण्डित न होने पाये। बुद्धचरित में अश्वघोष ने राजा शुद्धोधन की धर्मनिष्ठा और कर्तव्यपरायणता का उल्लेख करते हुए कहा है कि राजा अपराध करने वालों को दण्ड देता था, यद्यपि उसे क्षमा का भी अधिकार था, किन्तु अपराधियों को छोड़ा नहीं जाता था। निष्पक्ष न्याय करने वाले राजा को वही फल मिलता है जो पवित्र यज्ञ करने से प्राप्त होता है।¹⁴ निरपराधियों को दण्ड देने वाले राजा के लिए न केवल नरक का भय था अपितु प्रजा भी उसके प्रति विद्रोह कर सकती थी। राजा द्वारा न्याय के नियमों का पालन न करने पर राज्य में क्रांति का भी भय हो सकता था। राजा स्वयं समस्त राज्य के विवादों का निर्णय नहीं कर सकता था अतः ग्रामस्तर से लेकर राष्ट्रस्तर तक के न्यायालयों की स्थापना करके उनमें न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। किन्तु अंतिम निर्णय राजा का ही मान्य होता था। राजा ही न्याय का अंतिम उत्तरदायी था। राजा कर्तव्यानुसार राजसभा में स्वयं उपस्थित

होकर समस्त विवादों का निर्णय करता था। उत्तररामचरित में भवभूति ने राजा को धर्मासन पर बैठकर स्वयं न्याय करते हुए बताया है।¹⁵

न्यायालयों का संगठन

राज्यों के विस्तार और साम्राज्यों की स्थापना के साथ-साथ न्याय का क्षेत्र भी बढ़ गया था। समस्त विवादों का समाधान राजा द्वारा किया जाना संभव नहीं था अतः राजा न्याय-निर्णय हेतु अमात्यों, पुरोहितों और न्याय-सभा की सहायता लेने लगे थे।¹⁶ प्राचीन भारतीय विधिशास्त्रों में राजा द्वारा न्यायनिष्पादन हेतु न्यायालयों की स्थापना का सिद्धान्त मान्य था। प्राचीन भारतीय साहित्य में इनको 'अधिकरण' कहा गया है।¹⁷ स्मृति-साहित्य में इन न्यायालयों के लिए धर्मस्थान, धर्मासन, धर्माधिकरण आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। मृच्छकटिक में इनको व्यवहार-मण्डप और अधिकरण-मण्डप नामों से अभिहित किया गया है।¹⁸ व्यवहार-प्रकाश में पृथ्वीचन्द ने वात्स्यायन के मत को उद्धृत करते हुए न्यायालय को धर्माधिकरण शब्द से संबोधित किया है क्योंकि वहां धर्मशास्त्रों के आधार पर ही विवादों का निर्णय किया जाता था।¹⁹ प्राचीन साहित्य में स्थूल रूप में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है:- 1. राज न्यायालय, 2. अन्य न्यायालय।

राज न्यायालय वह सभा थी, जहाँ राजा ही सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। अन्य प्रकार के न्यायालयों को क्षेत्रीय न्यायालय कहा जा सकता है, जो क्रमानुसार छोटे-बड़े स्तर के होते थे। राज न्यायालय के भी दो रूप थे- एक में मुख्य न्यायाधीश के रूप में राजा स्वयं उपस्थित होता था, दूसरे प्रकार के न्यायालयों के लिए वह किसी योग्य व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त कर देता था। अन्य न्यायालयों में कुल, श्रेणी, पूग एवं गण आदि के अपने न्यायालय थे, जिन्हें केवल सीमित क्षेत्र में ही न्याय करने का अधिकार प्राप्त था। एक ही प्रकार की वृत्ति करने वाले राज्यसम्मत व्यापारिक संगठनों को श्रेणी कहा जाता था। राजा द्वारा श्रेणियों को नियमों, परम्पराओं आदि के अनुसार अपने स्वयं के विवादों को सुलझाने हेतु मान्यता प्रदान की गयी थी। इन श्रेणियों अथवा संघों के नियमों को राजकृत नियमों के समान ही मान्यता प्राप्त थी। ये संघ स्वयं अपने विवादों को हल करते थे तथा अयोग्य और भ्रष्ट कर्मचारियों को दण्ड देते थे। यदि श्रेणीप्रमुख दुर्भावना अथवा घृणावश किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करता था तो राजा उसे दण्डित करने का अधिकारी था क्योंकि श्रेणी-प्रमुख राजा से ही अधिकार प्राप्त करके न्याय करते थे।²⁰ चाणक्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है-धर्मस्थीय और कण्टकशोधन। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीशों को धर्मस्थ और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को प्रदेष्टा नाम से अभिहित किया गया है। राजकीय न्यायाधिकरणों के अतिरिक्त विभिन्न विभागों के अपने प्रशासनिक न्यायाधिकरण भी होते हैं, जिन्हें अपने विभागों के अधि कारियों के मामलों में विवादों के निस्तारण का अधिकार था। एक वेश्या द्वारा अपनी पुत्री को आधे पण के लिए कुमारामात्य के अधिकरण में ले जाने का उल्लेख श्यामिलक के पादताडितक नामक भाण में प्राप्त होता है।²¹

न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय विशेष सतर्कता बरती जाती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि वह व्यक्ति गुणसंपन्न, योग्य, उदार, कुलीन, उद्वेगरहित, स्थिर, क्रोध रहित और धर्मिष्ठ होना चाहिए।²² न्यायाधीश के लिए धर्मशास्त्रों का ज्ञाता होने के साथ-साथ चरित्रवान होना भी आवश्यक था। मत्तविलास प्रहसन के अनुसार उसे कुटिलतारहित, स्थिरस्वभाव, कोमलवृत्ति, उत्तम कुल में उत्पन्न तथा आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति, श्रुति, स्मृति आदि में पारंगत होना चाहिए।²³ व्यवहारप्रकाश के अनुसार न्यायाधीश ब्राह्मण वर्ण का होना चाहिये, योग्य ब्राह्मण के न मिलने पर क्षत्रिय या वैश्य को भी न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है, किन्तु शूद्र को किसी भी अवस्था में न्याय-संबंधी कार्य में नहीं लगाया जा सकता।²⁴

प्राचीन भारतीय न्याय-प्रक्रिया अत्यधिक सरल थी। न्याय के इच्छुक वादी को अपनी याचिका के साथ न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था। न्यायालय में प्रस्तुत मुकदमों को 'व्यवहार' तथा व्यवहार के लिए आने वाले व्यक्ति को 'अभ्यर्थी' कहा जाता था। याचिकाओं को प्रस्तुत करने के विशेष नियम थे। याचिका लिखित रूप में शुद्ध और संक्षिप्त होनी आवश्यक थी। याचिका के अशुद्ध होने पर वादी की याचिका अमान्य कर दी जाती थी। याचिका में सभी तथ्यों का समावेश तथा वह दायें हाथ से न्यायालय में प्रस्तुत की जाये, इस प्रकार का विवरण युक्तिकल्पतरु तथा नारदस्मृति में दिया गया है।³³ जो व्यक्ति; जैसे स्त्री, बालक, वृद्ध, अनाथ, रुग्ण अथवा जिन व्यक्तियों को न्यायालय में उपस्थित होने की छूट थी जैसे-देव, ब्राह्मण, ऋषि, तपस्वी आदि; शारीरिक रूप से स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ होते थे, उनके पक्ष को राजकर्मचारी प्रस्तुत कर सकता था।³⁴ अभ्यर्थी की याचिका प्रस्तुत होने पर प्रतिवादी अथवा प्रत्यर्थी को उसकी सूचना भेजी जाती थी। यह कार्य श्रावणिक नामक कर्मचारी द्वारा संपन्न किया जाता था। निर्धारित सुनवाई के दिन धर्मासनिक के आदेश पर श्रावणिक, वादी तथा प्रतिवादी को पुकारता था तथा वाद पर सुनवाई प्रारंभ होती थी। न्यायाधीश दोनों पक्षों को सुनकर एवं न्यायसभा के सदस्यों के परामर्श करने के उपरांत या तो स्वयं निर्णय देता था अथवा महत्त्वपूर्ण विवादों को राजा के निर्णय के लिए सुरक्षित रख लेता था। किसी भी 'व्यवहार' पर अंतिम निर्णय का अधिकार राजा के पास सुरक्षित होता था। मृच्छकटिक से ज्ञात होता है कि चारुदत्त वसन्तसेना की हत्या का अपराधी था। अपराध के प्रमाणित होने पर न्यायाधिकरण द्वारा देश निर्वासन के दण्ड की संस्तुति की गयी थी परन्तु राजा ने इस संस्तुति को अमान्य करते हुए चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया।³⁵

मृच्छकटिक से न्याय प्रक्रिया के संबन्ध में और भी विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। तदनुसार व्यवहार मण्डप के मुख्य द्वार पर एक दौवारिक या द्वारपाल नियुक्त रहता था, जो दण्डनायक की अनुमति पाने पर पूँछता था कि कौन लोग कार्यार्थी हैं अर्थात् मुकदमा दायर करना चाहते हैं। इसके उपरांत वादी न्यायालय में अपना वाद प्रस्तुत करता था। तदुपरांत न्यायालय से सूचना मिलने पर प्रतिवादी निश्चित तिथि पर उपस्थित होकर अपना पक्ष रखता था। न्यायालय द्वारा वाद के पक्ष में प्रमाण माँगा जाता था और संबन्धित पक्षों

की गवाही भी ली जाती थी। तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, पुत्रवान्, धर्मनिष्ठ तथा धनी व्यक्तियों का साक्ष्य उचित माना जाता था। स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी, उन्मत्त (पागल), लूले एवं लँगड़े व्यक्ति गवाही के योग्य नहीं माने जाते थे। न्यायालयों में वादी-प्रतिवादी तथा गवाहों को शपथ लेनी होती थी- ब्राह्मण को सत्य, क्षत्रिय को वाहन या आयुध, वैश्य को गाय, बीज अथवा सुवर्ण तथा शूद्र को समस्त पापों से शपथ लेनी पड़ती थी। झूठी शपथ लेना निन्दनीय भी था और अपराध भी।³⁶

विवादों के निर्णय में साक्षियों का बहुत अधिक महत्त्व था। प्राचीन समय में दो प्रकार के साक्ष्य प्रचलित थे- मौखिक साक्ष्य और लिखित साक्ष्य। वादी और प्रतिवादी अपने-अपने कथनों को सिद्ध करने के लिए मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत करते थे। साक्ष्य देने से पूर्व साक्षी को सत्य बोलने की शपथ ग्रहण करनी होती थी। न्यायालय द्वारा बुलाये जाने पर साक्षी का न्यायालय में उपस्थित न होना दण्डनीय अपराध था, जिसके लिए अर्थ-दण्ड का प्रावधान था।³⁷ मौखिक साक्ष्य की अपेक्षा लिखित साक्ष्य को अधिक प्रामाणिक माना जाता था। साक्ष्य में उभय पक्ष के हस्ताक्षर न होने पर उसे प्रमाणित नहीं माना जाता था। लिखित साक्ष्य चार वर्गों में विभाजित थे- स्वहस्तलिखित, अन्यहस्तलिखित, लौकिक तथा राजकीय मुद्रा से अंकित।³⁸ लौकिक साक्ष्यों के अभाव में दिव्य साक्ष्यों की व्यवस्था की गयी थी। मृच्छकटिक में चार प्रकार के दिव्य साक्ष्यों अथवा परीक्षाओं का उल्लेख आया है- विष, जल, तुला और अग्नि के माध्यम से परीक्षा जो वर्णाश्रित थीं। ब्राह्मण, बालक, वृद्ध, अन्धे तथा रुग्ण व्यक्ति के लिए तुला परीक्षा, क्षत्रियों के लिए अग्नि, वैश्यों तथा शूद्रों के लिए विष परीक्षा लिये जाने की जानकारी प्राप्त होती है।³⁹ हनुमन्नाटक में सीता की अग्नि-परीक्षा का उदाहरण है। अपने सतीत्व को प्रमाणित करने के लिए सीता अग्नि में कूद गयी थी, परन्तु अग्नि उसको जला नहीं सकी।⁴⁰

प्राचीन भारत में यद्यपि न्याय-व्यवस्था अत्यधिक सरल, सुव्यवस्थित एवं पक्षपातरहित थी तथापि चौथी शताब्दी ई. तक आते-आते उसमें पक्षपात एवं भ्रष्टाचार प्रारंभ हो गया था। मृच्छकटिक में विवरण आया है कि राजा का साला शकार, चारुदत्त पर न्यायालय में वसन्तसेना की हत्या करने का अभियोग प्रस्तुत करते समय, न्यायाधीश को राजा का भय दिखाकर प्रभावित करने का प्रयास करता है।⁴¹ पादताडितक भाण से ज्ञात होता है कि उस समय न्यायव्यवस्था काफी पंगु हो गई थी उसमें भ्रष्टाचार तथा पक्षपात व्याप्त हो गया था। इस संबन्ध में एक उदाहरण मिलता है कि मदन्यन्ती नामक एक वेश्या, उपगुप्त से आधा पण धन लेने के लिए न्यायालय की शरण में गयी थी। ये विवरण भी मिलते हैं कि मुक्तदमा सुनते समय प्राड्विवाक विष्णुदास ऊँघता रहता था और न्यायालय के अधिकारी, पुस्तपाल, कायस्थ, काष्ठक और महत्तर रिश्वत मांगते थे। यह सब भ्रष्टाचार और अव्यवस्था देखकर उपगुप्त ने सोचा कि रिश्वत देने से अच्छा तो यही है कि वेश्या को ही धन दे दिया जाये।⁴² 'मत्तविलासप्रहसन' से भी यही संकेत मिलता है कि न्यायालय के कर्मचारी रिश्वत लेकर न्याय के विपरीत निर्णय दे देते थे।⁴³

न्याय-व्यवस्था में व्यापृत कर्मचारी

प्राचीन भारतीय साहित्य से जानकारी प्राप्त होती है कि न्यायाधीशों के अतिरिक्त न्याय-प्रक्रिया में सहायता प्रदान करने हेतु विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी यथा- धर्माधिकारी, प्राड्विवाक, सभ्य, पुरोहित, ग्रामणी, कायस्थ, पुस्तपाल, काष्ठक, महत्तर, बलदर्शक, श्रावणिक, कालपाशिक, दण्डपाशिक, घातक आदि जिनका विवरण अधोदत्त है-

धर्माधिकारी

न्याय-आसन पर बैठने वाले व्यक्ति को धर्मासनिक, धर्मस्थल, धर्माधिकारी आदि पदों से अभिहित किया जाता था। अर्थशास्त्र में कण्टकशोधन-न्यायालयों के न्यायाधीशों को प्रदेष्टा, मानसोल्लास में उन्हें धर्माधिकारी तथा मृच्छकटिक में आधिकरणिक कहा गया है।⁴⁴ धर्मशास्त्रों और राजनीतिपरक ग्रंथों में न्यायाधीशों के पद के लिए 'धर्मवेत्ता' शब्द प्रयुक्त करते हुए कहा गया है कि धर्माध्यक्ष या धर्माधिकारी, कुलीन, शीलवान्, गुणसंपन्न, सत्यवादी, धर्मपरायण, चतुर, प्रज्ञासंपन्न और दक्ष होना चाहिए।⁴⁵

प्राड्विवाक

राजा को धर्मनिर्णय में सहायता देने के लिए जिस न्यायाधीश अथवा मंत्री की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है, उसे प्राड्विवाक नाम दिया गया है। न्यायाधीश विवादियों से प्रश्न करने के कारण 'प्राड्' तथा विवेक के अनुसार निर्णय करने के कारण 'विवाक' कहलाता था। दोनों का सम्मिलित रूप होने के कारण इस अधिकारी को प्राड्विवाक⁴⁶ कहते थे। कार्याधिक्य के कारण न्यायिक व्यवस्था में अधिक समय न देने के कारण राजा प्रधान न्यायाधीश के रूप में प्राड्विवाक की नियुक्ति करता था। प्राड्विवाक राजा के स्थानापन्न न्यायिक कार्य संपन्न करता था।⁴⁶ वीरमित्रोदय में प्रधान न्यायाधीश को वक्ता और राजा को शासक कहा गया है।⁴⁷ प्राचीन साहित्य में मुख्य न्यायाधीश की योग्यता पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। प्राड्विवाक को विद्वान्, कुलीन, वृद्ध, प्रज्ञासंपन्न और धर्म के प्रति जागरूक आदि गुणों से संपन्न होना आवश्यक माना गया है। प्राड्विवाक मुख्य न्यायाधीश के साथ-साथ न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी अथवा मंत्री भी होता था, जिसकी सहायता के लिए सात, पांच अथवा तीन सभ्यों की नियुक्ति की जाती थी।⁴⁸

सभ्य

प्राड्विवाक के न्यायालय; जिसमें कभी-कभी स्वयं राजा भी उपस्थित होकर निर्णय घोषित करता था; को 'सभा' तथा उस सभा के सदस्यों को 'सभ्य' कहा गया है। प्रधान न्यायाधीशों के साथ कम से कम तीन विद्वान् ब्राह्मण सभ्यों को सहायक के रूप में नियुक्त किया जाता था।⁴⁹ प्राड्विवाक सभ्यों के साथ सभा की कार्यवाही संपन्न करता था। राजा, सभा भवन में प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और अन्य सभ्यों के साथ प्रवेश कर न्यायिक प्रक्रिया संपन्न करता था। सभ्य, राजा द्वारा नियुक्त किये जाते थे, किन्तु वे राजा के स्थान पर, धर्मशास्त्रों के प्रति उत्तरदायी थे। राजा को न्याय तथा कर्तव्य मार्ग

पर लाना सभ्यों का परमदायित्व था। धर्मशास्त्रों में मुख्य न्यायाधीश तथा सभ्यों के विषय में कहा गया है कि सभ्य यथासंभव ब्राह्मण, धार्मिक, निःस्वार्थी तथा चरित्रवान् होने चाहिए।⁵⁰

पुरोहित

न्यायिक प्रक्रिया के दौरान राजा के साथ पुरोहित का होना सदैव अनिवार्य था। राजा सभ्यों के साथ परामर्श करने के उपरान्त अन्त में पुरोहित से ही निर्णय की घोषणा करता था।⁵¹ न्यायिक प्रशासन में पुरोहित राजा के कार्यों, व्यवहार एवं निर्णय के निरीक्षणकर्ता के रूप में कार्य करता था। न्यायिक प्रक्रिया के समय यदि राजा उपस्थित होता था, तो उस समय पुरोहित का स्थान प्राड्विवाक से भी महत्वपूर्ण हो जाता था लेकिन दोनों पद अलग-अलग थे। कौटिल्य ने माना है कि न्यायाधीश एवं अन्य कर्मचारियों के न्याय संबंधी कार्यों के निरीक्षण का अधिकार पुरोहित को होना चाहिये, यद्यपि पुरोहित का न्यायिक प्रशासन में हस्तक्षेप अधिक नहीं था। रामायण में भी यह कार्य हेय दृष्टि से देखा गया है क्योंकि उस समय उसका विशेष संबंध 'प्रायश्चित्त' से ही रह गया था।⁵²

ग्रामणी

न्यायिक प्रशासन में ग्रामणी का महत्वपूर्ण स्थान था। ग्रामणी की नियुक्ति सीधे राजा द्वारा की जाती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में राजकर्मचारी के रूप में ग्रामणी को अनेक न्यायिक एवं प्रशासकीय अधिकारों से युक्त माना गया है।⁵³ व्यवहार-विधि में विवाद के निर्णय में उसे महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे। ग्रामणी का ब्राह्मण होना आवश्यक नहीं था।

कायस्थ एवं पुस्तपाल

न्यायिक प्रक्रिया में कायस्थ नामक कर्मचारी का उल्लेख भी प्राचीन साहित्य में मिलता है। कायस्थ शब्द का अर्थ है- काये न्यायालये तिष्ठति इति कायस्थः अर्थात् जो 'काय' अर्थात् न्यायालय में बना रहता है। कायस्थ का प्रमुख कार्य अभ्यर्थी अथवा याची की याचिकाओं को लेकर, न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करना होता था, साथ ही वह व्यवहार मुकदमों के सभी तथ्यों को लेखबद्ध कर उनका रिकार्ड रखता था। कायस्थ की नियुक्ति न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य विभागों में भी होती थी। कायस्थ मुख्यतः लेखन-कार्य से संबंधित कर्मचारी था, जो सभी विभागों की कार्यवाही को क्रमबद्ध एवं लिपिबद्ध करता था।

कायस्थ के अतिरिक्त न्यायालय प्रक्रिया में पत्रजात, फाइल और अन्य अभिलेखों को सुरक्षित रखने का कार्य, पुस्तकाल नामक कर्मचारी द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है।⁵⁴

अन्य न्यायिक कर्मचारी

न्यायालय में एक अन्य महत्वपूर्ण कर्मचारी 'काष्ठक-महत्तर' होता था। जिसके हाथ में एक दण्ड रहता था। यह राजदण्ड के प्रतीक के रूप में न्यायाधीश के साथ उपस्थित

रहता था। 'श्रावणिक' नामक कर्मचारी मुकदमों के समय वादी तथा प्रतिवादी को पुकारने तथा उन्हें न्यायालय के आदेश पहुंचाने का कार्य करता था। 'बलदर्शक' न्यायालयों के निर्णयों, विशेष रूप से ऋण संबंधी निर्णयों का पालन करता था। न्यायालय द्वारा दिये गये दण्ड को कार्यान्वित करने का कार्य 'कालपाशिक' नामक कर्मचारी द्वारा किया जाता था। फौजदारी मुकदमों में निर्णय होने पर दण्ड देने की व्यवस्था का कार्य 'दण्डपाशिक' नामक कर्मचारी द्वारा किया जाता था। मृत्युदण्ड, 'घातक' अथवा 'बोधिक' नामक कर्मचारी द्वारा दिया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में विवरण मिलता है कि राजा के न्याय करने वाले कुछ अधिकारी भ्रमण करते हुए यह देखते थे कि प्रजा निर्बिघ्न रूप से कार्य कर रही है अथवा नहीं।⁵⁵ अपराधी का पता लगाने के लिए गुप्तचरों या गूढ़पुरुषों की सहायता भी ली जाती थी।

संदर्भ-

1. आपस्तम्ब; 1/1/1/2-3
2. महावीरचरित 4/36-37
3. मनुस्मृति, 12/08-15
4. पाराशर 8/9/35, याज्ञवल्क्य, 1/1
5. शुक्रनीति, 4/552-54
6. अर्थशास्त्र, 3/1/56-57
7. शुक्रनीति, 4/586-87, याज्ञवल्क्य, 2/5
8. बुद्धचरित, 1/82
9. मनुस्मृति, 8/336
10. बृहस्पतिस्मृति, 1/34
11. रघुवंश, 1/6
12. अविमारक, 1/12
13. मालविका; अंक-1 पृष्ठ 179
14. बुद्धचरित, 1/82
15. उत्तररामचरित, 1/7
16. मुखर्जी, राधाकुमुद, दी हिन्दू जुडिशियल सिस्टम, पृष्ठ 64-65
17. पद्मप्राभृतक, श्लोक 17, पादताडितकभाण, पृष्ठ 213
18. मृच्छकटिक, अंक 9
19. यात्रा धिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत्॥ व्यवहार-प्रकाश, पृष्ठ 15
20. अरोरा, नताशा, प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था, पृष्ठ 66-87
21. पादताडितक, पृष्ठ 213
22. कुलशील गुणोपेतः सत्यधर्म परायणः। प्रवीणःपेशलो दक्षो धर्माध्यक्षो विधीयते। राजनीति रत्नाकर, पृष्ठ 18
23. अजिहैः सारगुरुभिः स्थिरैः श्लक्ष्णैः सुजन्मभिः। मत्तविलास प्रहसन, श्लोक 18
24. वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्॥ व्यवहारप्रकाश, पृष्ठ 13-14
25. परमात्माशरण, प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं संस्थाएं, पृष्ठ 206
26. रघुवंश, 17/39
27. जायसवाल, के. पी.; हिन्दू राज्य-तंत्र, पृ. 305, मृच्छकटिक, अंक-9, चिन्तासक्तनिमग्नमंत्रिसलिलम्

28. आर्य! निर्णये वयं प्रमाणम्। शेषे तु राजा। मृच्छकटिक, अंक 9-7
29. मृच्छकटिक, 9/10
30. याज्ञवल्क्य, 2/5
31. मिताक्षरा, 2/1
32. कपूर, शैलेन्द्रनाथ, प्राचीन भारतीय राजतंत्र, पृष्ठ 53
33. युक्तिकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड; नारदस्मृति 2/2
34. पादताडितक, पृष्ठ 213
35. मृच्छकटिक, 9/39
36. गोयल, श्रीराम, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृष्ठ 388-89
37. स्मृतिचन्द्रिका, भाग-2, पृ. 91
38. शुक्रनीति, 4/689
39. मृच्छकटिक, 9/43
40. हनुमान्नाटक, 14/54
41. मृच्छकटिक, अंक 9
42. पादताडितक, श्लोक 89-81
43. मत्तविलास, पृष्ठ 31
44. मानसोल्लास, 2/2/93; मृच्छकटिक, 9/4
45. राजनीतिरत्नाकर, 'पटना' संस्करण, पृष्ठ 18
- 45 क.अमरकोष, 3/3/18; 5/2/127; उ. 2/27
46. त्रिपाठी, हरिनाथ, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृष्ठ 140
47. वीरमित्रोदय, पृष्ठ 42
48. वाजपेयी, अम्बिकाप्रसाद, हिन्दू राजशास्त्र, पृष्ठ 233
49. मनुस्मृति 8/1-2; याज्ञवल्क्य 2/1; शुक्रनीति 4/548-49
50. शुक्रनीति 2/418; 4/537
51. याज्ञवल्क्य 1/312-13 पर मिताक्षराटीका
52. पौरोहित्यं जाने विगर्ह्य दूष्य जीवनम्॥ अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, 2/228
53. त्रिपाठी, हरिनाथ, प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृष्ठ 149
54. पादताडितक, श्लोक 80
55. अभिज्ञानशाकुन्तलम् अंक-1

-एसोसिएट प्रोफेसर
(राजनीति विज्ञान विभाग)
एस. डी. कॉलेज,
मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश)

वेदान्त और स्वरूपसम्बोधन परिशीलन

- डॉ. जयकुमार जैन

भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में वैदिक विचारधारा का सर्वोत्कृष्ट दर्शन संप्रदाय वेदान्त माना जाता है। श्री सदानन्द यति ने वेदान्तसार में 'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्' कहकर वेदान्त का अर्थ वेद की अंतिम कड़ी उपनिषद् माना है, जबकि श्री बलदेव उपाध्याय अन्त शब्द का अर्थ रहस्य सा सिद्धान्त मानकर वेदान्त का अर्थ वेद का मन्तव्य स्वीकार करते हैं।¹ प्रोफेसर सत्यदेव मिश्र ने लिखा है कि 'उपनिषदों से उद्भूत, गीता के द्वारा सुविकसित तथा ब्रह्मसूत्रों के सुप्रतिष्ठापित वेदान्त का वैदिक दर्शनों में विशिष्ट स्थान है। गीता उपनिषदों का सार है और ब्रह्मसूत्र औपनिषद् मंत्रों का संक्षिप्त रूप है, अतएव वेदान्त वस्तुतः औपनिषद् दर्शन है।'²

अवैदिक विचारधारा के दर्शनों में जैनदर्शन का माहात्म्य सर्वत्र स्वीकृत है। अनेकान्तवाद की सरणि पर आश्रित होने के कारण यह दर्शन किसी एक दृष्टिकोण का हठाग्रह न रखकर वस्तु के किसी विशिष्ट धर्म को जब प्रधानतया व्याख्यापित करता है तो अन्य धर्मों को गौण मानकर चलता है, उनका न विवेचन करता है और न निषेध ही करता है। इसी कारण जैनदर्शन को निर्णायक की भूमिका का निर्वाहक कहा जाता है। स्वरूपसंबोधन तर्कशास्त्र की पद्धति पर रचित आध्यात्मिक दर्शन ग्रंथ है। इसके परिशीलन में आचार्य विशुद्धसागर महाराज ने आत्मविषयक विविध वैदिक एवं अवैदिक दार्शनिक मान्यताओं का उपस्थापन कर उनका सयुक्तिक निरसन किया है। इस प्रसंग में वेदान्त की आत्मविषयक मान्यताओं का निरसन प्रस्तुत आलेख का विषय है।

आत्मा अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य है, क्योंकि इसके ज्ञान के द्वारा ही परब्रह्म परमात्मा को जाना जा सकता है। आत्मा की सिद्धि को स्वयंसिद्ध मानकर वेदान्ती किसी प्रकार का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं समझते हैं। आद्य शंकराचार्य ने स्पष्टतया कहा है- 'आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति, न च तस्य निराकरणं संभवति। आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। न हि अग्नेरुष्माग्निना निराक्रियते।'³ स्पष्ट है कि आचार्य शंकर की दृष्टि में आत्मा स्वयंसिद्ध है। वह कोई बाह्य वस्तु नहीं है, अतएव उसका निराकरण असंभव है। निराकरण तो आगन्तुक वस्तु का होता है, स्वरूप का नहीं। अग्नि से उसकी ऊष्मा का निराकरण नहीं किया जा सकता है।

वेदान्त आत्मा को सत्, चित्, एक अखण्ड, अद्वैत, अमूर्तिक, सर्वगत मानकर उसे ब्रह्म का अंश स्वीकार किया गया है। जैन दार्शनिक आत्मा को कथंचित् सत्, चित्, एक, अद्वैत, अमूर्तिक एवं सर्वगत तो मानते हैं, परन्तु एकान्त रूप से नहीं। स्वरूप संबोधन परिशीलन

में आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज ने वेदान्त की ऐकान्तिक मान्यताओं का निराकरण करके अनैकान्तिक मान्यताओं की प्रतिष्ठापना की है।

(1) वेदान्तमान्य आत्मा के ऐकान्तिक सत्पने का निराकरण करते हुए आचार्यश्री कहते हैं- “चैतन्य धर्म की दृष्टि से ही आत्मा सत् रूप है, न कि अचेतन की अपेक्षा। अचेतन की अपेक्षा से वह असत् रूप ही है, अतः स्वचतुष्टय से द्रव्य सत् रूप है, परचतुष्टय की अपेक्षा असत् रूप है।”⁵ स्पष्ट है कि आत्मा का सत्पना सापेक्ष माना गया है, न कि निरपेक्ष।

वेदान्त में परमार्थतः सत् ब्रह्म का विवर्त होने से आत्मा (जीव) को अन्य जड़ पदार्थों की तरह अध्यास (भ्रम) मानकर उसे असत् रूप भी माना गया है। पर यह असत् रूपता परचतुष्टय की अपेक्षा न होने से जैन दार्शनिकों को मान्य नहीं है।

(2) वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म का अज्ञानोपहित चैतन्य अंश माना गया है। जैन दर्शन में आत्मा स्वतन्त्र चेतन द्रव्य है। आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज ने स्याद्वाद से जीव में जड़भाव भी सिद्ध करते हुए जो हेतु दिया है, वह विचारणीय है। आचार्यश्री लिखते हैं- ‘इन्द्रियज्ञान से रहित होने से शुद्धात्मा जड़ भी है।’⁶

(3) अद्वैत वेदान्ती आत्मा को एक अखण्ड स्वीकार करते हैं, जबकि जैन दार्शनिक उसे स्वभाव से एक अखण्ड द्रव्य मानते हैं परन्तु नाना धर्मों की अपेक्षा उसे अनेक भी स्वीकार करते हैं। आचार्यश्री आश्चर्यपूर्वक अद्वैत वेदान्तियों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं- ‘अहो! अद्वैत पक्ष से एक जटिल प्रश्न है कि आप और आपका पक्ष ये भी तो दो हैं, आपका सिद्धान्त स्वमुख से ही बाधित हो जाता है। ऐसा लगता है जैसे कि कोई युवा अपने मित्र से कहता है कि मेरे मित्र! मेरे पिताश्री तो बाल ब्रह्मचारी हैं। तो क्या बेटे का कथन सम्यक् है? अद्वैत की सिद्धि हेतु से होती है कि वचन मात्र से? यदि हेतु से कहते हो तो यह हेतु है, यह साध्य है, इस प्रकार द्वैत हो जायेगा। यदि साधन के बिना अद्वैत की सिद्धि कहते हो तो इस प्रकार वचन मात्र से द्वैत की सिद्धि क्यों नहीं होगी?...दोनों में समान स्थिति है।’⁷

अपने कथन को पूर्व परंपरा से पुष्ट करते हुए आचार्यश्री ने आप्तमीमांसा का पच्चीसवां श्लोक उद्धृत किया है-

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।

विद्याऽविद्याद्वयं न स्यात् बन्धमोक्षद्वयं तथा॥

अर्थात् अद्वैत मानने पर शुभ कर्म और अशुभ कर्म दो कर्म नहीं होते। यह पुण्य है, यह पाप है, इहलोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, जीवप्रदेशों का और कर्मप्रदेशों का परस्पर मिलना-बन्ध तथा मोक्ष (आठ प्रकार के कर्मों का छूटना) यह सब कुछ भी नहीं होगा।⁸

वेदान्तियों की आत्मा को एक ही मानने की ऐकान्तिक मान्यता का निराकरण करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि-‘जो वस्तु को एक ही रूप स्वीकारता है, वह स्वसमय से बाह्य है, क्योंकि जैन सिद्धान्त से विपरीत है। ब्रह्माद्वैतवादी एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकारता है, किसी दूसरे की सत्ता को कहना ही नहीं चाहता। एक स्वभाव एकान्त उनके

यहां है। इस एक स्वभाव एकान्त से वस्तु में अर्थ क्रियाकारक का अभाव होता है। अर्थक्रिया कारक के अभाव में वस्तुत्व का ही अभाव होता है। ध्यान दीजिए- लोक में ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, जो मात्र एक स्वभावी ही हो अथवा अनेक स्वभावी ही हो, प्रत्येक द्रव्य उभयस्वभावी है।⁹

(4) जैन दर्शन में कथित आत्मा और ज्ञानादि गुणों के निश्चयनयात्मक अद्वैत और वेदान्त के ब्रह्माद्वैत में आकाश-पाताल का अन्तर है। वेदान्त में सत् एक ही माना गया है और वह है ब्रह्म। लोक में दृष्टिगोचर जीव एवं जड़ पदार्थ रज्जु में सर्प की तरह अध्यास मात्र है। वेदान्त के अनुसार आत्मा (ब्रह्म-जीव) में गुण-पर्यायों का अस्तित्व मान्य नहीं है, जबकि जैनदर्शन के अनुसार निश्चयनय से आत्मा के अद्वैतता का कथन करने पर भी उसमें गौण रूप से द्रव्यगत द्वैत का भी निरूपण रहता ही है। वेदान्त का अद्वैतवाद ऐकान्तिक है, जबकि जैन अद्वैतवाद अनेकान्तिक है।

यद्यपि जैनदर्शन अद्वैतवादी (एकतत्त्ववादी) नहीं है तथापि वह अद्वैतवाद (आत्मवाद) का समर्थक भी है। तभी तो एकत्व, विभक्त, अद्वैतभाव की प्रशंसा करते हुए आचार्यश्री कहते हैं- ‘अद्वैत का आनन्द ही कुछ और है, उसे द्वैत में लीन क्या समझ पायेगा।... एकान्त स्थान हो, अद्वैत भाव हो, वहाँ भावातीत की अनुभूतियाँ प्रारंभ हो जाती हैं।’ इसके पूर्व उन्होंने कहा है- ‘‘अद्वैत भाव परभाव से भिन्न रहता है, अद्वैत भाव अन्य से अत्यन्ताभाव है, अद्वैत की साधना ही श्रेष्ठ साधना है, द्वैत साधना है (वह) साधना का कारण है, परन्तु कार्यभूत साधना अद्वैत ही है। योगीश्वर द्वैत से अद्वैत की ओर रत रहते हैं।¹⁰

‘द्वैतभाव प्रारंभ अवस्था में तो उपोदय है, परन्तु परम उपादेयभूत अद्वैतभाव पर भी दृष्टि जाना चाहिए।’¹¹

जब वे अद्वैत की प्रशंसा करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे कोई वेदान्ती बोल रहा हो। उनके द्वारा की गई प्रशंसा से कोई अद्वैत एकान्त का ग्रहण न करले, अतएव वे स्पष्ट करते हैं कि- ‘अहो योगीश्वरो! अद्वैत साधना ही श्रेयमार्ग है। यहाँ अद्वैत प्रयोजन अद्वैत एकान्त की सिद्धि नहीं समझना, न अन्य का अभाव। शून्य अद्वैत से भिन्न अद्वैत की बात कह रहा हूँ। जगत् के अनन्त पदार्थों की सत्ता में एकमात्र लक्ष्य निज आत्म पदार्थ को रखना। ...एकमात्र स्वद्रव्य का भाव रखना, पर विकल्पों से शून्य हो जाना अद्वैतभाव है। यह अद्वैत आराधना ही निश्चय चारित्र है।¹²

(5) वेदान्त में आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक मानने का एकान्त है, जबकि जैन दार्शनिक उसे कथंचित् अमूर्तिक और कथंचित् मूर्तिक भी मानते हैं। आचार्यश्री स्वरूप संबोधन परिशीलन में आत्मा के सर्वथा अमूर्तिकपने का निषेध करते हुए उसे सापेक्ष दृष्टि से मूर्तिक भी स्वीकारते हैं। वे कहते हैं- ‘मूर्तिक भी है आत्मा, अमूर्तिक भी है आत्मा। स्पर्श रस-गंध-वर्ण निश्चयनय से आत्मा में नहीं पाये जाते हैं, इसलिए आत्मा अमूर्तिक स्वभावी है, परन्तु बन्ध की अपेक्षा से व्यवहार नय से आत्मा मूर्तिक भी है, यह अनेकान्त है। दूसरी बात यहाँ यह भी समझना कि ज्ञान साकार होता है, ज्ञान मूर्तिक होने से आत्मा मूर्तिक है तथा

पुद्गलभूत मूर्त धर्म रहित होने से अमूर्तिक है।¹³

(6) आत्मा के आयतनिक रूप के विषय में भी वेदान्त एवं जैन दर्शन में पर्याप्त अन्तर है। वेदान्ती जीव (आत्मा) को सर्वगत मानते हैं, जबकि जैन दार्शनिक उसे व्यवहार नय से स्वदेहप्रमाण और निश्चय नय से लोक प्रमाण मानते हैं। आचार्य विशुद्धसागर जी ने स्वरूप संबोधन के पंचम श्लोक 'स्वदेहप्रमितश्चायं' के परिशीलन में वेदान्तियों की आत्मविषयक सर्वगतता की ऐकान्तिक वेदान्ती मान्यता का खण्डन करते हुए ज्ञान की अपेक्षा उसकी सर्वगतता की मान्यता का समर्थन भी किया है। वे लिखते हैं- 'यह आत्मा व्यवहार नय की अपेक्षा लोक-अलोक को जानता है और शरीर में रहने पर भी निश्चय नय से अपने स्वरूप को जानता है। इस कारण ज्ञान की अपेक्षा तो व्यवहार नय से सर्वगत है, प्रदेशों की अपेक्षा सर्वगत नहीं है। पर जैसे- वेदान्ती आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते हैं, वैसा नहीं। ज्ञानात्मक दृष्टि से आत्मा सर्वगत है। इस विषय में भगवन् कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में कहा है-

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥२४॥

ज्ञानतत्त्वाधिकार (परिशीलन पृष्ठ ६३)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा की सर्वगतता का सर्वथा निषेध नहीं है, परन्तु ऐकान्तिक इसे नहीं माना जा सकता है। एक ही द्रव्य में दो विपरीत धर्म देखे जाते हैं। आचार्य श्री लिखते हैं- 'कुचला नामक औषधि विष है, सीधे सेवन की जाये तो मृत्यु का कारण है और उसे संस्कारित कर सेवन किया जाये तो वह रोग निवारण का साधन बन जाती है।'¹⁴

(7) जैन दर्शन में जीव को स्वदेह प्रमाण माना गया है, किन्तु जीव की स्वदेहप्रमाणता भी ऐकान्तिक नहीं है। इस संदर्भ में आचार्यश्री स्वयं एक प्रश्न उठाकर स्पष्ट करते हैं- 'जीव स्वदेह प्रमाण किस निमित्त से है? समाधान है- 'असमुद्घात' समुद्घात के न होने से अर्थात् वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवली नामक जो सात समुद्घात हैं, इनके होने पर जीव स्वदेहप्रमाण नहीं होता, असमुद्घात अवस्था में जीव स्वदेह प्रमाण रहता है।'¹⁵

(8) अद्वैत वेदान्ती प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति ब्रह्म से मानते हैं तथा जीव मात्र को ब्रह्म का अंश स्वीकारते हैं। जैन दर्शन में प्रत्येक जीव (आत्मा) की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है। आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज वेदान्तियों के मत का निराकरण करने के लिए कहते हैं कि- 'एकमात्र जीवद्रव्य एक चैतन्यस्वभावी है, अन्य द्रव्यों से जीव द्रव्य का अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक जीव का अन्य जीव की अपेक्षा से भी अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक जीव स्वचतुष्टय में है, परचतुष्टय में नहीं है। न माता-पिता का अंश पुत्र है, जगत् के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी भी जीव में ईश्वर का अंश भी नहीं है, जो ईश्वर का अंश स्वीकारता है, वह प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता के ज्ञान से अनभिज्ञ है।'

आचार्यश्री तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि- 'अहो! 'एक माँहि अनेक राजत' सूत्र का स्मरण करो। जब सिद्ध भगवान् एक में अनेक विराजते हैं तब भी वे शुद्ध सिद्ध

भगवान् कभी भी पररूप नहीं होते, वे स्वचतुष्टय में ही विराजते हैं। फिर भिन्न-भिन्न देहों में रहने वाले जगत् प्राणी एक ईश्वर अंश किसी भी अवस्था में नहीं हो सकते हैं। न पिता की आत्मा पुत्र में हो सकती है, ऐसे ही पुत्र पिता का अंश नहीं है, दोनों ही स्वतंत्र जीवद्रव्य हैं।¹⁶

इस प्रकार वेदान्तविषयक मान्यताओं का जैनदर्शनानुसार प्रतिपादन एवं निरसन करके आचार्यश्री ने सत्यार्थ आगमप्ररूपणा की है। अन्त में उन्हीं के कथन से मैं आलेख को समाप्त करता हूँ कि 'सत्यार्थ आगम प्ररूपक की दुर्गति नहीं हो सकती तथा विपरीत कथन करने वाले की दुर्गति ही होती है। अब निर्णय स्वयं दीजिए कि क्या करना है? मूलाचार जी में गुरु के प्रतिकूल चलने वाले की असमाधि लिखी है, फिर जो जिनदेव के प्रतिकूल चलें, उनकी समाधि कैसी? समाधि के अभाव में सुगति कैसी?'¹⁷

संदर्भ:

1. वेदान्तसार
2. भारतीय दर्शन
3. वेदान्त में बौद्ध सन्दर्भ, पुरोवाक्
4. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
5. स्वरूपसंबोधन परिशीलन, पृष्ठ 85
6. वही, पृष्ठ 67
7. वही, पृष्ठ 75
8. वही, पृष्ठ 76
9. वही, पृष्ठ 70
10. वही, पृष्ठ 168-169
11. वही, पृष्ठ 212
12. वही, पृष्ठ 212
13. वही, पृष्ठ 86
14. वही, पृष्ठ 69
15. वही, पृष्ठ 65
16. वही, पृष्ठ 155
17. वही, पृष्ठ 105

- एसोसिएट प्रोफेसर-संस्कृत विभाग
एस. डी. (पी.जी.) कालेज
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

जैन धर्म: करुणा की एक अजस्र धारा

श्री सुमत प्रसाद जैन

जैन धर्म में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध षोडशकारण रूप अत्यन्त विशुद्ध भावनाओं द्वारा उत्पन्न होता है। आत्मोन्नयन की चरम सीमा तक पहुंचाने में सहायक सोलह भावनाएँ इस प्रकार हैं- (1) दर्शन विशुद्धता (2) विनय संपन्नता (3) शीलव्रतों में निरतिचारता (4) छह आवश्यकों में अपरिहीनता (5) क्षणलवप्रतिबोधनता (6) लब्धिसंवेगसंपन्नता (7) यथाशक्ति तप (8) साधुओं को प्रासुक परित्यागता (9) साधुओं को समाधिसंधारणा (10) साधुओं की वैयावृत्ययोगयुक्तता (11) अरहंतभक्ति (12) बहुश्रुतभक्ति (13) प्रवचन भक्ति (14) प्रवचनवत्सलता (15) प्रवचनप्रभावना (16) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता। परम चिंतक गुप्तव रोथ के अनुसार श्वेताम्बर संप्रदाय में तीर्थंकर प्रकृति के अर्जन हेतु बीस भावनाओं का प्रावधान किया गया है।¹

इस प्रकार के शुभ परिणाम केवल मनुष्य भव में, और वह भी केवल किसी तीर्थंकर या केवली के पादमूल में होना संभव हैं। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'जैनमत में भी केवलज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है, किन्तु तीर्थंकरत्व सब के लिए नहीं है। तीर्थंकर गुरु तथा दैशिक है। इस पद पर व्यक्ति विशेष ही जा सकते हैं, सब नहीं। तीर्थंकरत्व त्रयोदश गुणस्थान में प्रकट होता है, परन्तु सिद्धावस्था की प्राप्ति चतुर्दश भूमि में होती है'² संसार सागर को स्वयं एवं दूसरों को पार कराने की उत्कट भावना वाले दिव्य पुरुष ही तीर्थंकर रूप में सम्पूजित होते हैं। श्री काकासाहब कालेलकर की दृष्टि में 'तीर्थंकर का अर्थ है, स्वयं तरकर असंख्य जीवों को भव सागर से तारनेवाला। तीर्थ यानी मार्ग बताने वाला। जो सच्छास्त्ररूपी मार्ग तैयार करने वाला है, वह तीर्थंकर है'³ अतः तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में भी करुणा का विशेष माहात्म्य है। प्रथमानुयोग के धर्मग्रंथों में श्रेणिक राजा द्वारा ध्यान संबन्धी प्रश्नों का उत्तर देते हुए महामुनि श्री गौतम गणधर द्वारा रौद्रध्यान के संबन्ध में जो सरस्वती प्रकट हुई है वह इस प्रकार है:-

“जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है।⁴ रौद्र ध्यान के भेदों में हिंसादन्द के स्वरूप का विवेचन करते हुए योगीन्द्र शिरोमणि श्री गौतम गणधर जी कहते हैं, “मारने और बांधने आदि की इच्छा रखना, अंगोपांगों को छेदना, संताप देना तथा कठोर दण्ड देना आदि को विद्वान् लोग हिंसानन्द नामक आर्तध्यान कहते हैं। जीवों पर दया न करने वाला हिंसक पुरुष हिंसानन्द नाम के रौद्र ध्यान को धारण कर पहले स्वयं का घात करता है और तत्पश्चात् भावनावश वह अन्य जीवों का घात कर भी सकता है अथवा नहीं भी। अर्थात् अन्य जीवों का मारा जाना उनके आयु कर्म के अधीन है परन्तु मारने का संकल्प करने वाला हिंसक पुरुष तीव्र कषाय उत्पन्न होने से

अपनी आत्मा की हिंसा अवश्य कर लेता है।⁵

अतः जैनधर्म में भावों को प्रधानता दी गई है। हिंसा के अपराध में शारीरिक रूप से लिप्त न होने पर भी भाव हिंसा के कारण मनुष्य का पतन हो जाता है। शारीरिक शक्ति एवं सामर्थ्य के अभाव में भी परदुःखकातरता का भाव आत्म-विकास में सहायक होता है।

करुणा के दार्शनिक पक्ष को यदि हम इस समय गौण करके भगवान् महावीर स्वामी और समकालीन भारत की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्थिति का ऐतिहासिक विश्लेषण करें तो यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जायेगा कि तत्कालीन समाज में हिंसा का बोलबाला था। स्वर्ग प्राप्ति के लिए यज्ञशालाओं में मूक प्राणियों की बलि, व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म के नाम पर भेद की दृष्टि, पांडित्य प्रदर्शन और आभिजात्य हितों की संरक्षा के लिए लोकभाषाओं की उपेक्षा, असमर्थ एवं साधनहीन पुरुष एवं नारी की समाजव्यापी विवशता एवं दासता इत्यादि हिंसा के विकराल रूपों की छवियाँ ही तो थीं। अतः इस प्रकार के वातावरण में हिंसा का मानसिक रूप से विरोध करने वाले स्वर उठने स्वाभाविक थे। यह उस काल के लिए गौरव का विषय है कि तत्कालीन समाज में चेतना का मंत्र फूँकने के लिए ऐसे महाप्राण धर्म पुरुषों का जन्म हुआ जो ईश्वर के अस्तित्व को न मानकर कर्म फल के महत्त्व को स्वीकार करते थे। मानव समाज की उन्नति के लिए वास्तव में एक ऐसे आचारशास्त्र की आवश्यकता होती है जो अशुभ कर्म का अशुभ, शुभ कर्म का शुभ और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल अथवा परिणाम को स्वीकार करता हो। अतः उस समाज में करुणा के स्वस्थ दर्शन का विकसित होना समय की अनिवार्यता थी।

बौद्धधर्म में सप्तविध अनुत्तर-पूजा द्वारा बोधिचित्त की महान् उपलब्धि के उपरान्त पूजक की इच्छा होती है कि वह समस्त प्राणियों के सर्व दुःखों का प्रशमन करने में सहायक हो। साधक की भक्तिपूर्वक प्रार्थना के स्वर इस प्रकार हैं, “हे भगवन्! जो व्याधि से पीड़ित हैं, उनके लिए मैं उस समय तक औषधि, चिकित्सक और परिचारक होऊँ, जब तक व्याधि की निवृत्ति न हो, मैं क्षुधा और पिपासा की व्यथा का अन्न-जल की वर्षा से निवारण करूँ और दुर्भिक्षान्तर कल्प में जब अन्नपान के अभाव से प्राणियों का एक दूसरे का मांस और अस्थि-भक्षण ही आहार हो, उस समय मैं उनके लिए पान-भोजन बनूँ। दरिद्र लोगों का मैं अक्षय धन होऊँ। जिस पदार्थ की वह अभिलाषा करें, उसी पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ”⁶ करुणा से मानवमन को द्रवित कर देने वाली इसी प्रकार की अनुभूतियों से अहिंसा के दर्शन का विकास हुआ। इस विकास की चरम परिणति जैन धर्म में हुई। श्री रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में, “जैनों की अहिंसा बिल्कुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा के काम में योग देना, जैन धर्म में सब की मनाही है। और विशेषतः यह है कि जैन संप्रदाय केवल शारीरिक अहिंसा को ही महत्त्व नहीं देता, प्रत्युत् उसके दर्शन में बौद्धिक अहिंसा का भी महत्त्व है। जैन महात्मा और चिंतक सच्चे अर्थों में मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का पालन करना चाहते थे। अतएव उन्होंने अपने दर्शन को स्याद्वादी अथवा

अनेकान्तवादी बना दिया। जैन शास्त्रकारों ने पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु में भी जीव तत्त्व की परिकल्पना की और अपनी सदैव दृष्टि के कारण इस प्रकार के प्रावधान किए जिससे उनका अवरोध न हो।⁷ श्री एच. जी. रॉलिनसन ने जैन आचारांग सूत्र में पृथ्वी, अग्नि, जल एवं वायु कायिक जीवों में जीवन के अस्तित्व के दर्शन किए।⁸ अतः विश्वव्यापी जीवों की रक्षा के लिए जैनाचार्यों के मन में कोमल अनुभूतियों का होना आवश्यक था। इसीलिए उन्होंने समस्त जीवों की रक्षा के लिए मंगल उपदेश दिया है। श्री अतीन्द्रनाथ बोस ने सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जैकोबी को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकाला है कि सर्वप्रथम भगवान् महावीर स्वामी ने ही पेड़-पौधों एवं पशु-पक्षियों के जीवन की सुरक्षा के लिए विशेष आज्ञा प्रसारित की थी।⁹

भगवान् बुद्ध एवं भगवान् महावीर स्वामी के उपदेशों से प्रभावित होकर तत्कालीन जगत् में एक वैज्ञानिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ और समाज में हिंसापरक अनुष्ठानों एवं मांसाहार को बुरी निगाह से देखा जाने लगा। भारतीय आयुर्वेद एवं चिकित्सालय के विकास ने धर्मानुरागी समाज को मनुष्य जाति के साथ-साथ पशु-पक्षियों के लिए भी औषधालय एवं अस्पतालों को खोलने की प्रेरणा दी। पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार “ईसा से कबल की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। वह शायद जैनियों और बौद्धों के मजहबों के असर से बने थे, जिनमें कि अहिंसा पर जोर दिया गया है।¹⁰ बौद्ध एवं जैन धर्म से प्रेरणा ग्रहण कर प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने इस प्रकार की गतिविधियों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। धर्मप्रिय सम्राट् अशोक ने अपने एक आदेश में कहा है:- ‘अगर कोई उनके साथ बुराई करता है, तो उसे भी प्रियदर्शी सम्राट् जहां तक होगा सहन करेंगे। अपने राज्य के वन के निवासियों पर भी प्रियदर्शी सम्राट् की कृपा-दृष्टि है और वह चाहते हैं कि ये लोग ठीक विचार वाले बनें, क्योंकि अगर ऐसा वे न करें तो प्रियदर्शी सम्राट् को पश्चात्ताप होगा। क्योंकि परम पवित्र महाराज चाहते हैं कि जीवधारी मात्र की रक्षा हो और उन्हें आत्मसंयम, मन की शांति और आनन्द प्राप्त हो।’¹¹

कलिंग-विजय के उपरान्त पश्चात्ताप के क्षणों में अशोक किसी को भी बंदी रूप में देखना पसन्द नहीं कर सकते थे। अतः लोकोपकार के कार्य में संलग्न उस महान् सम्राट् ने स्थान-स्थान पर मनुष्यों एवं पशुओं के अस्पताल खुलवाकर राज्य की नीति में करुणा के धर्म को साकार कर दिया। इस संबन्ध में गिरनार का शिलालेख विशेष रूप से द्रष्टव्य है:- “राजानो सर्वत्र देवानांप्रियस प्रियदसिनो राजो द्वे चिकीछा कता- मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च औसुढानि च यानि मनुसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्रा हारापितानि च रोपापितानि।¹² अर्थात् देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा की- मनुष्य चिकित्सा और पशु चिकित्सा। मनुष्यों और पशुओं के उपयोग के लिए जहां-जहां औषधि याँ नहीं थीं, वहां सब जगह से लायी गई और बोई गई।

भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अहिंसा और करुणा का दर्शन अपनी संवेदनशीलता एवं वैचारिक पृष्ठभूमि के कारण तत्कालीन विदेशी चिंतकों एवं मनीषियों में भी लोकप्रिय हो गया था। सुप्रसिद्ध गणितज्ञ पाइथागोरस जीवहिंसा का प्रबल विरोधी

था। प्रो. एल. सी. जैन गणित इतिहास का विशिष्ट अन्वेषण करते हुए इस संबंध में कुछ रोचक जानकारियां प्रस्तुत की हैं जो इस प्रकार हैं:-

(1) ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा से (प्रायः 582-500 वर्ष) मिस्र में प्रबल स्वेच्छा से रहते हुए पाइथागोरस ने जिनके संसर्ग में स्वयं को विभिन्न विज्ञानों से (a lot of knowledge without intellect)¹³ परिचित किया था, उनके मिशन का प्रभाव उनके नैतिक जीवन में पशु के प्रति (मुक्ति हेतु), विशुद्ध दया की छाप छोड़ बैठा था:

"But this crazy crank Pythagorus had made quite a fuss when he saw one of the prominent citizens taking a stick to his dog. "Stop beating that dog! he had shouted like a madman. "In his howls of pain I recognise the voice of a friend who died in Memphis twelve years ago. For a sin such as you are committing he is now the dog of a harsh master. By the next turn of the Wheel of Birth, he may be the master and you the dog. May he be more merciful to you than you are to him. Only thus can he escape the Wheel. In the name of Apollo my father, stop, or I shall be compelled to lay on you the tenfold curse of the tetractys."

(2) इस चतुर्चकमण (tetractys), चतुर्गति बंधन (स्वस्तिक प्ररूपणा) से विमुक्ति हेतु पाइथागोरस और आगे बढ़कर हरे पौधों के प्रति भी ममता प्रदर्शित करता है:

"Than, too, there was all this talk about what he ate, or rather about what he would not eat. What could the man possibly have against beans? They were a staple of everyon's diet; and here was Pythagorus refusing to touch them because they might harbour the souls of his dead friends.... He had even deterred a cow from trampling a patch of beans by whispering some magic word in its ear."

इसी प्रकार, (एकेंद्रिय जीव, बालों से निर्मित) ऊनी कपड़ों से संबन्धित अभ्युक्ति निम्न प्रकार है-

"He also tells that the Pythagoreans did not bury their dead in woollen clothing. This looks more like religious rutual than like mathematics. The Pythagoreans, who were held up to ridicule on the stage, were presented as superstitious, as filthy vegetarians, but not as mathematicians".

(3) पुनः, मांस-भक्षण निषेध की शैली में आत्मा की नियत संख्या के रूप में गणित का प्रवेश है:

"The thought of all the souls they might have left shivering in the void by devouring their own goats and swine made the good Samians extremely unhappy. A few weeks more of these upsetting suggestions and they would all be strict vegetarians- except for beans.

Equally upsetting was the ghastly thought that some of their own children might be malicious little monsters with no souls to restrain their bestial

instincts. For Pythagorus had assured them that the total number of souls in the universe is constant".

प्राचीन मिश्र में निम्नकोटि के जीवों के प्रति दया, मांसभक्षण निषेध एवं ब्रह्मचर्य पूजा का उल्लेख आर्चविशप ह्वेतली ने इस प्रकार किया है-

" In Egypt there are hospitals for superannuated cats and the most loathsome insects are regarded with tenderness;.....," "Chastity, abstinence from animal food, ablutions, long and mysterious ceremonies of preparations of initiation, were the most prominent features of worship....."

श्री रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार इस्लामी रहस्यगद (तसव्वुफ) के प्रमुख उन्त्रयक सन्त अबुलअला अलमआरी (1507 ई.) भी इन्हीं प्रभाव क्षेत्रों के कारण शाकाहारी था। वह दूध, मधु और चमड़े का प्रयोग नहीं करता था। पशु-पक्षियों के लिए उसके हृदय में असीम सम्बेरणा एवं अनुकम्पा का भाव था। वह नैतिक नियंत्रों का सभल प्रचारक था। वह स्वयं भी ब्रह्मचर्य एवं तपस्वियों के आचरणशास्त्र का पालन करता था।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के कथनानुसार परमअर्हत् के विरद से विभूषित एवं चौदह हजार एक सौ चालीस मंदिरों का निर्माण कराने वाले सम्राट् कुमारपाल ने जैनाचार्य श्री हेमचन्द्र की मंत्रणा पर राज्य में पशु हत्या पर रोक लगवा दी थी।¹³ डॉ. मोहनचन्द्र के अनुसार सम्राट् कुमारपाल ने एक अर्धमृत बकरे के कारुणिक दृश्य को देखकर अपने राज्य में किसी भी पशु को चोट पहुंचाने पर रोक लगवा दी थी। उन्होंने 1160 ई. में एक विशेष आज्ञा निकालकर 14 वर्षों के लिए राज्य में पशु-बलि, मुर्गों अथवा अन्य पशु-पक्षियों की लड़ाई एवं कबूतरों की दौड़ पर प्रतिबंध लगवा दिया। राज्य में कोई भी व्यक्ति, चाहे वह जन्म से कितना भी हीन क्यों न हो, वह अपनी जीविका के लिए किसी भी प्रकार के प्राणी की हत्या नहीं कर सकता था। इस प्रकार की राजाज्ञा से प्रभावित होने वाले कसाइयों की जीविका की क्षतिपूर्ति के लिए राज्यकोष से तीन वर्षों के लिए धन देने का भी विशेष प्रबन्ध किया गया जिससे उनकी हिंसक आदत छूट जाए।¹⁴

भारत में सर्वधर्म सद्भाव के वास्तविक प्रतिनिधि मुगल सम्राट् अकबर की दया तो वास्तव में निस्सीम एवं अनुकरणीय है। अपनी सहज उदारता से 'दीने इलाही' को प्राणवान् कर धर्मज्ञ अकबर विश्व सभ्यता एवं संस्कृति के उन्नायक महापुरुषों की श्रेणी में विराजमान हो गया है। उसकी प्रारंभिक अवस्था में जैन विद्वान् उपाध्याय पद्मसुन्दर जी और तत्पश्चात् मुनिश्री हरिविजय जी का संसर्ग मिल गया था। उपरोक्त संसर्गों और गहन चिंतन ने अकबर को वैचारिक रूप में अनेकान्तवादी बना दिया था। जनश्रुतियों में तो अकबर पर जैन सम्राट् होने का भी आरोप लगाया जाता है। श्री रामधारी सिंह दिनकर ने एक रोचक लोककथा का उल्लेख करते हुए 'संस्कृति के चार अध्याय' में यह जानकारी दी है कि नरहरि नामक हिन्दी कवि ने गौओं की ओर से निम्नलिखित छप्पय अकबर को सुनाया था:-

अरिहुं दन्त तून धरै ताहि मारत न सबल कोई।
 हम सन्तत तून चरहिं वचन उच्चरहिं दीन होई।
 अमृत छीर नित स्रवहिं बच्छ महि थम्भन जावहिं।
 हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरूकहिं न पियावहिं।
 कह कवि 'नरहरि' अकबर सुनो, विनवत गउ जोरे करन।
 अपराध कौन मोहि मारियत, मुयहु चाम सेवहिं चरन।

गौओं की प्रार्थना से द्रवित होकर सम्राट् अकबर ने अपने राज्य के बहुसंख्यक नागरिकों की धार्मिक मान्यता को समादर देकर करुणा के दर्शन को मुखरित किया था। श्री रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार धर्म अकबर की राजनीति का साधन नहीं था, प्रत्युत यह उसकी आत्मा की अनुभूति थी। अबुल फजल और बदायूनी के विवरणों से मालूम होता है कि अकबर सूफियों की तरह कभी-कभी समाधि में आ जाता था और कभी-कभी सहज ज्ञान के द्वारा वह मूल सत्य के आमने-सामने भी पहुँच जाता था। एक बार वह शिकार में गया। उस दिन ऐसा हुआ कि घेरे में बहुत से जानवर एक साथ पड़ गए और वे सब मार डाले गये। अकबर हिंसा के इस दृश्य को सह नहीं सका। उसके अंग-अंग कांपने लगे और तुरन्त उसे एक प्रकार की समाधि हो आई। इस समाधि से उठते ही उसने आज्ञा निकाली कि शिकार करना बंद किया जाए। फिर उसने भिखमंगों को भीख दी, अपना माथा मुंडवाया और धार्मिक भावना के इस जागरण की स्मृति में एक भवन का शिलान्यास किया। जंगल के जीवों ने अपनी वाणीविहीन वाणी में उसे धर्म का रहस्य बतलाया और अकबर की जागरुक आत्मा ने उसे पहचान लिया। यह स्पष्ट ही, उपनिषदों और जैन धर्म की शिक्षा का प्रभाव था।¹⁵ जैन संतों की धर्मदेशना से प्रभावित होकर उसने मांसाहार का त्याग कर दिया और इतिहासज्ञ श्री डब्ल्यू क्रुकी के अनुसार तो सम्राट् अकबर ने जैनधर्म के महापर्व पर्युषण के 12 दिनों में अपने राज्य में पशु-हत्या को भी बन्द करवा दिया था।¹⁶ इसी गौरवशाली परंपरा में उसके उत्तराधिकारी सम्राट् जहांगीर के फरमान दृष्टिगोचर होते हैं।

राजधानी के श्री दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर जी कूचा सेठ में मुगल शहंशाह जहांगीर के शाही फरमान 26 फरवरी सन् 1605 ई. की नकल के अनुसार सम्राट् ने जैन धर्म के मुकद्दश इबादती माह भादों के बारा मुकद्दश ऐय्याम के दौरान मवेशियों और परिन्दों को जबह करना बन्द किया। फरमान में आदेश किया गया है-

“हमारी सल्तनत के मुमालिक महरूसा के जुमला हुक्काम, नाजिमान जागीरदारान को वाजेह हो फतूहाते दीनवी के साथ हमारा दिलीमनशा खुदाये बर तर की जुमला मखलूक की खुशनवूदो हासिल करना है। आज ईद के मौका पर मा बदौलत को कुछ जैन (हिन्दुओं) की तरफ से इस्तेदा पेश की गई है कि माह भादों के मौके पर उन के बारा मुकद्दश ऐय्याम में जानवरों को मारना बन्द किया जाये। हम मजहबी उमूर में हर मजहब व मिल्लत के अगराज व मकासद की तकमील में ही एक की हौंसला अफजाई करना चाहते हैं, बल्के हर जो रूह को एक जैसा खुश रखना चाहते हैं। इसलिये यह दरखास्त

मंजूर करते हुए हम हुक्म देते हैं कि भादों के इन बारा मजहबी ऐय्याम में जो (जैन हिन्दुओं) के मुकद्दश और इबादती ऐय्याम हैं। इनमें किसी किसी की कुरबानी या किसी भी जानवर को हलाक करने की मुमानियत होगी। और इस हुक्म की तामील न करने वाला मुजरिम तसव्वर होगा। यह फरमान दवामी तसव्वर हो। दस्तखत मुबारिका, शहंशाह जहाँगीर (मुहर)'' वास्तव में जहाँगीर एक रहमदिल इंसान था। उसको प्रकृति के विविध रूपों से गहरा प्यार था। अतः उसके दरबार में कलाकारों ने अपनी कोमल तूलिका से बादशाह को प्रिय पुष्पों, पशु-पक्षियों के चित्र बहुलता से चित्रण किए हैं।

मंसूर ने तो चौपायों और पक्षियों के चित्रांकन में ही अपनी कला को समर्पित कर दिया था। जहाँगीरकालीन 'मुर्गे का चित्र' जो आज कलकत्ते की आर्टगैलरी की शोभा है, के सौंदर्य को तो आज तक कोई भी चित्रकार मूर्त रूप नहीं दे पाया है। बादशाह अकबर की उदार नीति शाहजहाँ के राज्यकाल के पूर्वार्ध तक पुष्पित होती रही है। पुर्तगाली यात्री सेवाश्चिन्यन मानदिक के यात्रा-विवरण से यह ज्ञात होता है कि शाहजहाँ के मुस्लिम अफसरों ने एक मुसलमान का दाहिना हाथ इसलिए काट डाला था कि उसने दो मोर-पक्षियों का शिकार किया था और बादशाह की आज्ञा थी कि जिन जीवों का वध करने से हिन्दुओं को ठेस पहुँचती है, उनका वध नहीं किया जाए।¹⁷

प्रायः यह धारणा हो गई है कि करुणा की वाणी को रूपायित करने वाले इस प्रकार के अस्पताल मुसलमान शासकों के समय में समाप्त हो गए थे। किन्तु समय-समय पर भारत में भ्रमण के निमित्त पधारने वाले पर्यटकों के विवरणों ने इस धारणा को खंडित कर दिया है। सुप्रसिद्ध पुर्तगाली यात्री ड्यूरे बारवोसा (जो 1515 ई. में गुजरात में आया था), ने जैन अहिंसा के स्वरूप पर बारीकी से प्रकाश डालते हुए इस सत्य की सम्पुष्टि की है कि जैन धर्मानुयायी मृत्यु तक की स्थिति में अभक्ष्य (माँस इत्यादि) का सेवन नहीं करते थे। उसने जैनियों की ईमानदारी का उल्लेख करते हुए कहा कि वे किसी भी जीव की हत्या को देखना तक पसन्द नहीं करते। उसने राज्य द्वारा मृत्युदण्ड प्राप्त हुए अपराधियों को भी जैनसमाज द्वारा बचाने के प्रयासों का उल्लेख किया है। उसने जैन समाज की पशु-पक्षियों (यहां तक कि हानिप्रद जानवरों) की सेवा का उल्लेख एवं उनके द्वारा निर्मित अस्पतालों और उनकी व्यवस्था का उल्लेख भी किया है।¹⁸

सुप्रसिद्ध पर्यटक पीटर मुंडे ने भी अपने यूरोप एवं एशिया के भ्रमण (1608-1667) में पशु-पक्षी चिकित्सालयों को देखा था। कैम्बे में उसने रुग्ण पक्षियों के लिए जैनों द्वारा बनाए गए अस्पताल का विवरण सुना था। उसके यात्रा वृत्तांतों में अनेक पर्यटकों के नामों का उल्लेख है जिन्होंने गुजरात में जैनों द्वारा समर्पित अस्पतालों (जिन्हें 'पिंजरापोल' कहा जाता है) का भ्रमण किया था।¹⁹ एल. रूजलैट ने भी अपनी पेरिस से प्रकाशित पुस्तक में जैनों की पशु-संपदा के प्रति उदार दृष्टि का उल्लेख करते हुए बम्बई एवं सूरत में जैन समाज द्वारा प्रेरित एवं संचालित पशु-पक्षी चिकित्सालयों का उल्लेख किया है।²⁰

श्री आर. कस्ट²¹, रोबर्ट निधम कस्ट²², एडली थियोडोर बेस्टरमैन और अरनेस्ट क्रेवे²³, श्री आर. पी. रसेल और श्री हीरालाल²⁴, विलियम क्रुक²⁵, एडवर्ड कोंजे²⁶, ओ. टी.

बेट्टेनी²⁷, श्री ए. एल. खान²⁸, जे. विलसन²⁹ इत्यादि सभी विद्वानों ने जैन समाज की दार्शनिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए जैनधर्म की सर्वप्रमुख विशिष्टता पशु-पक्षियों के प्रति अप्रतिम अनुराग एवं करुण भाव की भूरि-भूरि सराहना की है। जैनियों के अहिंसात्मक दृष्टिकोण, मानवजाति के प्रति उनकी नैष्ठिक सेवा एवं पशु-पक्षियों पर अमानवीय व्यवहार के प्रति उसकी सतत जागरूकता की भी सभी ने सराहना की है।

इतिहास के लम्बे सफर में जैन समाज ने प्रायः पैतृक संस्कारों के कारण भोजन के विषय में कभी भी कोई समझौता नहीं किया है। इसीलिए सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री श्री एस. टी. मोसीस³⁰ ने अपने उत्तरी, दक्षिणी आर्कट एवं दक्षिणी कनारा के सर्वेक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला था कि वहां का जैन समाज मछली, मांस और मांस से बने हुए किसी भी पदार्थ का सेवन नहीं करता है। उपर्युक्त मूल्यांकन क्षेत्र विशेष में ही नहीं, अपितु संपूर्ण भारत में इन्हीं सत्यों की स्थापना कर सकता है।

सुप्रसिद्ध इतिहास मनीषी श्री वी. ए. स्मिथ ने जैन धर्मानुयायियों के अहिंसापरक आचारण को विशेष महत्व दिया है।³¹ अतः करुणा की आधारभूमि पर खड़ा हुआ यह समाज अहिंसा के तात्त्विक विवेचन के कारण शाकाहारी है। आज विश्व में पशु-पक्षियों की हत्या के विरोध एवं शाकाहार के समर्थन में वातावरण बन रहा है। बौद्धधर्म एवं जैनधर्म के आलोक से प्रकाशित होकर माननीय श्री एल. एच. एंडरसन³² (1894 ई.) ने मूक पशु-पक्षियों की हत्या को रुकवाने के लिए शिकागो में किस प्रकार से पशुओं का कत्ल किया जाता है इसविषय पर भाषण किया था। उन्होंने वहां के समाज के विवेक को झकझोरते हुए पशु-पक्षियों की हत्या न किए जाने की विशेष प्रार्थना की थी। उनके स्वर में अनेक शक्तिशाली स्वरों ने योग देकर करुणा की परंपरा को आगे बढ़ाया है।

बीसवीं शताब्दी के युगपुरुष महात्मा गाँधी ने अपने विदेश प्रवास से पूर्व एक जैन सन्त की प्रेरणा से तीन नियम व्रत रूप में अंगीकार किए थे। लोककल्याण के वह मंगल नियम थे- मद्य, मांस और परस्त्री के संसर्ग से बचकर रहना। इन्हीं नियमों के पालन हेतु उन्होंने अनेक प्रकार के प्रयोग किए और पाश्चात्य शाकाहारियों के तर्कों से प्रभावित होकर उन्होंने दूध का भी त्याग कर दिया। दूध का त्याग करते समय उनकी दृष्टि में यह तथ्य भी निहित था कि भारत में जिस हिंसक ढंग से पुश-पालन एवं दूध उत्पादन किया जाता है वह एक संवेदनशील सुहृदय मनुष्य के लिए सर्वथा असह्य था। खेड़ा-सत्याग्रह में दुर्बलता से अत्यधिक प्रभावित हो जाने पर भी चिकित्सकों, परिचितजनों के असंख्य अनुरोधों और राष्ट्र सेवा के संकल्प को साकार रूप देने की भावना से ही उन्होंने बकरी का दूध लेना स्वीकार कर लिया था। इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि दूध छोड़ने का नियम लेते समय उनकी दृष्टि में बकरी का दूध त्याज्य श्रेणी में नहीं था।

गौवंश की निर्मम हत्या के विरुद्ध उन्होंने शक्तिशाली स्वर उठाये। गाय में मूर्तिमंत करुणामयी कविता के दर्शन करते हुए उन्होंने उसे सारी मूक सृष्टि के प्रतिनिधि के रूप में ही मान्यता दे दी थी। उनकी संवेदना में सजीव प्राणियों के अतिरिक्त धरती की कोख

से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियाँ भी रही हैं। सेवाग्राम आश्रम में संतों के बगीचे में परंपरानुसार फल आने के अवसर पर मिठास इत्यादि के लिए पानी बन्द कर देने की कृषि पद्धति थी। गांधी जी को इससे मर्यादित पीड़ा हुई और उन्होंने आश्रमवासियों से कहा यदि मुझे कोई पानी बगैर रखे और प्यास से मेरी मृत्यु हो तो तुम्हें कैसा लगेगा। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह सदा याद रखो। भारतवर्ष का जैन समाज उन सभी के प्रति हृदय से कृतज्ञ है। राजधानी में मुगलों की सत्ता के प्रमुख केन्द्र लालकिले की पर्दे वाली दीवार के ठीक सामने 'परिन्दों का अस्पताल' जैनधर्म की सहस्राब्दियों की परंपरा को स्थापित किए हुए है। इस धर्मार्थ चिकित्सालय की परिकल्पना 1924 ई. में कुछ धर्मानुरागी श्रावकों ने की थी। वर्तमान में दिगम्बरत्व को सार्थक रूप एवं शक्ति प्रदान करने में अग्रणी परमपूज्य आचार्य शिरोमणि चारित्र चक्रवर्ती स्व. श्री श्री शांतिसागर जी महाराज की धर्मदेशना से प्रभावित होकर इस चिकित्सालय का शुभारंभ श्रमण संस्कृति के प्रभावशाली केन्द्र श्री लाल मंदिर जी (चांदनी चौक) में हो गया। अस्पताल की उपयोगिता को अनुभव करते हुए धर्मध्वजा करुणा एवं मैत्री की जीवन्त मूर्ति परमपूज्य आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज के पावन सान्निध्य में भारत सरकार के केन्द्रीय गृहमंत्री लौहपुरुष श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने 24 नवम्बर, 1957 को अस्पताल के नए भवन का उद्घाटन किया था। राजधानी के जैन समाज के युवा कार्यकर्ता श्री विनयकुमार जैन की लगन से अस्पताल में तीसरी और चौथी मंजिल को परमपूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माता जी के सान्निध्य में नया रूप प्रदान किया गया है। पिछले वर्ष इस अस्पताल का कुछ विकास हुआ है जिसके कारण देश-विदेशों में इसकी लोकप्रियता बढ़ी है और धर्म के मिशन के प्रति विश्वव्यापी सद्भावनाएँ प्राप्त हो रही हैं।

वास्तव में पशु-पक्षी चिकित्सालय किसी भी धर्म का व्यावहारिक मंदिर है। इस प्रकार के मंदिर धर्म के स्वरूप को वास्तविक वाणी देते हैं। जैनविद्याविशेषज्ञ डा. मोहनचंद ने 26 दिसम्बर 1982 को अस्पताल की सुझाव पुस्तिका में अपनी सम्मति देते हुए लिखा है:- "संसार में अपनी भूख को शांत करने के लिए जो पक्षियों को अपना आहार बनाते हैं, ऐसे लोग, काश! इस अस्पताल को देख लें तो शायद उन्हें उपदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर श्री ऋषभदेव से लेकर आज तक करुणा की जो अजस्र धारा मानव मन को अपूर्व शान्ति एवं सुख का संदेश दे रही है उस सात्विक भाव को विश्वव्यापी बनाने के लिए जैन समाज को संकल्प के साथ रचनात्मक रूप देना चाहिए। विश्व की संहारक शक्तियों में सदाशयता का भाव भरने के लिए करुणा के मानवीय एवं हृदयस्पर्शी चित्रों का प्रस्तुतीकरण होना आवश्यक है। आज का विश्व भगवान् महावीर स्वामी, भगवान् बुद्ध एवं राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की वाणी को साकार रूप में देखना चाहता है। अतः सहस्राब्दियों से करुणा एवं अहिंसा के प्रतिनिधि जैन समाज को कुछ इस प्रकार के वैचारिक कार्यक्रम बनाने चाहिए जिससे आज की प्रज्ञावान् पीढ़ी को सही दिशा मिल सके। क्या जैन समाज आज की परिस्थितियों में भगवान् महावीर के ओजस्वी व्यक्तित्व

से प्रेरणा ग्रहण कर, हिंसा के विरुद्ध अनेकान्तवाद का अमोघ शस्त्र लेकर वैचारिक आंदोलन करने की स्थिति में है? वैसे आज इस आंदोलन की विशेष आवश्यकता है। देखें, करुणा के दर्शन को साकार रूप देने के लिए इस बार कौन आता है?

संदर्भ:

1. Gustav Roth "The Terminology of the Karana sequence" (Pr. & Tr. A. I. O. Con. 18th Sess. 1955. Annamalainagar, 1958). pp. 250-259
2. आचार्य नरेन्द्र देव, 'बौद्ध-धर्म-दर्शन', भूमिका, पृ. 15-16
3. काका साहब कालेकर, 'जीवन का काव्य', पृ. सं. 22
4. प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः। आदिपुराण, एकविंशः पर्वः, पृ.सं. 478 पद्य सं.42
5. प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम्। अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते॥
वधबन्धाभिसंधानमंगच्छेदोपतापने। दण्डपारुष्यमित्यादि हिंसानन्दः स्मृतो बुधैः॥
हिंसानन्दं समाधाय हिंस्रः प्राणिषु निर्घृणः। हिनस्त्यात्मानमेव प्राक् पश्चाद् हत्यान् वा परान्॥
(आदिपुराण, एकविंशः पर्वः, पृ.सं. 479 पद्य सं. 44-46)
6. आचार्य नरेन्द्र देव, 'बौद्ध-धर्म-दर्शन', पृ. 188
7. श्री रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. 113
8. H.G. Rawlinson- 'India- a short cultural History', London, 1937. P.43.
9. Atindra Nath Bose- 'Social and Rural Economy in Northern India, 600 B.C. to 209 A.D.' Calcutta, 1942. P. 84.
10. पं. जवाहरलाल नेहरू, 'हिन्दूस्तान की कहानी', पृ. 132
11. पं. जवाहरलाल नेहरू, 'हिन्दूस्तान की कहानी', पृ. 154
12. गिरनार का शिलालेख, ले. सं. 2, पंक्ति 4-6
13. K. M. Munshi- 'The Glory That Was Gurjaradesa'. Part III. The Imperial Gurjaras. Bombay, 1944 P. 191-192.
14. Dr. Mohan Chand,- Syainika Sastram (The art of hunting in ancient India) Intro. pp.23.
15. श्री रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. 307
16. W. Crooke 'An Introduction of the Popular Religion and Folklore of Northern India Allahabad, 1894. P. 338.
17. श्री रामधारी सिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ. 309
18. (a) M.S.Commissariat- 'A History of Gujrat', Vol.1. Calcutta. 1938. p. 255.
(b) Mansel Lognworth Dames- 'The Book of Durate Barbosa', Translated from the portuguese by M. L. Dames. Vol.1, London, 1918 (The Hakluyt Society, Second Series, No.44). P. 110. n.2.
19. Richard Cannac Temple- 'The Travels of Peter Munday in Europe and Asia, 1608-1667', Edited by R. C. Temple. Vol. II: Travels in Asia, 1628-1634. London, 1914 (The Hakluyt Society, second Series, No.35).
20. L. Rousselet- 'L' Inde des Rajahs'- Paris, 1875. P. 17-18
21. R. Cust - 'Les 'Les religions et les langues de l' Inde', Paris. 1880 pp. 47-48
22. Robert Needham Cust- 'Linguistic and Oriental Essays written from the year

- 1847 to 1887' Second Series, London, 1887. P. 67-68.
23. Edly Theodore Besterman, Ernest Crawby- 'Studies of Savages and Sexs'. London. 1929. P. 170.
 24. R. V. Rusell and HiraLal- The tribes and castes of the central provinces of India', London 1916 Vol.I, P. 219-231.
 25. William Crooke- 'Religion and Folklore of Northern India'. Oxford, 1926. P. 349.
 26. Edward Conze- 'Buddhism: its Essence and Developments'. Oxford (2nd edi.) 1953. P. 61-62.
 27. O. T. Bettany- 'The world's Inhabitants or Mankinds, Animals and Plants'. New York, 1988. P. 307.
 28. A. L. Khan- 'A short History of India'. (hindu period), 1926. P. 22
 29. J. Wilson- 'Final report on the Revision of Settlement of the Sirsa District in the Punjab (Lahore), 1979-83. P. 101.
 30. S. T. Moses- 'Fish and Religion in South India'. (QJMS, XIII, 1923, pp.549-554). P.550-551.
 31. (a) V. A. Smith- 'The Buddhist Emperor of India'- Oxford, 1909 (2nd Edi.) P. 58
(b) V. A. Smith- 'Ashoka', Third Edi. Oxford, 1920. P. 58.
 32. L. H. Anderson- 'Spirit of the Buddhists and the Jainas Regarding Animal Life Dawning in America'- How Animals are slaughtered in Chicago. (Jbts. II. 1984, Appendix 4).

-जैन केमिस्ट,
1619, दरीबाकलां,
दिल्ली-११०००६

स्वभावो दुरतिक्रमः

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयणिणऊण ज्जिणधम्मं।
गुड दुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होति ॥ १३८॥

-अष्टपाहुड

अभव्य जीव का स्वभाव बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि- जो अभव्य जीव होता है वह कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसको कितना भी जिनवाणी का श्रवण कराया जाय परन्तु उसके स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आता है। जिस प्रकार सर्प को गुड़ सहित मधुर दूध भी पिलाया जाय तब भी वह विष रहित नहीं हो पाता है। कहा भी है “स्वभावो दुरतिक्रमः”।

विष्णुपुराण में जैनधर्म

- डॉ. रमेशचन्द्र जैन

विष्णुपुराण के अनुसार ध्रुव की संतान परंपरा में अंग नामक राजा का सुनीथा रानी से वेन नामक पुत्र हुआ।¹ सुनीथा मृत्यु की पुत्री थी।² वह वेन जब राजपद पर अभिषिक्त हुआ तो उसने विश्वभर में घोषित कर दिया कि मैं ही भगवान् हूँ। यज्ञपुरुष और यज्ञ का भोक्ता एवं स्वामी मैं ही हूँ, इसलिए अब कभी कोई मनुष्य दान और यज्ञादि न करे।³ ब्रह्मा, विष्णु, शम्भु, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, धाता, पूषा, पृथ्वी और चन्द्रमा अथवा अन्य जो भी देवता या अनुग्रहकारी हैं, उन सभी का निवास राजा में होने के कारण राजा सर्वदेवमय होता है।⁴ हे द्विजो! यह जानकर मेरे ओदश का पालन करो। किसी को भी दान, यज्ञ, हवनादि नहीं करना चाहिए। हे ब्राह्मण! जैसे स्त्री का परमधर्म पतिसेवा है, वैसे ही आपका परमधर्म मेरी आज्ञा का पालन है। ऋषियों ने कहा- हे राजन्! आपका आदेश ऐसा होना चाहिए, जिससे धर्म का नाश न हो। यह संपूर्ण विश्व हवि से ही उत्पन्न हुआ है। जब महर्षियों के पुनः पुनः समझाने पर भी वेन न माना तो अत्यन्त क्रोधपूर्वक वे कहने लगे कि इस पापात्मा को मार डालो। जो अनादि-अनन्त विष्णु का निन्दक है, वह आचरण हीन पुरुष राजा नहीं है। यह कहकर उन महर्षियों ने प्रभुनिंदा के कारण पहले से ही मृत हुए उस राजा का मंत्रपूत कुशों के आघात से वध कर दिया।⁵ महर्षियों ने सर्वत्र बड़ी धूल उड़ती देखकर अपने पास खड़े लोगों से पूँछा कि यह क्या है? तब उन्होंने उत्तर दिया कि इस समय राष्ट्र राजा रहित हो गया है इसलिए दीन दुःखी मनुष्यों ने धनवानों को लूटना आरंभ कर दिया है। उन अत्यन्त वेगवान् लुटेरों से ही यह धूल उड़ रही है। तब उन महर्षियों ने परामर्श कर उस पुत्रहीन राजा वेन की जाँघ को पुत्र प्राप्ति के लिए मथा। उसके मथे जाने से जले हुए टूँठ के समान काले वर्ण का अत्यन्त नाटा और छोटे मुख का एक पुरुष प्रकट हुआ। उसने अत्यन्त आतुरता पूर्वक उन ऋषियों से पूछा कि मैं क्या करूँ? तब उन ऋषियों ने 'निषीद' अर्थात् 'बैठो' कहा इसलिए वह आगे चलकर निषाद कहा गया। उसके वंशज विन्ध्याचल में रहने वाले, पापकर्मों में रत निषाद हुए। उसी निषाद रूप द्वार के मार्ग से राजा वेन का पाप निकल गया, इस प्रकार निषाद राजा वेन के पापों को नष्ट करने वाले हो गए। ऋषियों ने राजा वेन के दायें हाथ को मथा। उससे पृथु उत्पन्न हुआ। सब प्राणी उसके उत्पन्न होने से प्रसन्न हुए। सत्पुत्र की उत्पत्ति से वेन भी स्वर्ग गया।

उपर्युक्त वर्णन से यह बात द्योतित होती है कि वेन यज्ञीय क्रियाकाण्ड तथा विष्णुभक्ति का घोर विरोधी था। वह जीव स्वातन्त्र्य में विश्वास करता था और द्रव्य दृष्टि से जीवात्मा को परमात्मा मानता था अतः उसने स्वयं को प्रभु घोषित किया तथा यज्ञपुरुष भी स्वयं को माना। जैनधर्म जीवात्मा को ईश्वर या प्रभु मानता है। कर्मबन्धन के कारण

वह संसार में भटक रहा है। पूज्य क्षुल्लक मनोहर लाल वर्णी ने कहा है-

मैं वह हूँ जो हैं भगवान् जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान वे विराग यहाँ राग वितान॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान अमितशक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान बना भिखारी निपट अज्ञान॥

-आत्मकीर्तन

काला और नाटा होने के कारण ऋषियों ने वेनपुत्र को गर्हित बतलाया और उसकी संतान परंपरा विन्ध्याचल वासी हो गयी। उस निषाद नामक पुत्र ने भी वेदपरंपरा को नहीं माना होगा न विष्णु को ईश्वर माना होगा अतः वह और उसके वंशज विन्ध्याचल में रहने को विवश हुए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि निषाद जाति भी वेदबाह्य थी और वैदिकेतर धर्म का पालन करती थी, अतः ऋषियों ने उन्हें पापकर्मरत माना। भिन्न धर्मों के लिए इस प्रकार के विशेषण देना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

विष्णुपुराण से यह भी द्योतित होता है कि पृथु ऋषियों के अनुकूल सिद्ध हुआ अतः ब्राह्मणों ने उसके वेदबाह्य यज्ञनिंदक पिता को भी स्वर्ग पहुंचा दिया। जैन परंपरा में जिनेन्द्र भगवान् को यज्ञपुरुष के रूप में वर्णित किया है-

आलम्बनानिविविधान्यवलम्ब्य वल्गन्।

भूतार्थं यज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञं॥

जैनधर्म विष्णु को यज्ञपुरुष के रूप में स्वीकार नहीं करता है। इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वेन, उसका पुत्र निषाद तथा उसके वंशज वैदिक धर्मानुयायी न होकर जैनधर्मी या श्रमणधर्मी थे। वे ब्राह्मणों को दानादि नहीं करते थे।

विष्णु पुराण में स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत के आग्नीध्र, आग्नीध्र के नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभ के होने का वर्णन है। यहाँ उनकी माँ का नाम मेरुदेवी कहा गया है।⁷ वैदिक परंपरा उन्हें यज्ञप्रणेता मानती है किन्तु यहाँ यज्ञ से तात्पर्य हिंसात्मक यज्ञ से कदापि नहीं है। श्रमण परंपरा ऋषभदेव को प्रथम तीर्थंकर मानती है। विष्णुपुराण ऋषभदेव का वर्णन किञ्चित् भिन्न रूप में करता है।

ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत सबसे बड़े थे। महाभाग राजा ऋषभदेव धर्मपूर्वक राज्य चलाते हुए अनेक यज्ञों का अनुष्ठान कर अन्त में भरत को राज्य देकर तप करने के लिए पुलहाश्रम में गए। उन राजा ने वानप्रस्थ पूर्वक दृढ़ तप किया। तप से वे अत्यन्त कृश हो गए। अन्त में नग्नावस्था में अपने मुख में पत्थर की वाटिका रखकर जीवन त्याग दिया। ऋषभदेव ने वनगमन करते समय अपना राज्य भरत को दिया, तभी से यह हिमवर्ष भारतवर्ष कहा जाने लगा। भरत के सुमति नामक अत्यन्त धार्मिक पुत्र हुआ। भरत ने यज्ञ करते हुए इच्छानुरूप राज्य भोगकर अपने पुत्र सुमति को राज्य दे दिया। पुत्र को राज्य देकर भरत योगाभ्यासपरायण हुए और उन मुनि ने शालग्राम क्षेत्र में अपने प्राण त्याग दिए। अगले जन्म में वे योगियों के पवित्र कुल में उत्पन्न हुए।⁸

विष्णुपुराण में नग्न पुरुष (दिगम्बर मुनि) का एक भिन्न प्रकार से चित्रण किया है। ऋक्, साम और यजुः यह वेदत्रयी वर्णों के आचरण रूप हैं। मोहवश इसे त्यागने वाला पापी पुरुष ही नग्न कहलाता है। सब धर्मों का आचरण वेदत्रयी ही है, उसका त्याग कर देने पर ही पुरुष नग्नसंज्ञक होता है।⁹ इससे स्पष्ट है कि नग्न दिगम्बर मुनि वेदत्रयी को नहीं मानते थे।

एक बार सौ दिव्य वर्षों तक देवताओं और दैत्यों में संग्राम हुआ। उसमें दैत्यों ने देवताओं को हरा दिया। देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु प्रकट हुए। देवताओं ने अपने शरीर से मायामोह उत्पन्न किया। मायामोह ने देखा कि महान् असुर नर्मदा तट पर तप में रत है। तब उस मयूर पंख धारण करने वाले नग्न एवं मुड़े हुए बाल वाले मायामोह ने उन असुरों से मीठे वचनों में कहा, कि तुम लौकिक फल की कामना से तप करते हो या पारलौकिक फल पाना चाहते हो? असुरों ने कहा कि पारलौकिक फल की प्राप्ति के लिए हम तप कर रहे हैं। मायामोह ने कहा कि मेरे कहे अनुसार तप करो। ऐसा कह कर उन्हें वैदिक मार्ग से हटा दिया। मायामोह ने सत्-असत्, मोक्षकारक-मोक्षबाधक, परमार्थ-अपरमार्थ कर्तव्य-अकर्तव्य, वस्त्रहीनों का धर्म-वस्त्रधारियों का धर्म इत्यादि बतलाकर दैत्यों को धर्मविमुख कर दिया। वे दैत्य उस धर्म को मानने वाले होने से आर्हत् कहे जाने लगे।¹⁰ उन्होंने त्रयीधर्म की बात ही छोड़ दी। उन दैत्यों में से कोई वेदों की, कोई यज्ञानुष्ठान की, कोई ब्राह्मणों की निंदा करने लगा। उन्होंने परस्पर में कहा कि हिंसा में धर्म कहना अयुक्त है अग्नि में हवि झोंकने से फल की प्राप्ति होगी, यह भी अज्ञानियों की ही बात है। अनेक यज्ञों के द्वारा देवत्व को प्राप्त होकर भी इन्द्र को शमी आदि काष्ठ ही खाना पड़ता है तो उससे पत्रभक्षी पशु ही उत्तम है। यदि यज्ञ में बलि होने वाले पशु को स्वर्ग मिलता है तो यजमान अपने पिता का बलिदान करके ही उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त करा देता है? यदि किसी और के भोजन करने से कोई तृप्त हो सकता है तो भोजन सामग्री साथ ले जाने का परिश्रम ही क्यों किया जाय? पुत्रगण घर पर ही श्राद्धकर उसे तृप्त कर दिया करें। इस प्रकार के वाक्यों से दैत्य त्रयीधर्म से विमुख हो गये।¹¹

आगे कहा गया है कि वेदत्रयी को छोड़ने से दूषित हुए इन नग्नपुरुषों के साथ सम्भाषण और स्पर्शादि का भी त्याग करना चाहिए।¹²

इस प्रकरण से निम्नलिखित तथ्य द्योतित होते हैं-

1. विष्णु वेदविद्या का उपदेश देकर दैत्यों को अपने मार्ग से च्युत होने को विवश नहीं कर सके।
2. दैत्यों में संभवतः दिगम्बर मुनि के प्रति आदरभाव था। अतः विष्णु ने मायामोह के रूप में नग्न दिगम्बर रूप बनाया।
3. नग्न दिगम्बर रूप में विष्णु ने दैत्यों को वेदत्रयी से हटने का उपदेश दिया।
4. दिगम्बर साधु उस समय मयूरपिच्छी अपने साथ रखते थे। अतः मायामोह भी पिच्छ-धारी हुआ।

5. उस समय नग्न साधुओं का धर्म आर्हत् धर्म के रूप में विश्रुत था।
6. आर्हत् धर्मी हवन, ब्राह्मणभोज, श्राद्ध, हिंसात्मक यज्ञ आदि नहीं मानते थे।
7. वैदिक धर्मी आर्हत् धर्मियों के प्रति मन में घृणाभाव धारण करते थे।¹⁴

विष्णुपुराण में उन्हें पाखण्डी कहकर उनका कुत्सितयोनियों में जन्म बतलाकर उनके प्रति जुगप्सा व्यक्त की गई है। इस हेतु विष्णुपुराण के तृतीय अंश का अठारहवाँ अध्याय दृष्टव्य है। विष्णुपुराण ने जैनधर्म को विकृत रूप में वर्णित करने का प्रयास किया है, किन्तु इन वर्णनों से भी अनेक सत्य और तथ्य उभरकर सामने आते हैं। इससे आर्हत् परंपरा की प्राचीनता पर भी प्रकाश पड़ता है। विष्णुपुराणकार ऋषभदेव को यज्ञकर्ता मानकर भी उनके नग्न (दिगम्बर) रूप को छिपा नहीं सके।

संदर्भ:

1. विष्णुपुराण 13/1-7
2. वही 13/11
3. वही 13/13-14
4. वही 13/21-22
5. वही 13/23-29
6. विष्णुपुराण/ 13/30-37
7. विष्णुपुराण 2/1/1-2
8. विष्णुपुराण 2/1/28-35
9. वही 3/17/5-6
10. वही 3/18/1-12
11. वही 3/18/23-31
12. तस्मादेतान्नरो नगनास्त्रयीसन्त्यागदूषितान्।
सर्वदा वर्जयेत्प्राज्ञ आलापस्पर्शनादिषु॥ विष्णुपुराण ॥ 3/18/50
13. वही 3/18/56
14. वही 3/18/69

- बिजनौर
(उत्तरप्रदेश)

पूजा में मंत्रों की उपादेयता

- डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन

जैन परम्परा में श्रावक और श्रमण ये शब्द संज्ञाएँ तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत धर्म का आचरण करने के कारण सार्थक हैं। दान एवं पूजा श्रावकधर्म हैं और ध्यान तथा अध्ययन श्रमण धर्म हैं। षडावश्यकों में भी श्रावकों के लिए पूजन आवश्यक मानी गई है। आचार्य वीरसेन के अनुसार दान, पूजा, शील और उपवास श्रावकधर्म माने गये हैं।¹ आचार्यों ने लिखा है कि जो जीव भक्ति से जिनेन्द्र भगवान् का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं, उनका जीवन निष्फल है।² आचार्य समन्तभद्र ने बताया है कि इच्छित फल प्रदान करने वाले तथा काम बाण को ध्वस्त करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में पूजन करना समस्त दुःखों का नाश करने वाला है।³ द्रव्य पूजा और भावपूजा ये दो पूजा के प्रकार हैं। द्रव्यपूजा भावपूर्वक ही फल प्रदान करती है। पूजा की मंत्रों के साथ अन्वय व्याप्ति है। जहाँ-जहाँ पूजा होगी, वहाँ वहाँ मंत्र अवश्य होंगे। परन्तु यह जरूरी नहीं है कि मंत्र जहाँ हों, वहाँ पूजा भी अवश्य हो। बिना द्रव्य के भी पूजन हो सकती है, परन्तु मंत्रों के बिना पूजा संभव नहीं है। द्रव्य पूजा में जो भी द्रव्य अर्पण किया जाता है, वह भी मंत्रित होता है, अकेला द्रव्य अर्पण पूजा नहीं कहला सकता। अन्यथा दुकानदार मंदिर में किंवदंतियों द्रव्य पहुँचाता है, जिससे पूजा का सभी फल उसी के खाते में चला जाये, परन्तु ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जब भावपूर्वक मंत्राश्रित पूजा होगी तब उसका फल भी अवश्य प्राप्त होगा। यह संभव है कि परिस्थिति भिन्नता के कारण पूजकों के फल प्राप्ति में भिन्नता हो सकती है तथा भावों की स्थिति के अनुसार फल भी तात्कालिक अथवा कालान्तरभावी हो सकता है। यह निश्चित है कि पूजा का फल प्राप्त अवश्य होगा।

पूजा में प्रयुक्त मंत्रों में अक्षर-शब्दात्मक मंत्रों को चित्रित किया जाता है, जिसके कारण ही वे मंत्र कहलाते हैं। मंत्र, यंत्र और तंत्र तीनों ही पौद्गलिक हैं, परन्तु वे चेतन के भावों के सहकार से कार्यकारी बनते हैं। यहाँ यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि पूजा में पंचपरमेष्ठी का आश्रय लेकर ही सामान्य मंत्रों का प्रयोग किया जाता है, जिसका परम लक्ष्य उन जैसे बनने के लिए मोक्षमार्ग ही होता है। पूजा में प्रयुक्त होने वाले अन्य विशेष मंत्र मोक्षमार्ग प्राप्त कराने वाले मंत्रों के सहयोगी मात्र हैं। भाव सहित मंत्रों से युक्त पूजा से पूजक की असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा होती रहती है।

याग, यज्ञ, क्रतु, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये पूजा के पर्याय हैं।⁴ पूजा चार प्रकार की मानी गयी है- सदाचन (नित्यमह), चतुर्मुख, (सर्वतोभद्र), कल्पद्रुम और अष्टाह्निक। इसके अतिरिक्त एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है, जिसे इन्द्र किया करता है।⁵ निक्षेपों की अपेक्षा भी पूजा के चार भेद किये गये हैं।⁶ समाधिशतक में निश्चय पूजा का भी उल्लेख किया गया है।⁷ वैदिक परंपरा में नित्य, नैमित्तिक और काम्य के रूप में तीन

प्रकार की पूजाओं के उल्लेख हैं।⁸ मंत्रों से युक्त सभी पूजाएं अभिषेक-प्रक्षाल, आह्वान, स्थापन और सन्निधिकरण पूर्वक अष्ट द्रव्यों-जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल से भाव सहित करने पर असीम फल को प्रदान करती हैं। मंत्रों के बिना पूजन के लिए एक कदम भी नहीं बढ़ाया जा सकता है। अभिषेक के पूर्व की जाने वाली जलशुद्धि, अमृत स्नान, दिग्बन्धन, परिणामशुद्धि, तिलक, रक्षा बन्धन, यज्ञोपवीत, रक्षा, शान्ति, दीप स्थापन, सिद्धयंत्र स्थापन आदि समस्त क्रियाएँ मंत्रोच्चारणपूर्वक ही पूर्ण होती हैं। अभिषेक में प्रत्येक कलश की जलधारा मंत्रपूर्वक छोड़ी जाने पर फलवती होती है। शान्तिधारा में लौकिक एवं पारलौकिक समस्त दुःखों के निवारणार्थ तथा विश्व, देश, समाज और समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ मंत्रों के माध्यम से भावनाएं सम्प्रेषित की जाती हैं। पूजा का प्रारंभ महामंत्र 'नवकार' से होता है।

जितने भी मंत्र हैं, सभी मंत्र णमोकार मंत्र से निकले हैं। द्वादशांग जिनवाणी का सार भी यही है। समस्त श्रुतज्ञान की अक्षरसंख्या इसमें निहित है। जैनदर्शन के तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय, निक्षेप, आश्रव, बन्ध आदि इस मंत्र में विद्यमान हैं। समस्त मंत्रों की मूलभूत मातृकाएं इस महामंत्र में अन्तर्निहित हैं।⁹ 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त मातृका वर्ण कहे जाते हैं।¹⁰ इनका सृष्टिक्रम, स्थितिक्रम और संहारक्रम रूप से तीन प्रकार का क्रम है। संहारक्रम से कर्म विनाश तथा सृष्टि और स्थिति क्रम से आत्मानुभूति के साथ लौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति में निमित्त हैं। मंत्र बीजों की निष्पत्ति बीज और शक्ति के संयोग से होती है। 'क' से 'ह' तक व्यंजन वर्ण बीज कहलाते हैं और अ, आ, इ आदि स्वर शक्ति स्वरूप माने गये हैं।¹¹ जिन मंत्रों में बीज और शक्ति के संयोग रूप जो वर्ण होते हैं। उनमें उन वर्णों की ध्वनियों की शक्ति के अनुसार शक्ति होती है। प्राच्य और पाश्चात्य सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक मंत्रोच्चार अवश्य ही फल प्रदान करते हैं।¹² वस्तुतः विश्वास आध्यात्मिक जीवन का आधार है। विश्वास के बिना अनन्तपथ सिद्धत्व की ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्रद्धा से सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है। ज्ञान का द्वार श्रद्धा से ही खुलता है। श्रद्धा और विश्वास परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। मंत्रों के मूल में भी श्रद्धा और विश्वास प्रमुख हैं। इनके होने पर ही ध्यान की स्थिति बन सकती है और मंत्रों से फल की प्राप्ति हो सकती है। पं. दौलतराम जी ने मोक्षमहल पर चढ़ने के लिए श्रद्धा को प्रथम सीढ़ी कहा है।¹³ जब तक मुक्ति के समीप नहीं पहुँच जाते तब तक वीतरागी देवों के मंत्रों का श्रद्धा से स्मरण करना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं मंत्रों के चिंतन और मनन से कर्मों का नाश संभव है। सभी मंत्रों में णमोकार मंत्र अनादि है। इसी मंत्र से सभी मंत्र प्रसूत हैं।

पूजा के प्रारंभ में न केवल णमोकार मंत्र की आराधना की जाती है, बल्कि अनिवार्य रूप से पूजा के आवश्यक अंग के रूप में उसका गुणगान, महत्त्व एवं उपयोगिता निम्न प्रकार से बतायी जाती है- 'जो मनुष्य पवित्र या अपवित्र यहां तक कि सुस्थित या दुस्थित भी नमस्कार मंत्र का ध्यान करता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह अंतरंग और बहिरंग से पवित्र हो जाता है। नवकार मंत्र अजेय है, सभी बिघ्नों तथा पापों का विनाश

करने वाला है और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है। 'अर्हम्' ये अक्षर परमब्रह्म, परमेष्ठी के वाचक हैं और सिद्ध समूह के बीजाक्षर हैं।¹⁴ मंगल स्वस्ति वाचन के पश्चात् अष्टद्रव्य से पूजन की जाती है। जिसमें सर्वप्रथम मंत्रोच्चारण पूर्वक श्रावक पीले चावलों से ठौना पर वीतराग जिनबिंब के समक्ष जिनेन्द्र भगवान् का आह्वान किया जाता है और मन, वचन, काय की एकाग्रता के लिए उसी ठोने पर स्थापना करता है। वैदिक परंपरा में इसे न्यास कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस तरह पूज्य पवित्र है, उसी तरह पवित्र होने की भावना उत्पन्न हो जाये, सन्निधिकरण में पूजक अपने भावों को जिनदेव की तरह बनाने का प्रयत्न करता है। तदनन्तर पूजक अष्टद्रव्यों के माध्यम से जन्म-जरा, मृत्यु, संसारताप, कामताप, क्षुधारोग, मोहान्धकार और अष्टकर्म के रूप में जो संसार में दुःख के कारणभूत मोक्षमार्ग में बाधकतत्त्व हैं, उनके निवारणार्थ संगीतमय भक्ति के रस में तल्लीन होकर मंत्र पढ़ते हुए स्थापित जिनबिंब के समक्ष जल, चन्दन, अक्षत आदि द्रव्यों को चढ़ाता है। अन्त में फल चढ़ाकर मोक्षफल प्राप्ति की कामना करता है। इस तरह पूजन में मंत्रों की अपरिहार्य महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

मंत्रों के विषय में अनेक भ्रांतियाँ श्रावकों में प्रचलित हैं। जिसके निराकरण के लिए मंत्र का अर्थ जानना नितांत आवश्यक है। 'मंत्र' शब्द 'मन्' धातु-दिवादि ज्ञाने से निष्पन्न है। इसमें 'ष्टन्'-त्र-प्रत्यय संयुक्त कर बनाया जाता है। व्युत्पत्तिपरक इसका अर्थ होता है- 'मन्यते जायते आत्मादेशोऽनेन इति मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश-निजानुभाव जाना जाये, वह मंत्र है। दूसरी तरह से तनादिगणीय 'मन्' धातु से 'तनादि अवबोधे' में 'ष्टन्' प्रत्यय लगाकर मंत्र शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति के अनुसार 'मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन सः मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाये, वह मंत्र है। तीसरे प्रकार से सम्मानार्थक 'मन्' धातु से 'ष्टन्' प्रत्यय करने पर मंत्र शब्द बनता है। इसकी व्युत्पत्ति 'मन्यते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिताः आत्मानः वा यक्षादिशासनदेवता अनेन इति मंत्रः' अर्थात् जिसके द्वारा परमपद में स्थित पञ्च उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि शासन देवों का सत्कार किया जाये, वह मंत्र है।¹⁵ 'मननात् मंत्रः' भी मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है अर्थात् मनन के कारण ही मंत्र कहा जाता है। मनन से व्यक्ति की ऊर्जा की शक्ति अध्यात्म की ओर बढ़ती है। मंत्रों के प्रभाव के लिए उनका प्रवाह साततिक होना आवश्यक है। 'मंत्र' शब्द का अर्थ कुछ विद्वान् गुप्त, परामर्श भी करते हैं। उनके अनुसार गुरु से प्राप्त मंत्र को अनुष्ठान पूर्वक सविधि पुरश्चरण करके उसे सिद्ध किया जाता है। तब ही उसका पूर्ण लाभ प्राप्त होता है। विधिपूर्वक श्रद्धाभक्ति से किये गये मंत्रजाप से जीव की प्रमुख चेतना जागृत होती है। सरल भाषा में कहा जा सकता है कि 'जिस शब्द समूह का किसी अलौकिक सिद्धि के लिए प्रयोग किया जाये, वह शब्द या शब्दसमूह मंत्र होता है।

मंत्रों का वर्गीकरण

महापुराण के आधार पर 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में पूजाविधानादि के लिए सामान्य रूप से जिन मंत्रों का प्रयोग किया जाता है, उनको अग्रलिखितानुसार वर्गीकृत किया गया है-

(1) भूमि शुद्धि विषयक मंत्र (2) बिघ्न शान्ति (3) भूमि संस्कार (4) पीठिका मंत्र (5) काम्य मंत्र (6) जाति मंत्र (7) निस्तारक मंत्र (8) ऋषि मंत्र (9) सुरेन्द्र मंत्र (10) परमराजादि मंत्र (11) परमेष्ठी मंत्र।¹⁶ गर्भाधानादि क्रियाओं के लिए गर्भाधान क्रिया, प्रीति क्रिया, सुप्रीति क्रिया आदि सोलह विशेष मंत्रों का उल्लेख किया गया है। उससे आगे की क्रियाओं के मंत्र शास्त्र परंपरा से समझ लेने का निर्देश दिया गया है।¹⁷

मातृकाओं से बने मंत्र की ध्वनियों के संघर्ष द्वारा आध्यात्मिक शक्ति को उत्तेजित किया जाता है। इस कार्य के लिए विचार शक्ति के साथ-साथ उत्कृष्ट इच्छा शक्ति के द्वारा ध्वनि संचालन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक बीजाक्षर, शक्ति बीज की शक्ति स्वतंत्र है, जैसे ऊँ प्रणव, ध्रुव, ब्रह्मबीज या तेजो बीज हैं, क्ष्वीं भोग बीज है, रं ज्वलन वाचक है आदि। वांछित कार्य की सिद्धि के लिए आवश्यकतानुसार जिन बीजाक्षरों के संयोजन की कला जिसके पास होती है वह वैसा मंत्र निर्माण करता है और साधक तनदुसार फल प्राप्त करता है। यदि इन बीजाक्षरों के संयोजन में विपरीतता आ जाये, संयोजन विकृत हो जायें, आंशिक संयोजन ठीक हो आदि के रूप में साधित मन्त्र विपरीत-विकृत या आंशिक या शून्य फल प्रदान करते हैं। जैसे-बिजली के तारों का धनात्मक एवं ऋणात्मक आवेशों में जुड़ना। यदि तार ठीक से जुड़े हैं, तब अंधकार दूर होकर प्रकाश हो जायेगा। गलत जुड़ने पर प्रकाश नहीं होगा, यह भी हो सकता है, आग लग जाये। इसी तरह साधक, उसकी विचार शक्ति, मंत्र और मंत्र की शक्ति अलग अलग स्थितियाँ हैं। विचार शक्ति स्वच का कार्य करती है और मंत्र शक्ति विद्युत् प्रवाह का। जैन मंत्रों के इतिहास में मंत्रों की विपरीतता के पुष्पदंत, भूतबली आदि के अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं। उचित दिशा में संयोजित बीजाक्षरों-मंत्रों की साधना सुफल प्राप्त कराती है। जैसे- आचार्य समन्तभद्र, आचार्य मानतुंग, आचार्य अकलंक, भट्टारक प्रभाचन्द्र आदि की मंत्रों की शक्ति से कौन परिचित नहीं है। किसी का अनर्थ करने के लिए किया गया मंत्र प्रयोग एक बार सफल तो हो जाता है, परन्तु उसके बाद उस साधक की मंत्र शक्ति नष्ट हो जाती है एवं वह दुर्गति को प्राप्त होता है। जैसे- द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारका का दहन। अतः मातृका वर्णों के संयोजन-वियोजन से प्रसूत बीजमंत्रों की ध्वनियों के घर्षण से तदनुसार शक्ति प्रस्फुटित होती है। इस दृष्टि से सुख, शान्ति और अध्यात्म-शिवपथ की ओर ले जाने वाले मंत्रों के साथ-साथ शास्त्रों में ऐसे मंत्रों का भी उल्लेख है, जिनका संबन्ध लोक एवं भौतिकता से है। जैसे- स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, वश्याकर्षण, जृम्भण, विद्वेषण, मारण, शाक्तिक, पौष्टिक आदि अनेक मंत्रों की रचनाएं हुई हैं।

मंत्रशास्त्र पर श्रमण परंपरा में अपेक्षित प्रामाणिक साहित्य उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर विश्लेषण पूर्वक प्रामाणिक निष्कर्ष दिये जा सकें। आगमिक साहित्य में दशवें पूर्व के रूप में विद्यानुवाद पूर्व ग्रंथ का उल्लेख प्राप्त होता है। जिसके ज्ञाता केवली और श्रुतकेवली ही माने जाते हैं। उस ग्रंथ में 700 विद्याएँ और 1200 लघु विद्याओं का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु यह ग्रंथ अनुलब्ध है। आचार्य धरसेन मंत्र, तंत्र के विशेष ज्ञाता माने जाते हैं। धवला टीका में उनके द्वारा मंत्रशास्त्र पर 'योनिप्राभृत' नामक ग्रंथ लिखे जाने का

उल्लेख प्राप्त होता है। वर्तमान में मंत्रशास्त्र पर विद्यानुवाद-विद्यानुशासन, मन्त्रानुशासन आदि ग्रंथ लिखे गये हैं। भैरव पद्मावती कल्प, सरस्वती कल्प, ज्वालिनी कल्प आदि अनेक कल्पग्रंथ भी रचे गये हैं जिनमें मंत्रों की जानकारी प्राप्त होती है। भक्तामरस्तोत्र विषयक मंत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र के मंत्र, पार्श्वनाथ स्तोत्र के मंत्र, गणधरवल्लय, भूवल्लय, पुण्याहवाचन, सकलीकरण आदि और भी मंत्रविषयक साहित्य उपलब्ध होता है।

पूजक की यह भावना होती है कि वह प्रभु को अपना यथेष्ट पदार्थ समर्पित कर लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, परन्तु समस्या यह है कि वह हो कैसे, किस माध्यम से यह कार्यकारी बने? समीपस्थ उपलब्ध सभी माध्यमों में ध्वनि ही एक ऐसा माध्यम है, जिसके स्पन्दन से उच्चारणकर्ता के भाव का तथा भावान्तर्गत क्रिया का परिवर्तन हो जाता है और उससे अलौकिक उपलब्धि के अवरोध दूर होते हैं, जिससे लक्ष्य सुगम होता जाता है। इसलिए पूजक को चाहिए कि वह पूजन को उस तरह हृदयंगम कर बोले कि मंत्रोच्चारण मंत्रध्वनिपूर्वक समर्पित की जाने वाली द्रव्य के पूर्व वह पात्रता को प्राप्त कर ले। अवगत हो कि द्रव्य और बोली जाने वाली पूजा मंत्र नहीं है अपितु मंत्र के प्रयोग के पूर्व की तैयारी है। सम्बन्धित मंत्र लक्ष्यभूत शक्ति से संपन्न मातृकाओं से संश्लिष्ट पिण्ड है, जिसकी ध्वनि के स्पन्दन के माध्यम से क्रियात्मकता उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूजा में मंत्रों की उसी तरह उपयोगिता है जिस तरह शरीर में आत्मा की। मंत्रों के बिना पूजा, पूजा नहीं कही जा सकती। मंत्रों से ही पूजा में दिव्यता प्रगट होती है। मंत्राश्रित पूजा के माध्यम से चैतन्य की ओर बढ़ा जा सकता है। पूजा में वीतरागी देवों के आश्रित मंत्रों की साधना से सभी लौकिक एवं पारलौकिक कार्यों की सिद्धि हो जाती है। पूजा में प्रयुक्त मंत्रों की शक्ति अचिन्त्य है। पूजा में हम भक्तिवश प्रवृत्तिपरक कुछ भी बोल लें, परन्तु मंत्रों के माध्यम से द्रव्य का समर्पण अलौकिक उपलब्धि के लिए ही होता है। शास्त्रों में लौकिक उपलब्धि के लिए मंत्रों का प्रयोग वर्जित माना गया है। पूजा बोलते हुए भक्त भटक न जाये इसलिए पूजा के मन्त्र मुक्तिपथ की ओर बढ़ने के लिए उसमें संकल्पशक्ति को जागृत करते हैं। इस प्रकार पूजा में मंत्रों की अत्यधिक उपयोगिता है।

संदर्भ :

1. तं जहा दाणं पूयाशीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावय धम्मो। -जयधवला, टीका, 1.82
2. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका, 6.15-16
3. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 119
4. महापुराण, 67.193
5. वही, 38.26 एवं सागारधर्मावृत, 1.18, 2.25-29 आदि
6. वसुनन्दि श्रावकाचार, 381
7. स० श० 31
8. वेदान्तसार, पृष्ठ 4
9. डॉ. ने. च. शास्त्री, मंगलमंत्र णमोकार एक अनुचिंतन आमुख, पृष्ठ 10
10. अकारादिक्षकारान्ता वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृकाः।

सृष्टि न्यासस्थितिन्याससंहितिन्यासतास्त्रिधा॥ जयसेन प्रतिष्ठा पाठ, 376

11. हलो बीजानि चोक्तानि स्वराः शक्त्यः ईरिताः। - वही, 377
12. डॉ. ने. च. शास्त्री, मं० ण० एक अनुचिंतन, प्रस्तावना, पृष्ठ 18
13. छहढाला, ढाल, 3/17
14. ज्ञानपीठ-पूजाञ्जलि, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, दसवां संस्करण 1997, पृष्ठ, 26
15. डॉ. ने. च. शास्त्री, मं. ण० एक अनुचिंतन, आमुख, पृष्ठ, 9
16. क्षुल्लक जैनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग-3, पृष्ठ 246

-एसोसिएट प्रोफेसर संस्कृत

II-ए-78 नेहरूनगर,

गाजियाबाद (उ०प्र०)

लक्ष्मी का उपयोग

जो वड्ढमाण लच्छिं अणवरयं देहि धम्मकज्जेसु।

सो पंडिएहिं थुव्वदि तस्स वि सहला हवे लच्छी॥१९॥

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थात् जो व्यक्ति पुण्य के उदय से बढ़ती हुई लक्ष्मी का सदुपयोग धार्मिक कार्यों जैसे-पूजा-प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा, पात्रदान, ज्ञानदान और परोपकार आदि में करता है वह व्यक्ति पण्डितों के द्वारा भी आदर के योग्य होता है। ऐसा करने से ही उसकी लक्ष्मी सफल होती है। अन्यथा पुण्य के प्रताप से प्राप्त हुई लक्ष्मी अशुभ कार्यों में लग जाने से पाप बन्ध में कारण बनती है। इसी को पापानुबन्धी पुण्य कहते हैं। अतः पुण्य के फल से पुण्य का ही बन्ध हो तो ही अच्छा है। इसको आचार्यों ने पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा है जो वर्तमान में दुर्लभ है।

भरत चक्रवर्ती प्रवर्तित विद्यासंस्कार

– प्रो. हीरालाल पांडे

पाँच म्लेच्छ खंडों एवं एक आर्यखण्ड को साठ हजार वर्षों में जीत कर भरत ने षट्खंडों का एक छत्र सम्राट् बन सोचा कि मैं परोपकार में किस प्रकार अपनी संपदा का सदुपयोग करूँ? अनगर, अपरिग्रही, निर्ग्रन्थ मुनि किसी से धन नहीं लेते अतएव गृहस्थों में जो मनुष्य हैं और अणुव्रतों को धारण करने वाले हैं उनको इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनों को देकर संतुष्ट करना चाहिये, जिससे समाज व्यवस्था समुन्नत हो और प्रत्येक व्यक्ति धर्म के पालन में दृढ़ चित्त हो और जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त हो- मुक्ति पाने में समर्थ हो।

इसी तथ्य को “महापुराण” के अड़तीसवें सर्ग के अष्टम पद्य में प्रकट किया गया है—

येऽणुव्रतधरा धीरा धौरेया गृहमेधिनाम्।

तर्पणीया हि तेऽस्माभिः ईप्सितैर्वसु वाहनैः॥८॥

अतः भरत चक्रवर्ती ने इस महोत्सव में आने के लिये आदेश प्रसारित कर दिया। नियत दिनांक को नियत समय पर सभी राजा अपने-अपने सदाचारी इष्ट मित्र, परिवार सदस्य, नौकर-चाकर आदि को साथ ले उपस्थित हुए। परीक्षार्थ भरतचक्री ने महोत्सव के मार्ग को हरे-हरे अंकुरों, पुष्पों तथा फलों से सुंदर बनाकर दो भागों में बांट दिया था।

जो अणुव्रतधारी नहीं थे वे हरे भरे अंकुरित एवं पुष्पफलमय राह को पार कर उत्सव में पहुँचे परन्तु व्रतधारी अणुव्रती हिंसा के डर से बिना सजे रेतीले मार्ग से उत्सव में पहुँचे।

इन व्रतधारियों को भरतचक्री ने द्विज या ब्राह्मण संज्ञा दी और ब्राह्मण जाति या वर्ण की स्थापना की।

इसका संकेत “महापुराण” के अड़तीसवें सर्ग के 23वें पद्य में किया है—

अथ ते कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः।

भजन्ति स्म परं दाढर्यं लोकश्चैनानपूजयत्॥२३॥

“भरतचक्री द्वारा सम्मानित व्रतधारी अणुव्रती द्विज-ब्राह्मण व्रतों में पक्के बन गये और अव्रती और अन्य लोगों ने उनको अधिक सन्मान या पूजा का पात्र माना।”

भरत चक्री ने इन द्विज या ब्राह्मणों को इज्या-देवपूजा के प्रकार 1. सदाचर्चन (मंदिर में प्रतिदिन जिनेन्द्र देव का पूजन), 2. चतुर्मुख (महामुकुट बद्ध राजाओं द्वारा महापूजन यज्ञ), 3. कल्पद्रुम (चक्रवर्तियों द्वारा किमिच्छक-मुँहमांगा दान दिया जाने वाला पूजन यज्ञ), 4. आप्टाहिक (आप्टाहिका पर्व में पूजन विधान यज्ञ), 5. ऐन्द्रध्वज

(इन्द्रों द्वारा किया जाने वाला महायज्ञ)। इन पाँच पूजनों का तथा 2 वार्ता (विशुद्ध

आचरण के साथ खेती करना) 3 दत्ति- दयादत्ति, पात्रदत्ति (मुनिसंघ तथा आर्यिका संघों को दान) समदत्ति (समान क्रिया, आचार और समानव्रतादि के पालने वालों को श्रद्धा के साथ दान) 4. अन्वयदत्ति (वंश की प्रतिष्ठा के लिए पुत्र को समस्त कुल पद्धति तथा धन के साथ कुटुम्ब को समर्पण करना) तथा स्वाध्याय, संयम और नय साधने का उपदेश दिया। आचार्य पद्मनंदि ने इन्हीं को देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये षट्कर्म का नाम दे प्रतिदिन पालने का उपदेश दिया।

द्विजों-ब्राह्मणों की व्याख्या करते हुए “महापुराण” में कहा है कि-

द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः।

क्रिया मंत्र विहीनस्तु केवलं नामधारकः॥४८॥

तदेषां जातिसंस्कारं दृढयन्निति सोऽधिराट्।

स प्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः॥४९॥

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽप्नाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे।

सददृष्टिभिरनुष्ठेया महोदकाः शुभावहाः॥५०॥

गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः।

कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैव बुधैर्मताः॥५१॥

“जो एक बार गर्भ से और दूसरी बार क्रियासंस्कार से जन्म लेता है वह द्विज या ब्राह्मण है किन्तु क्रिया और मंत्र दोनों से हीन द्विज मात्र नाम से द्विज है।४८॥”

अतः इन द्विज जाति के जनों के संस्कार को दृढ़ करते हुए निम्नक्रियाओं के समस्त भेद भरत चक्रवर्ती ने कहे।४९॥

“श्रावकाध्याय संग्रह” में द्विजों की वे क्रियायें तीन प्रकार की कही गई हैं। सम्यक्दृष्टि पुरुषों को उन उत्तम फल देने वाली तथा शुभ-कल्याण करने वाली क्रियाओं को पालना चाहिये।५०॥

“विद्वानों ने 1. गर्भान्वय क्रिया 2. दीक्षान्वय क्रिया 3. कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार तीन प्रकार की क्रियायें बताई हैं।

“महापुराण” के 38वें सर्ग में इन तीनों क्रियाओं के भेदों को बताते हुए कहा है-

आधानाद्यास्त्रिपंचाशत् ज्ञेयाः गर्भान्वयक्रियाः।

चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृताः दीक्षान्वयक्रियाः॥५२॥

कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः॥

तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते॥५३॥

“आधानादि गर्भान्वय क्रियायें 53 हैं, दीक्षान्वय क्रियायें 48 हैं और विद्वानों ने 7 कर्त्रन्वय क्रियायें संग्रहीत की हैं। आगे इन सब के नामों का निर्देश किया जाता है।”५३॥

इस लेख का संबन्ध केवल विद्यार्थी जीवन से संबद्ध “प्रथम गर्भान्वय क्रिया से लेकर 16वीं “व्रतावतरण क्रिया” तक है। अतएव मैं “महापुराण” के 38वें सर्ग के दो पद्यों द्वारा उन 16 संस्कारों-क्रियाओं का मात्र उल्लेख कर उन पर विस्तार से प्रकाश

डालूंगा।

आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः।
नामकर्मबहिर्यानिषद्याः प्राशनं तथा॥५५॥
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः।
उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा॥५६॥

“1. आधान 2. प्रीति 3. सुप्रीति 4 धृति 5. मोद 6. प्रियोद्भव 7. नामकर्म 8. बहिर्यानि 9. निषद्या 10. प्राशन 11. व्युष्टि 12. केशवाप 13. लिपिसंख्यान संग्रह 14. उपनीति 15. व्रतचर्या 16. व्रतावतरण।”

इन 16 क्रियाओं का बचपन से विद्यार्जन तक जीवन पर्यन्त संस्कारों की श्रेष्ठता लाने में अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन संस्कारों से भावी संतान का जीवन समुज्ज्वल एवं धार्मिक बनता है। संस्कार भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सुखी जीवन की कुंजी है और रामबाण औषधि है।

अतः कहा गया है-

सुखं वाञ्छन्ति सर्वेऽपि जीवा दुःखं न जातुचित्।
तस्मात् सुखैषिणो जीवा संस्कारायाभिसंमताः॥

“पू. क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी” ने “जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश” के पृष्ठ 149 पर संस्कारों के महत्त्व के विषय में निम्न प्रकार डंके की चोट लिखा है-

“व्यक्ति के जीवन की संपूर्ण शुभ और अशुभ वृत्ति उनके संस्कारों के अधीन है। जिनमें से कुछ पूर्वभव से अपने साथ लाता है और कुछ इसी भव में संगति व शिक्षा आदि के प्रभाव से उत्पन्न करता है। इसीलिये गर्भ में आने के पूर्व से ही बालक में विशुद्ध संस्कार उत्पन्न करने के लिये विधान बताया गया है। गर्भावतरण से लेकर निर्वाण पर्यन्त यथावसर जिनेन्द्र पूजन व मंत्र विधान सहित 53 क्रियाओं का विधान है, जिनसे बालक के संस्कार उत्तरोत्तर विशुद्ध होते हुए एक दिन वह निर्वाण का भाजन बन जाता है।”

खदान से निकले हीरे जवाहरातों को संस्कारों द्वारा निर्मल और चमकीला बनाया जाता है तभी उनका निखार होता है और कीमत बढ़ जाती है। “भक्तामर स्तोत्र” में कहा गया है-

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं
नैवं तु काच शकले किरणाकुलेऽपि॥२०॥

“हे जिनेन्द्र देव! अनन्त पर्यायात्मक ज्ञान जैसा आप में शोभायमान होता है वैसा ज्ञान हरिहरादि नायक देवों में नहीं शोभा पाता जिस प्रकार संस्कारित चमकीले मणियों में तेज गौरव को पाता है। उस प्रकार चमकते कांच के टुकड़ों में तेज शोभा नहीं देता। 20॥

इसीलिये जिनेन्द्रदेव त्रिलोकी सर्वज्ञ कहे जाते हैं। बालक बिना संस्कारों के उच्च

आचरणों द्वारा निर्मल, सुखी जीवन एवं समाजोपयोगी बनने के साथ मोक्ष के परमानन्द के पात्र नहीं बन सकते। संस्कारों की महिमा धवला, मूलाचार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, सर्वार्थसिद्धि, द्रव्य संग्रह आदि ग्रंथों में गाई गई है।

प्रथम आधान क्रिया का उद्देश्य षट्कर्मों के पालन के साथ सुयोग्य सुपुत्र या सुपुत्री के लिए भौतिक भोगाभिलाष निरपेक्ष पति-पत्नी संसर्ग से है। पर वर्तमान भौतिकवादी युग में पति-पत्नी दोनों विपरीत दिशा में चल रहे हैं। अतः सुयोग्य और धार्मिक संतान का लक्ष्य पूरा होना कठिन हो गया है।

प्रथम “आधान क्रिया” के विषय में “महापुराण” में कहा गया है-

आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः।

पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया॥७०॥

“श्रावक के षट्कर्मों में प्रथम देवपूजा- अर्हन्त देव की पूजाकर मंत्राराधनापूर्वक गर्भ में रहने के पूर्व ऋतुमती के स्नान के पश्चात् अपनी पत्नी के साथ सहवास करे॥70॥

सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्।

शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा॥१३४॥

“ऋतुकाल में रजोदर्शन से छठी रात्रि में ही संतान की कामना से पति-पत्नी को सहवास करना चाहिए। यह क्रम केवल शक्तिशाली पुरुषों की अपेक्षा रखता है। जो शक्तिहीन हैं उन्हें यथाशक्ति ब्रह्मचर्य पालते हुए सहवास करना चाहिए॥134॥

सन्तानार्थ सहवास की बात “जैनेन्द्रसिद्धान्त कोष” में चौथे स्नान के बाद लिखी है। यह प्रचलित परंपरा के अनुसार है ऐसा मैं मानता हूँ जबकि पं. शिवजी राम पाठक ने “जैन संस्कार विधि” पृष्ठ 47 पर छठे स्नान के बाद रात्रि में सहवास की बात संतान कामना की भावना से लिखी है।

उच्च भावनाओं से सन्तानार्थ सहवास वंशपरंपरा तथा धार्मिक परंपरा चलाने के लिये अनिवार्य है। आ. समन्तभद्र ने “रत्नकरण्डक श्रावकाचार” में लिखा है-

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान गर्विताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥२६॥

“अभिमान से जो चारों संघों के सदस्यों का गर्व से चूर हो उनका अपमान करता है वह आत्मीय धर्म का अपमान करता है क्योंकि धार्मिक समाज के चारों संघों के सदस्यों के बिना या धार्मिक मानवों के बिना धर्म नहीं चल सकता या नहीं पल सकता या पाला जा सकता॥” 30॥

आचार्य समन्तभद्र ने यह भी कहा है-

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥३३॥

“निर्मोह या मोहनीय कर्म रहित गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है किन्तु मोही मुनि मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है अतः मोही मुनि से निर्मोह गृहस्थ श्रेष्ठ है।”

भगवान् महावीर के चारों संघों को चलाने वाला या उनका भार वहन करने वाला निर्मोही गृहस्थ है। धार्मिक गृहस्थों के बिना समाज व्यवस्था या संघ व्यवस्था या राज्य और राष्ट्र व्यवस्था तथा विश्वव्यवस्था चरमरा जायेगी।

पं. शिवजी राम पाठक प्रतिष्ठाचार्य ने “जैनसंस्कारविधि” के पृष्ठ 51 पर लिखा है—

स्वगृहे प्राक् शिरः कुर्यात् श्वासुरे दक्षिणामुखः।

प्रत्यङ्मुखः प्रवासे च न कदाचिदुदङ्मुखः॥१॥

पादौ प्रक्षालयेत् पूर्व पश्चात् शय्यां समाचरेत्।

मृदुशय्यां स्थितः शेते रिक्तशय्यां परित्यजेत्॥२॥

“अपने घर में पूर्व की ओर सिरहाना करके सोवें, ससुराल में दक्षिण की ओर सिरहाना करके और प्रवास में पश्चिम की ओर सिरहाना करके सोवें। उत्तर की ओर सिरहाना करके ना सोवें। सोने के पहले अपने पैरों को अच्छी तरह धोवें। शय्या कोमल हो कठोर नहीं हो।”

सहवास महीने में तीन या चार बार से अधिक नहीं हो तो अच्छी संतान होगी ऐसा आयुर्वेदादि ग्रंथों में भी लिखा है।

दूसरी प्रीति क्रिया है जो गर्भाधान होने पर तीसरे महीने में होती है और भगवान् जिनेन्द्र की पूजा आदि से उसका संबंध है। दम्पति युगल को धर्मारोपण में यथाशक्ति समय लगाना चाहिये। सुयोग्य संतान की प्राप्ति या सुखमय संसार पुण्य के फलों के अन्तर्गत गिना जाता है।

तीसरी सुप्रीति क्रिया है जो गर्भाधान के पाँचवें महीने में शुभ मुहूर्त में मंदिर में भगवान् जिनेन्द्र की पूजा आदि के साथ की जाती है।

चौथी धृति क्रिया गर्भाधान के सातवें महीने में शुभ मुहूर्त में भगवान् जिनेन्द्र पूजन आदि के साथ संपन्न होती है। आज भी सादों के नाम से समाज में यह क्रिया प्रचलित है। सभी क्रियायें धार्मिक भावनाओं से भरी हैं जिनका संबंध सुयोग्य धार्मिक संतान की प्राप्ति से जुड़ा है।

पाँचवी मोह क्रिया गर्भाधान के आठवें महीने में होती है। इसमें शुभ मुहूर्त में जिनेन्द्र पूजन के साथ अन्य क्रियायें होती हैं। इसे कुछ समाजों में “आठवां पूजना” नाम दिया गया है। बाधाएं हों तो यह क्रिया आठवें या नवमे माह में की जा सकती है।

छठवीं क्रिया प्रियोद्भव क्रिया या “जातकर्म संस्कार क्रिया” है जिसमें संतान होने के पश्चात् जिनेन्द्र, यन्त्र पूजन तथा हवन आदि क्रियायें की जाती हैं। यदि लड़की पैदा हुई तो क्रियाओं के मंत्र नहीं बोलकर केवल द्रव्यमात्र से ही पूजनादि करना चाहिये ऐसा श्री पं. पाठकजी ने लिखा है। इन क्रियाओं का वर्णन उपासकाध्ययनांग में है।

सातवीं क्रिया “नामकरण” क्रिया है। इसे “नामसंस्कार” क्रिया भी कहते हैं। पं. शिवजी राम पाठक ने लिखा है—

द्वादशे षोडशे विंशे द्वात्रिंशे दिवसेऽपि वा।

नामकर्म स्वजातीनां कर्तव्यं पूर्वमार्गतः॥

“जन्म से बारहवें, सोलहवें, बीसवें अथवा बत्तीसवें दिन में शुद्ध शुभ मुहूर्त में अपने बच्चे या बच्ची का वंश परंपरा के अनुसार “नामकरण संस्कार” करना चाहिए।

इस क्रिया में पूजन, यंत्रपूजन आदि मंगल क्रियायें की जाती हैं। “घटपत्र विधि” से भगवान् जिनेन्द्र देव के 1008 नामों में से इच्छानुसार कागज के टुकड़ों पर लिख गोलियाँ बनाकर घड़े में डालकर किसी अबोध बालक से गोली निकलवाकर मंत्र पूर्वक “नामकरण” किया जाता है। वर्तमान में तो मनमाना घर का नाम रखा जाने लगा है और जन्मकुंडली के अनुसार राशिनाम प्रचलित होने लगा है। “जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष” में 12वें दिन नाम संस्कार करने का उल्लेख है।

आठवीं “बहिर्यान” क्रिया है। जन्म से 1 माह 15 दिन बाद किसी शुभ मुहूर्त में माता-पिता बालक को स्नानादि करा नये वस्त्र पहनाकर यंत्रपूजन हवनादि के पश्चात् बालक को मंदिर गाजे बाजे के साथ गृहस्थाचार्य के साथ ले जावें तथा आवश्यक क्रियायें कराकर घर लावें। “जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष” में जन्म से 3 या चार माह पश्चात् इस क्रिया के करने का विधान किया है।

नवम “निषद्या” क्रिया है जो तीसरे चौथे महीने के बाद किसी शुभ दिन में मंत्रपूर्वक बालक या बालिका को झूले में बिठाकर झुलाते हैं। किसी शुभ दिन में नाक और कान छिदवाते हैं। यंत्र पूजन और हवनादि क्रियायें की जाती हैं।

दसवीं “अन्नप्राशन” क्रिया है जिसे सातवें या नौवें महीने में शुभ मुहूर्त में यंत्र पूजन हवनादि के साथ किया जाता है। बालक को माता-पिता गोद में बिठाकर पूर्व दिशा में मुख करते हैं और बालक का दक्षिण दिशा में मुख कर घृत मिश्री मिश्रित खीर खिलाते हैं।

ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया या ‘वर्षवर्धन संस्कार’ किया जाता है। यह क्रिया दसवें, ग्यारहवें या बारहवें महीने में जब बालक चलने योग्य हो जाता है तब की जाती है। इसमें शुभ दिन शुभ मुहूर्त में जिनेन्द्रपूजन हवनादि के पश्चात् पिता बालक को उत्तरमुख करके अपने हाथों से दोनों भुजायें पकड़कर मंत्रोच्चार पूर्वक बालक का दाहिना पाँव आगे को पूर्वोन्मुख गमन करना सिखाता है। इसे वर्षगाँठ भी कहते हैं।

वर्तमान में आंग्ल पद्धति से केक काटने के साथ तथा मोमबत्तियाँ वर्षों के अनुसार प्रज्वलित करके तथा बुझा करके की जाती है। केक काट कर खिलाते हैं तथा प्रीतिभोज दिया जाता है। इस प्रीतिभोज में सब अपने-अपने हाथों से उठाकर खाते जाते हैं। अब खान पान की शुद्धता जाती रही। सब जूते-चप्पल पहिन कर खाते हैं। इसे ‘बफे सिस्टम’ कहा जाता है जो समाज में प्रचलित हो गया है। यह कलियुग की बलिहारी देन है।

बारहवीं “चौलक्रिया” या “केशवाप” क्रिया कहलाती है। इसे दूसरे वर्ष से पंचम वर्ष के भीतर किसी भी वर्ष के शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में किया जा सकता है परन्तु यह क्रिया निम्न श्लोकों में दिये गये आदेशों को ध्यान में रखकर करना चाहिये। यंत्र पूजन हवनादि होना चाहिए।

चूलाकर्म शिशोर्मातरि गर्भिण्यां यदि वा भवेत्।

गर्भस्य वा विपत्तिः स्याद् विपत्तिर्वा शिशोरपि॥१॥

**शिशोर्मातरि गर्भिण्यां चूलाकर्म न कारयेत्।
गते तु पंचमे वर्षे दोषयेन्नहि गर्भिणी॥२॥**

बालक की माता के गर्भवती होने पर यह क्रिया करने पर गर्भ के बालक और गर्भवती पर विपत्ति आ सकती है। अतएव बालक की माता के गर्भवती होने पर यह चूलाकर्म क्रिया नहीं करनी चाहिये। यदि पांचवें वर्ष बाद यह क्रिया हो तो माता के गर्भवती होने पर भी कोई दोष नहीं है। “जैनसंस्कारविधि” पृष्ठ 63-64।

नापित के द्वारा माता सहित बालक के पूर्व दिशा या उत्तर दिशा में मुख करके बैठने पर छुरे से मुंडन मंत्र पूर्वक कराया जाता है। बालक के बालों को गीले आटे में लपेटकर जलाशय पहुंचाते हैं। शान्तिविसर्जन पूर्वक तथा वस्त्राभूषण पहिनाकर बालक की चोटी के स्थान पर केशर से साथिया बना मुनिराज या मंदिर के दर्शन कराते हैं। अन्त में दान भोजनादि के साथ क्रिया संपन्न की जाती है।

तेरहवीं “लिपिसंख्यान” क्रिया है जो पांचवें वर्ष के अंत में सूर्य के उत्तरायण होने पर की जाती है। इस क्रिया के लिये बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार अत्यन्त शुभ माने गये हैं, रविवार और सोमवार मध्यम दिन है परन्तु शनिवार और मंगलवार निकृष्ट दिन माने गये हैं।

इस क्रिया में अनध्याय, प्रदोषकाल, चतुर्थी, षष्ठी, नवमी और चतुर्दशी तिथि हेय हैं। इस क्रिया को घर में या विद्यालय में बालक को स्नान करा पवित्र वस्त्राभूषण पहिना यंत्रपूजन हवनादि के साथ करना चाहिये। उपाध्याय बालक से शुद्ध केशर से काठ की सुंदर चिकनी पट्टी पर “ॐ” लिखवाता है और “ॐ नमः सिद्धेभ्यः” लिखवाकर उच्चारण कराता है। बालक के हाथों में पुस्तक और पट्टी देते हैं। बालक गृहस्थाचार्य, उपाध्याय, माता-पिता आदि गुरुजनों को प्रणाम कर, चरणस्पर्श कर आशीर्वाद लेता है। अंत में विद्यागुरु और गृहस्थाचार्य का द्रव्य वस्त्रादि से सम्मान कर विद्यादान के साथ शान्तिविसर्जन क्रिया जाता है।

चौदहवीं उपनयन क्रिया या यज्ञोपवीत क्रिया है जो ‘उपनीति’ क्रिया नाम से भी कही गई है। यह क्रिया बालक के आठवें वर्ष में प्रवेश करने के बाद 24वें वर्ष तक की जा सकती है।

“आदिपुराण” में इस क्रिया के लिये आठवाँ वर्ष ही उपयुक्त माना गया है क्योंकि इस वर्ष तक बालक अत्यन्त आज्ञाकारी होता है और धार्मिक भावनाओं का आगे विकास होने का अवसर सुलभ होता है। शुभ दिन शुभ मुहूर्त और मुनिसंघ आदि के नगर में विराजमान होने पर यंत्रपूजन हवनादि के साथ यह क्रिया होनी चाहिये। गृहस्थाचार्य विधि पूर्वक इस क्रिया को कराते हैं और श्रावकाचार पालन करने एवं विवाह होने तक ब्रह्मचर्यव्रत पालने की प्रतिज्ञा कराते हैं। अन्य आवश्यक ज्ञान भी दिया जाता है। इस प्रकार बालक ब्रह्मचर्य के साथ जैन श्रावकाचार धारण कर उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना करने में विद्याभ्यास में मन को लीन रखता है।

पंद्रहवीं “व्रताचरण” क्रिया है इसे “व्रतचर्या” क्रिया भी कहते हैं। ‘उपनयन’ क्रिया के बाद इस क्रिया का पालन करने वाला ब्रह्मचारी कमर में रत्नत्रय के चिह्नस्वरूप तीन लड़वाली मुंज की रस्सी कमर में पहिनता है जो वर्तमान में कटिडोर बनकर रह गया है। सादी धोती और दुपट्टा पहिनता है और यज्ञोपवीत धारण करता है। की गई प्रतिज्ञाओं का पालन दृढ़ता से करता है। पृथ्वी पर या चटाई पर सोता है। हरी दातौन नहीं करता, पान खाना, अंजन लगाना, उबटन लगाना, पलंग पर सोना आदि ब्रह्मचर्य बाधक बातों का त्याग करता है।

सोलहवीं “व्रतावतरण” क्रिया है। यह विद्यार्थी जीवन तक की अंतिम क्रिया है। पूर्णतया अभ्यास कर यह ब्रह्मचारी बालक विद्यार्थी जीवन के चिह्न सावन महीने में और श्रवण नक्षत्रादि सहित शुभ मुहूर्त में त्याग देता है। यन्त्रपूजन, हवन आदि कर गृहस्थाचार्य को मौंजी खोलकर दे देता है तथा गृहस्थों के पहिनने के योग्य वस्त्रादि धारण करने का पात्र बनता है।

“विद्यालंकार” के अन्तर्गत इन सोलह क्रियाओं को “सोलह संस्कार” भी कहते हैं। इनका विद्याध्ययन काल तक विशेष रूप से महत्त्व है। परन्तु जैन समाज में इन संस्कारों की उपेक्षा होती गई अतएव आज का विद्यार्थी मात्र परिवार के संस्कारों के अधीन रह गया है। समाज के संस्कारों का बंधन टूट गया है। इन क्रियाओं में से किसी भी क्रिया का आज पालन नहीं होता है। अतः बालक और बालिकायें पथभ्रष्ट हो गये हैं। इन संस्कारों का यदि ध्यान रखा जावे तो समाज अनेक समस्याओं से बच सकता है।

आज समाज में संपूर्ण शिक्षा सरकारी हो गई है। शिक्षा जगत् का संबन्ध धार्मिक संस्कारों से नहीं के बराबर हो गया है। विद्यार्थी को सहशिक्षा देने वाली संस्थाओं में पढ़ना पड़ता है। आज के वातावरण में कलियुग की झलक मिलने लगी है। अतएव दूषित विद्यालय, दुराचरण, रैगिंग, बलात्कार, अनमेल विवाह, दहेजप्रथा, एड्स, हृदयरोग, कैंसर आदि भयानक रोगों के घर बनते जा रहे हैं। अतएव समाज को इस विद्यासंस्कारों के विषय में ध्यान देना जरूरी हो गया है। शिक्षा के क्षेत्र में बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिये गुरुकुल प्रणाली पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

“इत्यलम्”

- 7, लखेरापुरा,
भोपाल (मध्यप्रदेश)

देवलोकः कौन उपास्य कौन अनुपास्य

- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

“शासन देवता उपास्य या अनुपास्य” एवं “दीपावली पूजनम्” दो कृतियाँ समान उद्देश्यों एवं भावों को व्यक्त करने वाली महासभा के चिंतन और दर्शन का प्रतिनिधित्व करती हैं। दीपावली पूजनम् कृति को प्रकाशित करने का उद्देश्य “जैनदर्शन की लुप्त प्रायः संस्कृति को पुनर्जीवित करना है। जैनदर्शन के नाम से प्रकाशित होने वाली कृतियों में कहीं भी जैनत्व की वीतरागता का संकेत/वर्णन नहीं मिला। यक्षी संस्कृति के आदु में वैदिक मान्यताओं का पोषण भी अनुभूत हुआ। लेखक के मत से असहमत व्यक्तियों/विद्वानों को मूढ़, दुष्ट, मूर्ख, धूर्त, नरकगामी सम्बोधनों से अलंकृत कर अपने मलिन भावों का सुन्दर परिचय लेखक ने दिया है। स्वर्ग और नरक भावों का ही फल है।

‘शासन देवता उपास्य या अनुपास्य’ के अंतिम पाठ की विषय सामग्री एवं ‘दीपावली पूजनम्’ के प्रथम पाठ की सामग्री का आधार, त्रिलोकसार की गाथा 988 पर श्री पं. टोडरमल जी एवं श्री पं. सदासुखदास जी की टीका है। अंतर इतना ही है कि शासन देवता उपास्य के अंतिम निष्कर्ष में सर्वाणह एवं सनत्कुमार यक्षों को पूज्य कहा, वहीं दीपावली पूजनम् के पृष्ठ 9 में इन यक्षों के नाम के पहले लक्ष्मी व सरस्वती का नाम और जोड़ दिया है। चूँकि दीपावली पूजनम् पुनर्शोधित है, अतः यह कथन भी नवीन परिस्थितियों के अनुसार पुनर्संशोधनीय मानना चाहिए। इन पुस्तकों में उक्त दोनों विद्वानों को मंत्र-तंत्र मूढ़ घोषित किया है। इनका अपराध इतना था कि उन्होंने शासन देवताओं, यक्ष-यक्षिणियों और क्षेत्रपाल-पद्मावती को पूज्य नहीं माना। ‘शासनदेवता उपास्य’ पुस्तक में मुनियों द्वारा शासन देवताओं एवं अन्य रक्षक देवों की स्तुति एवं नमस्कार करने आदि की अनुमति प्रदान की गयी है। आचार्य पद्मनंदि जी ने इसे आशीर्वाद दिया है। इसका निहितार्थ यह है कि जिनदीक्षाधारियों को भी शासन देवता आदि की स्तुति करना आगमोक्त है।

शासनदेवता यक्ष-यक्षिणी, क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि की पूज्यता का आधार त्रिलोकसार की गाथा 988 में वर्णित अकृत्रिम जिनमंदिरों की व्यवस्था है। सुरलोक के अकृत्रिम के जिनमंदिरों का स्वरूप/व्यवस्था समझने के लिए तिलोयपण्णत्ति का अध्ययन किया। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष एवं सुरलोक के जिनेन्द्र भवनों की मूर्तियों की स्थिति इस प्रकार है-

भवनवासी देव- (तृतीय महाधिकार)

जिनभवनों की संख्या सात करोड़ बहत्तर लाख है। प्रत्येक मंदिर में सिंहासनादिक सहित हाथ में चंवर लिये नागयक्ष युगल से युक्त तथा नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित जिनप्रतिमाएँ हैं (3/51)। जिनमन्दिरों में देवच्छन्द (गर्भगृह) के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी

तथा सर्वाणह और सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ एवं अष्ट मंगल द्रव्य हैं।(3/47) यह गाथा त्रिलोकसार जी की गाथा 988 के समान है।

ज्योतिर्लोक (सत्तमो महाधिकार)

ज्योतिर्लोक के चन्द्रविमान में भवनवासी देव जैसी जिनभवनों की व्यवस्था है। (7/47-48)। यही व्यवस्था सूर्य विमान में भी है।(7/73)।

व्यंतर लोक (छठो महाधिकार)

व्यंतर लोक में जिनभवनों में सिंहासनादि प्रातिहार्यो सहित और हाथ में चंवर लिए हुए नागयक्ष देव युगलों से संयुक्त अकृत्रिम जिनेन्द्र प्रतिमाएं जयवन्त होती हैं (6/15)। यहां के जिनमंदिरों में श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाणह-सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ होने का उल्लेख नहीं है।

सुरलोक (अट्ठमो महाधिकार)

कल्पवासी-सुरलोक के जिनभवनों में तीन छत्र, सिंहासन, भामण्डल और चंवरादि से (संयुक्त) सुन्दर जिन-प्रतिमाएं विराजमान रहती हैं (8/605)। इन मंदिरों में नागयक्ष, श्रीदेवी आदि की मूर्तियां होने का कोई उल्लेख नहीं है।

सर्व देवों द्वारा जिनेन्द्र-पूजा का विधान

देव लोक में उपपादपुर में महार्ह शय्या पर देव उत्पन्न होते हैं। देव-देवियों को देखकर नवागंतुक देव को कौतुक होता है और किसी को विभंग और किसी को अवधिज्ञान प्रगट होता है। कोई मिथ्यादृष्टि देव विशुद्ध सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं (8/596-597)। नये देव का अभिषेक होता है पश्चात् दिव्य रत्नाभूषणों की वेशभूषा धारण कर देव जिन भवन जाकर जिनदेव की सैकड़ों स्तुतियाँ कर उनका अभिषेक करते हैं।

सम्यग्दृष्टि देव कर्मक्षय के निमित्त सदा मन में अतिशय भक्तिपूर्वक 'जिनवराण सया' जिनेन्द्रों की पूजा करते हैं। मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों के संबोधन से 'ये कुल देवता हैं' ऐसा मानकर 'णिच्चं अच्चंति जिणवरप्पडिमा' नित्य जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं (8/611-612)।

जिनमूर्ति की पूजा के देवलोक के निष्कर्ष

1) देव लोक के जिन-मंदिरों के सभी मंदिरों में श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाणह-सनत्कुमार यक्ष की मूर्तियों के होने का विधान नहीं है। भवनवासी एवं ज्योतिर्लोक के जिनमंदिरों में देवियों और यक्षों की मूर्तियाँ होती हैं किन्तु व्यंतरलोक और सुरलोक (कल्पवासी) के जिनमंदिरों में इनकी मूर्तियों का विधान नहीं है।

2) देवलोक के देवगण सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि, मात्र जिनेन्द्र प्रतिमाओं का अभिषेक, स्तुति और पूजन करते हैं। जिनेन्द्र को छोड़ अन्य किसी देवी-देवता, यक्ष या शासन देवता की पूजा नहीं करते।

3) भवनवासी और ज्योतिर्लोक जहां श्रीदेवी एवं यक्षमूर्तियाँ गर्भगृह में विद्यमान हैं,

वहां सम्यग्दृष्टि देवों द्वारा 'मण्णंतया तत्थजिणिंद पूजं' विशुद्धि पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की जाती है (3/239) एवं मिथ्यादृष्टि देवों द्वारा 'मिच्छा जुदा ते य जिणिंद पूजं' नित्य जिन प्रतिमाओं की पूजा की जाती है। (3/240) भवनवासी मिथ्यादृष्टि देव जब जिनप्रतिमाओं को पूजते हैं तब एक इन्द्र और अन्य विभूति युक्त देव, जिनके अधीन यक्षादि हैं; श्रीदेवी एवं यक्षादि को क्यों पूजेंगे? विचारणीय है। अपने अधीनस्थों, हीनपद वालों की पूजादि तो लौकिक जगत् में भी सत्ता के प्रमुख द्वारा नहीं की जाती। अधीनस्थों की पूजा या स्तुति करने का सुझाव या समर्थन वज्रमूढ़ भी नहीं कर सकता?

4) व्यंतर लोक में भी सम्यग्दृष्टि देवों द्वारा 'जिणिंद-पडिमाओ पूजंति' (6/16) एवं मिथ्यादृष्टि देवों द्वारा 'जिणिंद-पडिमाओ' जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा की जाती है (6/17)। वहाँ भी देवी-यक्षों की पूजा नहीं होती। यक्ष अपने हमसाथी यक्ष की पूजा कैसे कर सकते हैं? विवेक का औचित्य उनके साथ भी है। उच्चपद और समान पद की मर्यादाओं का निर्वाह देवलोक में सहज होता है। वहां कुतर्क और मिथ्या वाक्जाल या उन्मादी व्याख्या एवं कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं है।

5) व्यंतर देवों के आठ भेद हैं- किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। यक्ष देवों के माणिभद्र, पूर्णभद्र (दोनों इन्द्र हैं) शैलभद्र आदि बारह भेद हैं (5/25, 42-43)। समवशरण की चारों दिशाओं में चार दिव्य धर्मचक्र यक्षेन्द्रों के सिर पर स्थित होना, किसी का उपकार नहीं किन्तु कुबेर की व्यवस्था है (4/879 एवं 922)। धर्मचक्र धारण करने से यक्षेन्द्र को गर्भगृह में शोभा/सम्मान का अवसर मिला किन्तु पूज्य नहीं हुए।

6) श्रीदेवी नाम की एक सौधर्म इन्द्र की देवी है। इसका निवास हिमवान् पर्वत के पद्मद्रह के कमल में है (4/1694)। इस देवी के परिवार में सामानिक, तनुरक्षक, तीन प्रकार के पारिषद्, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक जाति के देव होते हैं (4/1695)। कमल पुष्पों पर भवनों के समतुल्य जिनेन्द्र प्रासाद होते हैं। जहां चंवर, भामण्डल, त्रिछत्र सहित जिनेन्द्र प्रतिमाएं शोभायमान हैं (4/1715-1717)। इस श्रीदेवी का यक्षेन्द्र जैसा कोई योगदान नहीं दर्शाया गया। श्रुतदेवी का कोई उल्लेख तिलोयपण्णत्ति में नहीं मिला, अन्वेषणीय है।

7) देव लोक के जिनमंदिरों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा नहीं होती वे निसर्गरूप से प्रतिष्ठित एवं पूज्य होती हैं किन्तु मनुष्यलोक में मूर्तियों की पूजा विधिवत् प्रतिष्ठा करने के उपरांत होती हैं। अप्रतिष्ठित मूर्तियाँ अपूज्य होती हैं। तीर्थकरों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा और पूजा श्रमण संस्कृति का चिह्न है।

अनुकृति की प्रतिकृति (टू कॉपी) की मूढ़ विकृतियाँ-

तीर्थकरों का जन्म कर्मभूमि में होता है। कर्मभूमि में ही उनके गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्ष कल्याणक होते हैं। यहीं उनकी धर्मसभा-समवशरण की रचना होती है। यहीं तीर्थकर की वाणी-दिव्य ध्वनि खिरती है। चतुर्विध संघ की रचना भी कर्मभूमि में होती है और तीर्थकरों की उपासना-पूजा हेतु पंचकल्याणक पूर्वक जिन प्रतिमाओं की

प्रतिष्ठा भी कर्मभूमि में होती है। विदेह क्षेत्र की व्यवस्था कथंचित् भिन्न है। यह व्यवस्था अनादि काल से प्रभावशील है।

श्रमण संस्कृति में मात्र तीर्थकरों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा और पूजा होती है। तीर्थकरों की मूर्तियों के अलावा किसी अन्य देवी-देवता, यक्ष-यक्षी या मानव अनुकृति की प्रतिष्ठा एवं पूजा मूल-आम्नाय की परंपरा में नहीं होती है। असंयमी की मूर्ति बनाने की परंपरा भी नहीं है।

देवलोक में जिनेन्द्र देव (तीर्थकरों) की मूर्तियों की पूजा हेतु अकृत्रिम जिनालय बने हैं जहां जिनेन्द्रदेव का अभिषेक और पूजा सर्व देवों द्वारा की जाती है। इन अकृत्रिम जिनालयों में कर्मभूमि में उत्पन्न एवं सिद्ध हुए तीर्थकरों की अनुकृति रूप मूर्तियाँ शाश्वत रूप से विद्यमान रहती हैं और मूल-आम्नाय की परंपरानुसार पूज्य होती हैं। भवनवासी एवं ज्योतिर्लोक के जिनमंदिरों के गर्भगृह में श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाण्ह-सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ स्थित होने के बाद भी देवगणों द्वारा उनकी पूजा करने का उल्लेख नहीं मिलता। यह शाश्वत व्यवस्था अनुकृति की प्रतिकृति की है जिसका विवरण आचार्यों द्वारा तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि आगम ग्रंथों में दिया गया है।

तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार में वर्णित जिनभवनों की प्रतिकृति (टूकॉपी) भरत क्षेत्र की विद्यमान कर्मभूमि में की जाने की परंपरा विकसित हुई है। भवनवासी अकृत्रिम जिनालयों के गर्भगृह में वर्णित श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाण्ह-सनत्कुमार आदि यक्षों की मूर्तियों को आधार बनाकर कर्मभूमि के जिनालयों में रागी-मूर्तियों की स्थापना, पूजा की विकृत परंपरा प्रारंभ करने का उपदेश, समर्थन और उन्मादी व्याख्या की जाने लगी, जैसा कि 'शासन देवता उपास्य या अनुपास्य' एवं 'दीपावली पूजनम्' कृतियों में किया गया है। इस विकृत परंपरा की निम्न उन्मादी या तर्क रहित व्याख्याएँ विचारणीय हैं-

१. जिनेन्द्र के मत में पूर्ण या आंशिक वीतरागता पूज्यनीय

विश्व के सर्व धर्म/ दर्शनों में मात्र जैनधर्म ही विशिष्ट धर्म है जिसमें गुणाश्रित वीतरागता पूर्ण या आंशिक को पूज्य माना गया है। वीतरागियों की पूजा-स्तवनादि से वीतराग विशेषज्ञान की प्राप्ति होती है जो मोक्षमार्ग में साधक का काम करता है। जिनमत के अनुसार जन्म-जरा-मृत्यु आदि अट्ठारह दोषों से मुक्त जीव ही पूज्य है। विशेषता इतनी है कि जो साधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधु आंशिक वीतरागता के धारी हैं, वे भी पूज्य माने गये हैं। असंयमी और बहुदोष-युक्त महिलाएँ इस श्रेणी में नहीं आतीं। रागी-द्वेषी देवी-देवता भी अपूज्य हैं। उनकी पूजा से वीतराग विशेषज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

२. अनादिमहामंत्र णमोकार मंत्र में पूज्यत्व

जिनधर्म शाश्वत धर्म है। इसका अनादि महामंत्र णमोकार मंत्र है। इसमें अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को नमस्कार किया है। विद्यमान आगम में इसका अंकन षट्खंडागम में आचार्य पुष्पदंत जी ने किया है। यदि कोई सामान्य जन इसका प्रथम अंकन करता तो भी वह पंचपरमेष्ठी को ही नमस्कार करता। यही शाश्वत सत्य है। यह सोच तर्क संगत नहीं है कि यदि णमोकार मंत्र का लेखन चतुर्थ गुणस्थानवर्ती असंयमीजन

करता तो वह पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक को इस मंत्र में पूज्यत्व का स्थान दे देता।

३. अकर्त्तावादी जैनदर्शन की अवधारणा

जैनदर्शन अकर्त्तावादी है। सभी जीव अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार जन्म-मरण, सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग पाते हैं और भोगते हैं। कोई किसी से प्रसन्न-अप्रसन्न होकर सुखी-दुखी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से किसी की पूजा करना इष्टकारक नहीं है। कर्मचक्र का आधार जीव के भाव हैं। भावों के अनुसार ही कर्मचक्र का प्रभाव होता है। अतः अशुभ से निवृत्ति, शुभ में प्रवृत्ति और शुद्ध भाव को अनुभूत करने की भावना करना चाहिये। समता भाव रखना चाहिये। असाताकर्म के उदय में कोई किसी का सहायक नहीं होता।

४. जिनेन्द्र देव अनुपमेय

तीर्थंकर-जिनेन्द्र देव अनुपमेय हैं। उनकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती क्योंकि उनके समान या उनसे श्रेष्ठ विश्व में और कोई नहीं है। संभावना द्वारा लक्ष्मी से जिनेन्द्र भगवान् की तुलना करना और लक्ष्मी को श्रेष्ठ बताना बुद्धि का विकार प्रदर्शित करना है। प्रथम, लक्ष्मी के अस्तित्व का ही पता नहीं है। दूसरे नारी पर्याय अनेक स्वाभाविक दोषों से युक्त होने के कारण नारी पर्याय में मुक्त नहीं हो सकती। तीसरे रागी नारी के गुणों से वीतरागी देव की तुलना करना जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद करना है।

५. श्रीदेवी, श्रुतदेवी, सर्वाणह और सनत्कुमार यक्षों की पूजा उनके सुरलोक में नहीं की जाती। यदि वे जिनेन्द्रदेव के शासन रक्षक (उपदेव) होते तो उनकी पूजा-उपासना भवनवासी और व्यंतर देवों द्वारा अवश्य की जाती। जिनकी पूजा असंयमी देवलोक में नहीं होती उनकी पूजा मनुष्यलोक के असंयमी, संयमी-व्रती महानुभावों का करना, करवाना या अनुमोदना करना बुद्धि की घोर विपरीतता और तीव्र मोहोदय का प्रताप समझना चाहिए।

६. तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी अन्य जीवों के समान निश्चित आयु वाले होते हैं। काल प्रवाह में उनकी आत्मा कहां किस पर्याय में होगी किसी को ज्ञात नहीं। ऐसी अनिश्चित स्थिति में उनकी पूजा-आराधना से धर्म की रक्षा या दुःख का निवारण कैसे हो सकता है? विचारणीय है। यदि इनका अस्तित्व शाश्वत होता और वे धर्म रक्षक होते तो अभी तक धर्म की जो हानि हुई या हो रही है, वह कभी नहीं होती। जैनधर्म का इतिहास रक्त रंजित और मंदिरों का आपराधिक ध्वंश नहीं होता। शासन-रक्षक की कल्पना तर्कहीन है।

७. मनुष्य लोक में जिनेन्द्र देव की प्रतिमाओं की पूजा-अभिषेक उनकी विधिवत् प्रतिष्ठा होने के बाद ही की जाती है। जब अप्रतिष्ठित जिनेन्द्र की मूर्ति अपूज्य होती है, तब रागी देव-देवी की अप्रतिष्ठित मूर्ति पूज्य कैसे हो सकती है? यह तो महाविपरीतता है। रागी देवी-देव की मूर्ति की यदि प्रतिष्ठा भी करा दी जाय तब भी उससे इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती।

८. पंचकल्याणकों में सूरिमंत्र देने के बाद ही मूर्ति प्रतिष्ठित होती है। सूरिमंत्र का संबंध, जैसी जानकारी मिली है किसी यक्ष या देवता से नहीं होता जो मूर्ति में अतिशय उत्पन्न करते हों। यह आधारहीन कल्पना प्रतीत होती है। अनेक आगम शास्त्रों के ज्ञाता और

टीकाकार विद्वान द्वय श्री पं. टोडरमल जी एवं पं. आशाधर जी को मंत्र-तंत्र मूढ़ कहना, अपने अज्ञान का प्रदर्शन मात्र है, वह भी उस व्यक्ति द्वारा जिसका जीवन डाल से टूटे पत्ते के समान इधर-उधर भटकता रहा हो। बीसपंथ के पंडित कुल में उत्पन्न होकर स्व-घोषणानुसार जो व्यक्ति क्रमशः रजनीश जी, कानजी स्वामी, तेरहपंथी, बीसपंथी, वैदिक पंथी होकर वीतरागी परंपराओं को विकृत कर रहा, उसके द्वारा महान् विद्वान् पंडितों को मूढ़ कहना घोर अपमानजनक है। इन विद्वानों द्वारा जितना साहित्य सृजन किया है उसका अध्ययन, चिंतन, मनन एवं हृदयंगम करने में मेरे जैसे अल्प बुद्धि वालों को अनेक भव लग जायेंगे।

९. यह परिकल्पना अयथार्थ एवं आगमविरुद्ध है कि धरणेन्द्र व पद्मावती के द्वारा मुनि पार्श्वनाथ को कमठ के उपसर्ग से सुरक्षित कर देने के पश्चात् मुनि पार्श्वनाथ श्रेणी आरोहण के योग्य हो सके। इससे यह ध्वनित होता है कि धरणेन्द्र-पद्मावती यदि नहीं होते तो मुनि पार्श्वनाथ विचलित हो गये होते और उन्हें केवलज्ञान नहीं होता। वस्तुतः ऐसा विचार वस्तु की स्वतंत्र सत्ता की अवधारणा के विरुद्ध और वैदिक संस्कृति की कर्त्तावादी अवधारणा से प्रभावित है। यह प्रकारान्तर से पार्श्वनाथ का अवर्णवाद करना है। पंच पांडवों को आत्मध्यानरत अवस्था में तप्त लोहे के कड़े पहना दिये थे। उनकी सहायता के लिये कोई शासन रक्षक देव सामने नहीं आया। भगवान नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी भी बेखबर रहे। फिर भी, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम मुनिराज श्रेणी आरोहणकर मुक्त हो गये। यदि धरणेन्द्र-पद्मावती मुनिराज पार्श्वनाथ का उपसर्ग दूर करने की भावना से नहीं आते तब भी आत्मध्यानरत मुनिराज पार्श्वनाथ श्रेणी आरोहण कर लेते। इन दो कार्यों के मध्य कारण-कार्य संबन्ध नहीं है। सामान्यजन को कुतर्कों से भ्रमित करना धर्म-द्वेष का कार्य होता है।

१०. देवलोक के वर्णन में चारों प्रकार के देवों के स्वरूप, उनके भेद, उनकी शक्तियाँ, उनकी स्थिति आदि के बारे में विस्तृत वर्णन तिलोयपण्णत्ति एवं अन्य ग्रंथों में दिया गया है। उस स्तर के अनुरूप अपने पदानुसार देवों की कार्य व्यवस्था प्रभावशील रहती है। किसी की कल्पना मात्र से कोई देव मंत्री या सेनापति नहीं हो जाता। जिनेन्द्र भगवान् का शासन स्व रक्षित है। उसकी रक्षा किसी देव या मनुष्य के अधीन नहीं है। जैन शासन का स्वरूप जगत् के शासन से भिन्न है। देवों को जिनशासन का रक्षक बनाकर उनका उपहास उड़ाना है और जैनशासन को हीन सिद्ध करना है। सेनापति और मंत्री जमात के रूप में नहीं होते। कुछ विशिष्ट ही होते हैं।

११. जिनशासन की परंपरा है कि उच्च पद वाले महानुभावों का निम्न पद वाले विनय/सम्मान करते हैं। मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ होता है। सम्यग्दृष्टि असंयमी से संयमी-व्रती श्रेष्ठ होता है। संयमीव्रती से गृहत्यागी अट्ठाईस मूलगुण धारी श्रेष्ठ और पूज्य होता है। गुण के अनुसार विनय की पात्रता होती है। इसी कारण इन्द्र और चक्रवर्ती तीर्थंकर को नमन और पूजा करते हैं। यही नहीं देखते कि तीर्थंकर के जीव का लौकिक जगत् में क्या पद या वैभव था। यक्ष-यक्षी, देवी-देवता, मिथ्यादृष्टि/ सम्यग्दृष्टि असंयमी की

श्रेणी में आते हैं, इससे अधिक पद उनका नहीं है। संयमी, व्रती और मुनिजन यदि इनकी उपासना/स्तुति करते हैं तो वे निश्चित ही जिनेन्द्रमुद्रा में जैन-बाह्य साधक हैं।

१२. सर्वाण्ह यक्ष की आढ़ में उपलक्षण न्याय के नाम पर तीर्थंकर के यक्ष-यक्षी एवं क्षेत्रपालादि सभी (कथित) रक्षक देवों को शासन रक्षक मानना बिना आटे के रोटी बनाने जैसा है।

प्रथम, सर्वाण्ह-सनत्कुमार यक्ष धर्म रक्षक नहीं कहे गये हैं और यदि किसी भ्रम के कारण धर्म रक्षक माने भी जावें तब इनका कर्तव्य उनके जीवन काल में उन तक ही सीमित रहेगा। दूसरा सृजन-रक्षण-संहार की मान्यताएँ वैदिक संस्कृति की हैं जो गृहीत मिथ्यात्व की जनक हैं। देशनालब्धि से इन मान्यताओं का विसर्जन हो जाता है। प्रायोग्य लब्धि गृहीत मिथ्यादृष्टि को नहीं होती। गृहीत मिथ्यात्व के निवारण हेतु पूज्य-अपूज्य का सविवेक निर्णय अपेक्षित है।

१३. 'दीपावली पूजनम्' के पृष्ठ 5 एवं पृष्ठ 47-48 के मध्य में पूज्य आचार्य श्वेतपिच्छाचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज के मत के रूप में लिखा है कि आचार्य श्री ने 'विश्वप्रसिद्ध पद्मावती की देन' में शासन देवताओं को पूज्य सिद्ध किया है और पुस्तक का मूल्य 'एक पुष्प चढ़ाकर धरणेन्द्र पद्मावती के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करें' रखा है। इस पुस्तक की विषय वस्तु का अध्ययन किया। इसमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है, जिससे यह ध्वनित या सिद्ध हो कि पूज्य आचार्यश्री ने शासन देवताओं को 'पूज्य' सिद्ध किया है। वस्तुतः यह तो संग्रह-पुस्तिका है। पुस्तक का प्रकाशन 'श्री दिगम्बर जैन पद्मावती पुरवाल दिल्ली' ने किया है। पुस्तक-लेखन और प्रकाशन दो अलग व्यवस्थाएँ हैं। लेखक का इसमें कोई सरोकार नहीं रहता कि पुस्तक का मूल्य क्या हो? सशुल्क या निःशुल्क भेंट दी जाये, इसका निर्णय प्रकाशक का होता है। प्रकाशक के निर्णय से लेखक/संग्रहकर्ता सहमत हो यह आवश्यक नहीं। उक्त पुस्तक का मूल्य प्रकाशक ने धरणेन्द्र-पद्मावती के प्रति कृतज्ञता स्वरूप एक पुष्प चढ़ाने का सुझाव दिया है। लौकिक धरातल पर एक साधर्मी बन्धु के प्रति कृतज्ञता अनेक प्रकार से ज्ञापित की जाती है। आगंतुक का स्वागत पुष्पहार से भी करते हैं। इससे समीचीन श्रद्धा का कोई संबन्ध नहीं होता। अतः संदर्भित प्रकरण में, उक्तानुसार 'दीपावली पूजनम्' के लेखक ने आचार्य श्री के बारे में जो निष्कर्ष ग्रहण किया, वह सही एवं उचित नहीं है। आचार्य श्री आगम के मर्मज्ञ हैं उनकी सहमति के बिना ऐसे मनमाने निष्कर्ष निकालना किसी निस्पृही व्यक्तित्व को विवादित करने जैसा है।

१४. आर्ष परंपरा के समर्थक और करणानुयोग के उद्भट विद्वान स्व. श्री पं. रतनचन्द्र जैन मुख्तारः व्यक्तित्व और कृतित्व (द्वितीय संस्करण) का प्रथम खंड सामने है। पृष्ठ 619 पर प्रकाशित शंका-समाधान यथावत् इस प्रकार है-

शंका- पद्मावती आदि देवियां पूजनीय हैं या नहीं ?

समाधान- पद्मावती आदि देवियाँ पंचपरमेष्ठियों में गर्भित नहीं होतीं। इसलिये अरहन्त आदि परमेष्ठी की तरह वे पूजनीय नहीं हैं किन्तु वे जैनधर्म की अनुयायी हैं, साधर्मी हैं

इसलिए वे आदरणीय हैं। प्रतिष्ठा पाठ आदि में इनका आह्वान रक्षा हेतु किया जाता है।

पृष्ठ 620 में चतुर्निकाय देवों की पूज्यता के बारे में कहा है- 'पूज्यता की अपेक्षा श्री अरहंत भगवान् को सुदेव और रागीद्वेषी को 'कुदेव' कहा है। चतुर्निकाय के देवों के देवायु आदि का उदय होने से उनको देव कहा है। पूज्यता की अपेक्षा से उनको देव नहीं कहा गया है।' क्या पं. रतनचन्द जी मुख्तार साहब को भी तंत्र-मंत्र मूढ़ कहा जायेगा?

उपसंहार-

मनुष्य लोक के तीर्थंकरों की मूर्तियों की पूजा देवलोक के सभी जीवों द्वारा प्रतिदिन भक्ति पूर्वक की जाती है। जिनेन्द्र भगवान् उनके उपास्य हैं, देवगण उपासक। देवलोक में देवी-देवताओं, यक्ष-यक्षणी आदि की उपासना नहीं की जाती। वहां कोई शासनरक्षक भी नहीं होता। देवलोक के जिनालयों की अनुकृति कर मनुष्यलोक में जिनेन्द्र देव के अलावा किसी अन्य देवी-देवता, यक्ष-यक्षणी की पूजा या उपासना करना घोर विद्रूपता एवं आगम-विरुद्ध कार्य है। मनुष्य भव सम्हालें। जो कार्य असंयमी देव नहीं करते, वह कार्य संयम-साधक मनुष्य कैसे कर सकते हैं?

श्रमण और वैदिक संस्कृतियों में आधारभूत अंतर है। वैदिक संस्कृति के प्रतिमानों, उपास्य-उपासना की पद्धति का श्रमण संस्कृति में समावेश करने का प्रयास उचित नहीं है। देवलोक में कौन उपास्य है और कौन अनुपास्य है। इसका आगमिक वर्णन किया है। इसमें सुधार हेतु पाठकों के सुझाव आमंत्रित हैं।

-बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी,
पोस्ट-अमलाई, जिला-शहडोल
(म0प्र0)-484117

तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य विमर्श

- आलोक कुमार जैन

भारत की दर्शन परम्परा अतिप्राचीन है। भारतीय आस्था एवं परम्परा की आधारशिला दर्शन पर स्थापित है अथवा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कहना अधिक उचित होगा। दर्शन की धुरी द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ के केन्द्र पर ही घूमती है। द्रव्य शब्द केवल दर्शन का ही नहीं, अपितु भारतीय वाङ्मय, संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि समस्त प्राचीन शास्त्रीय भाषाओं का अत्यन्त प्रचलित शब्द है। चाहे काव्य हो या व्याकरण, तत्त्वमीमांसा हो या आयुर्वेदशास्त्र, इनमें द्रव्य का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। पाणिनी ने भी द्रव्य की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बतलाई है तद्धित में और कृदन्त प्रकरण में। तद्धित में भी दो प्रकार से है- प्रथम वृक्ष या काष्ठ का विकार या अवयव द्रव्य है। द्वितीय-जिस प्रकार लकड़ी मनचाहा आकार ग्रहण कर लेती है उसी प्रकार द्रव्य भी होता है। कृदन्त प्रकरण के अनुसार द्रव्य की उत्पत्ति द्रु धातु से कर्मार्थक 'यत्' प्रत्यय से होती है जिसका अभिप्राय है प्राप्तियोग्य अर्थात् जिसे अनेक अवस्थायें प्राप्त होती हैं। दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य इस प्रकार परिभाषित किया गया है- “अद्रव्यत् द्रवति द्रोष्यति तास्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्” अर्थात् जो विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हो रहा है और होगा वह द्रव्य है। जो अवस्थाओं के विनाश होते रहने पर भी ध्रुव बना रहता है वह द्रव्य है।

सत् सत्ता अथवा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। वह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। अतः अनादि अनन्त है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता। सभी द्रव्य स्वभाव सिद्ध हैं क्योंकि वे सब अनादिनिधन हैं। अनादिनिधन को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती। द्रव्य सदैव स्थायी रहता है। सभी भारतीय दर्शन द्रव्य की मीमांसा करते हैं क्योंकि यही दार्शनिक मीमांसा का प्रमुख स्रोत है। दार्शनिक दृष्टि जगत्, जीव, उसके दुःख और दुःखों के उपाय के इर्द गिर्द ही घूमती है। उद्देश्य रूप द्रव्य के विषय में किसी भी दर्शन का मतभेद नहीं है परन्तु द्रव्य के स्वरूप एवं भेद में मतभेद दृष्टव्य है। जाति की अपेक्षा जीव पुद्गल आदि जितने पदार्थ हैं वे सब द्रव्य कहलाते हैं। द्रव्य शब्द में दो अर्थ छिपे हैं- द्रवणशीलता और ध्रुवता। जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है। अतः उसे द्रव्य कहते हैं। आशय यह है कि प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों और पर्यायों का कभी उल्लंघन नहीं करता है।

चूँकि प्रस्तुत शोध-आलेख का विषय द्रव्य पर आधारित है एतदर्थ यहाँ तत्त्वार्थसूत्र के परिप्रेक्ष्य में इसका विवेचन किया गया है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय में द्रव्य के दो लक्षणों को वर्णित किया है। जिनमें से प्रथम लक्षण है “सद्द्रव्य लक्षणम्” अर्थात् सत् द्रव्य का लक्षण

है। सत् का स्वरूप वर्णित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्**² अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है वह द्रव्य कहलाता है। यहां आचार्य का आशय यह है कि जो भी द्रव्य की संज्ञा को प्राप्त है वह इन तीनों से युक्त अवश्य ही होता है। ये तीनों एक-दूसरे के अविनाभावी हैं। इन तीनों अवस्थाओं का स्वरूप इस प्रकार है-

उत्पाद- द्रव्य की नवीन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है। जैसे- नरक से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होना, मनुष्य पर्याय का उत्पाद है।

व्यय- द्रव्य की पूर्व पर्याय का विनाश हो जाना व्यय कहलाता है। जैसे- नरक से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होना, नरक पर्याय का व्यय है।

ध्रौव्य- जो द्रव्य की दोनों पर्यायों में सर्वदा रहता है वह ध्रौव्य है। जैसे- नरक से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न हो, इन दोनों अवस्थाओं में जीव नित्य विद्यमान रहता है यह ध्रौव्य है। यहां नरक पर्याय का व्यय हो रहा है, मनुष्य पर्याय का उत्पाद हो रहा है फिर भी दोनों अवस्थाओं में वही जीव विद्यमान रहता है। जो-जो भी द्रव्य हैं वे इन तीन गुणों सहित अवश्य ही होंगे। आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि- घट, मौलि और सुवर्ण को चाहने वालों को इन तीनों नाश, उत्पाद और स्थिति में शोक, प्रमोद और माध्यस्थ भाव को लोग निमित्त सहित प्राप्त करते हैं। जिसके दुग्ध लेने का व्रत है वह दही नहीं लेता, जिसके दही लेने का व्रत होता है वह दुग्ध नहीं लेता। जिसका गोरस न लेने का व्रत है वह दोनों नहीं लेता। इससे मालूम होता है कि वस्तुतत्त्व त्रयात्मक है।³ द्वितीय लक्षण को लक्षित करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- **“गुणपर्यायवद् द्रव्यम्”**⁴ अर्थात् गुण और पर्याय वाला जो है वह द्रव्य है। यहां आचार्य उमास्वामी महाराज का आशय यह है कि जो गुण और पर्याय से सहित होता है वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्यायों का समूह है।⁵ जैसे- जीव में ज्ञान और दर्शन गुण हैं और मतिज्ञानादि एवं चक्षुदर्शनादि पर्यायें होती हैं। यह द्रव्य का लक्षण पूर्व लक्षण से भिन्न नहीं है। सिर्फ शब्द भेद है, अर्थभेद नहीं है क्योंकि पर्याय से उत्पाद और व्यय की तथा गुण से ध्रौव्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि-

द्वयं सल्लक्खणियं उपादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।

गुण पज्जयासयं वा जं तं भण्णांति सव्वण्हू।⁶

अर्थात् जो सत्ता है लक्षण जिसका ऐसा है, उस वस्तु को सर्वज्ञ वीतराग देव द्रव्य कहते हैं। अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसंयुक्त द्रव्य का लक्षण कहते हैं। अथवा गुण पर्याय का जो आधार है उसको द्रव्य का लक्षण कहते हैं।

यहां गुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि- **“द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।”**⁷ अर्थात् जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और जो अन्य गुणों में नहीं पाये जाते हैं वे गुण कहलाते हैं। जैसे- जीव के ज्ञानादि गुण, पुद्गल के स्पर्शादि गुण। ये स्पर्शादि गुण सिर्फ पुद्गल द्रव्य के आश्रय से ही रहते हैं इनमें ज्ञानादि गुण नहीं पाये जा सकते। इसमें यह विशेषता है कि द्रव्य की अनेक पर्याय पलटते रहने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक्

न हों, निरन्तर द्रव्य के साथ रहें उसे गुण कहते हैं।⁸

गुण दो प्रकार के होते हैं- सामान्य गुण और विशेष गुण।

सामान्य गुण- जो गुण सभी द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं उन्हें सामान्य गुण कहते हैं। जैसे- अस्तित्व, वस्तुत्व आदि।

विशेष गुण- जो गुण एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करते हैं वे विशेष गुण कहलाते हैं। जैसे- ज्ञान, दर्शन, स्पर्श, गति आदि।

पर्याय का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि **तद्भावः परिणामः**⁹ अर्थात् उसका होना अथवा प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है और परिणाम को ही पर्याय कहा जाता है। यहां आचार्य यह कहना चाहते हैं कि गुणों के परिणाम को पर्याय कहते हैं। द्रव्य के विकार विशेष रूप से भेद को प्राप्त होते रहते हैं अतः ये पर्याय कहलाते हैं।¹⁰ जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त करे वह पर्याय है। आचार्य देवसेन स्वामी के अनुसार गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं।¹¹ अर्थात् जब गुणों में किसी प्रकार की विकृति आती है तो उसको ही पर्याय कहते हैं।

इन सब आचार्यों के द्वारा बताये गये स्वरूप में एक बात सामान्य यह है कि परिणाम शब्द का प्रयोग प्रत्येक आचार्य ने किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि परिणाम का नाम ही पर्याय है। अतः जो द्रव्य में स्वभाव और विभाव रूप से सदैव परिणामन करती रहती है अथवा जो द्रव्य में क्रम से एक के बाद एक आती रहती है उसे पर्याय कहते हैं।

द्रव्य के सामान्य-विशेष गुण एवं पर्यायों को विशेष रूप से जानने के इच्छुकजन आलापपद्धति नामक ग्रन्थ जो कि आचार्य देवसेन स्वामी द्वारा रचित है, का अध्ययन करें। आचार्य कहते हैं कि- जैसे गोरस अपने दूध-दही-घी आदिक पर्यायों से जुदा नहीं है, उसी प्रकार द्रव्य अपनी पर्यायों से जुदा अर्थात् पृथक् नहीं है और पर्याय भी द्रव्य से जुदे नहीं हैं। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय की एकता है। आचार्य कहते हैं कि-द्रव्य और गुणों की एकता है। जैसे-एक आम द्रव्य है और उसमें स्पर्श,रस,गन्ध,वर्ण गुण हैं। यदि आम न हो तो जो स्पर्शादि गुण हैं, उनका अभाव हो जाय क्योंकि आश्रय के बिना गुण नहीं रह सकते हैं और यदि स्पर्शादि गुण न हों तो आम का अभाव हो जायेगा क्योंकि अपने गुणों से ही आम का अस्तित्व है।¹²

द्रव्य के भेद - द्रव्य के मुख्य रूप से दो भेद कहे गये हैं जीवद्रव्य और अजीव द्रव्य। आचार्य वीरसेन स्वामी ने द्रव्य के दो भिन्न रूप से भी भेद माने हैं- संयोग द्रव्य और समवाय द्रव्य।

संयोग द्रव्य- अलग-अलग सत्ता वाले द्रव्यों के मेल से जो उत्पन्न हो उसे संयोग द्रव्य कहते हैं। जैसे- दण्डी, छत्री, मौलि।

समवाय द्रव्य- जो द्रव्य में समवेत हो अर्थात् कथञ्चित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय द्रव्य कहते हैं। जैसे- गलकण्ड, काना, कुबड़ा आदि।¹³

अजीव द्रव्य के पुनः पाँच भेद होते हैं- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।¹⁴

अतः सामान्य से द्रव्य के 6 भेद भी कहे जाते हैं। अब इन छहों भेदों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य लिखते हैं कि-

जीवद्रव्य- “उपयोगो लक्षणम्”¹⁵ अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। यहां आचार्य का आशय यह है कि जो उपयोग अर्थात् आत्मा के अनुविधायी (साथ-साथ रहने वाला) परिणाम से सहित है उसे जीव कहते हैं। वह उपयोग दो प्रकार का बताया गया है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये भी आठ और चार भेद वाले हैं। किसी वस्तु का जानना ज्ञानोपयोग कहलाता है और किसी वस्तु का जानने से पहले जो सामान्य अवलोकन करना है वह दर्शन कहलाता है। ज्ञान साकार, सविकल्पक और दर्शन निराकार, निर्विकल्पक होता है, यही दोनों में अन्तर होता है। अन्य लक्षण भी कई आचार्यों ने प्रदर्शित किये हैं- चेतना जिसका लक्षण है वह जीव है। जो जीता था, जीता है, जीवेगा, वह जीव कहलाता है। आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने 9 अधिकारों में जीव के स्वरूप को बताया है। वे कहते हैं कि- जीव, उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेहपरिमाण, भोक्ता, संसारस्थ, सिद्ध, स्वभाव से ऊर्ध्वगमन, इन नव अधिकारों में जीव के स्वरूप को बताया गया है। जीव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जो तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वांसोच्छ्वास से जीता है वह व्यवहार नय से जीव है और निश्चयनय से जो चेतना से सहित है वह जीव है।¹⁶

जीव के मुख्य रूप से दो भेद हैं- संसारी और मुक्त। जो कर्मों से सहित हैं, इसी संसार में चारों गतियों में भ्रमण करते हुए दुःख प्राप्त करते रहते हैं वे संसारी जीव कहलाते हैं। जैसे- मनुष्य, तिर्यञ्च, नारकी, देव आदि। जो आठों कर्मों से रहित होते हैं, लौटकर इस संसार में कभी नहीं आयेंगे वे मुक्त जीव कहलाते हैं। जैसे- सिद्ध जीव।

पुद्गलद्रव्य - “स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः”¹⁷ यहां आचार्य उमास्वामी पुद्गल द्रव्य का स्वरूप बताते हुए लिखते हैं कि जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण वाला है वह पुद्गलद्रव्य कहलाता है।

स्पर्श आठ प्रकार का है- हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम, ठण्डा, गरम। रस पांच प्रकार का है- खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला, चरपरा। गन्ध दो प्रकार की है- सुगन्ध और दुर्गन्ध। वर्ण पाँच प्रकार का है- काला, पीला, नीला, लाल, सफेद। इन बीस पर्यायों में से यथायोग्य भेदों से जो सहित होता है वह पुद्गल कहलाता है। आचार्य अकलंक स्वामी पुद्गल का स्वरूप कहते हैं कि- भेद और संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हों वे पुद्गल हैं। अथवा जीव जिनको शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदि के रूप में निगलें अर्थात् ग्रहण करें वे पुद्गल हैं।¹⁸

पुद्गल के चार भेद आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहे हैं-स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु। अनन्त समस्त परमाणुओं का मिलकर एक पिण्ड बनता है उसे स्कन्ध कहते हैं। पुद्गल स्कन्ध का आधा भाग स्कन्धदेश कहलाता है। स्कन्ध के आधे का आधा अर्थात् चौथाई भाग स्कन्धप्रदेश है और जिसका भाग नहीं हो सकता वह परमाणु है।¹⁹

पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं - अणु और स्कन्ध।²⁰

अणु- एक प्रदेश में होने वाले स्पर्शादि पर्याय को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रूप से जो कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। इसका विशेष स्वरूप प्रदर्शित करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं-

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियेगेज्झं ।

जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणादि॥^{१९}

अर्थात् जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु जानना चाहिये। सरल भाषा में जिसका कोई दूसरा भाग नहीं हो सकता वह अणु है।

स्कन्ध- जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन अर्थात् संघटना होती है वे स्कन्ध कहलाते हैं। अथवा दो या दो से अधिक परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्ध के ६ भेद हैं-

1. बादर-बादर- जो पुद्गलपिण्ड दो खण्ड करने पर अपने आप फिर नहीं मिलते हैं वे बादर-बादर स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे- काष्ठ, पाषाणादि।
2. बादर- जो पुद्गलपिण्ड खण्ड-खण्ड किये जाने पर भी अपने आप मिल जाते हैं वे बादर स्कन्ध कहलाते हैं । जैसे दुग्ध, घृत, तेल आदि।
3. बादर-सूक्ष्म- जो देखने में तो स्थूल हों किन्तु हस्तादिक से ग्रहण करने में नहीं आते, वे बादर-सूक्ष्म स्कन्ध हैं। जैसे- धूप, चन्द्रमा की चांदनी आदि।
4. सूक्ष्मबादर- जो होते तो सूक्ष्म हैं परन्तु स्थूल जैसे प्रतिभासित होते हैं वे सूक्ष्म-बादर कहे जाते हैं। जैसे- स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द आदि।
5. सूक्ष्म- जो अतिसूक्ष्म हैं और इन्द्रियों से ग्रहण करने में भी नहीं आते हैं वे सूक्ष्म कहलाते हैं। जैसे- कर्मवर्गणा आदि।
6. सूक्ष्म-सूक्ष्म- जो कर्मवर्गणाओं से भी अतिसूक्ष्म हैं वे सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध कहलाते हैं। जैसे- द्वयणुक स्कन्ध आदि।²²

अणु की उत्पत्ति भेद से और स्कन्ध की उत्पत्ति भेद, संघात और भेद-संघात से होती है। पुद्गल द्रव्य की मुख्य रूप से 10 पर्यायें हैं- शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी होते हैं। अणु एक प्रदेशी होता है फिर भी उपचार से उसको बहुप्रदेशी कहा गया है। पुद्गल द्रव्यों के उपकारों का उल्लेख करते हुए आचार्य लिखते हैं कि शरीर, वचन, मन, श्वांसोच्छ्वास, सुख, दुःख, जीवन, मरण ये पुद्गल के उपकार हैं।²³

धर्मद्रव्य- जो जीव और पुद्गलों को चलने में उदासीन रूप से सहायक है वह धर्मद्रव्य है। जैसे- मछली को पानी, पतंग को हवा, रेलगाड़ी को पटरी आदि। यहां विशेष बात यह है कि धर्मद्रव्य मात्र चलते हुए जीव-पुद्गल को ही सहायता करता है, नहीं चलने वाले को जबरदस्ती नहीं चलाता है। अतएव गति में उदासीन कारण होता है धर्मद्रव्य।

धर्मद्रव्य की सत्ता वैज्ञानिक भी ईथर नामक पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। धर्मद्रव्य तीनों लोकों में तिल में तेल के समान भरा हुआ है। यह एक ही द्रव्य है। यह असंख्यात प्रदेशी होता है क्योंकि लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं और यह सम्पूर्ण लोकाकाश में फैला हुआ है इसलिए यह असंख्यात प्रदेश वाला है।

अधर्म द्रव्य- जो जीव और पुद्गलों को ठहरने में उदासीन रूप से सहायक है वह अधर्मद्रव्य है। जैसे- पथिक को ठहरने में वृक्ष की छाया सहायक होती है। यहां पर भी विशेष बात यह है कि अधर्मद्रव्य मात्र ठहरते हुए जीव और पुद्गल को ही ठहरने में सहायक है न कि किसी को जबरदस्ती रोकता है क्योंकि यह ठहरने में उदासीन रूप से सहायक है सक्रिय रूप से नहीं। यह द्रव्य भी सम्पूर्ण लोकाकाश में तिल में तेल के समान भरा हुआ है। इसलिए यह भी असंख्यात प्रदेश वाला है। यह द्रव्य भी एक ही है।

आकाशद्रव्य- जो समस्त द्रव्यों को ठहरने के लिए अवगाह अर्थात् स्थान देता है उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य भी एक ही है। परन्तु जितने स्थान में छहों द्रव्य पाई जाती हैं वह लोकाकाश कहलाता है और शेष भाग अलोकाकाश कहलाता है। वैसे तो आकाश द्रव्य अनन्त प्रदेशी है परन्तु लोकाकाश असंख्यात प्रदेश वाला है। अलोकाकाश में मात्र आकाश ही आकाश है वहां अन्य कोई भी द्रव्य नहीं पाई जाती है। अवगाहनत्व आकाशद्रव्य का उपकार है।

कालद्रव्य- जो स्वयं पलटते हुए अन्य द्रव्यों को भी पलटने में सहायक होता है उसे कालद्रव्य कहते हैं। कालद्रव्य के दो भेद हैं- व्यवहारकाल और निश्चयकाल ।

व्यवहारकाल- जो क्रम से अतिसूक्ष्म होता हुआ प्रदर्शित होता है वह व्यवहार काल कहलाता है। यद्यपि व्यवहारकाल, निश्चयकाल का पर्याय है तथापि जीव-पुद्गल के परिणामों से वह जाना जाता है। इसलिए जीव-पुद्गलों के नवजीर्णता रूप से कहा जाता है कि घड़ी, घण्टा, महीना, वर्ष आदि को व्यक्त करता है वह व्यवहारकाल है।

निश्चयकाल- वर्तना ही लक्षण है जिसका वह है निश्चयकाल। व्यवहारकाल का जो आधार है अथवा हेतु है वह निश्चयकाल कहलाता है। यह नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण-पर्याय स्वरूप द्रव्य से सदा अविनाशी है। निश्चयकाल समयादि व्यवहारकाल में अविनाभाव निमित्त होने से अस्तित्व को धारण करता है क्योंकि पर्याय से पर्यायी का अस्तित्व ज्ञात होता है। कालद्रव्य रत्नों की राशि के समान एक प्रदेशी होता है परन्तु अनन्त समय वाला होता है इसलिए एक प्रदेशी होने के कारण इसको कायवान् नहीं कहा गया है। यह अस्तिकाय की कोटि में नहीं रखा गया। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये कालद्रव्य के उपकार हैं।²⁴

द्रव्यों की विशेषतायें- परिमाण की अपेक्षा से कथन करने पर ज्ञात होता है कि जीव और पुद्गल द्रव्य अनन्तान्त हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं एवं काल द्रव्य असंख्यात हैं। मूर्तिक-अमूर्तिक की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तिक एवं पुद्गल मूर्तिक और जीव द्रव्य मूर्तिक-अमूर्तिक दोनों हैं। सक्रियता की अपेक्षा जीव और पुद्गल द्रव्य ही सक्रिय हैं शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं। प्रदेशों की अपेक्षा एक जीव,

धर्म और अधर्म द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं, आकाश द्रव्य अनंत प्रदेशी है, काल द्रव्य एक प्रदेशी है एवं पुद्गल द्रव्य एक, संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशी है। शुद्धता की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य सदा शुद्ध हैं एवं जीव और पुद्गल शुद्ध-अशुद्ध दोनों होते हैं। चेतनता की अपेक्षा से जीवद्रव्य मात्र चेतन है शेष पाँचों द्रव्य अचेतन हैं। जीवद्रव्य कर्ता है शेष पाँचों द्रव्य कारण हैं। उपकार की अपेक्षा जीव, मात्र जीवों पर ही उपकार करता है, पुद्गल, धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल पर उपकार करते हैं, आकाश द्रव्य पाँचों द्रव्यों पर और कालद्रव्य छहों द्रव्यों पर उपकार करता है। उपकारी की अपेक्षा से जीव पर छहों द्रव्य उपकार करते हैं, पुद्गल द्रव्य पर जीव को छोड़कर सभी द्रव्य, धर्म और अधर्म द्रव्य पर आकाश और काल द्रव्य, आकाश द्रव्य पर कालद्रव्य और कालद्रव्य पर आकाश द्रव्य उपकार करता है। भेदों की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य के कोई भेद नहीं हैं एवं शेष चारों द्रव्यों के भेद होते हैं। अवगाहन की अपेक्षा से जीवद्रव्य का लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में, असंख्यात बहुभाग में और सर्वलोक में रहने का स्थान है। पुद्गल द्रव्य का एकप्रदेश, संख्यातप्रदेश, असंख्यातप्रदेश में है, धर्म, अधर्म द्रव्य का लोकाकाश प्रमाण रहने का स्थान है। आकाश द्रव्य सर्वगत है। काल द्रव्य एकप्रदेश प्रमाण है। कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं। सामान्य गुणों की अपेक्षा सभी द्रव्यों के 6 सामान्य गुण हैं। विशेष गुणों की अपेक्षा जीवद्रव्य के चार ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, पुद्गल के चार स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व, अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्व, आकाशद्रव्य का अवगाहनत्व और कालद्रव्य का वर्तनाहेतुत्व है। स्वभावों की अपेक्षा जीव और पुद्गल के 21 स्वभाव हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य के 16 एवं कालद्रव्य के 15 स्वभाव हैं। पर्याय की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनकी अर्थपर्याय होती है परन्तु जीव और पुद्गल की अर्थ और व्यञ्जन दोनों पर्यायें होती हैं। छहों द्रव्यों में मात्र जीवद्रव्य ही उपादेय है एवं शेष द्रव्य ज्ञेय हैं।

सभी आचार्यों ने द्रव्य के स्वरूप को समान रूप से स्वीकार किया है। सभी ने गुण और पर्याय से सहित और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से जो सहित है उसी को द्रव्य माना है। द्रव्य के भेदों में भी कभी भेद दिखाई नहीं दिए। 6 भेद आदिनाथ स्वामी ने बताये थे तो 6 भेद ही महावीर स्वामी ने भी बतलाये। परन्तु अन्य दर्शनों में अलग-अलग भेद माने गए हैं जिनमें तर्कसंग्रह में वर्णित नवभेदों को लगभग सभी ने स्वीकार किया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन ये नव द्रव्य स्वीकार किये गये हैं। इनमें से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और मन का तो पुद्गल में अन्तर्भाव हो जाता है। द्रव्यमन का पुद्गल में और भावमन का जीव में अन्तर्भाव हो जाता है। दिशा का आकाश में अन्तर्भाव हो जाता है। शेष तो हम स्वीकार ही करते हैं। इसतरह द्रव्यों की संख्या 6 ही उपयुक्त है।

कालद्रव्य के विषय में श्वेताम्बर परम्परा में ही दो मत हैं। एक मत तो काल को द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है और दूसरा मत काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता है। दूसरे मत के अनुसार सूर्यादि के निमित्त से जो दिन-रात, घड़ी-घंटा, पल-विपल आदि रूप

काल अनुभव में आता है, यह सब पुद्गल की पर्याय है। किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि इन जीव-पुद्गल आदि द्रव्यों का परिणमन किसके निमित्त से होता है? यदि कहा जाय कि उत्पन्न होना, व्यय होना और ध्रुव रहना यह प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है तो इसके लिए अन्य निमित्त की क्या आवश्यकता? तो इसके लिए यह तर्क है कि इस तरह सर्वथा स्वभाव से ही प्रत्येक द्रव्य का परिणमन माना जाता है तो गति, स्थिति और अवगाह को भी स्वभाव से मान लेने में क्या आपत्ति है। इस अवस्था में मात्र जीव और पुद्गल दो द्रव्य शेष रहेंगीं, शेष का अभाव हो जायेगा।

द्रव्यों से एक तथ्य ध्यातव्य है कि छहों द्रव्य लोक में ठसाठस भरे हुए हैं, एक-दूसरे से मिले हुए हैं फिर भी वे अपना-अपना स्वरूप नहीं छोड़ते हैं। परन्तु यह जीवद्रव्य अन्य द्रव्यों के कारण से अपने स्वरूप को तो नहीं छोड़ता लेकिन उनके कारण विकृत अवश्य हो जाता है। हमें कभी भी अपने स्वरूप को न छोड़कर मात्र स्वभाव में लीन रहना चाहिए तभी हमारा कल्याण हो सकता है।

संदर्भ सूची:-

1. त.सू. 5/29	9. त.सू. 5/42	17. त.सू. 5/23
2. वही 5/30	10. स.सि. 5/38/231	18. त.वा. 5/1/24
3. आ. मी. 59-60	11. आ.प. सूत्र 15	19. पं.का. गा. 74
4. त. सू. 5/38	12. पं.का. गाथा 13	20. त.सू. 5/25
5. स.सि. 5/2/267	13. ध. 1/1,1,1/17	21. नियमसार गा.26
6. पं.का.गा.10, प्र.सा. 2/3-4	14. त.सू. 5/1, 39	22. पं.का. गा. 76
7. त.सू. 5/41	15. वही 2/8	23. त.सू. 5/19-20
8. न्या. टीका सूत्र 78	16. बृ.द्र.सं. गाथा 2-3	24. वही 5/22

-शोधार्थी

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं, (राजस्थान)

अनेकान्त 64/2, अप्रैल-जून 2011

1

Year-64, Volume-2
RNI No. 10591/62

April-June 2011
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

मुनिवर-स्तुति

धनि ते साधु रहत वनमांही

धनि ते साधु रहत वनमांही ॥ टेक॥
शत्रु-मित्र सुख दुख सम जानैं,
दरसन देखत पाप पलाहीं ॥ धनि..॥१॥
अट्ठाईस मूलगुण धारैं,
मन वच काय चपलता नाहीं।
ग्रीषम शैल शिखा हिम तटिनी,
पावस बरखा अधिक सहाहीं ॥ धनि..॥२॥
क्रोध मान छल लोभ न जानैं,
राग दोष नाहीं उन पाहीं।
अमल अखंडित चिद्गुण मंडित
ब्रह्मज्ञान में तीन रहाहीं ॥ धनि..॥३॥
तेई साधु लहैं केवल पद,
आठ काठ दह शिवपुरी जाहीं।
“द्यानत” भवि तिनके गुण गावैं,
पावैं शिव सुख दुःख नसाहीं ॥ धनि..॥४॥

– कविवर द्यानतराय जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
मुनिवर-स्तुति		3
विषयानुक्रमणिका		4
1. सर्वार्थसिद्धि का वृत्तिवैशिष्ट्य	- डॉ. जयकुमार जैन	5-18
2. जैनधर्म की समाजवादी अर्थव्यवस्था (आदिपुराण के परिप्रेक्ष्य में)	- डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन	19-29
3. जैन दार्शनिकों का अन्य दर्शनों को त्रिविध अवदान	- प्रो. सागरमल जैन	30-38
4. श्रावकाचार संग्रह में सामायिक, प्रतिक्रमण स्वरूप, विधि तथा महत्त्व	- डॉ. शीतल चन्द जैन	39-46
5. रत्नकरण्डक श्रावकाचार के परिप्रेक्ष्य में वैयावृत्य: दान भी, धर्म भी	- आलोक कुमार जैन	47-54
6. तत्त्वार्थवार्तिक में वर्णित श्रुतज्ञान और उसकी दार्शनिक मीमांसा	- डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	55-64
7. मानव धर्म की पृष्ठभूमि: एक अनुशीलन	- निर्मला जैन	65-69
8. प्राकृत भक्ति साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव: एक समीक्षा	- डॉ. आनन्द कुमार जैन	70-72
9. शोध सार, जैन ध्यान-योग का समीक्षात्मक अध्ययन (ज्ञानार्णव के परिप्रेक्ष्य में)	- डॉ. मुकेश कुमार जैन	73-81
10. जीवन और समाज का आधार : अनेकान्त	- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	82-87
11. जैन अपरिग्रह की अवधारणा सूत्रकृतांग के विशेष संदर्भ में	- डॉ. वन्दना मेहता	88-91
12. अकालमरण: आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में	- पुलक गोयल	92-96

सर्वार्थसिद्धि का वृत्तिवैशिष्ट्य

-डॉ. जयकुमार जैन

आचार्य पूज्यपाद द्वारा प्रणीत सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थसूत्र पर एक वृत्ति है। इस वृत्ति की महत्ता इसी से जानी जा सकती है कि इसके ऊपर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। सम्प्रति निम्नलिखित टीकायें उपलब्ध हैं:-

1. आचार्य भट्टाकलंकदेवकृत तत्त्वार्थराजवार्तिक
2. आचार्य प्रभाचन्द्रविरचित तत्त्वार्थवृत्ति
3. पण्डित जयचन्द्र छावड़ाकृत भाषावचनिका

वृत्ति का लक्षण

वृत्ति शब्द वृत् धातु से क्तिन् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है। इसका टीका एवं भाष्य के अर्थ में भी प्रयोग होता रहा है। कहीं- कहीं वृत्ति को विवृति या विवरण भी कहा गया है। जिसमें पदों का आश्रय लेकर पदसंघटना के औचित्य के साथ प्रत्येक पद का विवेचन किया जाता है, उसे वृत्ति कहते हैं।

टीका शब्द टीक् धातु से क् प्रत्यय एवं स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् करने पर निष्पन्न होता है। टीक् धातु भ्वादिगणी आत्मनेपदी है जिसका अर्थ गमन या अवगमन (ज्ञान) है। इसकी व्युत्पत्ति टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया की गई है। भाष्य शब्द भाष् धातु से ण्यत् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है। सूत्रों की ऐसी टीका या वृत्ति को भाष्य कहा जाता है, जिसमें शब्दशः व्याख्या एवं टिप्पण होते हैं। कहा भी गया है-

‘सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

कहीं वृत्ति एवं टीका पर भाष्य लिखे गये हैं तो कभी भाष्य पर टीकायें भी लिखी गई हैं। पातञ्जल महाभाष्य पर कैयट की टीका और उस पर नागोजि भट्ट की टिप्पणी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्या को कभी वृत्ति, कभी विवृति, कभी टीका, कभी भाष्य, कभी विवरण, कभी पञ्जिका तो कभी पञ्चिका कहा है। शब्दगत/ अर्थगत भिन्नता होने पर भी व्यावहारिक भिन्नता दृष्टिगत नहीं होती है। इसी कारण कसायपाहुड में वृत्तिसूत्र के विशद व्याख्यान को टीका कहा गया है-

‘वित्तिसुत्तविवरणा टीकाववसादो।’ (कसायपाहुड २/१/२२)

भाषात्मक वृत्तिवैशिष्ट्य

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में प्रत्येक अध्याय के अन्त में पुष्पिका दी है।

इस समाप्तिसूचक पुष्पिका में 'इति तत्त्वार्थवृत्तौ सर्वार्थसिद्धिसंज्ञायां प्रथमोऽध्यायः' कहकर इसे वृत्तिग्रन्थ स्वीकार किया है। **सर्वार्थसिद्धि में प्रायः सूत्र के प्रत्येक पद का व्याख्यान किया गया है। अतः इसकी वृत्तिता सुस्पष्ट है।** सर्वार्थसिद्धि के भाषात्मक वृत्तिवैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं को आधार बनाकर देखा जा सकता है-

१. सुगम पदविन्यास-

यद्यपि सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति है, अतः सैद्धान्तिक प्रतिपादन के कारण सरल पदों का विन्यास सरल नहीं है, तथापि पूज्यपादाचार्य ने टीका ग्रंथ होने पर भी मौलिकता की अक्षुण्णता हेतु सुगम पदों को प्रयुक्त किया है। उत्थानिका में ही किसी निकटभव्य ने एक आश्रम में मुनिपरिषद् के मध्य में स्थित एक निर्ग्रन्थाचार्य से जब सविनय पूछा तब उनके पदों का विन्यास सहज ही श्रोता या पाठक के मन को आकर्षित करने में समर्थ है।

यथा- भगवन्! किं नु खलु आत्मने हितं स्यादिति। स आह- मोक्ष इति।

स एव पुनः प्रत्याह- किं स्वरूपोऽसौ मोक्षः, कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति।

इसी प्रकार 'रूपिणः पुद्गलाः' (तत्त्वार्थसूत्र 5.5) की वृत्ति भी द्रष्टव्य है-

रूपं मूर्तिरित्यर्थः। का मूर्तिः ? रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः। रूपमेषामस्तीति रूपिणः। मूर्तिमन्त इत्यर्थः।...

२. बह्वर्थप्रतिपादन-

सर्वार्थसिद्धि वृत्ति के अवलोकन से सुस्पष्ट होता है कि इसमें पूज्यपादाचार्य ने अल्प शब्दों के प्रयोग द्वारा बहु अर्थ को प्रकट कर दिया है। इस प्रसंग में 'जीवाजीवास्रवबन्ध संवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्' (तत्त्वार्थसूत्र 1.4) की वृत्ति द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने अति संक्षेप में सातों तत्त्वों की ऐसी परिभाषायें प्रस्तुत कर दी हैं, जिन्हें 'गागर में सागर' कहा जा सकता है। यथा-

तत्र चेतनालक्षणो जीवः।.... तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः। शुभाशुभकर्मागमद्वाररूप आस्रवः। आत्मकर्मणोरन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः। आस्रवनिरोधलक्षणः संवरः। एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा। कृत्स्नकर्मविप्रयोगलक्षणो मोक्षः।

इसी प्रकार 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' (तत्त्वार्थसूत्र 5.38) की वृत्ति भी द्रष्टव्य है-

'गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययास्तेऽस्य सन्तीति गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।....के गुणाः? के च पर्यायाः ? अन्वयिनो गुणा व्यतिरेकिणो पर्यायाः। ऐसे ही अनेक वाक्यों को आधार बनाकर श्री अकलंकदेव ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में विस्तारपूर्वक भाष्य किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने तत्त्वार्थवृत्ति का प्रणयन किया है तथा पं. जयचन्द्र छावड़ा ने भाषावचनिका लिखी है।

३. महत्त्वपूर्ण निर्वचन-

सर्वार्थसिद्धि में श्री पूज्यपादाचार्य ने जो निर्वचन किये हैं, वे सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त शब्दों के हार्द को प्रकट करने में पूर्णतया समर्थ तो हैं ही, श्री पूज्यपादाचार्य के अप्रतिम

भाषाज्ञान को प्रकट करते हैं। यथा-

दर्शनम्- स्वयं पश्यति, दृश्यतेऽनेनेति दृष्टिमात्रं वा। (१.१)

ज्ञानम् - जानाति, ज्ञायतेऽनेन ज्ञप्तिमात्रं वा। (१.१)

चारित्र्यम् - चरति, चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा। (१.१)

पापम् - पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति। (६.३)

पुण्यम् - पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा। (६.३)

आत्मा - अक्ष्णोति व्याप्नोति जानात्यक्ष आत्मा। तमेव प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्। (१. १)

मतिः - इन्द्रियैर्मनसा च यथासमर्थो मन्यतेऽनया मनुते मननमात्रं वा मतिः। (१.१)

इसी प्रकार पूज्यपादाचार्य ने सैकड़ों पारिभाषिक शब्दों के क्रिया को आधार बनाकर जो निर्वचन किये हैं, वे पश्चाद्वर्ती आचार्यों को मार्गनिर्देशक बने हैं। इसी को आधार बनाकर उन्होंने अपनी टीकायें लिखी हैं।

४. निर्दोष लक्षण-

श्री पूज्यपादाचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति करते समय जिनके लक्षणों का कथन किया है, वे लक्षण सर्वथा अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोषों से शून्य हैं। यथा-

प्रमादः- कुशलेष्वनादरः। (८.१)

प्रमादः- सकषायत्वम्। (७.१३)

योगः- वाङ्मनःकायवर्णानिमित्त आत्मप्रदेशपरिष्यन्दः। (२.२६)

प्रकृतिः- स्वभावः। निम्बस्य का प्रकृतिः? तिक्तता। गुडस्य का प्रकृतिः।

मधुरता। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः? अर्थानवगमः।.... (8.3)

स्थितिः- कालपरिच्छेदः। (१.७)

उपशमः-आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुभूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि पंकस्य उपशमः। (2.1)

क्षयः- आत्यन्तिकी निवृत्तिः। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनान्तसंक्रान्ते पंकस्यात्यन्ताभावः। (2.1)

‘प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्’ अत्यन्त प्रसिद्ध है।

अनेक लक्षण तो ऐसे हैं, जिन्हें भट्ट अकलंकदेव और आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने यथावत् सर्वार्थसिद्धि से ग्रहण कर लिया है। कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं।

सर्वार्थसिद्धि

तत्त्वार्थराजवार्तिक

(तत्त्वार्थसूत्र 1.15 की वृत्ति)

विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तर-

यथावत् ग्रहण

माद्यग्रहणमवग्रहः।

अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा।

यथावत् ग्रहण

विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः

यथावत् ग्रहण

इस प्रकार शब्दसाम्य के साथ-साथ अनेक स्थलों पर भावसाम्य भी दिखलाई

पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता जैसे भट्ट अकलंकदेव ने सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या करने के लिए ही तत्त्वार्थराजवार्तिक की रचना की हो।

भट्ट अकलंकदेव के ही समान आचार्य विद्यानन्दि ने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि के अनेक वाक्यों को ग्रहण किया है। यथा-

सर्वार्थसिद्धि

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

(तत्त्वार्थसूत्र 9.6 की वृत्ति)

जात्यादिमदावेशाभिमानाभावो मार्दवम्।

यथावत्

योगस्यावक्रतार्जवम्

यथावत्

प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्।

प्रकर्षप्राप्तलोभान्निवृत्तिः शौचम्।

इसी प्रकार अनेक स्थलों पर आचार्य विद्यानन्दि ने सर्वार्थसिद्धि से शब्दों का अनुहरण किया है। भावसाम्य तो पदे-पदे देखा जा सकता है।

५. व्याकरणविचक्षणता-

पूज्यपादाचार्य एक दार्शनिक के साथ श्रेष्ठ वैयाकरण भी हैं। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों के आधार पर जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपादाचार्य माने जाते हैं। आचार्य गुणनन्दि ने जैनेन्द्र प्रक्रिया में मंगलाचरण में पूज्यपादाचार्य को नमस्कार करते हुए उनके लक्षण ग्रंथ का उल्लेख किया है-

‘नमः श्रीपूज्यपादाय लक्षणं यदुपक्रमम्।

यदेवात्र तदन्यत्र यन्नात्रास्ति न तत्त्वचित्॥’

(जिन्होंने लक्षण शास्त्र की रचना की है, मैं उन आचार्य पूज्यपाद को प्रणाम करता हूँ। उनके लक्षण शास्त्र में जो है, वह अन्यत्र भी है और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है।)

आचार्य पूज्यपाद ने स्वरचित जैनेन्द्र व्याकरण के अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरण के सूत्र का भी उल्लेख किया है। उन्होंने ‘सौधमैशान....आदि (4.19) की वृत्ति में ‘तदस्मिन्नस्तीत्यण्’ तथा ‘तस्य निवासः’ सूत्रों का उल्लेख किया है। इनमें प्रथम का रूप पाणिनीय अष्टाध्यायी में ‘तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि (4.2.67) तथा जैनेन्द्र व्याकरण में ‘तदस्मिन्नस्तीति देशः खौ’ (4.1.14) है। अतः यह कहना कठिन है कि उन्होंने प्रथम सूत्र किससे लिया है। किन्तु दूसरा सूत्र ‘तस्य निवासः’ (4.2.69) तो अष्टाध्यायी का ही है। क्योंकि जैनेन्द्र व्याकरण में तो ‘तस्य निवासदूरभवौ’ (5.1) की वृत्ति में उल्लिखित सूत्र ‘विशेषणं विशेष्येण’ जैनेन्द्र व्याकरण का ही है, क्योंकि अष्टाध्यायी में यह ‘विशेषणं विशेष्येण बहुलम्’ है।

सर्वार्थसिद्धि में व्याकरण की प्रयोगकुशलता को देखकर उनके वैयाकरणत्व की स्वतः सिद्धि हो जाती है।

व्याकरण महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि आचार्य पूज्यपाद से पूर्ववर्ती हैं या पश्चाद्वर्ती-यह कहना अन्तःप्रमाणों के अभाव में असंदिग्ध रूप से संभव नहीं है। किन्तु दोनों में अत्यन्त साम्य देखकर एक ने दूसरे का अनुहरण किया है-यह सुस्पष्ट है कतिपय

स्थलों को तुलनात्मक रूप से देखा जा सकता है-

सर्वार्थसिद्धि

व्याकरणमहाभाष्य

1. अनन्तस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा। (स.1.3, 1.14) (महा. पृ. 335)
2. बहुरोदनो बहुः सूप इति। (स.1.16) (महा. पृ. 21)
3. कारीषोरग्निरध्यापयति। (स.5.22), महा.3.1.2)
4. तद्यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते। एकीभूतमिति गम्यते। (स.7.2)(महा. 2.1.1)
5. कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं च वक्तव्यधीनम्। (स.9.2)(महा. प्र. 1.8)
6. अनुदरा कन्येति। (स.1.14) (महा. पृ. 42)
7. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। (स.1.33), (महा.2.1.1)
8. अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति। (स.1.19), (महा.1.2.2. पृ. 59)
9. अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमि। (स.1.19) (महा.1.2.2)
10. द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्। (महा.प्र. 4.22)
11. तद्भावस्तत्त्वम् (महा. पृ.59), तस्य भावस्तत्त्वम् (स.1.2)
12. अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः (स.) (महा.2.2.2)

उक्त समान उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि पातञ्जल महाभाष्य और सर्वार्थसिद्धि में पर्याप्त शब्द साम्य है। किञ्चित् भिन्नता एवं किञ्चित् समानता वाले शब्दसाम्य के सैकड़ों उदाहरण देखे जा सकते हैं। यदि पतंजलि पूर्ववर्ती हैं तो पूज्यपादाचार्य पर अन्यथा पूज्यपादाचार्य का पतंजलि पर पर्याप्त प्रभाव कहा जा सकता है दोनों ही स्थितियों में पूज्यपादाचार्य की व्याकरणनदीष्णता तो सिद्ध है ही। सोमदेव ने शब्दार्णवचन्द्रिका में 'अनुपूज्यपादं वैयाकरणाः' कहकर उनके व्याकरण-नैपुण्य की प्रशंसा की है।

६. शंका निवारण-

सूत्र की संरचना का कार्य अतीव कठिन होता है। इस कारण सूत्र में कभी-कभी पारम्परिक आगम से विरोध प्रतीत होने लगता है। ऐसे स्थलों पर सर्वार्थसिद्धिकार प्रत्येक पद का सांगोपांग व्याख्यान करते हुए बड़ी कुशलता से शंका का निवारण कर देते हैं। इस संदर्भ में कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं-

'सौधर्मैशान.....नवसु ग्रैवेयकेषु.....' (4.19) सूत्र में 'नवग्रैवेयकेषु' न कहकर दोनों पदों को पृथक्-पृथक् कहने की संगति वे 'नवसु' पद से नौ अनुदिशों का ग्रहण करके अपनी कुशलता का परिचय देते हैं। अन्यथा सूत्र में नौ अनुदिशों का उल्लेख न होना प्रत्येक आगमाभ्यासी के लिए शंका उत्पन्न कर सकता था।

इसी प्रकार 'पीतमद्वाशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु' (4.22) की व्याख्या करते समय शंका उत्पन्न हो जाती है क्योंकि आगम में द्वितीय कल्प तक पीत लेश्या, बारहवें तक पद्मलेश्या तथा आगे शुक्ल लेश्या मानी गई है। सूत्र की शब्दावली से ऐसी संगति बैठाना कठिन है। तब वे संगति बैठाते हुए स्पष्ट कर देते हैं-

सौधर्म, ऐशान	-	पीत लेश्या
सानत्कुमार, माहेन्द्र	-	पीत, पद्म लेश्या

ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ	-	पद्म लेश्या
शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार	-	पद्म, शुक्ल लेश्या
आनतादि	-	शुक्ल लेश्या
अनुदिश एवं अनुत्तर	-	परम शुक्ल लेश्या

यहाँ आगम की रक्षा के साथ सूत्र की जो संगति बैठाई गई है, वह उन सभी के लिए अनुकरणीय है, जो जरा-जरा सी बात पर आचार्यों की कमियाँ निकालने में बुद्धि का व्यायाम करते हैं।

७. तर्कविदग्धता-

पूज्यपादाचार्य की तर्कविदग्धता आगम की परिरक्षा के लिए सुरक्षित है। जब उनसे पूछा गया कि मिश्र लेश्यायें तो कही नहीं गई हैं, तब उनको कैसे ग्रहण किया है? तो वे तुरन्त कहते हैं-

-साहचर्यात् लोकवत्। छत्रिणो गच्छन्ति इति अच्छत्रिषु छत्रव्यवहारः। (४.२२)

अर्थात् साहचर्यवश मिश्र लेश्याओं का ग्रहण होता है। जैसे लोक छत्री (छाते वाले) जाते हैं ऐसा करने पर अच्छत्रियों में भी छत्रियों का व्यवहार होता है। ऐसी तर्क-विदग्धता वास्तव में क्वचित् कदाचित् ही प्राप्त होती है।

८. लिंगभेद एवं वचनभेद का स्पष्टीकरण-

सर्वार्थसिद्धि वृत्ति का यह वैशिष्ट्य है कि यदि किसी सूत्र में लिंगभेद और वचनभेद है तो उसका स्पष्टीकरण किया गया है। इस संदर्भ में निम्नलिखित सूत्रों की वृत्ति द्रष्टव्य है-

सूत्र- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। (1.1)

वृत्ति- 'मार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तस्य मार्गभवापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः। (सर्वार्थसिद्धि, 1.1)

सूत्र- 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरानिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।' (1.2)

वृत्ति- 'विशेषणविशेष्यसम्बन्धे सत्यपि शब्दशक्तिव्यपेक्षया उपात्तलिंगसंख्याव्यतिक्रमो न भवति।' (सर्वार्थसिद्धि, 1.2)

यहाँ लिंग एवं वचन के व्यतिक्रम की युक्तियुक्तता स्पष्ट करते हुए यह भी कहा गया है कि 'अयं क्रमः आदिसूत्रेऽपि योज्यः।' (सर्वार्थसिद्धि, 1.2) अर्थात् यह क्रम प्रथम सूत्र में भी लगा लेना चाहिए। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी स्पष्टीकरण किया गया है।

९. 'च' का एकाधिक प्रयोग के प्रयोजन का स्पष्टीकरण-

यदि किसी सूत्र में एक से अधिक बार च शब्द का प्रयोग किया गया है तो पूज्यपादाचार्य ने उसका स्पष्टीकरण अवश्य किया है। यथा-'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च।' (तत्त्वार्थसूत्र 2.1) इस सूत्र की वृत्ति में पूज्यपादाचार्य दो 'च' के प्रयोग का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि 'नैवं शङ्क्यम्। अन्यगुणापेक्षया इति प्रतीयते। वाक्ये पुनः एति 'च' शब्देन प्रकृतोभयानुकर्षः कृतो भवति।

तर्हि क्षायोपशमिकग्रहणमेव कर्तव्यमिति चेत्? न गौरवात्।' (सर्वार्थसिद्धि 2.1)

अर्थात् ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि सूत्र में 'च' शब्द न रखकर द्वन्द्व समास करते तो मिश्र की प्रतीति अन्य गुण की अपेक्षा होती। किन्तु वाक्य में 'च' शब्द के रहने पर प्रकरण में आये हुए औपशमिक और क्षायिक भाव का अनुकर्षण हो जाता है। शंका- तो फिर सूत्र में क्षायोपशमिक पद का ही ग्रहण करना चाहिए था? समाधान- नहीं, क्योंकि क्षायोपशमिक पद के ग्रहण करने में गौरव दोष हो जाता।

१०. 'तु' शब्द के प्रयोग के औचित्य का कथन-

सर्वार्थसिद्धि की भाषा की यह विशेषता है कि यदि किसी सूत्र में 'तु' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है तो उसकी उपयोगिता पर अवश्य प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ-

'त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु।' (तत्त्वार्थसूत्र ४.३१)

इस सूत्र के अन्त में प्रयुक्त 'तु' शब्द की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए पूज्यपादाचार्य लिखते हैं-

'तु' शब्द विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि? 'अधिक' शब्दोऽनुवर्तमानश्चतुर्भिरभिसंबध्यते, नोत्तराभ्यामित्ययमर्थो विशिष्यते।' (सर्वार्थसिद्धि 4.31)

अर्थात् सूत्र में तु शब्द विशेषता को दिखलाने के लिए आया है। शंका- इससे क्या विशेषता मालूम पड़ती है? समाधान- इससे यहाँ यह विशेषता मालूम पड़ती है कि अधिक शब्द की अनुवृत्ति होकर उसका संबन्ध त्रि आदि चार शब्दों से होता है, अन्त के दो स्थितिकल्पों से नहीं। इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति निम्नलिखित है।

ब्रह्म एवं ब्रह्मोत्तर	:	साधिक दस सागरोपम (7+3)।
लान्तव एवं कापिष्ठ	:	साधिक चौदह सागरोपम (7+7)।
शुक्र एवं महाशुक्र	:	साधिक सोलह सागरोपम (9+7)।
शतार एवं सहस्रार	:	साधिक अठारह सागरोपम (11+7)।
आनत एवं प्राणत	:	बीस सागरोपम (13+7)।
आरण एवं अच्युत	:	बाईस सागरोपम (15+7 पूर्वसूत्र)।

इस प्रकार 'तु' के प्रयोग की उपयोगिता का स्पष्टीकरण किया गया है।

दार्शनिक वृत्तिवैशिष्ट्य-

तत्त्वार्थसूत्र जैन सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रंथ है। इस पर लिखित टीकाओं में 'सर्वार्थसिद्धि' संज्ञक वृत्ति दिगम्बर परंपरा में सबसे प्राचीन मानी जाती है। इसमें तत्त्वमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा इन जैन धर्म-दर्शन के तीनों पक्षों का सांगोपांग विवेचन हुआ है। वृत्तिकार ने स्वयं इसकी प्रशंसा करते हुए ग्रन्थान्त में कहा है-

स्वर्गापवर्गसुखमाप्तुमनोभिरार्यैः जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता।

सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥

(सर्वार्थसिद्धि, प्रशस्तिपद्य, १)

अर्थात् स्वर्ग एवं मोक्ष के इच्छुक आर्यजन जिनेन्द्र भगवान् के शासन रूपी श्रेष्ठ अमृत में सारभूत, लोगों के द्वारा रखे गये सर्वार्थसिद्धि नाम से प्रख्यात इस तत्त्वार्थवृत्ति को सतत हृदय से धारण करें।

भारतीय परम्परा में अनेक दर्शनों ने जन्म लिया है, किन्तु चार्वाक को छोड़कर सभी का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है।

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद ने यद्यपि अपनी तत्त्वार्थवृत्ति में परमतरखण्डन को महत्ता न देकर स्वसिद्धान्तप्रतिपादन में रुचि रखी है, तथापि प्रसंगवश अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों की भी समीक्षा की है।

१. बौद्धदर्शन समीक्षा- सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका में मोक्ष एवं उसकी प्राप्ति के उपाय के प्रसंग में पूज्यपादाचार्य ने 'प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्' (जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार आत्मा की संतान का विच्छेद होना मोक्ष है) कहकर मोक्ष के संदर्भ में बौद्धों के दृष्टिकोण को रखा है। महाकवि अश्वघोष कहते हैं-

‘दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।

दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्।

(सौन्दरनन्द, 16/28)

अर्थात् जैसे निर्वाण को प्राप्त दीपक न पृथिवी पर रहता है, न आकाश में जाता है, न किसी दिशा या विदिशा में, अपितु तेल के समाप्त हो जाने से बुझ जाता है (शान्ति को प्राप्त कर लेता है)। इसी अभिप्राय को पूज्यपादाचार्य ने अभिव्यक्त करते हुए बौद्धों के मोक्षविषयक इस विचार का 'खरविषाणकल्पना' (गंधे के सींगों की कल्पना) कहकर निरसन किया है।

बौद्धदर्शन में सोपाधिशेष और निरुपाधिशेष द्विविध निर्वाण स्वीकृत है। प्रथम में अविद्या, तृष्णा आदि आस्रवों का विनाश होता है, जबकि द्वितीय में चित्तसन्तति भी नष्ट हो जाती है। दीपनिर्वाण की तरह द्वितीय निर्वाण है। प्रकृत में इसी निरुपाधिशेष निर्वाण की समीक्षा की गई है।

जैन परंपरा में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणों के संदर्भ में अक्ष का अर्थ आत्मा किया गया है; जबकि बौद्ध अक्ष का अर्थ इन्द्रिय करके इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। पूज्यपादाचार्य का कहना है कि बौद्धों द्वारा ऐसा मानने पर सर्वज्ञत्व के अभाव तथा सब पदार्थों को क्षणिक मानने की प्रतिज्ञाहानि का दोष उपस्थित हो जाता है। अतः उनका प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण ठीक नहीं है। 'किञ्च सर्वज्ञत्वाभावः प्रतिज्ञाहानिर्वा' (सर्वार्थसिद्धि, 1.12) कहकर बौद्धों का खण्डन किया गया है।

आचार्य पूज्यपाद का कहना है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं शेष को परोक्ष माना जायेगा तो योगियों के ज्ञान में प्रत्यक्षता नहीं बन पायेगी क्योंकि वह इन्द्रियनिमित्तक नहीं है, जबकि बौद्धदर्शन योगिज्ञान को प्रत्यक्ष स्वीकार करता है। वे कहते हैं- 'योगिप्रत्यक्षमन्यज्ज्ञानं दिव्यमप्यस्तीति चेत्। न तस्य प्रत्यक्षत्वम् इन्द्रियनिमित्तत्वाभावात्। अक्षमक्षं प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्।' (सर्वार्थसिद्धि, 1.2) यतः सर्वज्ञता

प्रत्यक्ष ज्ञान पूर्वक होती है और सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, अतः इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानना ठीक नहीं है।

२. सांख्य दर्शन समीक्षा-

सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका में सर्वप्रथम सांख्य दर्शन की समीक्षा की गई है। सांख्य दार्शनिक दुःखत्रय-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक से ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं, जो जैन दार्शनिकों के मन्तव्य के अत्यन्त निकट है। वे आत्मा को चैतन्य स्वरूप भी मानते हैं, किन्तु उसमें ज्ञान नहीं मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान/बुद्धि जड़ प्रकृति का विकार है। पुरुष या चैतन्य स्वरूप आत्मा प्रकृति के ज्ञान के संसर्ग से अपने को ज्ञानी मानने लगता है। 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्, तच्च ज्ञेयाकार परिच्छेदपराङ्मुखम्' (पुरुष का स्वरूप चैतन्य है, जो ज्ञेय पदार्थ के ज्ञान से रहित है) कहकर सांख्यमत का उल्लेख किया गया है। पूज्यपादाचार्य का कहना है कि ऐसा चैतन्य तो सत् स्वरूप होकर भी वस्तुतः असत् ही है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसका कोई आकार (स्वरूप) ही प्राप्त नहीं होता है। वे सांख्यों का निराकरण करते हुए कहते हैं कि- 'तत्सदप्यसदेव निराकारत्वादिति।' (सर्वार्थसिद्धि, उत्थानिका पृ.2)

पूज्यपादाचार्य ने सांख्य दार्शनिकों के मोक्ष तत्त्व की आलोचना न करके पुरुष तत्त्व की आलोचना की है, उसका यही प्रयोजन जान पड़ता है कि सांख्य स्वयं अन्ततः पुरुष की मुक्ति न मानकर वस्तुतः प्रकृति की ही मुक्ति मानते हैं। ईश्वरकृष्ण तो स्पष्टतया घोषित करते हैं-

‘तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते न संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥

(सांख्यकारिका, 62)

अर्थात् तात्त्विक रूप से कोई भी पुरुष न तो संसरण-जन्ममृत्यु को पाता है, न बन्धन में पड़ता है और न मुक्त होता है। यह प्रकृति ही विभिन्न प्रकार के आश्रयों को अपनाती हुई संसरण को प्राप्त होती है, बन्धन को प्राप्त होती है तथा मुक्त (क्लेश, कर्म एवं आशयों के तिरोभाव) हो जाती है।

सांख्य दार्शनिकों के अनुसार पुरुष (आत्मा) से प्रकृति (जड़) का अलगाव ही मोक्ष है।

३. योग दर्शन समीक्षा-

योग दार्शनिक सांख्यसम्मत 25 तत्त्वों के अतिरिक्त ईश्वर को भी स्वीकार कर 26 तत्त्व मानते हैं। एतावता योग में और सांख्य में विषय समान हैं किन्तु मुक्तिमार्ग के साधन भिन्न-भिन्न हैं। योग धर्म को मुक्ति का साधन मानता है तो सांख्य तत्त्वज्ञान को। योग दर्शन सांख्य का प्रायोगिक दर्शन कहा जा सकता है।

यद्यपि पूज्यपादाचार्य ने योग दर्शन की सीधी समीक्षा नहीं की है, किन्तु ज्ञान के बिना आचरण मात्र से मुक्ति की अवधारणा का खण्डन 'सम्यक्' पद की विवेचना करते हुए प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' (तत्त्वार्थसूत्र, 1.1) की वृत्ति में किया

गया है। वे लिखते हैं- ‘अज्ञानपूर्वकाचरणनिवृत्त्यर्थं सम्यग्विशेषणम्।’ (सर्वार्थसिद्धि, 1.1) अर्थात् चारित्र के पहले सम्यक् विशेषण अज्ञानपूर्वक आचरण के निराकरण करने के लिए दिया है।

‘तत्प्रमाणे’ (तत्त्वार्थसूत्र 1.10) की उत्थानिका में ‘केषाञ्चिदिन्द्रियमिति’ कहकर योगदार्शनिकों के द्वारा इन्द्रिय को प्रमाण मानने की अवधारणा का निराकरण करने के लिए ‘तत्’ शब्द समाविष्ट किये जाने की बात पूज्यपादाचार्य ने कही है। क्योंकि मति आदि ज्ञान ही प्रमाण हैं।

४. न्याय दर्शन समीक्षा-

आचार्य उमास्वामी ने पाँच ज्ञानों का कथन करने के पश्चात् उन्हें दो प्रमाण रूप कहा है-

‘मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।’ (तत्त्वार्थसूत्र, 1.9-10)

‘तत्प्रमाणे’ सूत्र की उत्थानिका में पूज्यपादाचार्य ने ‘केषाञ्चित् सन्निकर्षः केषाञ्चिदिन्द्रियमिति’ कहकर नैयायिकों के मत का उल्लेख किया है। न्यायभाष्य में वात्स्यायन ने सन्निकर्ष को, तो न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने इन्द्रिय को तथा केशवमिश्र ने तर्कभाषा में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। पूज्यपादाचार्य की दृष्टि में सन्निकर्ष एवं इन्द्रिय प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि चक्षु अप्राप्यकारी इन्द्रिय है।

तर्कभाषा में, ‘गुणाश्रयो द्रव्यम्’ (तर्क. पृ.37) को द्रव्य का लक्षण करते हुए गुणों के समवायिकारणत्व को द्रव्य कहा गया है। अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से गुणों को धारण करने की योग्यता हो वह द्रव्य है। ‘द्रव्याणि’ (तत्त्वार्थसूत्र 5.2) की वृत्ति में ‘द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यमिति चेत्? न, उभयासिद्धेः’ कहकर पूज्यपादाचार्य ने नैयायिक सम्मत द्रव्य के लक्षण का निरसन किया है। क्योंकि दण्ड-दण्डी के योग की तरह द्रव्य और द्रव्यत्व पृथक्-पृथक् नहीं है। गुण तो द्रव्य में पूर्व से ही विद्यमान होता है। अतः ‘द्रव्यत्वयोगाद् द्रव्यम्’ यह द्रव्य का लक्षण नहीं बन सकता है। इस बात का नैयायिकों के पास कोई उत्तर नहीं है कि जब पहले द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होता है तो उसमें समवाय सम्बन्ध से गुण कैसे उत्पन्न हो सकते हैं?

श्रुतज्ञान के संदर्भ में पूज्यपादाचार्य ने अपौरुषेय को प्रामाण्य कहने का खण्डन करते हुए कहा है- ‘न चापौरुषेयत्वं प्रामाण्यकारणं चौर्याद्युपदेशस्यास्मर्यमाणकर्तृकस्य प्रामाण्यप्रसंगात्’ (सर्वार्थसिद्धि १.२०) अर्थात् अपौरुषेयता प्रमाणता का कारण नहीं है। यदि अपौरुषेयता को प्रमाणता का कारण माना जाय तो जिसके कर्ता का स्मरण नहीं होता है ऐसे चोर आदि के उपदेश भी प्रमाण हो जायेंगे।

५. वैशेषिक दर्शन समीक्षा-

न्याय दर्शन के अतिरिक्त एक विशेष (भेदक तत्त्व) नामक पदार्थ स्वीकार करने के कारण यह वैशेषिक दर्शन कहलाता है। वैशेषिकसूत्र के प्रणेता कणाद ऋषि माने जाते हैं। पूज्यपादाचार्य ने सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका में वैशेषिक मान्य मोक्षस्वरूप का उल्लेख करके उसका खण्डन किया है। वे लिखते हैं-

‘बुद्ध्यादिवैशेषिकगुणोच्छेदः पुरुषस्य मोक्ष इति। तदपि परिकल्पनमसदेव। विशेषलक्षणशून्यस्यावस्तुत्वात्।’ (सर्वार्थसिद्धि पृ.२)

अर्थात् बुद्धि आदि विशेष गुणों का नाश हो जाना ही आत्मा का मोक्ष है। यह कल्पना भी असमीचीन है, क्योंकि विशेष लक्षण से रहित वस्तु नहीं हो सकती है।

वैशेषिक दार्शनिक यद्यपि आत्मा में ज्ञानादि गुणों को स्वीकार करते हैं, तथापि वे ‘नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्षः (प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका, पृ.638) कहकर आत्मा से उनके उच्छेद हो जाने को उसकी मुक्ति मानते हैं। पूज्यपादाचार्य का कहना है कि जब आत्मा में किसी प्रकार का विशेष गुण नहीं रहेगा तो वह वस्तु ही नहीं रह सकेगी। इसी कारण इनकी मान्यता को असत् कहा गया है।

‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’ (तत्त्वार्थसूत्र 1.2) की वृत्ति में केवल तत्त्वश्रद्धान कहने से वैशेषिकों द्वारा तत्त्व पद से मान्य सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा जाता, जबकि यह युक्तियुक्त नहीं होता। अतः तत्त्वार्थपद रखा गया है ताकि तत्त्व पद से वैशेषिक मान्य तत्त्व ग्रहण न हो जाये।

६. मीमांसादर्शन समीक्षा-

सर्वार्थसिद्धि में मीमांसकों की सीधी समीक्षा का कोई प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ है। मीमांसकों के अनुसार वेद ही भूत, भविष्यत्, वर्तमान, दूरवर्ती, सूक्ष्म आदि अर्थों का ज्ञान कराने में समर्थ हैं। अतः उनके अनुसार इन्द्रियजन्य एवं मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया है। पूज्यपादाचार्य के अनुसार उनका ऐसा मानना समीचीन नहीं है। क्योंकि कोई भी आगम प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना नहीं बन सकता है। मीमांसकमान्य योगिप्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में कहा गया है-

‘अस्य योगिनो यज्ज्ञानं तत्प्रत्यर्थवशवर्ति वा स्याद् अनेकार्थग्राहि वा। यदि प्रत्यर्थवशवर्ति सर्वज्ञत्वं नास्ति योगिनः, ज्ञेयस्यानन्त्यात्।’

अर्थात् इस योगी के जो ज्ञान होता है, वह प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है या अनेक अर्थों को युगपत् जानता है। यदि प्रत्येक पदार्थ को क्रम से जानता है तो इस योगी के सर्वज्ञता का अभाव होता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं।

७. वेदान्तदर्शन समीक्षा-

वेदान्त दर्शन में नाना तत्त्वों को न मानकर एक ब्रह्म तत्त्व ही माना गया है। जगत्, जीव, ईश्वर सब ब्रह्म के ही विकार हैं। वे ‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः’ कहकर मात्र ब्रह्म की ही यथार्थ सत्ता मानते हैं। ‘तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्’ (तत्त्वार्थसूत्र, 1.2) की वृत्ति में आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्व और अर्थ दोनों के एकत्र उल्लेख का औचित्य सिद्ध करते हुए वेदान्तियों की एक तत्त्व मानने की मान्यता का खण्डन किया है। वे लिखते हैं-

‘पुरुष एवेदं सर्वम् इत्यादि कैश्चित्कल्प्यत इति। एवं सति दृष्टेष्टविरोधः तस्मादव्यभिचारार्थमुभयोरुपादानम्।’ (सर्वार्थसिद्धि, १.२)

अर्थात् यह सब (दृश्य एवं अदृश्य जगत्) पुरुषस्वरूप ही है। जिन्होंने ऐसी

कल्पना की है, उनके ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरोध आता है। अतः ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरोध आता है। अतः इस दोष को दूर करने के लिए तत्त्व एवं अर्थ दोनों पदों का ग्रहण किया गया है।

इस कथन से परब्रह्मवादी अद्वैत वैदान्तियों की मान्यता का खण्डन किया गया है।

पूज्यपादाचार्य ने अपनी सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति में विविध दार्शनिकों की निरपेक्ष नयात्मक भ्रान्तियों का निरसन करके सापेक्ष नयों के आश्रय से जैनदर्शन मान्य सिद्धान्तों की सुष्ठु विवेचना की है।

सैद्धान्तिक वृत्तिवैशिष्ट्य-

सर्वार्थसिद्धि में जैन सिद्धान्तों का अत्यन्त सुबोध शैली में विवेचन किया गया है। यहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से उन बातों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, जिन पर प्रायः एकान्तवाद की छाया मंडराती रहती है।

१. अकालमृत्यु- कुछ एकान्तवादी अकाल का अर्थ कालभिन्न कारण करके मनमाना अर्थ करते हैं। पूज्यपाद स्वामी का निम्नलिखित कथन स्पष्ट करता है कि अकालमरण का अर्थ 'अकाले मरणम्' अर्थात् असमय में मरण ही है। यथा-

‘एवं छेदनभेदनादिभिः शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले भवति। कुतः? अनपवर्त्यायुष्कत्वात्। (सर्वार्थसिद्धि, 3.5)

अर्थात् उन नारकियों का शरीर छेदन, भेदन आदि के द्वारा खण्ड-खण्ड हो जाता है, तब भी उनका अकाल में मरण नहीं होता, क्योंकि उनकी आयु घटती नहीं है।

पूज्यपादाचार्य के इस कथन से स्पष्ट है कि जो अनपवर्त्यायुष्क नहीं हैं, उनका अकाल में मरण होता है। अकाल का अर्थ समय के पूर्व ही है। यदि कालभिन्न कारण से मरण अभिप्रेत होता तो पूज्यपादाचार्य 'अकालेन मरणम्' प्रयोग करते, न कि अकाले मरणम्।

२. निश्चय और व्यवहार नय- आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने प्रमाण और नय का अन्तर स्पष्ट करते हुए तथा चोक्तम् कहकर लिखा है-‘सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः’ (सर्वार्थसिद्धि 1.6) अर्थात् सकलादेश प्रमाण का विषय है और विकलादेश नय का विषय है। उन्होंने ‘नयो द्विविधः द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च’ कहकर नय के दो भेद किये हैं। द्रव्यार्थिक को निश्चय और पर्यायार्थिक को व्यवहार भी कहा जाता है। कुछ लोग जानबूझकर नयों की तोड़-मरोड़कर व्याख्या करते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है-

‘वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथातयप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः’ (सर्वार्थसिद्धि, 1.33)

अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।

नय श्रुतज्ञान का एक भेद है। सभी नय सापेक्ष रहने पर प्रमाणांश हैं और निरपेक्ष रहने पर मिथ्या। अतः गृहीतमिथ्यात्व से बचने के लिए एकान्त की प्ररूपणा

से बचना चाहिए।

यहाँ पर यह बात विशेष अवधेय है कि जैसे शक्ति की अपेक्षा निरपेक्ष तन्तु वेमा आदि में कथंचित् पर का कारणपना माना जाता है, वैसे ही निरपेक्ष नयों में भी शक्ति की अपेक्षा सम्यग्ज्ञान का कारणपना माना जा सकता है। इसी बात को सर्वार्थसिद्धि (1.33) में इस प्रकार स्वीकार किया गया है- ‘अथ तन्त्वादिषु पटादिकार्यं शक्त्यपेक्षया अस्तीत्युच्यते। नयेष्वपि निरपेक्षेषु बुद्ध्यभिधानरूपेषु कारणवशात् सम्यग्दर्शनहेतुत्व विपरिणतिसद्भावात् शक्त्यात्मनास्तित्वमिति साम्यमेवोपन्यासस्य।’

अर्थात् तन्तु आदि में पटादि कार्य शक्ति की अपेक्षा है ही तो यह बात शब्द रूप निरपेक्ष नयों के विषय में भी जानना चाहिए। उनमें भी ऐसी शक्ति पाई जाती है जिससे वे कारणवश सम्यग्दर्शन के हेतुरूप से परिणामन करने में समर्थ हैं। अतः दोनों में शक्ति की अपेक्षा साम्य है।

३. पुण्य और पाप- तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने ‘शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य’ (6.3) कहकर स्पष्ट कर दिया है कि शुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति पाप का कारण है। इस कथन से पुण्य और पाप की न केवल भिन्नता अपितु विपरीतता स्पष्ट है। योग की शुभता और अशुभता में कारण बताते हुए पूज्यपादाचार्य ने स्पष्ट किया है-

‘शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः।

(सर्वार्थसिद्धि 6.3)

अर्थात् जो योग (मन-वचन-काय का प्रवर्तन) शुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह अशुभ योग है।

‘पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्’ (6.3) अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है तथा ‘पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्’ (6.3) अर्थात् जो आत्मा को शुभ में नहीं लगने देता है वह पाप है।

पूज्यपादाचार्य ने अनशन आदि बाह्य तपों, जो स्वयं शुभ प्रवृत्ति रूप हैं, को संवर का और निर्जरा का हेतु वर्णित किया है। अतः पुण्य को पाप के समान बन्धन का ही कारण मानना समीचीन नहीं कहा जा सकता है। सर्वार्थसिद्धि (8.9) में तो यहाँ तक कहा गया है कि दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति की फलदान शक्ति को जब शुभपरिणामों के द्वारा रोक दिया जाता है तब वही सम्यक्त्व प्रकृति कहलाने लगती है- ‘तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि तद्वेद्यमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते।’ (सर्वार्थसिद्धि 8.9)

४. आगमिक परम्परा की रक्षा - सर्वार्थसिद्धि की रचना को देखकर यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है कि आचार्य पूज्यपाद ने सिद्धान्त ग्रंथों का गंभीर आलोडन किया था। इस प्रसंग में यदि हम केवल तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के सातवें और आठवें सूत्र ‘निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः’ एवं ‘सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तर-

भावाल्पबहुत्वैश्च' इन दो सूत्रों को देखें तो पता चलता है कि उन्होंने परंपरा प्राप्त षट्खण्डागम के आगमिक ज्ञान की रक्षा करते हुए साररूप में सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति की रचना की है।

टीका की दृष्टि से वृत्तिवैशिष्ट्य

सर्वार्थसिद्धि नामक यह तत्त्वार्थवृत्ति तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध समस्त टीकाओं में प्राचीनतम है। पं. फूलचन्द शास्त्री इसे तत्त्वार्थाधिगम भाष्य से भी प्राचीन मानते हैं। सर्वार्थसिद्धि की कतिपय विशेषतायें इस प्रकार हैं—

1. सूत्र में आये प्रत्येक पद का सहेतुक विवेचन।
2. भगवती आराधना, मूलाचार, गोम्मतसार, पञ्चसंग्रह, वारसाणुवेक्खा, सिद्धभक्ति, युक्त्यनुशासन, भावपाहुड आदि ग्रंथों के उद्धरण देकर अपने कथन का समर्थन।
3. विविध भारतीय दर्शनों की मान्यताओं का प्रायः उन-उन दार्शनिकों के शब्दों में उल्लेख।
4. सर्वार्थसिद्धि के अनुसार तत्समयप्रचलित तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों की यथार्थ स्थिति का ज्ञान।
5. मूलानुगामी वृत्ति किन्तु आवश्यक होने पर मूलसम्बद्ध अन्य व्याख्यान।
6. प्रत्यासत्तेः प्रधानं बलीयः, प्राप्तिपूर्वको निषेधः इत्यादि प्रचलित व्याकरण विषयक परिभाषाओं का उल्लेख।
7. तत्त्वार्थसूत्र की रचना के उद्देश्य का उल्लेख।
8. सूत्र में लिङ्गभेद एवं वचनभेद का स्पष्टीकरण।
9. आगम से किञ्चित् भी भिन्न कथन होने पर पूर्व कथन से संगति।
10. सर्वांगपूर्ण टीका।
11. पश्चाद्वर्ती टीकाकारों का आधार।
12. सिद्धांत प्रतिपादन के साथ दार्शनिक विवेचन।
13. न्याय शैली में शंका-समाधान पूर्वक व्याख्यान।
14. आलोकितपान भोजन नामक अहिंसा व्रत की भावना में अन्तर्भूत होने से रात्रिभोजनविरमण रूप छोटे अणुव्रत का पृथक् कथन करने का अनौचित्य।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सर्वार्थसिद्धि की शैली वर्णनात्मक होते हुए पदों की सार्थकता का सांगोपांग व्याख्यान करने के कारण टीका की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावी एवं गंभीर है। वास्तव में पूज्यपादाचार्य को तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित विषयों का तथा व्याकरण के वर्णलाघव का गहरा एवं तलस्पर्शी ज्ञान था। निर्वचनों और पदों के सार्थक्य के विवेचन में आचार्य पूज्यपाद अनुपम हैं।

—अध्यक्ष

संस्कृत विभाग

एस. डी. (पी.जी.) कॉलेज, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

जैनधर्म की समाजवादी अर्थव्यवस्था (आदिपुराण के परिप्रेक्ष्य में)

-डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन

आर्थिक जीवन किसी भी समाज की सर्वतोन्मुखी अभिवृद्धि का आधार होता है। पुरुषार्थों में “अर्थ” की गणना भी इस तथ्य की ओर संकेत करती है। दुर्भाग्यवश भारतीय चिंतन परंपरा को आध्यात्मिक या पारलौकिक करार देते हुए आर्थिक-विमर्श के लिए अनुपादेय घोषित कर दिया जाता है। इस तरह का भ्रम आधारहीन है और तथ्यों की अनदेखी कर प्रचलित हुआ है। भारतीय समाज और इसकी सांस्कृतिक प्रथाएँ तथा परम्पराओं की जड़ें गहरी हैं और उनमें निरंतरता है। पाश्चात्य विचारों के प्रभुत्व तथा औपनिवेशिक मानसिकता के कारण ये आवरण से आच्छादित हो गयी हैं और उन्हें सुग्राह्य ढंग से उपस्थित करना आज की एक महत्वपूर्ण बौद्धिक चुनौती है। ऐसा करना मात्र आत्मश्लाघा न होकर भारतीय यथार्थ की दृष्टि से पर्यालोचन और आवश्यक परिष्कार का मार्ग प्रशस्त करेगा। इस प्रकार का प्रयास ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में आरंभ हुआ है। देशज ज्ञान परंपरा का पुनराविष्कार और अनुसंधान देश को आत्मनिर्भर बनाने में भी सहायक सिद्ध हो रहा है।

महाकवि आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण 9 वीं शताब्दी की सर्वोत्तम कृति है। यह पुराण इतिहास, अध्यात्म, समाजशास्त्र, अर्थव्यवस्था, कोशग्रन्थ एवं एक उत्कृष्ट महाकाव्य के धरातल पर पूर्णतया खरी उतरने वाली दिक्कालजयी कृति है। यह भारत एवं भारतीय जीवन का विश्वकोष है।

जैन परंपरा में मानते हैं कि पहले यौगलिक युग था उसमें समाज जैसी व्यवस्था नहीं थी इसको हम प्राकृतिक स्थिति भी कह सकते हैं। एक जोड़ा जन्म लेता था वह सहज संयम जीवन जीता फिर अंतिम समय में दूसरे जोड़े को जन्म देकर विदा हो जाता। उस समय न कोई व्यापार, न व्यवसाय, न राज्य शासन, कुछ भी नहीं था। लेकिन जब तीसरा कालखंड समाप्त हो गया तो संतति का विकास होने लगा, आबादी बढ़ी, समस्याएँ भी बढ़ने लगीं। परिग्रह बढ़ा तो संघर्ष भी बढ़े। छोटे-छोटे कुल बनाये गये, कुछ नियम कानून बने। जहाँ यौगलिक व्यवस्था में सब स्वशासित थे, स्वराज्य था या पूर्ण लोकतंत्र था लेकिन जब कुलकर की व्यवस्था हुई तो एक नेतृत्व, एक व्यवस्था कायम हुई।

भगवान् ऋषभदेव पन्द्रहवें कुलकर माने गए हैं। भगवान् ऋषभदेव के समय कृषि युग का प्रारंभ हुआ था, उनका उपदेश था **कृषि करो या ऋषि बनो**। कृषि का प्रादुर्भाव सात्त्विक रहस्य था कि यदि अन्न के अभाव में प्रजा का भक्ष्याभक्ष्य विवेक भी लुप्त हो जाय तो अन्न के अभाव में चरित्र का रोग उत्पन्न हो सकता है—**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्**। ऋषि के अवतरण का अर्थ है—समाज व्यवस्था का अवतरण, कला का अवतरण,

विज्ञान, विद्या, शिल्प का अवतरण। वे कृषिराज व कृषिदेव कहलाये। ऋषभदेव ने विश्व को स्वावलम्बन एवं आत्मनिर्भरता का उपदेश दिया। अपनी रक्षा भी आप करनी है इसलिए असि (असी धारण) का उपदेश, अपनी जीविका भी स्वयं उपस्थित करनी है, इसलिए कृषि का उपदेश, अपना ज्ञान भी स्वयं बढ़ाना है इसलिए मसि का उपदेश दिया गया।

राजा नाभि के समय जब हा, मा, धिक् का प्रभाव समाप्त हो गया तो जनता के आग्रह पर नाभि ने उन्हें ऋषभ के पास भेजा। ऋषभ ने कहा- जब मर्यादा का उल्लंघन होता है तो शब्द शक्ति से काम नहीं होगा, राजशक्ति से ही होगा-

ज्ञानत्रयधरो जातिसारः स्वामीत्यवोचत।

मर्यादोल्लंघिना राजा भवति शासिता॥

फिर तो लोगों ने ऋषभ से राजा बनने को कहा। लोकेच्छा का ध्यान रखते हुए नाभि ने ऋषभ को राजा बनाया, इस पर राजतंत्र का सूत्रपात हुआ। जैन परंपरा में आदि काल में तीर्थंकर ही राजा हुए हैं। इस प्रकार राजा को धर्मगुरु का भी प्रभार रहने से उसका महत्त्व बढ़ गया लेकिन एक महत्त्व की बात यह हुई कि राजनीति राजधर्म बन गया। राजनीति में नैतिकता का प्राधान्य रहा।

भारतीय ज्ञान परंपरा इस दृष्टि से भी विचारणीय है कि उसके तत्त्व आश्चर्यजनक रूप से मनुष्य और समग्र दृष्टि को संबोधित करते हैं। भूमण्डलीकरण के वर्तमान समय में जब परस्पर निर्भरता वैश्विक जीवन का मूल मंत्र बनती जा रही है, भारतीय जीवन दृष्टि और भी प्रासंगिक हो गयी है। स्मरणीय है कि भारतीय ज्ञान परंपरा मात्र शास्त्रीय नहीं है जैसा कि प्रायः प्रचलित किया गया है। शास्त्र के साथ वह लोक व्यवहार में भी अवस्थित है। शास्त्र और लोक दोनों एक दूसरे के साथ सम्पृक्त रहे हैं।

जैन परम्परा में ऋषभ का राज शासन न्यूनतम सत्ता का प्रतीक है। जैसे-जैसे समस्याएँ आती गईं, ऋषभदेव उनके समाधान ढूँढ़ते गए। इसी से सभ्यता का विकास होता गया। समाज के लिए इनका विकास सावद्य, इनमें आध्यात्मिक धर्म नहीं है। फिर भी अपने कर्तव्य को मुख्यता देकर ऋषभ ने लोकानुकंपा से उन कार्यों का प्रवर्तन किया। हेमचन्द्र ने कहा ही है-

एतच्च सर्वं सावद्यमपि लोकानुकंपया।

स्वामी प्रवर्तयामास, जानन् कर्तव्यमात्मनः॥

जब व्यक्ति कर्तव्य को ओढ़ लेता है और उसका निर्वहन नहीं करता तो समस्याएँ पैदा होती हैं। ऋषभदेव ने राज्य शासन में अपना हित नहीं देखा, प्रजाहित देखा। संक्षेप में ऋषभराज रामराज्य या लोककल्याणकारी राज्य था। यानी उस समय सोलह आना समाजवाद था।

ऋषभदेव या अन्य तीर्थंकर केवल दंड देने के लिए ही राजा नहीं बने। उनकी राज्य व्यवस्था में अर्थ और पदार्थ का न अभाव होता था, न प्रभाव होता था। जिस समाज में अर्थ एवं पदार्थ का अभाव होगा वहाँ असंतोष एवं अराजकता होगी। जहाँ अर्थ एवं पदार्थ अत्यधिक होंगे वहाँ समाज का पतन होगा। एर्नलड रायनवी ने 27 सभ्यताओं का अध्ययन

कर यह बताया कि जो सभ्यतायें भोगवादी थीं, उनका नामोनिशान नहीं है। अभाव निवारण आवश्यक है जिसके लिए अर्थ प्रबन्धन जरूरी है, लेकिन भोगवाद को कम करने के लिए तो धर्म का ही अंकुश चाहिए। ऋषभदेव ने कृषि, वाणिज्य, सुरक्षा और शासन व्यवस्था दी जिससे समाज सुव्यवस्थित हो, लेकिन साथ-साथ सामाजिक विषमता के निराकरण के लिए त्याग और अंत में विनीता के राज्य एवं राजमहल का त्याग कर संन्यास। ऋषभदेव ने समता धर्म का प्रवर्तन किया।

अपनी दोनों पुत्रियों (ब्राह्मी और सुन्दरी) को कर्मभूमि युग के प्रारंभ में भगवान् ने सर्वप्रथम विद्या प्रदान की। पुत्री ब्राह्मी को लिपि अर्थात् वर्णमाला का ज्ञान कराके ज्ञान के सामाजिक, नैतिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों की पुष्टि की नींव डाली तो दूसरी ओर सुन्दरी को अंकों का (1,2,3 आदि) का ज्ञान कराके अर्थशास्त्र और गणित विद्या के द्वार खोले। इससे पूर्व जनता घोर अज्ञान में डूबी थी। प्रभु ने पुत्रियों को उपदेश दिया-

“इत्याक्रीड्यक्षणं भूयोऽप्येवमाख्यद्गिरांपतिः।

युवां युवजरत्यौ स्थः शीलेन विनयेन च॥^१

इदं वपुर्वयश्चेद् इदं शीलमनीदृशम्।

विद्यया चेद् विभूष्येत सफलं जन्म वामिदम्॥^२

विद्यावान् पुरुषो लोके सम्पत्तिं याति को विदैः।

नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदम् ॥^३

विद्या यशस्करी पुंसां, विद्या श्रेयस्करी मता।

सम्यगाराधिता विद्यादेवता कामदायिनी॥^४

अर्थात् तुम दोनों अपने शील और गुणों के कारण युवावस्था में ही वृद्धा के समान हो (ज्ञान वृद्ध हो) तुम दोनों का यह सुन्दर शरीर, यह अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित कर दिया जाए तो तुम दोनों का जीवन पूर्णतया सार्थक हो सकता है। इस लोक में विद्यावान् पुरुष पंडितों में भी सम्मानित होता है और विद्यावती नारी भी सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करती है। विद्या ही समस्त मनोरथों की जननी है। विद्या ही कामधेनु है, चिंतामणि है।

भगवान् ने कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर और कर्मभूमि के प्रकट होने पर असहाय प्रजा को असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों द्वारा आजीविका निर्वाह का मार्ग बताया। प्रभु इस व्यवस्था के सृजन से प्रजापति कहलाए। अनेक गांवों, नगरों में प्रजा को बसाया। उनका राज्याभिषेक हुआ। जैसा सर्वविदित है कि कर्म के आधार पर ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के वर्ण निर्धारित किये। बाद में भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की रचना विद्याग्रहण और विद्यादान के आधार पर की। व्रती और चारित्रवान् व्यक्तियों को ही ब्राह्मण के रूप में मान्यता मिली। गुण और कर्म को महत्त्व देते हुए जिनसेनाचार्य ने वर्णव्यवस्था पर प्रकाश विकीर्ण किया है-

“मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।

वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रिया शस्त्रधारणात्।

वणिजोऽर्थार्जनान्यायाच्छूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥^१

इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव सुदीर्घकाल तक समुद्रान्त पृथिवी का पूरी कुशलता से सुशासन करते रहे। आर्थिक असमानता और सामाजिक वैषम्य का मुख्य कारण हमारे अन्दर की लालसा/लोभ/इच्छा और स्वार्थ है। इच्छाओं के कारण परिग्रह और संग्रह सामाजिक प्रदूषण है।

प्रत्येक कार्य जिससे धन सम्पत्ति उत्पन्न होती है उत्पादक कहा जाता है। भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध धन के उत्पादन में मुख्य कारण हैं, जिन्हें अर्थशास्त्र के उत्पादन के साधन कहा जाता है। भूमि को छोड़कर बाकी सब प्रकार का धन पूंजी के अन्तर्गत आता है।

प्रबन्धकर्ता का काम है उद्योग धन्धों की योजना बनाना, भूमि, श्रम और पूंजी को उचित अनुपात में एकत्र करना तथा जरूरत होने पर नुकसान सहने के लिए तैयार रहना। कमाये हुए धन को अथवा अपनी वार्षिक आय को अपने पेशे से संबन्धित लोगों में बँटवारा करना विभाजन का मुख्य हेतु है। विभाजन की चार मुख्य अवस्थायें हैं- किराया, मजदूरी, ब्याज, और लाभ।

वास्तव में मानव की सभी क्रियाओं का आधार भूमि ही है। आचार्य कौटिल्य ने मानवों से युक्त भूमि को “अर्थ” कहा है- **मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।^१** आज भी इसका व्यापक तात्पर्य ग्राह्य है। क्योंकि भूमि किसी भी अर्थव्यवस्था का आधारभूत तत्त्व है।

कृषि प्रधान सामाजिक व्यवस्था में भूमि का बहुआयामी महत्त्व होता है वह अचल संपत्ति होती है और समाज के लिए आवश्यक विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन कर उपभोक्ताओं तक पहुंचाना होता है। बाजार उत्पादित वस्तुएँ, सेवायें, आधारभूत संरचना एवं व्यापार से सम्बद्ध अधिकारीगण ये सभी वाणिज्य एवं व्यापार को एक व्यवस्थित आकार प्रदान करते हैं। आर्थिक व्यवस्था में विनियम का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्तर्देशीय व्यापार, आयात-निर्यात, यानवाहन आदि विनियम के साधन हैं।

भगवान् आदिनाथ ने अर्थार्जन के अशुद्ध साधनों से बचने की बात कही। एक सच्चा जैन कभी चोरी का माल नहीं खरीदता। राज्य निषिद्ध वस्तु का आयात-निर्यात नहीं करता। झूठा तोल-माप नहीं करता। असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु नहीं देता। बारह व्रतों की व्याख्या करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था-‘ऐसा व्यापार मत करो जिसमें पन्द्रह कर्मादानों का समावेश हो।’ आज की भाषा में कहा जा सकता है कि जैन श्रावक अपने व्यवसाय में शस्त्रों का निर्माण न करे। अभक्ष्य पदार्थ, मादक नशीले पदार्थों का उत्पादन न करे। क्रूरता पूर्वक हिंसाजनित साधनों का व्यापार न करे। अर्थ की अंधी दौड़ में ऐसे व्यवसाय जैन समाज में खड़ा न हो जो न जैन सिद्धांतों, आदर्शों और संस्कारों के अनुकूल हो और न राष्ट्र की गरिमानुकूल।

आदिपुराण में प्रजा को कुल की भाँति एकत्र कर कुलकरों ने उपदेश दिया।

समाज व्यवस्था प्रतिपादित की। आदिपुराण में **प्रजानां प्रीणन (३/६८)** पद आया है। प्रजा के साथ सम्बन्ध रहने से प्रीणन का अर्थ सामाजिक दृष्टि से संरक्षण, संग्रहण और वितरण है। एक शब्द में इसे हम सामाजिक चेतना कह सकते हैं। व्यक्ति की सामाजिक चेतना ही इसमें सामाजिकता उत्पन्न करती है। आदिपुराण में चित्रित समाज का प्रत्येक सदस्य के साथ सहयोग और सहकारिता का जीवन यापन करने का अभ्यासी है—

सर्वेऽपि समसंभोगाः सर्वे समसुखोदयाः।

सर्वे सर्वर्तुजान् भोगान् यत्र विन्दन्त्यनामयाः॥

आदिपुराण में (पर्व 11/181-183) राजा का सबसे आवश्यक कार्य स्वराष्ट्र की अभिवृद्धि करना, उसकी रक्षा करना एवं प्रजा को सभी प्रकार से सुखी बनाना था। राष्ट्रकल्याण के लिए राजा अपने मंत्रियों से परामर्श करता था। आदिपुराण (पर्व 42/137-198) के अनुसार प्रजा की भलाई के लिए जितने भी कार्य किये जा सकते हैं, राजा को वे सभी कार्य करने चाहिए। पुराण में (116-158) प्रतिपादित भारत का शासन ग्रामीण पद्धति से होता था। प्रत्येक गांव राष्ट्र का अंग समझा जाता था, उसी की सुव्यवस्था से समस्त राज्य की सुव्यवस्था समझी जाती थी। भारत का संगठन ग्रामों पर निर्भर था। प्रत्येक गांव का एक मुखिया होता था जो गांव की तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करता और उत्पन्न हुई कठिन समस्याओं को दण्ड धर्माधिकारी या अन्य पदाधिकारियों से निवेदित करता था।

आदिपुराण की मान्यता है कि दरिद्रता समस्त कष्टों का घर है। इसलिए **‘अहो कष्टा दरिद्रता’** (26/49) द्वारा अधिक समृद्धि को सुख का हेतु होने का संकेत दिया है। प्रजा की आर्थिक उन्नति किन-किन साधनों से हो सकती है, ग्रामीण क्षेत्र का विकास किस प्रकार किया जा सकता है। इन सब बातों का राजा को ध्यान रखना चाहिए। राज्य में अर्थ-वृद्धि हेतु कृषि, व्यापार, उद्योग-धंधे आदि की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास, खानों की खुदाई, वनों का संरक्षण, कृषि की सिंचाई आदि का प्रबन्ध भी संपन्न किया जाता है। राज्य के कार्यों का क्षेत्र जीवन के सभी पहलू-सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक तक विस्तृत है। आदिपुराण कालीन भारत की आर्थिक व्यवस्था समृद्ध थी। कृषक वर्ग, व्यवसायी सभी संतुष्ट एवं प्रसन्न थे।

क्षत्रिय वर्ग की सृष्टि करने के बाद ऋषभदेव ने प्रजा के योगक्षेम के लिए हा, मा, और धिक् इन तीन दण्डों का विधान बतलाया है।⁷ दण्डविधान लागू करने के लिए राजा की आवश्यकता हुई। क्योंकि राजा ही अपने पराक्रम से दुष्टों का निग्रह और सज्जनों का पालन कर सकता है। इसलिए उन्होंने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को महामाण्डलिक राजा बनाया और राज्य संचालन के निमित्त प्रजा से कर (टैक्स) वसूल करने का विधान बताया।⁸ यहाँ यह भी कहा कि प्रजा से उतना ही अंश कर के रूप में लिया जाय जिसके कारण उसे (प्रजा को) कष्ट का अनुभव न हो।

वैश्य- जो मनुष्य कृषि, व्यापार, पशुपालन द्वारा न्यायपूर्वक धन अर्जित करके

अपनी आजीविका करते थे, वे सब वैश्य कहलाते थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने उरुओं से यात्रा दिखलाकर वैश्यों की रचना की, क्योंकि जल, थल और दूर-देशों की यात्रा करके व्यापार करना उन लोगों की मुख्य आजीविका है।⁹ इस प्रकार प्रजा की सुख सुविधा हेतु देश-देशान्तर की यात्रा करके व्यापार द्वारा लोगों की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना, वैश्यों का कार्य है। देश की समृद्धि में वैश्यों की प्रमुख भूमिका होती है। 42वें पर्व में कहा गया है कि राज्य के अधीन समस्त भूमि में किसानों को साधन सुलभ करवाकर खेती कराया जाये और किसानों से उचित अंश लेकर राज्य में धान्य-संग्रह किया जाये। इससे राजा के यहाँ प्रभूत संपत्ति इकट्ठी हो जायेगी, जिससे राजा का और बल बढ़ेगा।¹⁰ यहाँ गोपालक का उदाहरण सहित उल्लेख है,¹¹ जिससे ज्ञात होता है कि उस समय गोपालन का व्यवसाय प्रसिद्ध था।

श्रमण संस्कृति का नियामक तत्त्व श्रम, आचार्य जिनसेन की षट्-कर्म¹² व्यवस्था का बुनियादी सच बनकर उभरा है, जो आज भी पूरी तरह से प्रासंगिक है, असि (सैनिक वृत्ति), मसि (लिपिक वृत्ति), कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प नामक षट्कर्म आदिपुराण में अपने मौलिक स्वरूप में आख्यायित हुए हैं और आज भी संपूर्ण अर्थतंत्र या समाजतंत्र की बुनियाद हैं।

असि कर्म से तात्पर्य है सैन्यवृत्ति अर्थात् सुरक्षा प्रक्रमों में योगदान के जरिये, आजीविका, अस्त्रों के धारण करने से आजीविका। आचार्य जिनसेन ने राजसत्ता के प्रभावी तत्त्व के रूप में सैन्य बल¹³ को रेखांकित किया है। ‘क्षत्रियाः शस्त्रजीवितम्’¹⁴ पद के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि आयुधों के माध्यम से आजीविका चलाने वाली एक विशेष जाति थी और उनका सम्मान समाज करता था। वर्तमान कालखण्ड में असिवृत्ति के महत्त्व को पूरा विश्व सर्वोच्च प्राथमिकता दे रहा है। असिवृत्ति के माध्यम से शांति को सुनिश्चित करना, जिससे विकास के चक्र को गति मिल सके, यही लक्ष्य है आदिपुराण की रचना का।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिपुराण के रचयिता ने असिवृत्ति की जो अवधारणा रची थी, वह आज समय की शिला पर प्रासंगिक तो है ही, पूर्णरूपेण विकसित भी हुई है।

लिपि कार्य में संलिप्त रहकर अपनी आजीविका चलाने के कार्य को मसि कर्म¹⁵ की संज्ञा दी गयी है। प्रशासनिक कार्यों के संपादन में समस्त घटनाक्रम को, परिस्थितियों को, आदेशों को लिपिबद्ध करते हुए अभिलेखित करने के कार्य को मसि कर्म के क्षेत्र में आचार्य जिनसेन ने रखा है। राजा के संदेशों और आदेशों को लेखन की इस परिधि में रखा गया है, बिल्कुल वैसे ही जैसे आज के आशु लिपिक कार्य किया करते हैं। ये मसिकर्मी आज भी प्रशासन के प्राण हैं और किसी भी संचिका के कथ्य के भाग्य विधाता हैं। शासन की दशा और दिशा का निर्धारण ये मसिकर्मी आदिपुराण के भारत से आज तक करते आ रहे हैं।

आदिपुराण में भूकर्षण को कृषि कर्म¹⁶ की संज्ञा दी गयी है। कृषि-जीवी श्रमिक

स्वयं की खेती के अनन्तर दूसरों को भी उनके कृषि कर्म में सहायता देते थे। इनके पास हल, बैल और अन्य कृषि उपकरण हुआ करते थे और इस विद्या का ज्ञान रखने वालों का समाज में पूर्ण सम्मान था।¹⁷ उत्तम कृषि कर्म के लिए दो प्रकार की सिंचाई अदेवमातृका तथा देवमातृका का उल्लेख आदिपुराण में किया गया है।¹⁸ अदेवमातृका से तात्पर्य नदी, नहर आदि द्वारा किये जाने वाले सिंचाई प्रबन्धन है। कृषिकर्मी नदी या नहर के जल से सिंचन करते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर घटीयन्त्र¹⁹ का भी उपयोग किया करते थे। कूप,²⁰ बापी²¹ सरोवर²² और प्रपा²³ में जल का भंडारण किया जाता था। नहरों से उपनहरों²⁴ को भी निकाला जाता था और उनसे छोटी-छोटी नालियों के माध्यम से कृषिकर्मी अपने खेतों तक सिंचाई का जल पहुँचाया करते थे।

“विद्या शास्त्रोपजीवने” पद के द्वारा आचार्य जिनसेन ने विद्या को आजीविका-वृत्ति के एक माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सामान्य रूप से शिक्षण-प्रशिक्षण एवं अन्य आवश्यक कर्मकाण्डों में आचार्यत्व इस कर्म के परिक्षेत्र में समाहित हैं। आदिपुराण के एक अन्य संदर्भ में बताया गया है कि राजा को अपने राज्य में विद्या-व्यसनी और शास्त्र द्वारा आजीविका संपन्न करने वाले व्यक्तियों की आजीविका का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

व्यापार वृत्ति वाणिज्य कर्म के अन्तर्गत समाहित है। आदिपुराण की वार्ता²⁵ विद्या का विश्लेषण कौटिल्य अर्थशास्त्र²⁶ में कृषि, पशुपालन तथा व्यापार के रूप में किया गया है। धान्य, पशु, हिरण्य, ताम्रादि खनिज की उत्पत्ति को वार्ता के अन्तर्गत समाहित किया गया है, वार्ता को आर्थिक समृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारक माना गया है। आचार्य जिनसेन ने वाणिज्य कर्म के साथ-साथ पशुपालन और पशु व्यापार को भी पर्याप्त महत्व दिया है। पशुओं की खरीद-बिक्री में एक प्रतिभू-जामिनदारी भी हुआ करता था जिसकी जमानत पर मवेशी को खरीदा जाता था। व्यापार के लिए विदेश भी जाया जाता था। व्यापार स्थल मार्ग और जल मार्ग दोनों द्वारा ही संपादित होता था। व्यापार हेतु सार्थवाहों का एक समूह जाया करता था। इस सार्थवाह समुदाय का एक व्यक्ति संघपति होता था और सारी व्यापारिक गतिविधियों का संचालन किया करता था। श्रीपाल की जलयात्राएँ जल मार्ग से संचालित होने वाले व्यापार को इंगित करती हैं।

वाणिज्य आज की दुनियाँ की राजनीति को नियंत्रण करता है। अमेरिका ने चीन को Most Favoured Nation (MFN) का दर्जा दिया जिस कारण चीनी उत्पाद अमरीकी बाजारों में अत्यन्त कम कीमत पर छा गये। अपनी कम कीमतों के कारण कोरिया, ताइवान आदि देश यूरोपीय और अमरीकी देशों में प्रभुत्व स्थापित तो कर ही रहे हैं, राजनीतिक परिदृश्य को भी प्रभावित कर रहे हैं। वाणिज्यिक गतिविधियों को शासन सर्वाधिक महत्व दे रहा है, एक पृथक् वाणिज्य मंत्रालय प्रत्येक देश के शासन का अहम हिस्सा होता है। जिनसेन युगीन सार्थवाह आज के TRADE DELEGATIONS में परिणत हो गया है जो देश के शासनाध्यक्षों के नेतृत्व में विदेशों में यात्राएँ करता है, वाणिज्यिक उपयोग की प्रदर्शनियों और मेलों का आयोजन किया जाता है, संयुक्त निवेश के उपक्रमों के जरिये पारस्परिक लाभ के उद्यम शुरू किये जाते हैं और स्टाक एक्सचेंजों में शेयरों के व्यापार

और उसके बढ़ते-घटते संवेदी सूचकांकों के माध्यम से वाणिज्यिक गतिविधियों का नियमन होता रहता है। वाणिज्य कर्म सिर्फ लक्ष्मी अर्जित करने का सशक्त साधन ही नहीं प्रत्युत राजनीतिक संबन्धों की सुदृढ़ता के लिए अपरिहार्य शर्त बन गया है।

आचार्य जिनसेन ने हस्तकौशल को शिल्प कर्म की संज्ञा दी है। हस्तकौशल के अन्तर्गत बढ़ई, लोहार, कुम्हार, चर्मकार, स्वर्णकार आदि के उपयोगी कला-कौशलों के अतिरिक्त चित्रकारी, फूल-पत्ते काढ़ने की कसीदाकारी भी इस श्रेणी में समाहित थे। शिल्पकर्म आज हेण्डीक्राफ्ट्स के माध्यम से प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था को तो प्रभावित कर ही रहा है साथ ही एक सांस्कृतिक राजदूत की भी भूमिका अदा कर रहा है। शिल्पकर्म के अर्थकरी स्वरूप को यदि हम देखें तो पिकासो के चित्रों की आकाश छूती कीमत एक प्रतीक मात्र है। भारतीय चित्रकारों में यामिनी राय, गुजराल, राजा रवि वर्मा, हुसैन आदि के चित्र ऊँची कीमतों पर तो बिकते ही हैं, ऐश्वर्यपूर्ण जीवन शैली के प्रतीक भी बन चुके हैं।

आज भी ज्वलन्त समस्या है निरंकुश भोगवाद। उपभोक्तावादी संस्कृति ने विलासिता और आकांक्षाओं को नए पंख दे दिए हैं। अधिक अर्जन, अधिक संग्रह और अधिक भोग की मानसिकता ने नैतिक मूल्यों को ताक पर रख दिया है, इससे सामाजिक व्यवस्था में बिखराव आया है। वैयक्तिक अर्थव्यवस्था भी लड़खड़ा गई है। तनावों, स्पर्धाओं और कुंठाओं ने भी जन्म लिया है। धन के अतिभाव और अभाव ने अमीर को अधिक अमीर बना दिया, गरीब और अधिक गरीब बनता गया। फलतः अपराधों ने जन्म ले लिया।

जैन समाज में भी ऐसे लोग सामने आने लगे हैं। जिनकी सिर्फ यही सोच है कि 'मेरे पास वो सब कुछ होना चाहिए जो सबके पास हो मगर सबके पास वो नहीं होना चाहिए जो मेरे पास हो।' इस स्वार्थी, संकीर्ण सोच ने अपराधों को आमंत्रण दिया है। असंयम से जुड़ी इन आपराधिक समस्याओं को रोकने के लिए यदि अर्जन के साथ विसर्जन जुड़ जाए, अनावश्यक भोग पर अंकुश लग जाए, आवश्यकता, अनिवार्यता और आकांक्षा में फर्क समझ में आ जाए तो सटीक समाधान हो सकता है।

धन के उपभोग का अर्थ है अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए धन का उपयोग उत्पादन आर्थिक क्रियाओं का साधन है जबकि उपभोग उन सबका अन्त। उपयोग की वस्तुएँ तीन भागों में विभक्त की जा सकती हैं जीवन की आवश्यकताएँ-आराम और भोगविलास। ज्यों-ज्यों भोगवादी संस्कृति का विकास होता गया, हमने पृथ्वी का अनुचित शोषण किया, जिस कारण अब कोयला, तेल आदि समाप्त हो रहे हैं। 21वीं सदी में जल का भी अभूतपूर्व संकट होने वाला है। जिसे जैन परंपरा में हम अपरिग्रह और संयम कहते हैं, वहीं आधुनिक विज्ञान में स्थायी विकास की बात है। स्थायित्व का अर्थशास्त्र बिना अपरिग्रह के संभव ही नहीं और भोगवाद पर बिना संयम के अंकुश लगाया ही नहीं जा सकता है।

आधुनिक समय में भारत में जिस प्रकार राजधर्म के मूल्यों का आत्यन्तिक क्षरण

हो रहा है, जिस प्रकार राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण हो गया है, जब भ्रष्टाचार ही राजनीतिक जीवन में शिष्टाचार बन गया है, आज आदिपुराण में वर्णित प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभनाथ द्वारा प्रतिपादित राजधर्म की प्रासंगिकता अत्यधिक बढ़ गयी है। जब प्रजा भूख-प्यास एवं अराजक हिंसा से त्राहि-त्राहि करने लगे और नाभिराज प्रजा को वृषभनाथ के पास ले गये तो उनकी विह्वल दशा देखकर भगवान् की अन्तरात्मा द्रवीभूत हो उठी। उन्होंने अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण कर इस भरत क्षेत्र में वही व्यवस्था चालू करने का निश्चय किया। उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प एवं व्यापार की शिक्षा दी और भोगभूमि, कर्मभूमि में परिणत हो गयी। आज अगर हम भगवान् ऋषभदेव के राजधर्म की ओर सर्वात्मना अपने को उनके शरण में अर्पण कर चलने का संकल्प ले लें तो वह जीवन का सर्वोदय दिवस और भारत भूमि का अभ्युदय पर्व होगा।

जैन समाज की व्यावसायिक साधन-शुद्धि, प्रामाणिक मनोवृत्ति और सम्यग् दृष्टिकोण राष्ट्रीय चरित्र को सुदृढ़ता देगी, क्योंकि दीया एक भी जले मगर रोशनी का विश्वास तो होगा। राष्ट्रहित में जैन समाज और जैन श्रावक भगवान् आदिनाथ का अर्थशास्त्र समझे। अर्थार्जन की शुद्ध प्रक्रिया पर जागरूक बने। हमारी यह स्पष्ट मान्यता है कि अर्थ और भोग पर अंकुश लगाना चाहिए। इसके लिए साधन-शुद्धि और भोग-संयमन पर ध्यान देना होगा।

लोक कल्याण के लिए आयोजित किये जाने वाले विभिन्न उपक्रमों की सफलता अपेक्षित अधिक संसाधनों के अभाव में संभव नहीं है। इस प्रसंग में कर की व्यवस्था की आज भी प्रभावशाली भूमिका है। राजस्व के स्रोत के रूप में “कर” सुनिश्चित आधार प्रदान करते हैं।

आदिपुराण के सिद्धान्तानुसार वस्तु में उपयोगिता का सृजन करना ही वस्तुओं का उत्पादन है। मनुष्य न तो नई वस्तुओं का निर्माण करता है और न ही किसी पुरानी वस्तु का विनाश करता है, वह केवल उपयोगिता का सृजन करता है। उपयोगिता के सृजन का नाम ही उत्पादन तथा उपभोग है। वस्तुओं की जैसे-जैसे उपयोगिता बढ़ती जाती है, उनका मूल्य भी वृद्धिगत होता जाता है। मूल्य निर्धारण उपयोगिता के आधार पर ही किया जाता है। आदिपुराणकार ने रत्नों का उदाहरण देकर उपयोगितावाद को स्पष्ट किया है। रत्न तभी रत्न संज्ञा को प्राप्त होता है जब खान से निकलने के बाद उसमें उपयोगिता सृजित की जाती है। आर्थिक असमानता और आवश्यक वस्तुओं का अनुचित संग्रह समाज के जीवन को अस्त-व्यस्त करने वाला है। इसी के कारण शोषण होता है। आर्थिक असमानता को मिटाने का उपाय है-अपरिग्रह। परिग्रह के निरोध हेतु परिमाण व्रत का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुओं के प्रति ममत्व भाव को ही परिग्रह कहा गया है। अर्थार्जन धर्म संगत होना चाहिए, उसमें ममत्व न हो। जब ममत्व नहीं रहेगा तब उसे प्राप्त करने या रक्षण में अनुचित साधनों का उपयोग नहीं होगा, तभी वह व्यक्ति व समाज के लिए हितकर है।

जैन पुराणों से भारत के आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय की प्राचीनता एवं उनका

आत्मनिर्भर स्वरूप स्पष्ट होता है। आदिपुराण में वर्णित है कि गांवों में कृषकों के साथ लोहार, नाई, दर्जी, धोबी, बढई, राजगीर, चर्मकार, वैद्य, पंडित सभी प्रकार का व्यवसाय करने वाले तथा क्षत्रिय आदि सभी वर्ण के व्यक्ति निवास करते थे। ये विविध व्यावसायिक व्यक्ति अपने-अपने पेशे के अनुसार काम करके गांव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे एवं गाँवों को स्वावलम्बी बनाते थे। आदिपुराण (16/168) में ग्राम व्यवस्था के संबन्ध में “योगक्षेमानुचिन्तम्” पद आया है। इस पद का आशय यह है कि उपभोग योग्य समस्त वस्तुएँ गाँवों में उपलब्ध हो जाती थीं। अतः आदिपुराण में वर्णित ग्राम्य जीवन आत्मनिर्भर एवं जनतांत्रिक था।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने सुप्रसिद्ध शोध प्रबन्ध “आदि पुराण में प्रतिपादित भारत” में लिखा है कि आचार्य जिनसेन द्वारा प्रतिपादित भौगोलिक सामग्री और आर्थिक सिद्धान्त वर्तमान भारत की अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में सहायक हैं।

आदिपुराण की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों में प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक इन दो प्रकार की परस्पर विरोधाभासी विचारधाराओं के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। जैनदर्शन मुख्यतया निवृत्तिमूलक है, किन्तु व्यावहारिक जीवन में मनीषियों ने प्रवृत्तिमार्ग को निरुत्साहित नहीं किया। आर्थिक विचारों के अन्तर्गत उनका निर्देश धर्म का उल्लंघन न कर धन को कमाना, उसकी रक्षा करना, बढ़ाना और योग्यपात्रों को दान देना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि षट्कर्म व्यवस्था एक प्रामाणिक आजीविका को प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समाज के लिए उसकी योग्यता के आधार पर, कौशल के आधार पर सुनिश्चित करती है। यह व्यवस्था जहाँ व्यक्ति के स्तर पर आजीविका प्रदायिनी है, वहीं समाज के स्तर पर चक्रानुक्रम में सामाजिक निर्वहन एवं शांति को सुनिश्चित करते हुए राष्ट्रीय स्तर पर एक सुदृढ़ अर्थव्यवस्था को पूर्ण करती है, राष्ट्र की प्रगति को दिशा देती है, उसको मजबूती प्रदान करती है और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का स्थायी व्याकरण रचती है।

संदर्भ:

1. आदिपुराण 16/96
2. आदिपुराण 16/97
3. आदिपुराण 16/98
4. आदिपुराण 16/98
5. आदिपुराण 38/45-46
6. कौटिल्य अर्थशास्त्र 180.1.1
7. आदिपुराण 16/250
8. आदिपुराण 16/254-57
9. वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः॥ आदिपुराण 16/184
10. आदिपुराण 42/177
11. आदिपुराण 42/139-74

12. आदिपुराण 16/171
13. आदिपुराण 4/848-869
14. आदिपुराण
15. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. 338
16. आदिपुराण 16/181
17. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत पृ. 340
18. आदिपुराण 16/157
19. आदिपुराण 17/24
20. आदिपुराण 4/72
21. आदिपुराण 5/104
22. आदिपुराण 5/259
23. आदिपुराण 4/171
24. आदिपुराण 35/40
25. आदिपुराण 41/139
26. कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ.15

-स. प्रा., संस्कृत विभाग,
महारानी लक्ष्मीबाई शा. उत्कृष्ट महाविद्यालय,
ग्वालियर (म०प्र०)

सज्जन-दुर्जन

सुजनः सुजनीकर्तुमशक्तो यच्चिरादपि।

खलः खलीकरोत्येव जगदाशु तदद्भुतम्॥1/90॥ महापुराण

यह एक आश्चर्य की बात है कि सज्जन पुरुष चिरकाल के सतत प्रयत्न से भी जगत् को अपने समान सज्जन बनाने के लिए समर्थ नहीं हो पाते परन्तु दुर्जन पुरुष उसे शीघ्र ही दुष्ट बना लेते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सारा लोक अशुभ कार्यों में अधिक प्रभावित होता है। इसका प्रमुख कारण है उसके पूर्व के संस्कार क्योंकि अनादिकाल से काम, भोग और बन्ध की कथा सुनता रहा है।

जैन दार्शनिकों का अन्य दर्शनों को त्रिविध अवदान

- प्रो. सागरमल जैन

जैन दार्शनिकों ने अन्य भारतीय दर्शनों को जो अवदान दिया है वह त्रिविध है। वह त्रिविध इस दृष्टि से है कि प्रथमतः उन्होंने अन्य दर्शनों की एकान्तवादी धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की निष्पक्ष समीक्षा की और उनके एकान्तवादिता के दोषों को स्पष्ट किया। इस क्षेत्र में जैन दार्शनिक आलोचक न होकर समालोचक या समीक्षक ही रहे। दूसरे उन्होंने परस्पर विरोधी दार्शनिक मतवादों के मध्य अपनी अनेकान्तवादी दृष्टि से समन्वय किया। तीसरे उन्होंने निष्पक्ष होकर दर्शन संग्राहक ग्रंथों की रचना की है।

(१) अन्य दार्शनिक एवं धार्मिक परंपराओं का निष्पक्ष प्रस्तुतिकरण-

प्रथमतया उन्होंने अन्य भारतीय दर्शनों में जो एकान्तवादिता का दोष आ गया था, उसके निराकरण का प्रयत्न किया। जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों की जिन मान्यताओं की समीक्षा की, वह उनकी एकान्तवादिता की समीक्षा थी, न कि उनके सिद्धांत का समग्रतया निराकरण। उदाहरणार्थ जैनो ने बौद्धों के जिस क्षणिकवाद की समीक्षा की थी, वह उनके एकांत परिवर्तनशीलता के सिद्धांत की थी, जैनदर्शन ने वस्तु या सत्ता के स्वरूप में उत्पाद और व्यय को स्वीकार करके वस्तु की परिवर्तनशीलता तो स्वयं ही स्वीकार की थी। इसी प्रकार जब वे सांख्य के कूटस्थ नित्य आत्मवाद या वेदान्त के सत् की अपरिवर्तनशीलता के सिद्धांत की समीक्षा करते हैं, तो उनका आशय सत्ता की ध्रौव्यता का पूर्ण निराकरण नहीं है वे स्वयं भी उत्पाद-व्यय के साथ सत्ता की ध्रौव्यता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जैन दार्शनिकों के द्वारा उनकी जो आलोचना प्रतीत होती है, वह आलोचना नहीं, मात्र समीक्षा है, यह जान लेना आवश्यक है। वस्तुतः वे उन सिद्धांतों में रहे हुए एकान्तवादिता के दोषों का निराकरण का प्रयास करते हैं। उनकी भूमिका एक आलोचक की भूमिका नहीं, एक चिकित्सक की भूमिका है। जैसे एक चिकित्सक रोगी की बीमारी का निराकरण करता है, न कि उसके अस्तित्व को नकारता है, वह तो उसे स्वस्थ बनाना चाहता है। उसी प्रकार जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के एकान्तवादिता के दोष का निराकरण चाहते हैं, न कि उन सिद्धांतों का समग्रतया खण्डन करते हैं। अतः उनकी अन्य दर्शनों की समीक्षा को इसी रूप में देखा जाना चाहिये।

ऐतिहासिक दृष्टि से अन्य दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा जैनदर्शन में आगम-युग से प्रारंभ होकर सत्रहवीं शती के उपाध्याय यशोविजय के ग्रंथों तक निरंतर रूप से चलती रही, फिर भी जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों के प्रति अपनी समालोचना में भी आक्रामक नहीं हुए। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें मल्लवादी क्षमाश्रमण के द्वादशार नयचक्र (4थी-5वीं शती) में मिलता है, जिसमें उन्होंने अन्य दर्शनों की विधि-विधि, विधि, विधि-निषेध आदि रूपों में समीक्षा की, किन्तु वे किसी दर्शन या दार्शनिक विशेष

का नाम लिए बिना मात्र सिद्धांत की समीक्षा करते हैं। उन्होंने प्रतिपक्षी या समन्वयक जैनदर्शन का भी नाम लिए बिना मात्र उनकी समीक्षा की है।

जैन परंपरा में अन्य परंपराओं के विचारकों के दर्शनों एवं धर्मोपदेशों के प्रस्तुतीकरण का प्रथम प्रयास हमें ऋषिभाषित (इसिभासियाई लगभग ई.पू. 3शती) में परिलक्षित होता है। इस ग्रंथ में अन्य धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं के प्रवर्तकों यथा नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, सारिपुत्र आदि को अर्हत् ऋषि कहकर संबोधित किया गया है और उनके विचारों को निष्पक्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है। निश्चय ही वैचारिक उदारता एवं अन्य परंपराओं के प्रति समादर भाव का यह अति प्राचीन काल का अन्यतम उदाहरण है। अन्य परंपराओं के प्रति ऐसा समादरभाव वैदिक और बौद्ध परंपरा के प्राचीन साहित्य में हमें कम ही उपलब्ध होते हैं। स्वयं जैन परंपरा में भी यह उदार दृष्टि अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकी। परिणाम स्वरूप यह महान् ग्रंथ जो कभी अंग साहित्य का एक भाग था, वहां से अलग कर परिपार्श्व में डाल दिया गया। यद्यपि सूत्रकृतांग, भगवती आदि आगम ग्रंथों में तत्कालीन अन्य परंपराओं के विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनमें अन्य दर्शनों और परंपराओं के प्रति वह उदारता और शालीनता परिलक्षित नहीं होती, जो ऋषिभाषित में थी। सूत्रकृतांग अन्य दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं का विवरण तो देता है किन्तु उन्हें मिथ्या, अनार्य या असंगत कहकर उनकी आलोचना भी करता है। भगवती में विशेष रूप से मंखलि-गोशालक के प्रसंग में तो जैन परंपरा सामान्य शिष्टता का भी उल्लंघन कर देती है। ऋषिभाषित में जिस मंखलि-गोशालक को अर्हत् ऋषि के रूप में संबोधित किया गया था, भगवती में उसी का अशोभनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है, यहाँ यह चर्चा मैं केवल इसलिए कर रहा हूँ कि हम परवर्ती जैन दार्शनिक हरिभद्र, यशोविजय आदि की उदारदृष्टि का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें और यह जान सकें कि न केवल जैन परंपरा में अपितु समग्र भारतीय दर्शन में उनका अवदान कितना महान् है।

अन्य दर्शनों की एकांतवादिता की समीक्षा की दिशा में किये गये प्रयत्नों में सर्वप्रथम नाम सिद्धसेन दिवाकर का आता है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'सन्मतितर्क' में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि किसी दर्शन का कौन सा सिद्धान्त किस नय अर्थात् दृष्टिकोण के आधार पर सत्य है। उन्होंने जैनदर्शन के नयवाद की अपेक्षा से अन्य दर्शनों के सिद्धांतों की सापेक्षिक सत्यता का दर्शन कराया। उनकी इस दृष्टि का कुछ प्रभाव समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा पर भी देखा जाता है। उन्होंने यह बताया कि वेदान्त (औपनिषदिक वेदान्त) संग्रहनय से, बौद्ध दर्शन का क्षणिकता का सिद्धांत ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से तथा न्याय-वैशेषिक दर्शनों के सिद्धान्त व्यवहार नय की अपेक्षा से सत्य प्रतीत होते हैं। यही दृष्टि आगे चलकर समत्वयोगी आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों में भी विकसित हुई। जैन दार्शनिकों में सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने अपने ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मान्यताओं का विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने बत्तीस द्वात्रिंशिकाएँ लिखी हैं, उनमें नवीं में वेदवाद, दसवीं में योगविद्या, बारहवीं में न्यायदर्शन, तेरहवीं में सांख्यदर्शन, चौदहवीं में वैशेषिकदर्शन, पन्द्रहवीं में बौद्धदर्शन और सोलहवीं में नियतिवाद की चर्चा है, किन्तु सिद्धसेन ने यह विवरण

समीक्षात्मक दृष्टि से ही प्रस्तुत किया है। वे अनेक प्रसंगों में इन अवधारणाओं के प्रति चुटीले व्यंग्य भी कसते हैं। वस्तुतः दार्शनिकों में अन्य दर्शनों के जानने और उनका विवरण प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति विकसित हुई थी, उसका मूल आधार विरोधी मतों का निराकरण करना ही था। सिद्धसेन भी इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही पं. सुखलालजी संघवी का यह भी कहना है कि सिद्धसेन की कृतियों में अन्य दर्शनों का जो विवरण उपलब्ध है, वह भी पाठ-भ्रष्टता और व्याख्या के अभाव के कारण अधिक प्रामाणिक नहीं है। यद्यपि सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण आदि हरिभद्र के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं वैचारिक उदारता का परिचय दिया है, फिर भी ये सभी विचारक इतना तो मानते ही हैं कि अन्य दर्शन एकान्तिक दृष्टि का आश्रय लेने के कारण मिथ्यादर्शन हैं, जबकि जैनदर्शन अनेकान्त दृष्टि अपनाने के कारण सम्यग्दर्शन है। वस्तुतः वैचारिक समन्वयशीलता और धार्मिक उदारता की जिस ऊँचाई का स्पर्श हरिभद्र ने अपनी कृतियों में किया है वैसा उनके पूर्ववर्ती जैन एवं जैनतर दार्शनिकों में हमें परिलक्षित नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिकों में हेमचन्द्र, यशोविजय, आनन्दघन आदि अन्य धर्मों और दर्शनों के प्रति समभाव और उदारता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी यह उदारता उन पर हरिभद्र के प्रभाव को ही सूचित करती है। उदाहरण के रूप में हेमचन्द्र अपने महादेव-स्तोत्र (44) में निम्न श्लोक प्रस्तुत करते हैं-

भव बीजांकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

यह श्लोक हरिभद्र के लोकतत्त्वनिर्णय में भी कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है, यथा-

यस्य निखिलाश्च दोषा न संति, सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

वस्तुतः 2500 वर्ष के सुदीर्घ जैन इतिहास में ऐसा कोई भी समन्वयवादी उदारचेता व्यक्तित्व नहीं है, जिसे हरिभद्र के समतुल्य कहा जा सके। यद्यपि हरिभद्र के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आचार्यों ने जैनदर्शन की अनेकान्त दृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप उदारता का परिचय अवश्य दिया है फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें किन्तु ऐसे कितने हैं जिन्होंने समन्वयात्मक और उदार दृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो।

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है, एक तो उन परंपराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गये ग्रंथों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं।

साथ ही जब ग्रंथकर्ता का मुख्य लक्ष्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परंपराओं के प्रस्तुतीकरण में न्याय भी नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रांतरूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न ही नहीं किया है। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है, अपने ग्रंथ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अंधविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रांतरूप में प्रस्तुत करते हैं और न उसके संबन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं। हरिभद्र ने अपने ग्रंथ शास्त्रवार्ता-समुच्चय में कपिल को महामुनि और भगवान् बुद्ध को महाचिकित्सक कहा है, हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय में इस दृष्टिकोण का एक निर्मल विकास परिलक्षित होता है। अपने ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय के प्रारंभ में ही ग्रंथ रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं-

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धि सुखावहः॥

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रंथ में वे कपिल को दिव्यपुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं- (कपिलो दिव्यो हि स महामुनिः-शास्त्रवार्तासमुच्चय 237)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवैद्य आदि विशेषणों से अभिहित करते हैं (यतो बुद्धो महामुनिः सुवैद्य। (वही 465, 466)। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं- न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र जैसे जैन दार्शनिक अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। शास्त्रवार्तासमुच्चय में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किन्तु संपूर्ण ग्रंथ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इसी प्रकार हरिभद्र ने अन्य परंपराओं की समालोचना में भी जिस शिष्टता और आदर-भाव का परिचय दिया, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परंपरा में उपलब्ध नहीं होता है।

यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका (प्रचलित नाम स्याद्वाद-मंजरी) में अन्य दर्शनों की व्यंगात्मक शैली में समालोचना की, किन्तु कहीं भी अन्य दर्शनों के प्रति अपशब्द का प्रयोग नहीं किया है। सम्यक् समालोचना की यह परंपरा आगम युग में प्रारंभ होकर क्रमशः सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा, मल्लवादीक्षमाश्रमण के द्वादशारनयचक्र, जिनभद्रगणी की विशेषणवती, विशेषावश्यकभाष्य, हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका आदि ग्रंथों में, पुनः पूज्यपाद/ देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि, अकलंक के राजवार्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय आदि, विद्यानन्दी के श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि, प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड,

रत्नप्रभ की रत्नाकर अवतारिका, हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका आदि में मिलती है। फिर भी यह धारा आलोचक न होकर समालोचक और समीक्षक ही रही। यद्यपि हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि परवर्ती मध्ययुग में वाद-विवाद में जो आक्रामक वृत्ति विकसित हुई थी, जैन दार्शनिक भी उससे पूर्णतया अछूते नहीं रहे। फिर भी इतना अवश्य मान लेना होगा कि जैन दार्शनिकों की भूमिका आक्रामक आलोचक की न होकर समालोचक या समीक्षक की रही है, क्योंकि उनके दर्शन की धुरी रूप अनेकांतवाद की यही मांग थी।

(२) अनेकांत दृष्टि से विभिन्न दर्शनों के मध्य समन्वय के सूत्रों की खोज

जैन दार्शनिकों का दूसरा महत्वपूर्ण अवदान उनकी अनेकांत आधारित समन्वयात्मक दृष्टि है। जहाँ एक ओर जैन दार्शनिकों ने अन्य दर्शनों के एकांतवादिता के दोष का निराकरण करना चाहा, वहीं दूसरी ओर भारतीय दर्शनों के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय करना चाहा और अन्य दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्यता को देखकर उसे स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया और इस प्रकार विविध दर्शनों में समन्वय के सूत्र भी प्रस्तुत किये हैं। हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है। यद्यपि हरिभद्र चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हुए उसके भूत स्वभाववाद का खण्डन करते हैं और उसके स्थान पर कर्मवाद की स्थापना करते हैं किंतु सिद्धांत में कर्म के जो दो रूप द्रव्यकर्म और भावकर्म माने गये हैं उसमें एक ओर भावकर्म के स्थान को स्वीकार नहीं करने के कारण जहाँ वे चार्वाक दर्शन की समीक्षा करते हैं वहीं दूसरी ओर वे द्रव्यकर्म की अवधारणा को स्वीकार करते हुए चार्वाक के भूतस्वभाववाद की सार्थकता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि भौतिक तत्त्वों का प्रभाव भी चैतन्य पर पड़ता है। पं. सुखलालजी संघवी लिखते हैं कि हरिभद्र ने दोनों पक्षों अर्थात् बौद्ध एवं मीमांसकों के अनुसार कर्मवाद के प्रसंग में चित्तवासना की प्रमुखता को तथा चार्वाकों के अनुसार भौतिक तत्त्व की प्रमुखता को एक एक पक्ष के रूप में परस्पर पूरक एवं सत्य मानकर कहा कि जैन कर्मवाद में चार्वाक और मीमांसक तथा बौद्धों के मन्तव्यों का सुमेल हुआ है।

इसी प्रकार शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शनों द्वारा मान्य ईश्वरवाद एवं जगत् कर्तृत्ववाद की अवधारणाओं की समीक्षा करते हैं, किन्तु जहाँ चार्वाकों, बौद्धों और अन्य जैन आचार्यों ने इन अवधारणाओं का खण्डन ही किया है, वहाँ हरिभद्र इनकी भी सार्थकता को स्वीकार करते हैं। हरिभद्र ने ईश्वरवाद की अवधारणा में भी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को देखने का प्रयास किया है। प्रथम तो यह कि मनुष्य में कष्ट के समय स्वाभाविक रूप से किसी ऐसी शक्ति के प्रति श्रद्धा और प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। मानव मन की प्रपत्ति की भावना होती है, जिसके द्वारा वह अपने में आत्मविश्वास जागृत कर सके। पं. सुखलाल संघवी लिखते हैं मानव मन की प्रवृत्ति या शरणागति की यह भावना मूल में असत्य तो नहीं कही

जा सकती। उनकी इस अपेक्षा को ठेस न पहुँचे तथा तर्क व बुद्धिवाद के साथ ईश्वरवादी अवधारणा का समन्वय भी हो, इसलिए उन्होंने (हरिभद्र ने) ईश्वर-कर्तृत्ववादी की अवधारणा को अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। हरिभद्र कहते हैं कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक निर्मलता के फलस्वरूप अपने विकास की उच्चतम भूमिका को प्राप्त हुआ हो, वह असाधारण आत्मा है और वही ईश्वर या सिद्ध पुरुष है। उस आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने के कारण कर्ता तथा भक्ति का विषय होने के कारण उपास्य है। इसके साथ ही हरिभद्र यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जीव तत्त्वतः अपने शुद्ध रूप में परमात्मा और अपने भविष्य का निर्माता है और इस दृष्टि से यदि विचार करें तो वह ईश्वर भी है और कर्ता भी है। इस प्रकार ईश्वर कर्तृत्ववाद भी समीचीन ही सिद्ध होता है। हरिभद्र सांख्यों के प्रकृतिवाद की भी समीक्षा करते हैं किन्तु वे प्रकृति को जैन परंपरा में स्वीकृत कर्म प्रकृति के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं कि सत्य-न्याय की दृष्टि से प्रकृति कर्म-प्रकृति ही है और इस रूप में प्रकृतिवाद भी उचित है क्योंकि उसके वक्ता कपिल दिव्यपुरुष और महामुनि हैं।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिए ही दिया है क्योंकि जब वस्तु का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं है तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निःसारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद- इन तीनों सिद्धांतों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की समीक्षा का उनका प्रयत्न समीक्षा के लिए न होकर उन दार्शनिक परंपराओं की सत्यता के मूल्यांकन के लिए ही है। स्वयं उन्होंने शास्त्रवार्तासमुच्चय के प्राक्कथन में स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य अन्य परंपराओं के प्रति द्वेष का उपशमन करना और सत्य का बोध कराना है।

(३) दर्शनसंग्राहक ग्रंथों की निष्पक्ष दृष्टि से रचना

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्तों को एक ही ग्रंथ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय

की कोटि का और उससे प्राचीन दर्शनसंग्राहक कोई अन्य ग्रंथ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परंपराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रंथ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रंथों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परंपरा में ही हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना है। पं. दलसुखभाई मालवगनिया के शब्दों में (नय) चक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है उसी प्रकार उत्थापन भी विरोधी मतों की दलीलों से हो सकता है। स्थापना और उत्थापना का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करें, तभी उचित है अन्यथा नहीं। नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परंपरा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक नहीं लिखा गया।

जैनेतर परम्पराओं के दर्शन संग्राहक ग्रंथों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के सर्वदर्शनसंग्रह की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में संदेह है। इस ग्रंथ में पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्य में द्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को भी नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अंतिम सत्य नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और अंतिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शन संग्राहक ग्रंथ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है, वह इसमें नहीं है। जैनेतर परंपराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई.1350?) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यक् दर्शन है। सर्वसिद्धान्तसंग्रह और सर्वदर्शनसंग्रह दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के निरपेक्ष भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परंपरा के इन दोनों ग्रंथों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रंथों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती है, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

वैदिक परंपरा में दर्शन संग्राहक ग्रंथों में तीसरा स्थान माधव सरस्वती कृत 'सर्वदर्शनकौमुदी' का आता है। इस ग्रंथ में दर्शनों को वैदिक और अवैदिक ऐसे दो भागों में बांटा गया है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन ऐसे तीन भेद तथा वैदिक दर्शन में तर्क, तन्त्र और सांख्य ऐसे तीन भाग किये हैं। इस ग्रंथ की शैली भी मुख्यरूप से खण्डनात्मक ही है। अतः हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय जैसी उदारता और निष्पक्षता इसमें भी परिलक्षित नहीं होती है। वैदिक परंपरा के दर्शनसंग्राहक ग्रंथों में चौथा स्थान मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान भेद' का आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छह प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार संप्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है जो उसे पूर्व उल्लिखित वैदिक परंपरा के अन्य दर्शन संग्राहक ग्रंथों से अलग करती है। वह यह कि इस ग्रंथ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कह कर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रातृ तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं। इस प्रकार प्रस्थान भेद में यत्किंचित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है। किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परंपरा के आस्तिक दर्शनों के संदर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो सर्वदर्शनकौमुदीकार को भी इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन संग्राहक ग्रंथों में हरिभद्र की जो निष्पक्ष और उदार दृष्टि है वह हमें अन्य परंपराओं में रचित दर्शन संग्राहक ग्रंथों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परंपराओं का विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं किन्तु उनमें भी लेखक कहीं न कहीं अपने इष्ट दर्शन और विशेष रूप से वेदान्त को ही अंतिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतीत होते हैं।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गये दर्शन संग्राहक ग्रंथों में अज्ञातकृत 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है। किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रंथ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है क्योंकि इसके मंगलाचरण में—“सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वर” ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है। अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रंथ पद्य में है वहाँ सर्वसिद्धान्तप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रंथ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है।

जैन परंपरा के दर्शन संग्राहक ग्रंथों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (विक्रम संवत् 1265) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रंथ के अष्टम उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है। जिसमें जैन, मीमांसक, बौद्ध, सांख्य, शैव

और नास्तिक इन छह दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार इस ग्रंथ की एक विशेषता तो यह है कि इसमें न्याय-वैशेषिकों का समावेश शैवदर्शन में किया गया है। मेरी दृष्टि में इसका कारण लेखक के द्वारा हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करना ही है, क्योंकि उसमें भी न्यायदर्शन के देवता के रूप में शिव का ही उल्लेख किया गया है-

‘अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिव’-१३

यह ग्रंथ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र 66 श्लोक प्रमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन संग्राहक ग्रंथों में तीसरा क्रम राजशेखर (वि.सं. 1405) के षड्दर्शनसमुच्चय का आता है। इस ग्रंथ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छह दर्शनों का भी उल्लेख किया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रंथ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं, वहाँ राजशेखर जैनदर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार संभवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन संग्राहक ग्रंथ आचार्य मेरूतुंगकृत षड्दर्शननिर्णय है। इस ग्रंथ में मेरूतुंग ने जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक इन छह दर्शनों की मीमांसा की है किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिए लिखा गया है। एक मात्र इसकी विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया ने षड्दर्शनसमुच्चय की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसूरि कृत षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकृतक एक कृति मुद्रित है। इसमें भी जैन, नैयायिक, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैनदर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को सांप्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन संग्राहक ग्रंथों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रंथ में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत किया है।

श्रावकाचार संग्रह में सामायिक, प्रतिक्रमण स्वरूप, विधि तथा महत्त्व

- डॉ. शीतल चन्द जैन

जैनदर्शन की विशुद्ध साधना पद्धति में सामायिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। श्रावकाचार संग्रह में सामायिक की विवेचना शिक्षाव्रत एवं तीसरी प्रतिमा को ध्यान में रख कर की गई है। सभी श्रावकाचारों में शिक्षाव्रत को एवं सामायिक को स्वीकार किया गया है। प्रस्तुत आलेख में सर्वप्रथम शिक्षाव्रत के स्वरूप पर विचार करते हैं।

सामायिक का समय पूर्ण होने तक हिंसादि पाँचों पापों का पूर्ण रूप से अर्थात् मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदना से त्याग करने को सामायिक शिक्षाव्रत कहा गया है।

जिस प्रकार तीसरी प्रतिमाधारी श्रावक को कम से कम दो घड़ी और अधिक से अधिक छह घड़ी सामायिक का निर्देश किया गया है उस प्रकार का बंधन सामायिक शिक्षाव्रत के अभ्यास करने वाले गृहस्थ के लिये नहीं है। गृहस्थ सामायिक का अभ्यास धीरे-धीरे अल्पकाल से प्रारंभ करता है और उत्तरोत्तर समय को बढ़ाता है। उसका मुख्य लक्ष्य आर्त और रौद्र ध्यान से तथा संक्लेशभाव से बचकर आत्मा में स्थिर होने का है। प्रारंभिक अभ्यासी को जब तक किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती है, तभी तक वह सामायिक में स्थिर होकर बैठ सकता है। सामायिक प्रारंभ करने के पूर्व वह शिर-केश चोटी आदि की गाँठ लगाता है। पहिने और ओढ़े हुए वस्त्र की गाँठ लगाता है। जिसका भाव यह है कि सामायिक करते समय वायु से उड़कर ये मन को व्याकुल न करें। सामायिक में बैठे हुए पद्मासन में हाथों की मुट्ठी को बाँधना है अर्थात् दाहिनी हथेली को बाईं हथेली के ऊपर रखता है तथा कभी खड़े होकर भी सामायिक करता है। इन सबमें यही भाव निहित है कि जब तक मुझे बैठने या खड़े रहने में आकुलता नहीं होगी, तब तक मैं सामायिक करूँगा। इस प्रकार जब तक मेरे केशबंध आदि रहेंगे, तब तक मैं सामायिक करूँगा, ऐसी मर्यादा को सामायिक का काल जानना चाहिए। जहाँ पर चित्त में विक्षोभ उत्पन्न न हो ऐसे एकान्त स्थान में, वनों में, वसतिकाओं में अथवा चैत्यालयों में प्रसन्न चित्त में सामायिक की वृद्धि करना चाहिए। उपवास अथवा एकाशन के दिन गृहव्यापार और उनकी व्यग्रता को दूर करके अन्तरात्मा में उत्पन्न होने वाले विकल्पों की निवृत्ति के साथ सामायिक अनुष्ठान प्रारंभ करें। पुनः आलस्य रहित होकर सावधानी के साथ पाँचों व्रतों की पूर्णता करने के कारणभूत सामायिक का प्रतिदिन अभ्यास बढ़ाना

चाहिए। सामायिक काल में आरंभ सहित सभी परिग्रह नहीं होते हैं, अतः उस समय गृहस्थ वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है। सामायिक को प्राप्त हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे सामायिक के समय शीत, उष्ण और दंशमशक आदि परिषह को तथा अकस्मात् आये हुए उपसर्ग को भी मौन धारण करते हुए अचलयोगी होकर अर्थात् मन-वचन-काय की दृढ़ता के साथ सहन करें। सामायिक के समय श्रावक को ऐसा विचार करना चाहिए कि जिस संसार में रह रहा हूँ वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुखरूप है और मेरे आत्म स्वरूप से भिन्न है तथा मोक्ष इससे विपरीत स्वभाव वाला है, अर्थात् शरणरूप है, शुद्धरूप है, नित्य है, सुखमय है और आत्मस्वरूप है। संसार, देह और भोगों से उदासीन होने के लिए अनित्य, अशरण आदि भावों का तथा मोक्षप्राप्ति के लिए उसके नित्य शाश्वत सुखरूप का चिंतन करें। इस सामायिक शिक्षाव्रत के ये पांच अतिचार हैं—सामायिक करते समय वचन का दुरुपयोग करना, मन में संकल्प-विकल्प करना, काय का हलन-चलन करना, सामायिक का अनादर करना और सामायिक करना भूल जाना। उपर्युक्त शिक्षाव्रत की विवेचना के उपरांत सामायिक प्रतिमा की दृष्टि से विवेचना श्रावकाचार संग्रह में प्राप्त होती है।

समत्व साधना में साधक जहाँ बाह्य रूप में (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग करता है, वहीं आंतरिक रूप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव एवं सुख-दुख, लाभ-हानि आदि में समभाव रखता है। लेकिन इन दोनों से भी ऊपर वह अपने विशुद्ध रूप में आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। **समय एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः सं प्रयोजनमस्येति सामायिकम्।** 'सं' अर्थात् एकत्वपने से "आय" अर्थात् आगमन परद्रव्यों से निवृत होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना। वह समय ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। श्रावकाचार संग्रह में सामायिक का विचार सभी श्रावकाचारों में एक सा ही मिलता है। बारह व्रतों के अन्तर्गत चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है। इसके बाद तीसरी प्रतिमा सामायिक के रूप में ग्रहण की गई है। प्रायः सभी आचार्यों ने एक सा अनुसरण किया है।

सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने सामायिक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार के टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य ने विस्तार में विवेचना की है। आचार्य समन्तभद्र के निम्नलिखित श्लोक को आधार मानकर परवर्ती आचार्यों ने सामायिक का स्वरूप, विधि एवं महत्त्व बतलाया है।

चतुरावर्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः।

सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी॥

र.क.श्रा. 5/18

अर्थात् सामायिक पदधारी श्रावक चार बार तीन-तीन आवर्त और चार बार नमस्कार करने वाला यथाजातरूप से अवस्थित ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासन का धारक मन-वचन-काय इन तीनों योगों की शुद्धिवाला और प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों संध्याओं में वंदना को करने वाला सामायिकी श्रावक है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा है, जिसमें सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत की परिपूर्णता, त्रैकालिक साधना और निरतिचार परिपालना अति आवश्यक है। दूसरी प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास दशा में था, अतः वहाँ पर दो या तीन बार करने का कोई बन्धन नहीं था, वह इतने काल तक सामायिक करें, इस प्रकार कालकृत नियम भी शिथिल था। पर तीसरी प्रतिमा में सामायिक का तीनों संध्याओं में किया जाना आवश्यक है और वह भी एक बार में कम से कम दो घड़ी या एक मुहूर्त (48 मिनट) तक करना चाहिए। सामायिक का उत्कृष्ट काल छह घड़ी का है। साथ ही तीसरी प्रतिमाधारी को यथाजात रूप धारणकर सामायिक करने का विधान आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट शब्दों में किया है। इस यथाजात पद से स्पष्ट है कि तीसरी प्रतिमाधारी को सामायिक एकान्त में नग्न होकर करना चाहिए। चामुण्डराय और वामदेव ने भी अपने संस्कृत भावसंग्रह में यथाजात होकर सामायिक करने का विधान किया है। इसका अभिप्राय यही है, इस प्रतिमा का धारक श्रावक प्रतिदिन तीन बार कम से कम दो घड़ी तक नग्न रहकर साधु बनने का अभ्यास करे। इस प्रतिमाधारी को सामायिक संबन्धी दोषों का परिहार भी आवश्यक बताया गया है। इस प्रकार तीसरी प्रतिमा का आधार सामायिक नाम का प्रथम शिक्षाव्रत है।

सामायिक शिक्षाव्रत और सामायिक प्रतिमा में अंतर—

आचार्यों ने 'सर्वविरतातिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः' कहकर सर्व पापों से निवृत्त होने का लक्ष्य रखना ही देशविरति का फल बताया है। यहां सर्व सावद्य विरति सहसा संभव नहीं है, इसके अभ्यास के लिए शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। स्थूल हिंसादि पाँचों पापों का त्याग अणुव्रत है और उनकी रक्षार्थ गुणव्रतों का विधान किया गया है। गृहस्थ प्रतिदिन कुछ समय तक सर्व सावद्य (पाप) के योग के त्याग का भी अभ्यास करें इसके लिए सामायिक शिक्षाव्रत का विधान किया गया है। अभ्यास को एकाशन या उपवास के दिन से प्रारंभ कर प्रतिदिन करते हुए क्रमशः प्रातः सायंकाल और त्रिकाल करने तक विधान आचार्यों ने किया है। यह दूसरी प्रतिमा का विधान है। इसमें काल का बन्धन और अतिचारों के त्याग का नियम नहीं है, हाँ उनसे बचने का प्रयास अवश्य किया है। सकलकीर्ति ने एक वस्त्र पहिन कर सामायिक करने का विधान किया है।

किन्तु तीसरी प्रतिमाधारी को तीनों सन्ध्याओं में कम से कम दो घड़ी तक निरतिचार सामायिक करना आवश्यक है। वह भी शास्त्रोक्त कृतिकर्म के साथ और यथाजातरूप धारण करके। रत्नकरण्डक के इस 'यथाजात' पद के ऊपर वर्तमान के व्रतीजनों या प्रतिमाधारी श्रावकों ने ध्यान नहीं दिया है। समन्तभद्र ने जहाँ सामायिक शिक्षाव्रती को 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' (वस्त्र से लिपटे मुनि के तुल्य) कहा है, वहाँ सामायिक प्रतिमाधारी को यथाजात (नग्न) होकर के सामायिक करने का विधान किया है। चारित्रसार में भी यथाजात होकर सामायिक करने का निर्देश है और व्रतोद्योतन श्रावकाचार में तो बहुत स्पष्ट शब्दों में 'यथोत्पन्नस्तथा भूत्वा कुर्यात्सामायिकं च सः' कहकर जैसा नग्न उत्पन्न होता है वैसा ही नग्न होकर सामायिक करने का विधान तीसरी

प्रतिमाधारी के लिए किया गया है।

यथाजात धारण करके भी जघन्य दो घड़ी, मध्यम चार घड़ी और उत्कृष्ट छह घड़ी का काल तीसरी प्रतिमा में बताया है। कुछ आचार्यों ने तो मुनियों के समान 32 दोषों से रहित सामायिक करने का विधान तीसरी प्रतिमाधारी के लिए किया है।

सामायिक शिक्षाव्रत में जहाँ स्वामी समन्तभद्र ने अशरण, अनित्य, अशुचि आदि भावनाओं को भाते हुए संसार को दुखरूप चिंतन करने तथा मोक्ष को शरण, नित्य और पवित्र आत्मस्वरूप से चिंतन करने का निरूपण किया है, वहाँ सामायिक प्रतिमा में उक्त चिंतन के साथ आगे पीछे किये जाने वाले कुछ विशेष कर्तव्यों का विधान किया है। वहाँ बताया है कि चार बार तीन-तीन आवर्त और चार नमस्कार रूप कृति कर्म को भी त्रियोग की शुद्धिपूर्वक करें।

वर्तमान में सामायिक करने के पूर्व चारों दिशाओं में एक-एक कायोत्सर्ग करके तीन-तीन बार मुकुलित हाथों के घुमाने रूप आवर्त करके नमस्कार करने की विधि प्रचलित है। पर इस विधि का लिखित आगम आधार उपलब्ध नहीं है। सामायिक प्रतिमा के स्वरूप वाले 'चतुरावर्तत्रितय' इस श्लोक की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है कि एक-एक कायोत्सर्ग करते समय 'णमोअरिहताणं' इत्यादि सामायिक दण्डक और 'थोस्सामि हे जिणवरे तित्थयर केवली अणंतजिणे' इत्यादि स्तवनदण्डक पढ़ें। इन दोनों दण्डकों के आदि और अंत में तीन-तीन आवर्तों के साथ एक-एक नमस्कार करें। इस प्रकार बारह आवर्त और चार नमस्कारों का विधान किया है।

आवर्त का द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का निरूपण है। दोनों हाथों को मुकुलित कर अंजुलि बांधकर प्रदक्षिणा रूप से घुमाने को द्रव्य आवर्त कहा गया है। मन, वचन और काय के परावर्तन को भाव आवर्त कहा गया है। जैसे सामायिक दण्डक बोलने के पूर्व क्रिया विज्ञानरूप मनो विकल्प होता है, उसे छोड़कर सामायिक दण्डक के उच्चारण में मन को लगाना मन परावर्तन है। इसी सामायिक दण्डक के पूर्व भूमि को स्पर्श करते हुए नमस्कार किया जाता है, उसके पश्चात् खड़े होकर तीन बार हाथों को घुमाना काय परावर्तन है। तत्पश्चात् 'चैत्यभक्ति कायोत्सर्ग करोमि' इत्यादि उच्चारण को छोड़कर 'णमो अरिहताणं' इत्यादि पाठ का उच्चारण करना वचन परावर्तन है। इस प्रकार सामायिक दण्डक से पूर्व मन, काय और वचन के परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं। इसी प्रकार सामायिक दण्डक के अंत में तीन आवर्त तथा स्तवनदण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त होते हैं। उक्त विधि से एक कायोत्सर्ग में सब मिलकर बारह आवर्त होते हैं।

सामायिक की विधि

श्रावकाचार संग्रह में सामायिक की विधि सभी आचार्यों के अनुसार प्रायः एक जैसी ही निरूपित की गई है। सामायिक के समय क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि, आसन शुद्धि, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, शरीर शुद्धि तथा विनय शुद्धि इस तरह सात प्रकार की शुद्धि, बारह आवर्त, चार शिरोनति और चार प्रणाम पूर्वक पूर्व या उत्तर दिशा में मुख करके दोनों हाथों

को सीधा लटकाकर, दोनों पाँवों के बीच में चार अंगुल की जगह छोड़कर अपने सीने को सीधा रखकर नासा दृष्टि लगाकर कायोत्सर्गपूर्वक आसन पर खड़ा होकर 48 मिनट तक सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता है। मेरी सामायिक काल की मर्यादा पूर्ण न हो जाये, तब तक मैं दूसरे स्थान का एवं परिग्रह का त्याग करता हूँ और अपनी देह पर पड़े हुए परिग्रह का त्याग करता हूँ। शरीर के प्रति ममता का त्याग करने का अभ्यासपूर्वक चारों दिशाओं में से प्रत्येक में नौ बार णमोकार मंत्र का जाप, तीन आवर्त, एक शिरोनति और जिस दिशा से आज्ञा ली है उस दिशा में अष्टांग नमस्कार करके तीन बार 'नमोऽस्तु' बोलकर आसन लगाता है। सामायिक पूर्ण होने तक खड़गासन, पद्मासन एवं पर्यकासन उक्त तीन आसनों में से किसी एक आसन से सामायिक को पूर्ण करता है। प्रतिज्ञा की हुई कालावधि में एक आसन से ही जाप करके सामायिक पूर्ण करता है।

आचार्य सोमदेव के अनुसार देवपूजा, आप्त सेवा ही सामायिक है।² श्रावक को प्रतिदिन तीनों संध्याकालों में जिनेन्द्र देव की जिनपूजा पूर्वक सामायिक करना चाहिए।

जिनपूजा के बिना सभी सामायिक क्रिया दूर है। अतः सामायिक करने वाले भव्यों को पूजा शास्त्र में कह गये क्रम के अनुसार निरंतर जिनपूजा करनी चाहिए। वस्तुतः सोमदेव के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने देवपूजा को सामायिक निरूपित नहीं किया है। समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में सामायिक का महत्त्व दो शब्दों से प्रतिपादित किया है- प्रथम चेलोपसृष्टमुनिरिव दूसरा 'यथाजात'।³ वस्तुतः शिक्षाव्रती को मुनिरिव कहना और उसकी पुष्टि तीसरी प्रतिमाधारी को 'यथाजात' शब्द कहकर 'नग्न' होकर सामायिक में मुनि बनने का अभ्यास करने की ओर संकेत है। यद्यपि यह सब उपचार से कथन है परन्तु सामायिक का महत्त्व स्पष्ट है। आचार्य समन्तभद्र का समर्थन कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी किया गया है।⁴

पुरुषार्थसिद्ध्युपायकार ने भी सामायिक शिक्षाव्रती को महाव्रती कहकर महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।⁵ अमितगति श्रावकाचार में सामायिक में स्थित शिक्षाव्रती को महात्मा शब्द से व्यवहृत किया है।⁶

सागारधर्मावृत में सामायिक को शाश्वत मुक्ति का कारण बताया है और सामायिक के दो भेद करके द्रव्य सामायिक में पूजन को महत्त्व दिया है और भाव सामायिक में आत्म ध्यान को महत्त्व दिया है।⁷ इस संबन्ध में कहा है कि जिस महात्मा के द्वारा यह भाव सामायिक प्रतिमा रूप भाव धारण किया गया है उस महात्मा ने सामायिक व्रत रूपी मंदिर के शिखर पर कलश स्थापित किया है।⁸

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में सामायिक का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जिस सामायिक व्रत के धारण करने से अभव्य पुरुष ग्रैवेयक पर्यन्त तक चला जाता है तो सम्यग्दर्शन से पवित्र भव्य पुरुष उस व्रत के माहात्म्य से मोक्ष नहीं जायेगा? अवश्य जायेगा।⁹

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सामायिक को धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान को प्रकट करने वाला कहा है।¹⁰

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में सामायिक में रत गृहस्थ को वस्त्रसहित मुनि के समान बताया है क्योंकि संचित कर्मों को नष्ट करता है एवं नये कर्मों को ग्रहण नहीं करता है।¹¹ साथ ही सोलहवें स्वर्ग की संपदा पाकर मोक्ष में जा विराजमान हो जाता है। परन्तु जो व्यक्ति गृहस्थाश्रम रूपी रथ में लगे रहने पर भी सामायिक नहीं करते सदा पापकर्मों की चिंता में ही लगे रहते हैं वे निपट बैल हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।¹² जो सामायिक, महामंत्र स्तवन आदि में भरपूर धर्म्यध्यान को नहीं करते वे पाप के कारण नरक में पड़ते हैं जिस प्रकार परमाणु से कोई छोटा नहीं और आकाश से अन्य कोई बड़ा नहीं है उसी प्रकार पञ्चनमस्कार मंत्र से बढ़कर और कोई मंत्र इस संसार में नहीं है।¹³ उमास्वामी श्रावकाचार में सामायिक की क्रिया करने वाले को कहा गया है कि वह मनुष्य भरतराज के समान शीघ्र ही केवलज्ञान की प्राप्ति करता है। श्रावकाचार सारोद्धार में स्पष्ट किया है कि सामायिक के समय गृहस्थ वस्त्र से परिवेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त हो जाता है। जैसे अग्नि काष्ठ को भस्म कर देती है, सूर्य बढ़ते हुए महान्धकार के समूह को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार समता भावरूप स्वच्छजल के प्रवाह से जिसके भीतर शांतस्वरूप लक्ष्मी होती है। ऐसा भव्य जीवों का प्रिय सामायिक रूप वृक्ष अति उद्धत कर्मों के उदय से उत्पन्न ताप को शांत कर देता है।

प्रतिक्रमण का स्वरूप, विधि एवं महत्त्व

श्रावकाचार संग्रह में अमितगति श्रावकाचार, धर्मसंग्रह श्रावकाचार एवं व्रतोद्योतन श्रावकाचार के अतिरिक्त किसी अन्य श्रावकाचार में प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में विशेष विवेचना नहीं की गई है क्योंकि अब्रती श्रावक के लिए प्रतिक्रमण का विधान आगमों में नहीं मिलता है। अतः श्रावकाचार में भी इसकी विशेष विवेचना प्राप्त नहीं होती है। आचार्य अमितगति के अनुसार प्रतिक्रमण का स्वरूप और विधि इस प्रकार से है-

सांयकाल संबन्धी प्रतिक्रमण करते समय 108 श्वासोच्छ्वास वाला कायोत्सर्ग किया जाता है। प्रभातकाल संबन्धी प्रतिक्रमण में उससे आधा अर्थात् 54 श्वासोच्छ्वास वाला कायोत्सर्ग कहा गया है। अन्य सर्व कायोत्सर्ग सत्ताईस श्वासोच्छ्वास काल प्रमाण कहे गये हैं। संसार के उन्मूलन में समर्थ पञ्चनमस्कार मंत्र के नौ बार चिंतन करने पर सत्ताईस श्वासोच्छ्वासों में बोलना या मन में उच्चारण करना चाहिए। बाहर से भीतर की ओर वायु के खींचने को श्वास कहते हैं। भीतर की ओर से बाहर वायु के निकालने को उच्छ्वास कहते हैं। इन दोनों के समूह को श्वासोच्छ्वास कहते हैं। श्वास लेते समय 'णमो अरहंताणं' पद और श्वास छोड़ते समय 'णमो सिद्धाणं' पद बोलें। पुनः श्वास लेते समय 'णमो आइरियाणं' पद और श्वास छोड़ते समय 'णमो उवज्झायाणं' पद बोलें। पुनः 'णमो लोए' को श्वास लेते समय और 'सव्व साहूणं' पद श्वास छोड़ते समय बोलना चाहिए। इस विधि से नौ बार णमोकारमंत्र के उच्चारण के चिंतन में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल का एक जघन्य कायोत्सर्ग कहा गया है। श्रावकों को प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण, चार बार स्वाध्याय, तीन बार वंदना और दो बार योगभक्ति करना चाहिए। उत्कृष्ट श्रावक को ये सर्व कार्य प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए और संसार के पार जाने के इच्छुक अन्य पुरुषों को

उन्हें यथाशक्ति करना चाहिए।

प्रतिक्रमण के संदर्भ में 'पं. रतनचन्द जैन मुख्तार: व्यक्तित्व और कृतित्व' में निम्नलिखित प्रकार से विचार व्यक्त किये गये हैं जो दृष्टव्य हैं-

व्रत में लगे हुए दोषों का पश्चाताप प्रतिक्रमण है तथा आगामी काल के लिए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। जहाँ पर प्रतिक्रमण होता है वहीं पर प्रत्याख्यान भी अवश्य होता है, क्योंकि पिछले दोषों का वास्तविक प्रतिक्रमण वहीं पर होता है जहाँ पर साथ-साथ यह दृढ़ त्याग होता है कि आगामी ऐसे दोष नहीं लगाऊँ। अत्रती के कोई व्रत ही नहीं होते जिसमें दोष लगे और जिनका वह प्रतिक्रमण करे और न वह आगामी व्रत धारण करके पूर्व कृत दोषों को त्यागने के लिए कटिबद्ध है फिर अत्रती के प्रतिक्रमण कैसे संभव है? प्रथम प्रतिमा से व्रत प्रारंभ हो जाते हैं और वहीं पर प्रतिक्रमण प्रारंभ हो जाता है। आचार्यों ने भी प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक श्रावकों के लिये और महाव्रतधारी मुनियों के लिए प्रतिक्रमण पाठ रचे हैं, किन्तु अत्रती के लिए किसी भी आचार्य ने प्रतिक्रमण पाठ नहीं रचा। कालदोष से कुछ ऐसे भी जीव उत्पन्न हो गए हैं जो त्यागी का भेष धारण करके आगमविरुद्ध पुस्तकें रचने लगे हैं और उनको प्रकाशित करके केवल अपने आप ही नहीं, किन्तु अन्य को भी कुगति का पात्र बनाते हैं।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि श्रावकाचार संग्रह में शिक्षाव्रतों के स्वरूप में सामायिक शिक्षाव्रत को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जिसका विवेचन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रतिमाओं के विवेचन में सामायिक प्रतिमा की विवेचना विस्तार से की गई है। जिसका महत्त्व पूर्व में हम विवेचित कर आये हैं। प्रतिक्रमण के स्वरूप, विधि और महत्त्व के संबंध में अमितगति श्रावकाचार के अतिरिक्त अन्य श्रावकाचारों में श्रावक के षट् आवश्यक में मात्र उल्लेख मिलता है। उसका स्वरूप, विधि एवं महत्त्व के संबंध में आचार्यों ने कलम नहीं चलायी है, यही कारण है कि दिगम्बर परंपरा में श्रावकों में प्रतिक्रमण करने की परम्परा नगण्य है। इससे सिद्ध है कि श्रावकों को सामायिक आवश्यक है परन्तु प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं है।

संदर्भ-

1. जो कुण्दि काएस्सगं वारस आवत संजुदो धीरो।
गमणदुगं पि कुणंतो चदुप्पमाणो प सणणप्पा॥
प्र.भा.श्रा. स्वामीकार्तिकेयानुपेक्षा श्रा. धर्म श्लोक पृ. 26
चिंतंतो ससरूवं जिणबिम्बं अहव अक्खरं परमं।
झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं॥ वही श्लोक 71
2. आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमचिरं॥
शि.ब्र.उपा.ति.चम्पू श्लोक पृष्ठ 26
मूलव्रतं व्रतान्यर्चा..... वही श्लोक 821
3. सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।

- चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्॥
शि.ब्र.श्राव.सं.प्र.भा.र.श्रा. श्लोक 102
4. किच्चादेसपमाण सव्वं सावज्ज वज्जि दो होऊ।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणि सारिसो हवे ताव॥
शि.ब्र.श्रा.सं.प्र.भा. स्वामी का., श्लोक 56
5. सामायिकाश्रितानां समस्त सावद्य योग परिहारात्।
भवति महाव्रतमेधामुदयेऽति चरित्रमोहस्य॥ शि.ब्र.वही.पु. उपा., श्लोक 150
6. व्यक्तार्तरौद्रयोगो भक्त्या विदधाति निर्मलध्यान।
सामायिकं महात्मा सामायिक संयतो जीवः॥
शि.ब्र.श्रा.प्र.भा. अमितगति श्रावकाचारः श्लोक 86
7. परं तदेव मुक्त्यङ्गमिति नित्यमन्द्रित।
नक्तं दिनान्तेऽवश्यं तद भावयेच्छक्तितोऽन्यदा॥ श्रा.सं.द्विभा. सा.ध. 5/29
8. आरोपितः सामायिकव्रत प्रसाद मूर्ध्नि।
कलशस्तेन येनैषा धूरारोहि महात्मना॥ वही श्लोक सं. आ. 3

- प्राचार्य

श्री दि. जैन आ. संस्कृत महाविद्यालय
वीरोदय नगर, सांगानेर,
जयपुर (राजस्थान)

अशरण संसार

संते आउसि जीवह मरणं गलयम्मि णत्थि संदेहो ।

णव रक्खई कोवि तहिं संतं सोसेइ ण हु कोई ॥81॥ भावसंग्रह
'अर्थात् जब तक आयुर्कर्म बना रहता है, तब तक वह जीवित रहता है तथा जब आयुर्कर्म पूर्ण हो जाता है तब वह जीव मर जाता है। कोई भी देव अथवा भगवान् उसकी रक्षा नहीं कर सकता। आयु के रहते कोई भी उसे मार नहीं सकता है। जिस प्रकार रावण के पास कई विद्यायें और उनके रक्षक देव थे और चक्र भी था फिरभी जब उसकी आयु पूर्ण हुई तो अपने ही चक्र से मारा गया।

अतः किसी भी देवता अथवा भगवान् की पूजा-अर्चा करने से वह मृत्यु से बच नहीं सकता है क्योंकि आयु पूर्ण होने पर मृत्यु होना निश्चित है यही कर्म सिद्धांत है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार के परिप्रेक्ष्य में वैयावृत्यः दान भी, धर्म भी

-आलोक कुमार जैन

भारतीय संस्कृति में दो परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। जिनमें से एक वैदिक परम्परा, दूसरी श्रमण परम्परा। श्रमण परम्परा में भी दो दर्शन समान रूप से सम्मिलित हैं- एक बौद्धदर्शन, दूसरा जैनदर्शन। प्रत्येक दर्शन में भिन्न-भिन्न अवधारणायें हैं जिनमें कोई निवृत्तिपरक है तो कोई प्रवृत्तिपरक है, जिसमें जैनदर्शन दोनों अवधारणाओं का समन्वय करता हुआ पूर्व में प्रवृत्ति का पालन करने का उपदेश देता है और पीछे धीरे-धीरे प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति में पहुँचने को कहता है।

जैनधर्म तथा दर्शन की परम्परा अनादि-अनन्त है, जो अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान रही है और अनन्तकाल तक निर्बाध रूप से प्रवाहित रहेगी। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव के अन्तस् में भगवद् शक्ति निहित है जिसको वह प्रकट कर ले तो स्वयं ईश्वर बन सकता है। जैनदर्शन ऐसा दर्शन है जो स्वकल्याण करने का उपदेश तो देता ही है साथ में परकल्याण करने का भी उपदेश देता है। पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है-

आदहिदं कादव्वं आदहिदे परहिदं च कादव्वं ।

आदहिद परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥^१

जिस प्रकार तीर्थंकर पहले स्वकल्याण करते हैं और केवलज्ञान हो जाने पर विश्व के समस्त प्राणियों को उनके हित का उपदेश देकर सबका कल्याण करते हैं। विश्व के समस्त प्राणियों का हित चाहने वाला होने के कारण ही उन्हें तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है और तीर्थंकरत्व प्राप्त करने के बाद अरहंतावस्थापर्यन्त दिव्यध्वनि के माध्यम से सबका कल्याण करते हैं। धन्य हैं वे तीर्थंकर, और धन्य है उनकी विश्वहित भावना। वह तीर्थंकर पद और वह भावना किस प्रकार से प्राप्त हो इस पर आचार्य कहते हैं कि वह भावना हमारे अन्तरंग में वैयावृत्य से उत्पन्न हो सकती है, जो स्वपर हितकारिणी है। इससे स्वयं का कल्याण तो होता ही है साथ में पर का कल्याण भी होता है। जब दूसरे की वैयावृत्य करते हैं तो ये हमारे अन्तरंग के धर्मस्वभाव को प्रकट करता है जिससे पर को स्वयं की वस्तु अथवा अन्य प्रकार का सहयोग भी मिलता है तो दान भी हो जाता है। अतः आचार्यों ने वैयावृत्य को दान एवं धर्म को दोनों रूपों में स्वीकार किया है।

वैयावृत्य का लक्षण करते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि-

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।

अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन॥^२

अर्थात् तत्परूप धन से युक्त तथा सम्यग्दर्शनादि गुणों के भण्डार गृहत्यागी मुनीश्वर के लिए विधि-द्रव्य आदि सम्पत्ति के अनुसार प्रतिदान और प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित धर्म के निमित्त जो दान दिया जाता है वह वैयावृत्य कहलाता है। दुःखनिवृत्ति जिसका प्रयोजन है उसे वैयावृत्य कहते हैं। अन्य आचार्यों ने वैयावृत्य के स्थान पर अतिथिसंविभाग शब्द का प्रयोग भी किया है। अतिथिसंविभाग व्रत में जिस प्रकार अतिथि के लिये दान की प्रधानता है उसी प्रकार वैयावृत्य में भी दान की प्रधानता है क्योंकि आहारादि दान के द्वारा अतिथि की दुःखनिवृत्ति का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। अतिथिसंविभाग शब्द में मात्र चार प्रकार के दानों का समावेश होता है। उसके अतिरिक्त संयमीजनों की जो सेवा सुश्रूषा है उसका समावेश नहीं होता और वैयावृत्य शब्द में दान और सेवा-सुश्रूषा सबका समावेश होता है इसलिए समन्तभद्रस्वामी ने 'वैयावृत्य' इस व्यापकशब्द को स्वीकृत किया है। समन्तभद्रस्वामी जैनन्याय के जनक के रूप में विख्यात हैं, अतः उनके द्वारा सभी विषयों में समीचीन रूप से विचार करके ही किसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण से ही इन्होंने 'वैयावृत्य' जो व्यापक शब्द है उसको शिक्षाव्रत में सम्मिलित किया है।

इसी सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने वैयावृत्य की एक और परिभाषा निर्दिष्ट करते हुए कहा है -

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।

वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम्॥³

अर्थात् सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्रीति से देशव्रत और सकलव्रत के धारक संयमीजनों पर आगत नाना प्रकार की आपत्ति को दूर करना, पैरों का उपलक्षण से हस्तादि अंगों का दबाना और इसके सिवाय अन्य भी जितना उपकार है वह सब वैयावृत्य कहा जाता है। व्यवहार नय से परस्पर की सहानुभूतिपूर्ण प्रवृत्ति से ही चतुर्विध मुनिसंघ का निर्वाह होता है। गृहस्थ मुनिधर्म की शिक्षा लेने के उद्देश्य से शिक्षाव्रतों का पालन करता है इसीलिये उसके शिक्षाव्रतों में वैयावृत्य नाम रखा गया है। वैयावृत्य करते समय किसी प्रकार की ग्लानि या मान-सम्मान का भाव नहीं रखना चाहिये क्योंकि स्वार्थबुद्धि से किया गया वैयावृत्य धर्म का अंग नहीं हो सकता। जो सेवा किसी स्वार्थबुद्धि से की जाती है तो वह श्ववृत्ति (कुक्कुरवृत्ति) कहलाती है और जब निःस्वार्थ भाव से की जाती है तब परमधर्म कहलाती है अर्थात् कर्म-निर्जरा का कारण मानी जाती है।

अन्य आचार्यों ने भी वैयावृत्य के लक्षण अथवा परिभाषा को अपने ग्रन्थों में उल्लिखित किया है -

आचार्य कार्तिकेयस्वामी लिखते हैं कि - “जो मुनि उपसर्ग से पीड़ित हों और बुढ़ापे आदि के कारण जिनकी काया क्षीण हो गई हो, उन मुनियों का जो अपनी पूजा प्रतिष्ठा की अपेक्षा न रखते हुए सत्कार करता है वह वैयावृत्य तप का पालन करता है। गुणी पुरुषों के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उनका दुःख दूर करना वैयावृत्य भावना है”¹⁴

आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि किसी गुणवान् के दुःख की उत्पत्ति होने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावृत्य है।⁵

आचार्य अकलंक स्वामी लिखते हैं कि आचार्य आदि पर व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उसका प्रासुक औषधि आहार-पान, आश्रय, चौकी, तख्ता और सांथरा आदि धर्मोपकरणों से प्रतिकार करना तथा सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना वैयावृत्य है। औषधि आदि का अभाव होने पर अपने हाथ से खकार, थूक, नाक आदि भीतरी मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण को बनाना आदि भी वैयावृत्य है।⁶

इसी संदर्भ में आचार्य वीरसेनस्वामी ने भी वैयावृत्य का लक्षण बताते हुए कहा है कि रागादि से व्याकुल साधु के विषय में जो कुछ भी किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है।⁷

महामात्य चामुण्डराय जी लिखते हैं कि शरीर की पीड़ा अथवा दुष्ट परिणामों को दूर करने के लिए शरीर की चेष्टा से किसी औषधि आदि अन्य द्रव्य से अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना अथवा कोई भी क्रिया करना वैयावृत्य है।⁸ यह परिभाषा आत्म व्यावृत्ति की ओर संकेत करती है।

चतुर्विध संघ के ऊपर आए हुए उपद्रव को दूर करना ही वैयावृत्य है। इसमें सबसे प्रमुख साधुओं को आहार-दान देना गर्भित है। इसी में अतिथिसंविभाग को भी ग्रहण कर लिया है। उसी दान के स्वरूप को बताते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि-

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन।

अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥⁹

अर्थात् सात गुणों से सहित और कौलिक, आचारिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा गृहसम्बन्धी कार्य तथा खेती आदि के आरम्भ से रहित सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का नवधा भक्तिपूर्वक आहार आदि के द्वारा जो गौरव किया जाता है वह दान है।

नवधा भक्ति-आहारदान के नौ सोपान होते हैं, जिन्हें आचार्य नवधा भक्ति के रूप में प्ररूपित करते हैं। वे इस प्रकार हैं -

पड़गाहन, उच्चासन, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, एषण आदि आहारशुद्धि। ये नौ पुण्य कहलाते हैं और इन्हीं को नवधाभक्ति कहते हैं।¹⁰

पंचसूना-जीवघात के स्थान को सूना कहते हैं। इनको श्रावक न चाहते हुए भी करता ही है क्योंकि इन कार्यों के बिना गृहस्थाश्रम का निर्वहन नहीं हो सकता।¹¹ श्रावक को आहार आदि के निर्माण में कुछ अल्प पाप बन्ध होता भी है तो भी वह पतन का कारण नहीं है क्योंकि चतुर्विध संघ को आहार देने से महान् पुण्य का बन्ध होता है। वे पाँच सूना इस प्रकार हैं-

- 1 खण्डनी - उखली से कूटना।
- 2 प्रेषणी - चक्की से पीसना।

- 3 चुल्ली - चूल्हे में आग जलाना ।
- 4 उदकुम्भ - पानी के घट भरना ।
- 5 प्रमार्जनी - बुहारी (झाड़ू) से भूमि को साफ करना।

ये पाँच हिंसा के कार्य गृहस्थ के होते ही हैं। खेती व्यापारादि कार्य आरम्भ कहलाते हैं। जिनके आरम्भ और सूना नष्ट हो चुके हैं ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणों से सहित मुनियों का आहारादि दान के द्वारा जो गौरव अथवा आदर किया जाता है वह दान कहलाता है।

वैयावृत्य के भेद- आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने दान को वैयावृत्य के अंग के रूप में स्वीकृत किया है। दान को सभी आचार्यों ने चार प्रकार का माना है और आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी चार प्रकार का दान स्वीकार किया है।

आहारौषधियोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।

वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरम्नाः॥^{१२}

अर्थात् विद्वज्जन आहार, औषधि, उपकरण और आवास के भी दान से वैयावृत्य को चार प्रकार का कहते हैं। भोजन-पानादि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषधि कहते हैं। ज्ञानोपकरणादि को उपकरण और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चार दानों में कौन-कौन प्रसिद्ध हुआ इसको भी आचार्य समन्तभद्र स्वामी बताते हैं कि आहार दान में राजा श्रीषेण, औषधिदान में वृषभसेना, उपकरण दान में कौण्डेश ग्वाला और वसतिका दान में सूकर प्रसिद्ध हुए हैं।¹³

आचार्य वट्टकरे स्वामी ने लिखा है कि गुणाधिक में, उपाध्यायों में, तपस्वियों में, शिष्यों में, दुर्बलों में, साधुओं में, गण में, साधुओं के कुल में, चतुर्विध संघ में, मनोज्ञ में उपद्रव आने पर वैयावृत्य करना श्रावक का परम कर्तव्य है।¹⁴ आचार्य उमास्वामी ने भी पात्र की अपेक्षा वैयावृत्य के दस भेद किये हैं- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य (शिष्य), ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ।¹⁵

दाता की पात्रता- दान सात गुणों से सहित दाता के द्वारा दिया जाता है। आचार्यों ने सात गुणों का वर्णन किया तो है परन्तु अलग-अलग आचार्यों ने अलग-अलग सात गुणों का कथन किया है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्रस्वामी के अनुसार दाता के सात गुण इस प्रकार हैं - श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, और सत्य। ये सात गुण जिसके होते हैं वह दाता प्रशंसनीय है।¹⁶

आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने भी सात गुणों का वर्णन इस प्रकार किया है - ऐहिक फल की इच्छा न करना, शान्ति, निष्कपटता, अनसूया- अर्थात् अन्य दाताओं से ईर्ष्या न करना, अविषादित्व, मुदित्व और निरहंकारित्व।¹⁷

दाता की शुद्धता का विचार तीन प्रकार से किया जाता है -

- 1 **कौलिकशुद्धि** - जिसकी वंश परम्परा शुद्ध हो उसे कुलशुद्ध कहते हैं।
- 2 **आचारिकशुद्धि** - जिसका आचरण शुद्ध हो, उसे आचार शुद्ध कहते हैं।

3 **शारीरिकशुद्धि**— जिसने स्नानादिक कर शुद्ध वस्त्र धारण किए हैं, अंग-भंग नहीं है, शरीर में कोई राध-रुधिर को बहाने वाली बीमारी नहीं हो, वह शारीरिकशुद्ध है।

वैयावृत्य का फल – वैयावृत्य करने वाले गृहस्थ को किन-किन फलों की प्राप्ति होती है, उसका वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी लिखते हैं कि –

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टिखलु गृहविमुक्तानाम् ।

अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥^{१८}

अर्थात् निश्चय से जिस प्रकार जल खून को धो देता है उसी प्रकार गृहरहित निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह रहित साधु को (ना कि गृह आदि से रहित साधु को) दिया गया दान गृह सम्बन्धी कार्यों से उपार्जित अथवा सुदृढ़ भी कर्म को नष्ट कर देता है क्योंकि श्रावक को प्रतिदिन की क्रियाओं में नियम से बहुत कर्मबन्ध होता है इसलिए उन कर्मों का भार इन वैयावृत्य-दानादि क्रियाओं के करने से कम हो जाता है और परम्परा से मोक्ष पद की प्राप्ति कराने में सहायक होता है । आगे **आचार्यसमन्तभद्रस्वामी** लिखते हैं कि तप के भण्डारस्वरूप मुनियों को नमस्कार करने से उच्च गोत्र, आहार आदि दान देने से भोग, प्रतिग्रहण आदि करने से सम्मान, भक्ति करने से सुन्दर रूप और स्तुति करने से सुयश प्राप्त होता है।^{१९}

वैयावृत्य का माहात्म्य बताते हुए आचार्य कहते हैं कि उचित समय में योग्य पात्र के लिए दिया गया थोड़ा भी दान उत्तम पृथ्वी में पड़े हुए वटवृक्ष के बीज के समान प्राणियों के लिए माहात्म्य और वैभव से युक्त पक्ष में छाया की प्रचुरता से सहित बहुत भारी अभिलषित फल को देता है।^{२०} यहाँ पर आचार्य समन्तभद्रस्वामी का तात्पर्य है कि जो मुनि दान/वैयावृत्य के योग्य है और उन्हें जिस समय जिस वस्तु की आवश्यकता है उसी समय थोड़ा सा भी दिया गया दान अतिशय पुण्य का कारण बनता है और मोक्षप्राप्ति में भी सहायक होता है । यदि कुपात्रों या अपात्रों को प्रचुर भी दान दे दिया तो भी कुभोगभूमि का ही कारण होता है। दान देने में मात्रा (परिमाण) नहीं, भावना और आवश्यकतानुसार पदार्थ का माहात्म्य होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य पात्र दान के फलस्वरूप स्वर्ग में उत्पन्न होता है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य भोगभूमि में उत्पन्न होता है । कुपात्रदान का फल कुभोगभूमि और अपात्रदान का फल नरक एवं निगोद आदि है । अन्य आचार्यों ने भी दान की महिमा का बहुत गुणगान किया है। दान की महिमा का बखान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो भी तीर्थंकर को प्रथम आहार दान देता है वह नियम से उसी भव से मोक्ष जाता है । प्रथमानुयोग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि तीर्थंकर, ऋद्धिधारी मुनि आदि को दान देने पर श्रावकों के घर पर पञ्चाश्चर्य प्रकट होते हैं। ये सब दान की ही महिमा है। राजा श्रेयांस आदिनाथ स्वामी को इस युग का प्रथम आहार दान देने के कारण दान तीर्थंकर कहलाते हैं। पूजाओं में भी **पं. दानतराय जी** ने दान की महिमा का उल्लेख किया है—

उत्तम त्याग करै जो कोई, भोगभूमि सुर शिवसुख होई।

—दसलक्षण पूजा जयमाला

निशदिन वैयावृत्य करैया, सो निहचै भवनीर तिरैया।

—सोलहकारण पूजा जयमाला

अर्हत्पूजा भी वैयावृत्य— सामान्य जनों में यह विश्वास है कि साधु की सेवा करना ही वैयावृत्य है परन्तु आचार्यों ने साधु की वैयावृत्य के अतिरिक्त देव और शास्त्र की वैयावृत्य करने का भी निर्देश दिया है। श्रावक और साधक अरिहन्त की सेवा सुश्रूषा, पूजाभक्ति आदि के द्वारा महान् पुण्य का बन्ध करते हैं। यहाँ पर श्रावक को द्रव्य एवं भाव दोनों पूजाओं के द्वारा वैयावृत्य का निर्देश है और मुनि को केवल भावपूजा के द्वारा अरिहन्त की भक्ति करना चाहिए। जो श्रावक अरिहन्त की पूजा के निमित्त से जिनमन्दिर में जिनप्रतिमा को स्थापित करा के अरिहन्त की वैयावृत्य से स्वतन्त्र हो जाते हैं उनके लिए आचार्यों ने निर्देश दिया है कि भले ही प्रतिमा विराजमान कराना महान् पुण्य का कारण है परन्तु प्रतिमा विराजमान करा के जो समझते हैं कि मेरा सारा काम हो गया यदि ऐसा सोचकर पूजा करने नहीं आते हैं तो ऐसे व्यक्ति कुल सहित विनाश को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण प्रत्यक्ष देखने में भी आए हैं।

आचार्यों ने मुनियों के साथ-साथ श्रावकों के भी छह आवश्यक बताए हैं जिनमें से प्रथम आवश्यक देवपूजा है। जिनेन्द्र भगवान् के गुणानुवादस्वरूप स्तुति वन्दना आदि करना देवपूजा कहलाती है। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भी अर्हत्पूजा की प्रेरणा दी है और कहा है कि श्रावक को आदर युक्त होकर सब पापों को नाश करने वाली, काम और दुःखों को दूर करने वाली अर्हत्पूजा अवश्य करनी चाहिए।²¹ अर्हत्पूजा में एक मेंढक की भक्ति से प्रसन्न होकर आचार्य ने भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कथन किया है।

अरिहन्त भगवान् की पूजा करते हैं तो उसमें अरिहन्त भगवान् का कोई रागद्वेष नहीं है और न ही भगवान् का कुछ भला होता है और न ही भगवान् की पूजा करने से भगवान् खुश होकर किसी का भला करते हैं। अगर ऐसा माना जाए तो भगवान् की वीतरागता का अभाव हो जाएगा इसीलिए भगवान् की पूजा में अपने भाव और आत्म परिणामों से ही कल्याण होता है, इससे स्वयं की ही वैयावृत्य हो जाती है। अर्हत्पूजा में ही पंच परमेष्ठी की भक्ति समन्वित है और शास्त्र की पूजा भी समन्वित है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् और उनकी वाणी में कुछ भी अंतर नहीं है ऐसा आचार्यों का कथन है। अरिहन्त के गुणों की पूजन करते हुए हम अपने ही गुणों की पूजा करते हैं जिससे उन गुणों का प्रकटीकरण हो जाए।

वैयावृत्य के अतिचार- वैयावृत्य के पाँच अतिचारों का वर्णन भी आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने किया है जो इस प्रकार हैं—

हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि।

वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते।²²

अर्थात् निश्चय से हरितपत्र आदि से देने योग्य वस्तु को ढँकना तथा हरितपत्र आदि पर देने योग्य वस्तु को रखना, अनादर, विस्मरण और मत्सरत्व ये पाँच वैयावृत्य के अतिचार कहे जाते हैं। इन्हीं पाँचों अतिचारों की तरह आचार्य उमास्वामी महाराज ने भी पाँच

अतिचार बताये हैं-

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः।²³

इसमें परव्यपदेश और कालातिक्रम ये दो अतिचार भिन्न हैं। दूसरे दातार के द्वारा देने योग्य वस्तु को देना अथवा स्वयं आहार न देकर नौकर आदि से दिलवाना ये परव्यपदेश नामक अतिचार है। यह अतिचार अनादर का ही रूपान्तर प्रतीत होता है। किन्तु कालातिक्रम भिन्न है। इस संदर्भ में अन्य आचार्यों ने भी आचार्य उमास्वामी का ही अनुकरण किया है।

उपसंहार - वर्तमान समय में वैयावृत्य का स्वरूप अधिकतर जनसमुदाय को ज्ञात नहीं है और न ही उन्होंने इसके विषय में कभी अध्ययन करने का विचार किया है। अधिकांशतः सभी का अभिप्राय होता है कि नगर /ग्राम में साधु संघ अथवा आर्यिका संघ आया है तो शाम को उनके हस्त, पाद, मस्तक आदि दबाना ही वैयावृत्य है। कोई पूछता है कि कहाँ से आ रहे हैं? जवाब आता है कि वैयावृत्य करके आ रहे हैं। वे समझते हैं कि यही वैयावृत्य है, परन्तु ऐसा नहीं है अपितु अन्य और भी साधु वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी वैयावृत्य है। यहाँ आवश्यकता का आशय है- जो साधुवर्ग के ज्ञान-ध्यान-तप में साधक बनें उन वस्तुओं की पूर्ति करना यथा- शास्त्रदान, स्वास्थ्य सम्बन्धी एवं अध्ययनोपयोगी सामग्री की व्यवस्था करना।

कुछ लोगों के मन में विपरीत मान्यताएं हैं जिसका कारण है स्वाध्याय में अप्रवृत्ति, वे लोग शास्त्र सम्मत चर्चायें कभी नहीं कर सकते हैं। वे कहते हैं कि साधुवर्ग को तेल आदि लगाकर हस्तादि की मालिश करना दोषपूर्ण है क्योंकि उनके ऐसा करने से लेपाहार हो जाता है और उनके आहार ग्रहण का दोष आता है। परन्तु लेपाहार क्या कहलाता है? और किनके होता है? यह जानना आवश्यक है। आचार्यों ने लेपाहार वृक्षों आदि के कहा है। जो वातावरण से कार्बन-डाई-ऑक्साइड और जमीन से जल आदि से पोषक तत्वों को ग्रहण करते हैं वह लेपाहार कहलाता है।

वैयावृत्य करने वाले का ही मुख्यतया भला होता है क्योंकि वैयावृत्य से महान् पुण्य का बन्ध होता है। साधु का उससे ज्यादा कोई उपकार नहीं होता क्योंकि वैयावृत्य करने के उपरान्त अगले दिन उनकी स्थिति पुनः पहले जैसी हो जाती है और यदि कोई साधु स्वयं मंगवाकर तेल आदि से हाथ-पैर आदि की मालिश करवाते हैं तो निश्चित रूप से वे साधु भी सदोष हैं। अतः हमें वैयावृत्य अपने पापों के प्रक्षालन के लिए करना चाहिए ।

भगवती आराधना में आचार्य शिवार्य लिखते हैं कि वैयावृत्य करने वाले को बहुत से गुणों की प्राप्ति होती है। केवल स्वाध्याय करने वाला स्वयं की ही उन्नति कर सकता है जबकि वैयावृत्य करने वाला स्वयं को एवं अन्य को दोनों को उन्नत बनाता है। स्वाध्याय करने वाले पर यदि विपत्ति आती है तो उसको वैयावृत्य करने वाले की ओर ही मुड़कर देखना होता है। वैयावृत्य समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव और प्रवचन वात्सल्य की अभिव्यक्ति के लिए की जाती है और जो सम्यग्दृष्टि जीव वैयावृत्य करता है वह उसके लिए निर्जरा का कारण बनती है। यदि कोई वैयावृत्य नहीं करता है

तो आचार्य कहते हैं कि समर्थ होते हुए तथा अपने बल को छिपाते हुए भी जिनोपदिष्ट वैयावृत्य जो नहीं करता है वह धर्म-भ्रष्ट है। जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश, साधुवर्ग का एवं आगम का त्याग, ऐसे महादोष वैयावृत्य न करने से उत्पन्न होते हैं। **आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी** विरचित **प्रवचनसार** की टीका में **आचार्य जयसेन स्वामी** लिखते हैं कि- रोगी, बाल, गुरु तथा वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य के निमित्त शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ की गई बातचीत निन्दित नहीं है, यह प्रशस्तभूत चर्या रागसहित होने के कारण श्रमणों को गौण होती है और गृहस्थों को क्रमशः परमनिर्वाण सौख्य का कारण होने से मुख्य है। वैयावृत्य की तप में भी और सोलहकारण भावनाओं में भी गणना है। जो वैयावृत्य तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कराती है, ऐसी भावना को आवश्यक रूप से धारण करना ही चाहिए।

इस प्रकार **आचार्य समन्तभद्रस्वामी** ने वैयावृत्य को शिक्षाव्रत के साथ-साथ दान में भी ग्रहण किया है। दानादि करने एवं शिक्षाव्रतों को पालन करना हम सबका धर्म है। अतः हम कह सकते हैं कि **वैयावृत्य- दान भी, धर्म भी।**

सन्दर्भ सूची-

1. भावपाहुड़ - आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी
2. र. क. श्रा. श्लोक-111
3. वही श्लोक-11
4. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा 457
5. स. सि. 6/24, 9/20
6. राजवार्तिक 9/24/15 -16
7. धवला 823, 41/88/8, 13/5, 4, 26/63
8. चारित्रसार 150/3
9. र. क. श्रा. श्लोक-113
10. वसुनन्दिश्रावकाचार गाथा 225
11. मूलाचार गाथा 926, अनगार धर्माभूत 4/125
12. र. क. श्रा. श्लोक-11
13. वही श्लोक-118
14. मूलाचार गाथा 307
15. तत्त्वार्थसूत्र 9/24
16. र. क. श्रा. श्लोक-113 टीका
17. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
18. र. क. श्रा. श्लोक-114
19. वही श्लोक-115
20. वही श्लोक-116
21. वही श्लोक-119
22. वही श्लोक-121
23. तत्त्वार्थसूत्र 7/36

-शोध अध्येता

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाङ्गूँ (राजस्थान)

तत्त्वार्थवार्तिक में वर्णित श्रुतज्ञान और उसकी दार्शनिक मीमांसा

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

जैनन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रंथ दार्शनिकता से परिपूर्ण हैं, उन्हीं ग्रंथों में तत्त्वार्थवार्तिक नामक ग्रन्थ भी है, जो तत्त्वार्थसूत्र पर लिखे गये वार्तिकों से संवलित व्याख्या ग्रंथ है। तत्त्वार्थसूत्र का विषय सैद्धान्तिक और आगमिक है। फलतः तत्त्वार्थवार्तिक में उसी विषय का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। आगम और सिद्धान्त में ज्ञान की प्रमुखता होती है। सम्यक्त्व के सद्भाव में ज्ञान सम्यग्ज्ञान संज्ञा से अभिहित होता है। सम्यग्ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल भेदरूप से पांच प्रकार का है। इन पाँचों में श्रुतज्ञान का विशेष स्थान और महत्त्व है। 'श्रुतज्ञान' का विषयभूत अर्थ श्रुत है।¹ 'श्रुत' शब्द की निरुक्ति है "श्रूयते अनेन तत् शृणोति श्रवणमात्रं वा श्रुतम्"² जिसके द्वारा पदार्थ सुना जाता है। जो सुनता है या सुनना मात्र श्रुत कहलाता है। यह श्रुत शब्द सुनने रूप अर्थ की मुख्यता से निष्पादित है तो भी रूढ़ि से उसका वाच्य कोई ज्ञान विशेष है। जैसे कुशल शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ कुश को काटने वाला होता है फिर भी उस व्युत्पत्ति अर्थ को छोड़कर सर्वत्र कुशल का अर्थ रूढ़िवश चतुर किया जाता है उसी प्रकार श्रुत शब्द का भी व्युत्पत्ति अर्थ सुना हुआ है तथापि रूढ़िवश उसका श्रुतज्ञान रूप ज्ञान विशेष अर्थ लिया जाता है।³ श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। अर्थात् मतिज्ञान के बाद अस्पष्ट अर्थ की तर्कणा को लिए हुए जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। आचार्य कार्तिकेय ने कहा है- जो परोक्ष रूप से सब वस्तुओं को अनेकान्त रूप दर्शाता है। संशय, विपर्यय आदि से रहित होता है, उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।⁴ यह इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञानपूर्वक तो होता है किन्तु इसमें मन की ही प्रधानता रहती है जैसा कि तत्त्वार्थवार्तिककार कह रहे हैं- शब्द सुनने के बाद जो मन की ही प्रधानता से अर्थज्ञान होता है, वह श्रुत है। एक घड़े को इन्द्रिय और मन से जानकर तज्जातीय विभिन्न देशकालवर्ती घटों के संबन्ध से जाति आदि का जो विचार होता है वह श्रुत है। जीव को जानकर सत्संख्यादि अनुयोगों के द्वारा नाना प्रकार से वर्णन करने में जो समर्थ होता है, वह श्रुतज्ञान है।⁵

आचार्य श्री वीरसेनस्वामी जिस ज्ञान में मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थ को छोड़कर तत्संबन्धित दूसरे पदार्थ में व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।⁶ श्रुतरूप उपाधि के कारण ज्ञान में कोई भेद नहीं होता है-

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।

तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया॥१५॥ प्रवचनसार

पुद्गल द्रव्यात्मक दिव्यध्वनि वचनों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् से उपदिष्ट सूत्र द्रव्य श्रुत है, उसकी ज्ञप्ति ज्ञान है। अर्थात् पूर्वोक्त शब्द श्रुत के आधार से जो ज्ञप्ति (जानना) है, वह ज्ञान कहा जाता है, उसी ज्ञान को सूत्र की ज्ञप्ति-श्रुतज्ञान कहा जाता है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्रदेव ने कहा है कि सम्यक्त्व के सद्भाव में श्रुतज्ञान और मिथ्यात्व के रहने पर कुश्रुत ज्ञान रहता है। अर्थात् श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से और मन के अवलम्बन से मूर्त-अमूर्त द्रव्य का विकल्प रूप से विशेषतः अवबोधन करता है, वह श्रुतज्ञान है और मिथ्यादर्शन के उदय के साथ श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है।⁷

तत्त्वार्थसार में श्रुतज्ञान के लक्षण के साथ भेदों का भी निरूपण किया है “मतिज्ञान द्वारा जाने हुए विषय का अवलम्बन लेकर उसी विषय संबन्धी जो उत्तर तर्कणा उत्पन्न होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। इसके बीस भेद किये गये हैं।⁸ श्रुतज्ञान के अनेक पर्यायवाची नाम हैं।⁹

श्रुतज्ञान को तर्क भी कहते हैं। इस श्रुतज्ञान में समस्त पदार्थों तक को जानने की सामर्थ्य है। आचार्यों ने इसे केवलज्ञान सदृश कहा है। “द्वादशांग और चौदहपूर्व रूप परमागम संज्ञा वाला द्रव्य श्रुत है, वह मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों के ज्ञान के विषय में परोक्ष की व्याप्ति ज्ञानरूप से केवलज्ञान के सदृश है।¹⁰ केवलज्ञान और स्याद्वाद श्रुत में तत्त्वों को जानने में मात्र साक्षात् (प्रत्यक्ष) एवं असाक्षात् (परोक्ष) का भेद है। इन दोनों में से किसी एक के भी अभाव में वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।¹¹

प्रवचनसार की टीका तात्पर्य वृत्ति में कहा है कि विचित्र गुण पर्यायों सहित समस्त पदार्थ श्रमणों को स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं क्योंकि श्रमण विचित्र गुण-पर्याय वाले सर्व द्रव्यों में व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुत ज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते हैं इसलिए यह कथन सत्य है कि आगम चक्षु वालों को कुछ अदृश्य नहीं है।¹² हाँ, द्रव्यश्रुत ज्ञान का विषय समस्त पदार्थों का अनन्तत्वां भाग भले ही हो किन्तु भावश्रुत ज्ञान का विषय समस्त पदार्थ हैं क्योंकि ऐसा माने बिना तीर्थंकरों के वचनातिशय का अभाव होगा।¹³

श्रुतज्ञान को भट्टकलंक देव ने द्रव्य आदि सामान्य से अनादिनिधन कहा है। किसी पुरुष ने कहीं और कभी किसी भी प्रकार से द्रव्य सामान्य आदि की रचना नहीं की है। हाँ, उन्हीं द्रव्य आदि विशेष नय की अपेक्षा उसका आदि और अन्त संभव है इसलिए मतिज्ञान पूर्वक होता है ऐसा कहा जाता है। बीजाङ्कुरवत् अनादिनिधन है।¹⁴ छद्मस्थजीव भावश्रुत ज्ञान द्वारा निज शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं तथा केवली भगवान् केवलज्ञान द्वारा निज शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं इसलिए आत्मानुभव और आत्मज्ञान की अपेक्षा से केवलज्ञान और श्रुतज्ञान में समानता है जैसाकि आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी कहते हैं- जैसे भगवान् युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्य विशेष युक्त केवलज्ञान द्वारा अनादि निधन-निष्कारण (अहेतुक) असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव से एकत्व होने से केवल (अखण्ड) है, ऐसे आत्मा का

आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली हैं, उसी प्रकार छद्मस्थ पुरुष भी क्रमशः परिणमित होते हुए कुछ चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान के द्वारा अनादि निधन निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है, ऐसे आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली है।¹⁵ उक्त कथन में केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानी दोनों को अविशेष दिखलाया गया है। जैसे केवलज्ञान के द्वारा आत्मा का जानपना होता है, वैसा श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के लिए दोनों ज्ञान बराबर हैं। केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। श्रुतज्ञानरूप कारण से केवलरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, “सम्पूर्ण पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान की उत्पत्ति तो पूर्ववर्ती पूर्णद्विदशांग श्रुतज्ञान रूप कारण से होती हुई मानी गई है।¹⁶ इसीलिए यह समझना चाहिए कि श्रुतज्ञान का माहात्म्य अचिन्त्य है। कहा भी है कि श्रुतज्ञान के लिए ही जीवन की प्राप्ति सार्थक है, इसके बिना शरीर वृद्धि निरर्थक है-

श्रुताय येषां न शरीर वृद्धिः, श्रुतं चारित्राय च येषु नैव।

तेषां बलित्वं ननु पूर्व कर्म, व्यापारभारो वहनाय मन्ये॥ यश.चम्पू

जिनका जीवन श्रुतज्ञान के लिए नहीं है और श्रुतज्ञान चारित्र के लिए नहीं है, उनका बलवान् होना पूर्व कर्म के व्यापार भार को ढोने के लिए ही है।¹⁷

श्रुतज्ञान का विनयपूर्वक अध्ययन करने से प्रमाद से विस्मृत भी हो जाने पर भी यह श्रुत आगामी भवों में केवलज्ञान प्राप्ति का कारण होता है।¹⁸ श्रुतज्ञान समस्त रोगों को दूर करने वाली औषधि है।¹⁹ सम्प्रति तो आत्मकल्याण के लिए श्रुतज्ञान से बढ़कर दूसरा कोई भी ज्ञान नहीं है-

अत्यल्पामतिरक्षजा मतिरयं बोधोऽवधिः सावधिः,

साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः।

दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथा गोचरं,

माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते॥

इन्द्रियों से होने वाला यह मतिज्ञान अत्यन्त अल्प है। अवधिज्ञान अवधि-सीमा से सहित है, आश्चर्य से युक्त मनःपर्ययज्ञान किसी मुनि विशेष के होता है फिर भी अत्यन्त अल्प है और यह केवलज्ञान रूप ज्योति इस समय अत्यन्त दुर्लभ होने से मात्र कथा का विषय है, परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है। अतः इसके माहात्म्य का वर्णन क्या करें?

श्रुतज्ञान को मुख्यता देते हुए समन्तभद्राचार्य ने समस्त शास्त्रों को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभक्त किया है। मानव इन चार अनुयोगों का आश्रय कर अपने श्रुतज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान को पुष्ट कर सकता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तो तत्तत् आवरणों का अभाव होने पर स्वयं प्रगट होते हैं, उनमें मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं चलता है किन्तु अनुयोगात्मक श्रुतज्ञान में पुरुषार्थ द्वारा आत्मकल्याण करना शक्य है। इसका लोकोत्तर गौरव का बोध तो इस ज्ञान

के भेद-प्रभेद को जानकर ही हो सकता है। अतः संक्षिप्त रूप में भेदों को भी प्रस्तुत किया जा रहा है। यह ज्ञान दो भेद रूप है शब्दलिंगज और अर्थलिंगज। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान एवं अनक्षरात्मक (गो.जी.315) द्रव्यश्रुत और भावश्रुत (गो.जी.348)।

लौकिक शब्द लिंगज श्रुतज्ञान- सामान्य पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से जो उत्पन्न होता है, वह लौकिक शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। असत्य बोलने के कारणों से रहित पुरुष के मुख से निकले हुए वचन समुदाय से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। धूमादिक पदार्थरूप लिंग से जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान है। इसका दूसरा नाम अनुमान है।²⁰

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान- “जीवः अस्ति” ऐसा शब्द कहने पर कर्ण इन्द्रिय रूप मतिज्ञान के द्वारा “जीवः अस्ति” यह शब्द ग्रहण किया गया। इस शब्द से जीव नामक पदार्थ है, ऐसा ज्ञान हुआ सो श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न मतिज्ञान है। इस शब्द के वाच्यरूप आत्मा के अस्तित्व में वाच्य-वाचक संबन्ध के संकेत ग्रहणपूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न है, वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है क्योंकि यह ज्ञान अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न हुआ है।

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान- परमार्थज्ञान अक्षर रूप नहीं है, जैसे शीतल पवन का स्पर्श होने पर वहाँ शीतल पवन का जानना तो मतिज्ञान है और उस ज्ञान से वायु की प्रकृति वाले को यह पवन अनिष्ट है, ऐसा जानना श्रुतज्ञान है। सो यह अनक्षरात्मक लिंग जन्य श्रुतज्ञान है क्योंकि यह अक्षर के निमित्त से उत्पन्न नहीं हुआ है।²¹

द्रव्यश्रुत- पुद्गल द्रव्य स्वरूप वर्ण-पद वाक्यात्मक है। यह आचारांग आदि अंग, उत्पाद आदि पूर्व तथा सामायिकादि चौदह प्रकीर्णक रूप जानना।

भावश्रुत- द्रव्यश्रुत को सुनने से होने वाला ज्ञान भावश्रुत है। यह अनक्षरात्मक पर्याय और पर्यायसमास ज्ञानों को मिलाने पर बीस प्रकार का है।²² अंगबाह्य²³ और अंगप्रविष्ट²⁴ के भेद से लोकोत्तर शब्द लिंगज श्रुत दो भेद रूप है।

अंग बाह्य- श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु और अल्प बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य हैं। सुखबोधिनी तत्त्वार्थवृत्ति में अंगबाह्य को कालिक और उत्कालिक के रूप में वर्णित किया गया है। इसके भेदों का वर्णन किया जाता है-

- (1) सामायिक- जो समता भाव के विधान का वर्णन करता है वह सामायिक है।
- (2) चतुर्विंशतिस्तव- इसमें चौबीस तीर्थकरों की वन्दना विधि उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पाँच कल्याणक, चौतीस अतिशयों के स्वरूप और तीर्थकरों की वंदना की सफलता का वर्णन है।
- (3) वन्दना- यह एक जिनेन्द्रदेव संबन्धी और उन एक जिनेन्द्र देव के अवलम्बन से जिनालय संबन्धी वंदना का वर्णन करता है।
- (4) प्रतिक्रमण- इसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमणों का विवेचन है।
- (5) वैनयिक- पाँच प्रकार के विनयों को इसमें वर्णित किया गया है।

- (6) कृतिकर्म- इसमें अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पूजा विधि का वर्णन किया गया है।
- (7) दशवैकालिक- इसमें दशवैकालिकों का वर्णन है साथ में मुनियों की आचारविधि और गोचर विधि का भी वर्णन है।
- (8) उत्तराध्ययन- अनेक प्रकार के प्रश्नों के समाधानात्मक उत्तर इसमें हैं। इसी में बताया गया है कि चार प्रकार के उपसर्ग कैसे सहन करना चाहिए। बाईस परीषहों को सहन करने की विधि क्या है? इन सभी के उत्तर हैं।
- (9) कल्प्य व्यवहार- इसमें साधुओं की प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है।
- (10) कल्प्याकल्प्य- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा “मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है।” इन्हीं सब बातों का वर्णन करता है।
- (11) महाकल्प्य- काल और संहनन का आश्रय कर साधु के योग्य द्रव्य और क्षेत्रादि का वर्णन करने वाला है।
- (12) पुण्डरीक- भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारण रूप दान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है।
- (13) महापुण्डरीक- समस्त इन्द्रों और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारण रूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है।
- (14) निषिद्धिका- बहुत प्रकार के प्रायश्चित्त के प्रतिपादन करने वाले आगम को निषिद्धिका कहते हैं।

इस प्रकार अंगबाह्य शास्त्रों का परिचय दिया गया। प्रसंगप्राप्त अंग प्रविष्ट के भेदों की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु को प्रस्तुत किया जा रहा है-

अंगप्रविष्ट- भगवान् अरहन्त सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित अर्थश्रुत से शब्दश्रुत का गुम्फन बुद्ध्यादि ऋद्धियों के स्वामी गणधरों द्वारा किया जो द्वादशांग रूप है, वही अंगप्रविष्ट जानना चाहिए। उन द्वादशांग का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

- (1) आचारांग- इसमें मुनियों का त्रयोदश प्रकार का चरित्र निरूपित है। साथ में आठ प्रकार की शुद्धि आदि का भी वर्णन है।
- (2) सूत्रकृतांग- जिसमें ज्ञान विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है, वह सूत्रकृतांग है।
- (3) स्थानांग- जिसमें अर्थों के एक-एक, दो-दो आदि अनेक आश्रयरूप से पदार्थों का कथन किया जाता है, वह स्थानांग है।
- (4) समवायांग- जिसमें सर्व पदार्थों की समानता रूप से समवाय का विचार किया गया है, वह समवायांग है।
- (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति- इस अंग में “जीव है कि नहीं?” इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का उत्तर या निरूपण है।
- (6) ज्ञातृधर्मकथांग- इस अंग में अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का वर्णन है।

- (7) उपासकाध्ययनांग- इस अंग में श्रावक धर्म का विशेषरूप से विवेचन किया गया है।
- (8) अन्तःकृद्दशांग- संसार का अन्त जिन्होंने कर दिया है, वे अन्तकृत हैं, ऋषभादि चौबीस तीर्थकरों के समय में दश-दश मुनि घोरोपसर्ग सहन करके अन्तःकृत केवली हुए हैं, उन दस-दस मुनियों का वर्णन जिसमें है, उसको अन्तकृद्दशांग कहते हैं अथवा अन्तःकृतों की दशा-अन्तःकृद्दशा। उसमें अर्हन्त होने की विधि तथा सिद्ध होने की अन्तिम विधि का वर्णन है।
- (9) अनुत्तरोपपादिकदशांग- उपपाद जन्म ही है जिसका वह औपादिक है। विजय आदि पाँच अनुत्तरोपपादिकों में पैदा होने वालों को अनुत्तरोपपादिक कहते हैं। उन अनुत्तरोपपादिकों की दशा का वर्णन जिसमें किया गया है, इस अंग का नाम अनुत्तरोपपादिकदशांग है। इसमें विजय आदि अनुत्तर विमानों की आयु, विक्रिया, क्षेत्र आदि का वर्णन है।
- (10) प्रश्नव्याकरणांग- इस अंग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप-विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है तथा उसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।
- (11) विपाकसूत्रांग- इस अंग में पुण्य और पाप के फल का विचार है।
- (12) दृष्टिवादांग- इसमें 363 कुवादियों के मतों का युक्तिपूर्वक खण्डन है।

इस प्रकार संक्षिप्ततः भेद-प्रभेद को जानकर श्रुतज्ञान की दार्शनिकता को समझना आवश्यक होता है।

श्रुतज्ञान की दार्शनिकता के विषय में तो स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिक में जो नय प्रमाण, निक्षेप, सप्तभंगी, स्याद्वाद आदि संबन्धी विवेचन है, वह सब श्रुतज्ञान का ही विषय है इसलिए इन सभी दार्शनिक विषयों की विवेचना श्रुतज्ञान की दार्शनिक मीमांसा ही है। विशेष यह है कि श्रुतज्ञान का लक्षण करते हुए कारण-कार्य व्यवस्था को दर्शाया गया है। मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहाँ मतिज्ञान को कारण कहा है और श्रुतज्ञान को कार्य माना है ऐसा मानने पर प्रश्न होगा कि यदि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो श्रुतज्ञान मत्यात्मक ही होना चाहिए क्योंकि लोक में कारण के समान ही कार्य देखा जाता है? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार होता कि घटोत्पत्ति दण्डादिक से होती है तो भी घट दण्डाद्यात्मक नहीं होता। मतिज्ञान के रहते हुए भी श्रुतज्ञान नहीं होता। श्रुतज्ञान तो श्रुतज्ञानावरण कर्म का प्रकर्ष क्षयोपशम होने पर ही होता है²⁵ इसलिए मतिज्ञान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मात्र जानना चाहिए। इसी विषय को आचार्य अकलंकदेव ने स्पष्ट करते हुए इस प्रकार कहा है कि यह कोई नियम नहीं है कि कारण के सदृश ही कार्य होना चाहिए क्योंकि इस विषय में सप्तभंगी की योजना करनी चाहिए। घड़े की भाँति जैसे पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से मिट्टी रूप कारण के समान घड़ा होता है। परपिण्ड और घट पर्यायों की अपेक्षा दोनों विलक्षण हैं, उसी तरह चैतन्य द्रव्य में मति और श्रुत दोनों एक हैं क्योंकि मति भी ज्ञान है और श्रुत भी ज्ञान है किन्तु तत्तत् ज्ञान पर्यायों की दृष्टि से दोनों

ज्ञान जुदा-जुदा हैं।²⁶ मति और श्रुत में सम्यक् व्यपदेश युगपत् होता है न कि उत्पत्ति। दोनों की उत्पत्ति तो अपने-अपने कारणों से क्रमशः ही होती है। सभी प्राणियों के अपने-अपने श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार श्रुत की उत्पत्ति होती है। अतः मतिज्ञानपूर्वक होने पर भी सभी के श्रुतज्ञानों में विशेषता बनी रहती है। कारण भेद से कार्य भेद का नियम सर्वसिद्ध है।²⁷

ऐसा भी प्रश्न खड़ा होता है कि कर्णेन्द्रिय का निमित्त पाकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं इसलिए दोनों का एकपना है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य श्री विद्यानन्दि का कहना है कि कर्ण-इन्द्रिय को साक्षात् निमित्त मानकर श्रुतज्ञान का उत्पन्न होना असिद्ध है। श्रुतज्ञान का अनिन्द्रियवान् अर्थात् मन को निमित्त मानकर और प्रत्यक्ष से नहीं देखे गये सजातीय और विजातीय अनेक अर्थों का विचार करना रूप स्वभावों से सहितपने करके प्रसिद्धि हो रही है।²⁸ विशेष यह है कि यद्यपि ईहा मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही मन से होते हैं किन्तु जिस प्रकार ईहाज्ञान का निमित्तपना मन को प्राप्त है उस प्रकार का निमित्तपना मन में श्रुतज्ञान का नहीं है। केवल सामान्य रूप से उस मन का निमित्तपना तो मति और श्रुत के तादात्म्यपने का गमन हेतु नहीं है।²⁹

आचार्य गुणधर स्वामी ने तो श्रुतज्ञान को कारण-कार्य दोनों ही कहा है उन्होंने कहा कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रुतज्ञान से भी श्रुतज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है।³⁰ इसी को समझाते हुए आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं “घट शब्द को सुनकर प्रथम घट अर्थ का श्रुतज्ञान हुआ, उस श्रुत से जलधारणादि कार्यों का जो द्वितीय श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतपूर्वक श्रुत होने से मतिपूर्वक नहीं कह सकते हैं। अतः लक्षण अव्याप्त हो जाता है। इसी तरह धूम अर्थ का ज्ञान प्रथम श्रुत हुआ उससे उत्पन्न होने वाले अविनाभावी अग्नि के ज्ञान में श्रुतपूर्वकत्व श्रुतत्व होने से मतिपूर्वक लक्षण अव्याप्त हो जाता है। ऐसी शंका करने वाले को समझना चाहिए कि लक्षण तो पूर्णरूप से निर्दुष्ट है क्योंकि प्रथम श्रुतज्ञान में मतिजन्य होने से ‘मतिज्ञानत्व’ का उपचार कर लिया जाता है और इस तरह द्वितीय श्रुत में भी मतिपूर्वकत्व सिद्ध हो जाता है।

श्रुतज्ञान की उत्पत्ति आभिनिबोधकज्ञानपूर्वक भी कही गई है। अभिनिबोध अनुमान का नाम है। अनुमान मतिज्ञान का एक भेद है। इसलिए आभिनिबोधकज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना यह दिखाता है कि श्रुतज्ञान स्वार्थानुमान पूर्वक होता है, परन्तु केवल ऐसा निश्चय कर लेना भी ठीक नहीं है क्योंकि ईहादि ज्ञानों के बाद भी श्रुतज्ञान का हो जाना संभव है। श्रुतज्ञान में जो मतिज्ञान को कारण माना जाता है, वह केवल इसलिए है कि किसी वस्तु के साधारण ज्ञान हुए बिना विशेषावभासी श्रुतज्ञान कैसे हो? अर्थात् श्रुतज्ञान के उत्पन्न करने में प्रथम उत्पन्न हुए मतिज्ञान के विषय का सहारा लेना पड़ता है। इतना ही नहीं यहां कार्य कारणपना है इसलिए आभिनिबोधक का अर्थ मतिज्ञान करना चाहिए।³¹ स्पष्ट है कि मतिज्ञान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त है इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके कहीं-कहीं अनुमान आदि का मतिज्ञान रूप में निर्देश किया गया है।³²

न्यायदर्शन की मान्यता है कि ज्ञान अपने आपको नहीं जानता है। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे घट आदि। इस मान्यता को अस्वीकारते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है, उसके प्रकाश के लिए अन्य की आवश्यकता नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है, उसके लिए अन्य ज्ञान के होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वयं स्व-पर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है, तब वह ज्ञान फिर अन्य ज्ञान से प्रकाशता है, ऐसा माना जायेगा तो अतीत आकाश में फैलने वाली और जिसका दूर करना अतिकठिन है सो अनवस्था प्राप्त हो जायेगी। जो मूलक्षयकारिणी होती है। इसलिए जिनमत द्वारा मान्य ज्ञान स्व-पर प्रकाशता युक्त है।

स्व-पर प्रकाशक स्वरूप श्रुतज्ञान अनादि-निधन और सादि-सान्त है क्योंकि संपूर्ण श्रुत द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से किसी के द्वारा रचित नहीं होने से अनादि निधन है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनुवादद्वारा से रचित होने से सादि-सान्त भी है।³³ रचना रूप श्रुत 1634837888 मध्यम पदों से सृजित हुआ। समस्त श्रुत के अक्षरों का प्रमाण 184 शंख 46 पद्म 74 नील 40 खरब 70 करोड़ 95 लाख 51 हजार 615 है।³⁴

यह अपरिमेय अक्षर प्रमाण श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ की विवक्षा से भी वर्णित है, उनमें परार्थ श्रुतज्ञान द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत नय, अर्थनय, शब्दनय, निश्चय-व्यवहार आदि को लिए हुए अनेक नय रूप है।

अंग पूर्वगत श्रुतज्ञान का धारक ही श्रुतज्ञानी होता है। श्रुतज्ञानी इसी श्रुतज्ञान के आश्रय से श्रेणी के प्रारंभ से दसवें गुणस्थान के अन्त तक द्रव्य, गुण, पर्याय आदि नाना भेद रूप वस्तु का ध्यान करते हैं। इस प्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय, नय, निक्षेप आदि का वर्णन भी श्रुतज्ञान की दार्शनिकता का ही परिचायक है।

आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विस्तृत वर्णन किया है। अन्य (जैनेतर) दार्शनिकों द्वारा मान्य अनुमानादि प्रमाणों को श्रुत का विषय स्वीकारते हुए श्रुतज्ञान के अन्तर्भूत प्रतिपादित किया है। वे लिखते हैं “अनुमान आदि का अन्तर्भाव श्रुत में हो जाता है, अतः उनका पृथक् उपदेश नहीं किया गया है। प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार है- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। अग्नि और धूम के अविनाभाव को जिस व्यक्ति ने पहले ग्रहण कर लिया है, उसे पीछे धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना पूर्ववत् अनुमान है। जिसने पूर्व में सींग और सींग वाले के संबन्ध को देखा है, पश्चात् सींग के रूप को देखकर सींग वाले का अनुमान होना शेषवत् अनुमान है। देवदत्त को देशान्तर की प्राप्ति गमन पूर्वक देखकर सूर्य में देशान्तर प्राप्तिरूप हेतु से गति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। इन तीनों प्रकार के अनुमानादिक का स्वप्रतिपत्तिकाल में अनक्षर श्रुत में अन्तर्भाव हो जाता है तथा परप्रतिपत्तिकाल में अक्षर श्रुत में अन्तर्भाव हो जाता है। गाय जैसा गवय होता है, केवल सास्ना रहित है, इस उपमान

वाक्य को सुनकर जंगल में गवय को देखकर उससे गवय संज्ञा के संबन्ध को जान लेना उपमान है। यह भी स्व-पर प्रतिपत्ति विषय में अक्षर और अनक्षर श्रुत में अन्तर्भूत हो जाता है। शब्द प्रमाण तो श्रुत ही है।” भगवान् वृषभदेव ने यह कहा इत्यादि प्राचीन परंपरागत तथ्य ऐतिह्य प्रमाण है। इसका भी श्रुतज्ञान में अन्तर्भाव होता है। ‘प्रकृति पुष्ट यह मानव दिन में नहीं खाकर भी जीता है’ इस वाक्य को सुनकर अर्थात् ‘यह रात्रि में खाता है’ इस प्रकार रात्रिभोजन का ज्ञान कर लेना अर्थापत्ति है। “चार प्रस्थ का आढ़क होता है” इस ज्ञान के होने पर ‘आधे आढ़क का एक कुड़व होता है’ ऐसी संभावना संभव नामक प्रमाण है। वनस्पतियों में (तृण, गुल्म आदि के) स्नेह, पर्ण, फलादि के अभाव को देखकर अनुमान लगाना कि यहां वर्षा नहीं हुई है यह अभाव प्रमाण है। इन सब अनुक्त अनुमान समान अर्थापत्ति आदि प्रमाणों का श्रुतज्ञान में ही अन्तर्भाव है³⁵ क्योंकि सभी उक्त विषयों में विशेष रूप से तर्कणा-ऊहन है। जहाँ तर्कणा/चिंतन हो वहाँ श्रुतज्ञान ही होता है।³⁶

इस प्रकार श्रुतज्ञान की दार्शनिकता को तत्त्वार्थवार्तिक आदि अनेक ग्रंथों में प्रतिपादित नय-निक्षेप-प्रमाण, कारण-कार्य आदि की विवेचना पूर्वक वर्णित किया गया है। विवेचना श्रुतज्ञान के सर्वातिशायी माहात्म्य को प्रस्तुत करने वाली होने से भी अत्यधिक उपयोगी है।

संदर्भ:-

1. श्रुतज्ञान विषयोऽर्थः श्रुतम्। तत्त्वार्थवार्तिक 2/21
2. सवार्थसिद्धि 1/9/14/1
3. श्रुतशब्दो जहत्स्वार्थवृत्ती रूढिवशात् कुशलशब्दवत्॥ तत्त्वार्थवार्तिक 1/20/1
4. सर्व्वपि अणयत्तं परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि संसय पडुदीहि परिचत्तं॥ का.आ. 262
5. तत्त्वार्थवार्तिक 1/9/27-28
6. धवला 1/1/1, 2/13/5
7. पञ्चास्तिकाय गाथा 41 की तत्त्वप्रदीपिका टीका।
8. मतिपूर्व श्रुतं प्रोक्तमवस्पष्टार्थतर्कणम्।
तत्पर्यायादि भेदेन व्यासाद् विंशतिधा भवेत्॥ तत्त्वार्थसार 1/24-25
9. पञ्चास्तिकाय 99 तात्पर्यवृत्ति
10. आप्तमीमांसा 105
11. प्रवचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परंपरा, लब्धि, अनुत्तर, प्रावचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसन्निकर्ष, नयविधि, भंगविधि, पृच्छा विधि, तत्त्व पूर्ण आदि।
धवला 13/280
12. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति 235, प्रवचनसार 33 की तत्त्वप्रदीपिका वृत्तिः पृष्ठ 76
13. धवला पु. 9/57
14. तत्त्वार्थवार्तिक 1/20/7
15. केवलस्य सकल श्रुतपूर्वकत्वोपदेशात्। श्लोकवार्तिक 3/1/9/33/27/3
16. विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुअ वट्ठदि परभवे केवलणाणं हि आवहदि॥ मूलाचार 887

17. जिणवयण मोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमियभूयं।
जरमरण बाहि हरणं खयकरणं सव्व दुक्खाणां॥ मूलाचार
18. जयधवला 1/341
19. गोम्मटसार जीवकाण्ड 316
20. गोम्मटसार जीवकाण्ड 348
21. आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अंग बाह्य के अक्षरों का प्रमाण है।
22. द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़ बयालीस लाख अट्ठावन हजार पांच होते हैं।
23. सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 206
24. तत्त्वार्थवार्तिक 1/20/5
25. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
26. श्लोकवार्तिक 3/1/9/33/27
27. श्लोकवार्तिक 3/1/0/32/26/20
28. कसायपाहुड 1/1/1
29. तत्त्वार्थवार्तिक 1/20/10-12
30. वही 1/20/18
31. प्रवचनसार गाथा 26 जयसेनाचार्य कृत टीका पृष्ठ 46
32. तत्त्वार्थवृत्ति सुखबोधिनी
33. गोम्मटसार जीवकाण्ड 355
34. तत्त्वार्थवार्तिक 20/15 पृष्ठ 211-12 (अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात्)
35. विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्कः श्रुतज्ञानमित्यर्थः। तत्त्वार्थवार्तिक 9/43 भाष्य

-एसोसियट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग, दि. जैन कॉलेज,
बड़ौत-250611 (उत्तरप्रदेश)

मानव धर्म की पृष्ठभूमि: एक अनुशीलन

-निर्मला जैन

‘योगशास्त्र’ में योग के विविध अंगों का वर्णन है। जिनपर चलकर कोई भी साधक लघु से महान्, क्षुद्र से विराट और जीवन की अनन्त दिव्यता का वरण कर सकता है। स्त्री या पुरुष, जैन या अजैन, मानव मात्र उसका आचरण कर सकता है। ऐसे सहज, सरल एवं व्यापक मानव धर्म का चिंतन मनन कर जीवन में उतारना ही मानव धर्म है।

धर्म का अधिकारी:-

अधिकारी से अभिप्राय है पात्रता। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने से पूर्व उसके योग्य बनना। वस्तु को धारण करने की योग्यता नहीं होने पर हठात् उसको धारण करने से वस्तु एवं व्यक्ति दोनों का अनिष्ट होता है। कच्चे घड़े में यदि अमृत भर दिया जाये तो घड़ा और अमृत दोनों नष्ट हो जाते हैं- ‘आमकुम्भा एव वारिगर्भाः।’ सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही ठहरता है। योग्य में योग्य का आधान ही श्रेष्ठ होता है- “योग्येन हि योग्य संगमः”^१

जिस प्रकार कुशल चित्रकार गारे की दीवार पर चित्र नहीं बना सकता उसके लिए उसे अच्छी, साफ और चिकनी दीवार चाहिए। इसी प्रकार किसान अच्छी से अच्छी किस्म के बीज को खेत में डालने से पूर्व भूमि को तैयार करता है। वस्तु को धारण करने के लिए तदनुकूल योग्यता आवश्यक है। भगवान् महावीर से जब पूँछा गया कि धर्म का अधिकारी कौन है? उन्होंने बताया “धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ”- धर्म शुद्ध हृदय में ठहरता है। पवित्र हृदय ही धर्म का आधार है।^२

हृदय की पवित्रता-

जीवन में मलिनता, अशुद्धि एवं अपवित्रता होने से धर्म नहीं होता। मन की अपवित्रता धर्म की तेजस्विता को ढंक देती है, जिससे धर्म प्रकट नहीं हो पाता। जीवन रूपी भूमि को धर्म के योग्य सद्गुण बनाते हैं। सद्गुणों के आचरण से मन और जीवन पवित्र एवं शुद्ध होता है, गुण जीवन-भूमि को तैयार करते हैं। अणुव्रत और महाव्रत रूपी धर्म की पृष्ठभूमि सद्गुणों के आधार पर तैयार हो सकती है। कुशल किसान की तरह जीवन की भूमि को धर्म की खेती योग्य बनाने से धर्म रूपी बीज स्वतः ही पल्लवित व पुष्पित होने लगते हैं।

परिवर्तन की दशा-

चैतन्य सत्ता “आत्मा” है। अशुद्ध दशा में संसारी और शुद्ध अवस्था में परमात्मा है। आत्मा की विशुद्ध अवस्था निरपेक्ष है जिसका वर्णन तर्क, युक्तियों, शब्दादि द्वारा नहीं

किया जा सकता है। आचारांग में कहा है- “तवका जत्थ न विज्जई, मइं तत्थ न गाहिया।”³ अर्थात् तर्क उस दशा का वर्णन नहीं कर सकता, मति उसका अनुभव ग्रहण नहीं कर सकती। “नैषा तर्केण मतिरापनेया”- तर्क के द्वारा, बुद्धि की समझ में आने का विषय नहीं है।⁴

परिवर्तन की अवस्थाएँ-

प्रसुप्त, सुप्त, जागृत, उत्थित और समुत्थित।

● **प्रसुप्त:-** वह अवस्था जिसमें जीव गाढ़ मोह निद्रावश निरंतर संसार परिभ्रमण करता है। कर्मों का उपशम तथा क्षयोपशम हो सकता है परन्तु क्षय नहीं। आत्मा में निर्वाण की योग्यता होने पर भी प्रगाढ़ मोह निद्रा से योग्यता विकसित नहीं होती है। यही “अभव्यदशा” है।

● **सुप्त:-** इस अवस्था में तन्द्रा, सुसुप्ति जैसी स्थिति रहती है। ज्ञान चक्षु नहीं खुल पाते साथ ही सत्य का दर्शन नहीं होता। यह आत्मा की प्रथम गुणस्थान की स्थिति है। तत्त्व के प्रति जिज्ञासा से सत्य को समझने की भावना जागृत होती है लेकिन सम्यक् बोध और यथार्थ दृष्टि नहीं।

● **जागृत:-** ज्ञान के उदय से आत्मा स्व स्वरूप के बोध से मिथ्यात्व, संशय एवं अज्ञान से परे होती है। यह चतुर्थ गुणस्थान की अवस्था है। आत्मा ग्रन्थिभेद से अपूर्वकरण का अनुभव करता है। उपनिषद् में कहा है

भिद्यते हृदय- ग्रन्थिरिददद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥⁵

अर्थात् आत्मदर्शन से हृदय की समस्त ग्रंथियाँ नष्ट हो जाती हैं और समस्त संशय क्षीण हो जाते हैं। यह अवस्था आनन्दमय है। आत्मज्ञान प्रकाश से सम्यक्त्व का अधिकारी स्व पुरुषार्थ व पराक्रम सूर्य को प्रकाशित करता है। आचार्य संघदासगणी कहते हैं-

“जागरह। णरा णिच्चं।

जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि॥⁶

अर्थात् मनुष्य जागो। निद्रा का त्याग करो। जो जागता है उसकी बुद्धि भी जागती है। लोकोक्ति भी है-

“सोवै सो खोवै, जागै सो पावै।”

● **उत्थितथा:-** “उट्ठिणो नो पमायए” जागने के पश्चात् कहते हैं उठो प्रमाद न करो। दुर्लभ सम्यक्त्व को आत्मसात कर पुरुषार्थ सहित आगे अग्रसर होना आत्मा की उत्थित दशा है। यह पांचवें गुणस्थान की स्थिति है। धर्माचरण पर बढ़ने वाला श्रावक धर्म/गृहस्थ धर्म है। श्रावक उत्थित आत्मा है।

● **समुत्थित:-** सम्यक् प्रकार से चलना समुत्थित है। जागृत आत्मा लक्ष्य करके मार्ग पर दृढ़ संकल्प से चलता है। यह छठे गुणस्थान की दशा है। इस दशा में साधक का विश्वास अत्यन्त दृढ़, स्पष्ट और स्थिर होता है। “पणया वीरा महावीहि।”⁸

सद्गुणों के विकास की अवस्था-

केवल ईंट, पत्थर व चूने के ढेर घर नहीं हैं। जिसमें गृहिणी, पुत्रादि परिवार सहित रहते हैं वही घर है। गृहस्थ होना एक स्थिति है, सद्गृहस्थ बनना एक गुण है। गृहस्थ जीवन में सद्गुणों के विकास से उदात्त भावनाएँ और उच्च संकल्प होते हैं। धर्म के आचरण से धर्म का अधिकारी (सच्चा श्रावक) बनता है। आत्मा का स्वभाव धर्म है। 'वत्सुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है। जल का स्वभाव शीतलता, अग्नि का स्वभाव उष्णता, आत्मा का स्वभाव ज्ञानानन्द है।

व्यवहार धर्म-

“सर्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं च विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव॥”^{१२}

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना ये चार धर्म रूप प्रासाद के स्तम्भ हैं।

● **मैत्री:-** इस भावना में आत्मा संसार के सभी जीवों के प्रति मित्रता का संकल्प करता है। मैत्रीभाव अभय देता है। “मेत्ति मे सर्व भूएसु।^{१०} मेत्तिं भूएसु कप्पए।” वेद एवं उपनिषद् में भी- मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।” अर्थात् सब प्राणियों को मित्रता की दृष्टि से देखें। मैत्री भाव जगत् में मेरा सब जीवों से नित्य रहे।” प्राणिमात्र के साथ मित्रता के भाव से जीवन में आनन्द, अभय और प्रसन्नता प्राप्त होती है।

● **प्रमोद:-** प्रसन्नता। अच्छाई, सद्गुणों को देखकर प्रसन्न होना हृदय में आनन्द होना प्रमोद भावना है। जो व्यक्ति सद्गुणों की प्रशंसा करता है उसके जीवन में भी सद्गुण आते हैं और वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहता है।

● **करुणा:-** करुणा अर्थात् दया, अनुकंपा। दया, करुणा, अहिंसा में हमारे प्रतिदिन की सभी गतिविधियाँ आ जाती हैं। हमारी किसी भी प्रवृत्ति से किसी प्राणी को कष्ट, पीड़ा न हो, व्यवहार में परिवार, समाज एवं राष्ट्रीय जीवन में हमारे द्वारा ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं हो जिससे शांति भंग होती हो।

“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥”^{१३}

जो आपके मन के प्रतिकूल आचरण है वैसा दूसरों के लिए न करें।

जं इच्छसि अप्पणत्तो जं च न इच्छसि अप्पणत्तो।

तं इच्छ परस्स वि एत्तियंग जिणसासणयं॥^{१४}

जिस आत्मा में करुणा की भावना जागृत होती है उसमें शुभ भावनाएँ होती हैं।

● **माध्यस्थ:-** मध्यस्थ-दो किनारों के मध्य ठहरना। कोई व्यक्ति हमारे सामने धर्मगुरु या प्रिय व्यक्ति की निंदा करता है तो मध्यस्थ वृत्ति से मन में शांति होती है कि “यह अज्ञानी है, क्रोध आदि के वश में होकर निंदा कर रहा है, इससे इसकी आत्मा का पतन हो रहा है। यह व्यक्ति क्रोध का नहीं वरन् दया का पात्र है। इस प्रकार की मध्यस्थ

वृत्ति से व्यावहारिक जीवन की सैकड़ों उलझनों सुलझ जायेगीं। जीवन में कलह, विवाद कम होंगे जिससे शांतिमय जीवन होगा।

आदर्श जीवन-

मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव से मानव धर्म की पृष्ठभूमि तैयार होती है। साधक धर्म का बीज मन की भूमिका सद्भावों, मैत्री आदि भावनाओं से धर्म के योग्य बनाने पर व्रत, नियम, त्याग आदि के बीज सरलता व शीघ्रता से अंकुरित होते हैं। मानव जीवन उत्तरदायित्वों का जीवन है। गृहस्थ जीवन का क्षेत्र व्यापक, उत्तरदायित्व असीम है। परिवार, समाज, धर्म एवं राष्ट्र आदि के दायित्वों का निर्वाह करने में मानव धर्म की कुशलता है। यह साधु जीवन का भी आधार है। व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में अपने कर्तव्य निष्ठापूर्वक करके आदर्श जीवन-यापन करता है।

सम्यक् आजीविका:- आचार्य भद्रबाहु कहते हैं-

“सच्छासयण्यओगा अत्थो वीसंभओ कामो।”

अर्थात् स्वच्छ आशय प्रयुक्त अर्थ मर्यादानुकूल काम धर्म विरोधी नहीं है। सद्गृहस्थ “न्यायसम्पन्न विभवः” न्याय-नीतिपूर्वक अर्थोपार्जन।

“न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोक हितायेति....”^{१६}

न्यायोपात्तधनो यजन्! गुणगुरुन् सदीस्त्रिवर्ग भजन्।^{१७}

और भी कहा है-

“अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।

प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥”

बौद्धधर्म में आष्टांगिक मार्ग में पाँचवां मार्ग सम्यक् आजीव अर्थात् न्यायपूर्वक जीविका चलाना। नीति एवं न्यायपूर्वक व्यापार करके जीविका चलाने वाला श्रावक ‘धम्माजीवी’ है। “सम्यक्-प्रतिपत्तिः सम्पत्तिः” अर्थात् जो न्यायपूर्ण शुद्ध एवं सही तरीके से प्राप्त होती है वह संपत्ति है।

गांधीजी का दृढ़संकल्प-

हमेशा सत्य बोलना। सत्य में साहस होता है, असत्य में कायरता। सत्य में स्पष्टता होती है असत्य में छिपाव। अन्याय छिपाव और कायरता का मार्ग है। असत्य से आत्मपतन होता है, जीवन का विकास रुक जाता है। साधक के मन में जब सत्य की अटूट निष्ठा होती है तो ईश्वर हृदय में विराजमान होता है। यही मानव धर्म का सार है। कहा है-

“ग्रंथ पंथ सब जगत् के बात बतावत तीन।

राम हृदय, मन में दया, तन सेवा में लीन॥”

इस प्रकार हृदय की पवित्रता, सद्गुणों के द्वारा आदर्श जीवन एवं सम्यक् आजीविका से मानव धर्म की पृष्ठभूमि तैयार होती है।

संदर्भ:-

1. महाकवि हर्ष- नैषधीय चरितम्
2. उत्तराध्ययन 3/12
3. आचारांग 1/5/6
4. कठोपनिषद् 2/9
5. मुण्डकोपनिषद् 2/2/8
6. बृहत्कल्पभाष्य
7. आचारांग 1/5/2
8. आचारांग
9. आचार्य अमितगति द्वात्रिंशिका श्लोक 1
10. आवश्यकसूत्र 5
11. उत्तराध्ययन 6/2
12. ऋग्वेद
13. कृत्य रत्नाकर में उद्धृत
14. बृह. भाष्य 4584
15. दशवैकालिक निर्युक्ति 264
16. धर्मविन्दु प्रकरण- आ. हरिभद्र
17. सागर धर्मामृत 11, पं. आशाधर

शोधार्थी- साक्षी, 23 शान्ति नगर,
ए-ब्लॉक, केशवनगर रोड,
अक्षांश काम्पलेक्स के सामने,
उदयपुर (राजस्थान)

प्राकृत भक्ति साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव: एक समीक्षा

-डॉ. आनन्द कुमार जैन

भाषा विचार विनिमय का सर्वश्रेष्ठ साधन है। भाषा का प्रारंभ कब से हुआ, कैसे हुआ इस विषय में कोई सुनिश्चित मत प्रस्तुत करना भाषाशास्त्रियों के लिए भी दुष्कर है, अस्तु। भारत के सुदूर अतीत पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि वास्तव में प्राकृत, पालि और संस्कृत भाषाओं की यह त्रिवेणी है। जिससे प्राचीन भारतीय साहित्य रूपी संगम आविर्भूत हुआ।

यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि उसमें भक्ति-साहित्य का प्राचुर्य है। इसका एक मात्र कारण यह है कि भारतीय संस्कृति में प्रारंभ से ही मोक्ष-पुरुषार्थ साध्य और धर्म पुरुषार्थ को उसका साधन मानते रहे हैं। उस परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति हेतु ही भक्त कवियों ने आराध्य के प्रति अपने मनोभावों को स्तुतियों, भक्तियों आदि में निबद्ध किया है।

वस्तुतः प्राकृत एवं संस्कृत का प्रयोग प्राचीन काल में समान रूप से जनसामान्य द्वारा किया जाता था, अन्तर केवल यह है कि प्राकृत का प्रयोग सामान्य लोगों द्वारा तथा संस्कृत का प्रयोग शिष्ट, कुलीन व शिक्षित लोगों द्वारा किया जाता था। इस तथ्य की पुष्टि प्राचीन संस्कृत नाटकों के संवादों से भी होती है। अतः प्राकृत और संस्कृत भाषाओं का परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक है और दोनों भाषाओं के ये प्रभाव दृष्टिगोचर भी होते हैं।

प्राकृत भक्ति साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। जनसामान्य के सौविध्य के लिए रचित प्राकृत स्तुतियों और भक्तियों पर भी संस्कृत भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है, अतः प्राकृत लेख में भी संस्कृत भाषा के प्राकृत भक्ति साहित्य पर प्रभाव विषय पर प्रकाश डाला जा रहा है।

हम प्राकृत भक्ति साहित्य पर संस्कृत भाषा के प्रभाव को अधोनिर्दिष्ट भाषिक तत्त्वों के आधार पर विश्लेषित कर सकते हैं-

१. समास- “समसनं समासः” अर्थात् शब्दों का संक्षिप्तिकरण ही समास है। समास द्वारा कवि का अभिप्राय अल्प शब्दकलेवर में विपुल अर्थसंपत्ति को भरना रहता है।

आचार्य कुन्दकुन्दप्रणीत सिद्धभक्ति में समास का प्रयोग बहुलता से दृष्टिगोचर होता है। यथा प्रथम गाथा में ‘अट्ठविहकम्ममुक्के’^१, ‘अट्ठगुणडूढे’^२, ‘अट्ठमपुढविणिविट्ठे’^३, ‘णिट्ठयकज्जे’^४ इन चारों ही पदों में बहुब्रीहि समास है और ये चारों ही पद “सिद्धे”^५ इस पद के विशेषण हैं। इसी प्रकार अन्य गाथाओं में भी तिथ्यरेदरसिद्धे,^६ जलथलआयासणिव्वुदे^७ अंतयडेदरसिद्धे^८, उवसग्गाणिरुमसग्गो,^९

दीवोदहिणिव्वुदे^{१०}, दुगतिगचदुणाणपंचचदुरजमे,^{११} इत्यादि समस्त पद दृष्टिगोचर होते हैं।

इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राकृत भाषा जिस सरलता के कारण लोकसामान्य की भाषा मानी जाती थी, उस भाषा में जैसे ही ग्रंथकारों ने प्राकृत साहित्य का प्रणयन प्रारंभ किया वैसे ही उस सरलता के स्थान पर समस्त पदों का प्रयोग होने लगा। इस प्रवृत्ति का एक मात्र सशक्त संभावित कारक प्राकृत भक्ति साहित्य पर संस्कृत भाषा का प्रभाव ही है।

२. कारक- अगर हम भाषा शास्त्रीय दृष्टि से प्राकृत और संस्कृत भाषा का विश्लेषण करें तो यह तथ्य विदित होता है कि ये दोनों ही भाषायें संश्लेषणात्मक भाषायें हैं अर्थात् इन दोनों ही भाषाओं में कारक चिह्न (विभक्ति) मूल शब्दों के साथ संयुक्त होते हैं। प्राकृत भक्ति साहित्य में भी यह तथ्य अनेकशः परिलक्षित होता है यथा-तीर्थंकर भक्ति की द्वितीया गाथा में द्वितीया विभक्ति का होना, इसी गाथा में 'केवलिनः' इस पद में षष्ठी विभक्ति होना अतः हम कह सकते हैं कि प्राकृत और संस्कृत भाषा परस्पर सम्बद्ध हैं और संस्कृत भाषा का महान् प्रभाव प्राकृत भक्ति पर परिलक्षित होता है।

३. कर्ता क्रिया अन्विति- संस्कृत व्याकरण में कर्ता क्रिया अन्विति का महान् महत्त्व है अर्थात् कर्ता के अनुसार ही क्रिया का रूप प्रयुक्त किया जाता है। अगर इस व्यवस्था में कोई क्रम भङ्ग होता है तो उस प्रयोग को विज्ञान असंस्कृत प्रयोग कहते हैं। प्राकृत भाषा में भी यह नियम समानरूप से दृष्टिगोचर होता है यथा सिद्ध भक्ति की षष्ठ गाथा में 'ते'^{१२} इस कर्तृ पद के लिए बहुवचनान्त 'सिज्झन्ति'^{१३} क्रिया का प्रयोग। पंचमहागुरु भक्ति में 'ते जिणा' इस कर्तृ पद के लिए लोट् लकार बहु वचनान्त 'दिन्तु'^{१५} क्रिया का प्रयोग।

कर्ता क्रिया अन्विति का यह प्रयोग प्राकृत भाषा में कर्म वाच्य में भी दृष्टिगोचर होता है जैसे चारित्र भक्ति की दशम गाथा में 'मए'^{१६} पद तृतीयान्त कर्तृ पद है, 'सुहं'^{१७} प्रथमान्त कर्म पद है अतः नियमानुसार 'सुहं' पद के अनुरूप 'लब्भदे' क्रिया का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है इस प्रकार कर्तृ क्रिया अन्विति का यह नियम प्राकृत भक्ति साहित्य में बहुधा होता है।

४. छन्द- 'यदक्षरपरिमाणं तत् छन्दः' इस परिभाषा के अनुसार जिन रचनाओं में अक्षरों का परिमाण निश्चित रहता है उन रचनाओं को काव्यमयी या पद्यमयी रचनाएँ कहते हैं। किसी भी भाषा के भक्ति साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि संपूर्ण भक्ति साहित्य इन छन्दोबद्ध रचनाओं में ही प्राप्त होता है इसका कारण छन्दों की ज्ञेयता, लयबद्धता, स्मरण, सुकर्ता आदि हैं। प्राकृत भक्ति साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। प्राकृत भक्ति साहित्य की मुख्य रचनायें गाथा छन्द में प्राप्त होती हैं उपजाति आदि छन्दों में भी प्राप्त होती हैं इसका एक सशक्त कारण इन छन्दों का संस्कृत भाषा में प्रचुरता से प्रयोग हो सकता है। अतः छन्दःशास्त्रीय दृष्टि से भी प्राकृत भक्ति साहित्य पर संस्कृत भाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं। कि प्राकृत और संस्कृत भाषा एक दूसरे से गहनतया प्रभावित हैं और इस तथ्य की पुष्टि प्राकृत-भक्ति साहित्य पर संस्कृत भाषा के प्रभाव से होती है।

संदर्भ:

1. अट्ठविहकम्ममुक्के अट्ठगुणङ्गे अणोवमे सिद्धे।
अट्ठमपुढविणिविट्ठे णिट्ठयकज्जे य वंदिमो णिच्चं॥ -सि. भ., गाथा 1
2. वही
3. वही
4. वही
5. वही
6. तित्थयेदेरसिद्धे जलथलआयासणिव्वुदे सिद्धे।
अंतयडेदेरसिद्धे उक्कस्सजहणमज्झिमोगाहे॥ -सि. भ., गाथा 2
7. वही
8. वही
9. उड्ढमहतिरियलोए छव्विकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसगगणिरुसमग्गे दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि॥ -सि. भा गाथा 3
10. वही
11. पच्छायडेय सिद्ध दुगतिगचदुणाण-पंच-चदुरजमे।
परिपडिदापपरिपडिदे संजमसम्मत्तणाणमादीहिं॥ -सि. भा गाथा 5
12. पुंवेदं वेदंता जे पुरिमा खवगसेडिमरुढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते हु सिज्झंति॥ -सि भा गाथा 6
13. वही
14. मणुयणाइंदसुरधरियछत्तत्तया पंचकल्लाणसोक्खावलीपत्तया।
दसणं णाणझाणं अणंतं बलं ते जिणा दिंतु अम्हं वरं मंगलं॥ पं.भ.गा.1
15. वही
16. संजदेण मए सम्मं सव्वसंजमभाविणा।
सव्वसंजमसिद्धीओ लब्भदे मुत्तिजं सुहं॥-चा.भ.गा.10
17. वही

- प्राकृत-अध्ययन शोध-केन्द्र
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय)
जयपुर परिसर, जयपुर (राजस्थान)

शोध सार

जैन ध्यान-योग का समीक्षात्मक अध्ययन (ज्ञानार्णव के परिप्रेक्ष्य में)

(श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली द्वारा
मार्च 2010 में विद्यावारिधि उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

-डॉ. मुकेश कुमार जैन

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक विकास की धारा सतत प्रवाहित हो रही है। इस कारण ही भारत को विश्व का आध्यात्मिक गुरु कहा जाता है। भारत में विभिन्न संस्कृतियों, परंपराओं एवं आचार विचारों का अद्भुत समन्वय है। मतवाद या आचार-विचार भिन्न-भिन्न होते हुए भी अपनी विशिष्टताओं के कारण सभी अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। भिन्न-भिन्न अस्तित्व के बावजूद भी सभी परंपराओं में अनेक स्थानों पर एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। कुछ तथ्य अनेक स्थानों पर एक दूसरे के पूरक रूप में भी दिखाई देते हैं। भारतीय ध्यान-योग परंपरा भी इस दृष्टिकोण का अपवाद नहीं है।

भारतवर्ष में प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक विकास हेतु ध्यान-योग साधना की परंपरा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। यद्यपि देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार साधना की प्रक्रिया में परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन होते रहे हैं। परन्तु ध्यान-योग की परंपरा में मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। जैन ध्यान-योग परंपरा भी इसका अपवाद नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द को आदि लेकर जैन ध्यान योग परंपरा को अनेक आचार्यों ने विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। इस कारण ही जैन परम्परा में ध्यान-योग विषयक साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव को भी इस परंपरा में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस ग्रंथ में जैन ध्यान योग का विस्तृत विवेचन किया गया है। पूर्वकृत अनेक शोधों के अध्ययन में जैन ध्यान-योग को एक रूप ही स्वीकार किया गया है लेकिन मूलग्रंथों के अध्ययन से जैन परंपरा में ध्यान और योग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। इस कारण ही इस शोध कार्य का उपस्थापन हुआ। संस्कृत भाषा में भी जैन ध्यान-योग विषयक कार्य अपेक्षित है। अतः जैन ध्यान योग परंपरा के अतिविशिष्ट ग्रंथ ज्ञानार्णव के परिप्रेक्ष्य में ध्यान-योग के स्वरूप एवं ज्ञानार्णव का जैन-जैनेतर ग्रंथों के साथ तुलना प्रस्तुत शोध का केन्द्र बिंदु है।

शोध सात अध्यायों में विभक्त है-

प्रथम अध्याय-

इस अध्याय में भारतीय ध्यान योग की तीन प्रमुख धाराओं- वैदिक परंपरा, बौद्ध परंपरा, जैन परंपरा का परिचय दिया गया है।

वैदिक ध्यान-योग-

वैदिक परंपरा के योग विषयक ग्रंथों में आध्यात्मिक विकास एवं ध्यान योग की चर्चा मिलती है। योग शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद (1/5/3) में मिलता है जहाँ इसका अर्थ मात्र जोड़ना है। ध्यान-योग का उल्लेख योगपद्धति, संहिता, ब्राह्मणग्रंथों तथा उपनिषदों में हुआ है लेकिन ध्यान योग को व्यवस्थित स्वरूप महर्षि पतञ्जलि ने प्रदान किया है। पतञ्जलि के द्वारा रचित 'योगसूत्र' पर अनेक टीकायें भी लिखी गयी हैं जिनमें व्यासभाष्य सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। वैदिक परंपरा के उपनिषदों, महाभारत, गीता, स्मृतिग्रंथों, भागवत् पुराण और शैवागम आदि में ध्यान योग का वर्णन प्राप्त होता है।

बौद्ध ध्यान-योग-

वैदिक ध्यान-योग की भाँति ही बौद्ध परंपरा में भी ध्यान-योग पर साहित्य उपलब्ध है। यहां साधना के लिए ध्यान-योग को अनिवार्य माना गया है। क्योंकि यह नैतिक आचार-विचार के द्वारा चरित्र को विकसित करने का माध्यम है। बौद्धग्रंथ दीर्घनिकाय, विशुद्धिमग्ग, मज्झिमनिकाय और मिलिन्दप्रश्न आदि में ध्यान-योग का विशद वर्णन है।

जैन ध्यान-योग-

जैनदर्शनानुसार यह जीव अनादि काल से कर्मबंध के कारण इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यदि यह जीव कर्मबंध से मुक्त होकर स्व-स्वरूप की पहचान करना चाहता है तो उसे आत्मस्वरूप पर श्रद्धा कर उसी में लीन होना चाहिए। मुक्ति के उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य हैं। सम्यग्दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान है जो कि जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान से प्राप्त होता है। इन तत्त्वों में छठवाँ तत्त्व निर्जरा है जिसका कारण तप है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है-

तपसा निर्जरा चा।^१

तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं प्रत्येक के छह-छह प्रभेद भी हैं। आभ्यन्तर तप के 6 प्रभेदों में ध्यान भी एक भेद है। आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल यह ध्यान के चार भेद हैं। प्रारंभ के दो ध्यान अप्रशस्त एवं शेष दो प्रशस्त ध्यान हैं। प्रशस्त ध्यान ही निर्जरा का कारण है। अप्रशस्त ध्यान संसारवर्द्धक है। अतः शुभ ध्यान ही ध्येय है। ध्यान के पूर्व यहां योग के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आसनजय इत्यादि को स्वीकृत किया गया है।

द्वितीय अध्याय-

द्वितीय अध्याय में ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ता आचार्य शुभचन्द्र का परिचय दिया गया है।

ग्रन्थ परिचय-

जैन ध्यान-योग के लिए 'ज्ञानार्णव' अति उपयोगी ग्रंथ है। इसमें कुल 2230 श्लोक हैं जिन्हें राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित संस्करण (1981) में 42 सर्गों एवं जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित संस्करण (1998) में 39 सर्गों में विभाजित किया गया है। सर्गों का विभाजन ग्रंथकार के बजाय टीकाकारों द्वारा किया गया प्रतीत होता है। ग्रंथ का नाम ही स्वयं की सार्थकता व्यक्त करता है- 'ज्ञानार्णव' अर्थात् ज्ञान का समुद्र। ध्यान का वर्णन होने के कारण ग्रंथकार द्वारा इसे ध्यानशास्त्र भी कहा गया है। अन्य विषयों का वर्णन भी ध्यान के प्रसंग के अन्तर्गत ही किया गया है।

ग्रंथकर्ता का परिचय-

ज्ञानार्णव जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ को रचकर भी आचार्य शुभचन्द्र ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है। यह उनकी निरभिमानता का द्योतक है।

न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।

कृतिः किन्तुमदीयेयं, स्वबोधायेव केवलम्।^१

उक्त अभिप्राय को ज्ञानार्णव में व्यक्त किया गया है जिसे मात्र शिष्टता न समझकर आंतरिक भावना समझना चाहिए। ग्रंथ के परिशीलन से यह कहा जा सकता है कि आचार्य शुभचन्द्र बहुत विद्वान् एवं प्रतिभा संपन्न कवि भी थे। ग्रंथ की रचना शैली एवं अनेक विषयों के साथ इतर संप्रदायों की चर्चा एवं समीक्षा से उनकी बहुश्रुतता का अनुमान लगाया जा सकता है। ग्रंथ में प्राचीन ग्रंथों का आधार एवं समावेशन से उनकी अध्ययनशीलता प्रकट होती है।

ज्ञानार्णव के निरंतर अध्ययन में रहने के कारण ज्ञात है कि यह ग्रंथ आचार्य शुभचन्द्र का है। इस स्थिति में समय विचार हेतु पूर्ववर्ती आचार्यों का इन पर प्रभाव एवं इनका उत्तरवर्ती आचार्यों पर प्रभाव एक मात्र आधार है। इस आधार पर इनका समय विक्रम की 11वीं-12वीं शताब्दी के मध्य माना जाता है।

तृतीय अध्याय-

इस अध्याय में ज्ञानार्णव में वर्णित योग के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत अनुप्रेक्षा, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- पंचमहाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, आसनजय, प्राणायाम और प्रत्याहारधारणा का वर्णन किया गया है। जैन योग का वर्णन करते हुए योग को दो रूपों- कर्मबंध और कर्म-संवर निर्जरा के रूप में स्वीकार किया गया है। योग को ध्यान की पृष्ठभूमि के रूप में भिन्न रूप से स्वीकार किया गया है।

अनुप्रेक्षा-

अनुप्रेक्षा का अर्थ है किसी वस्तु या विषय को बार-बार चिंतन मनन करते हुए देखना। अनुप्रेक्षा से ध्यान की पृष्ठभूमि तैयार होती है। अनित्यादि विषयों के चिंतन से जब चित्त एकाग्र होता है तो वह धर्मध्यान कहलाता है।^२ यह प्रशम, वैराग्य, संवेग की वृद्धि एवं

कषायों की शांति का हेतु है।⁴ अनुप्रेक्षा को ही भावना कहते हैं। ज्ञानार्णव में बारह भावनाओं का वर्णन है।⁵ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म।

रत्नत्रय-

सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ही योग का आधार है। रत्नत्रय के अभाव में ध्यान-योग को ज्ञानार्णव में कल्पना मात्र कहा गया है।⁶ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता रत्नत्रय है और यह ही मोक्षमार्ग है। जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, विधिवत् जानना सम्यग्ज्ञान एवं अनुभूति सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत ही पंचमहाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, आसनजय, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान की प्रक्रिया आते हैं।

पंचमहाव्रत-

संयम पालन एवं पापों से निवृत्ति हेतु हिंसादि पाँच पापों का सकलदेश त्याग करना महाव्रत कहलाता है।⁷ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह पांच महाव्रत हैं।

त्रिगुप्ति-

मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को अच्छी प्रकार से रोकना गुप्ति कहलाता है। मन को कषायों से निवृत्त करना मनोगुप्ति, वचन रूप प्रवृत्ति रोककर मौन धारण करना वचन गुप्ति और परिषह आदि के आने पर भी एकासन में शरीर को स्थित रखना काय गुप्ति है।

आसनजय-

आसन के द्वारा संकल्प शक्ति को विकसित करके इच्छित फल प्राप्त किये जा सकते हैं। अतः ध्यान के लिए आसन का विशेष महत्त्व है।⁹ आसन की सिद्धि का मुख्य आधार स्थान होता है।¹⁰ अतः ज्ञानार्णवकार ने ध्यान योग्य स्थानों का विस्तृत वर्णन किया है। पर्यकासन, अर्धपर्यकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्गासन ये ध्यान के योग्य आसन कहे गये हैं।¹¹

प्राणायाम-

आसन से कायिक नियंत्रण प्राप्त करके मानसिक नियंत्रण हेतु प्राणायाम का उल्लेख किया गया है। वायु को प्राण तथा प्राण के विस्तृत करने को आयाम कहते हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीन प्राणायाम के भेद कहे गये हैं।¹² ब्रह्मरन्ध्र से वायु को खींचकर अपनी इच्छानुसार अपने शरीर में पूरण करना पूरक¹³, प्राणवायु को स्थिर करके नाभिकमल के भीतर घड़े के आकार में दृढ़ता पूर्वक रोकना कुम्भक¹⁴ और प्राणवायु को प्रयत्नपूर्वक बाहर निकालना रेचक¹⁵ प्राणायाम है। प्राणायाम के वर्णन के उपरान्त आचार्य शुभचन्द्र ने इसे हेय भी कहा है।¹⁶

प्रत्याहार धारणा-

इन्द्रियों तथा मन को बाह्याभ्यन्तर विषयों से हटाना प्रत्याहार¹⁷ एवं विषयों से परे ललाट देश में मन को संलीन करना धारणा है।¹⁸

इस प्रकार इस अध्याय में ज्ञानार्णव के आधार पर योग का वर्णन किया गया।

चतुर्थ अध्याय-

शोध के इस भाग में ज्ञानार्णव में वर्णित ध्यान के स्वरूप और ध्यान के भेद प्रभेदों की चर्चा की गयी है। ध्यान एक व्यापक शब्द है, जैन साधना पद्धति का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है।

एकाग्रता को ध्यान कहते हैं।¹⁹ उत्तम संहनन वाले का किसी एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है।²⁰ यह मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण है क्योंकि यह कर्म नाश हेतु अग्नि के समान है।²¹ ध्यान के चार अंग कहे गये हैं-

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्।

इति सूत्र समासेन सविकल्पं निगद्यते॥²²

ध्याता-

ध्यान करने वाला ध्याता कहलाता है। ज्ञानार्णव में ध्याता के आठ गुण कहे गये हैं²³- मुमुक्षु, संसार से विरक्त, शान्त चित्त, स्थिरमनः, स्थिर, जितेन्द्रिय, संवरयुक्त और धीर।

ध्येय-

ध्येय का अर्थ है अवलम्बन अर्थात् जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है। ध्यान और ध्येय में कारण-कार्य संबन्ध है। ध्येय ही शुभाशुभ परिणामों का कारण होता है।²⁴

ध्यान-

ध्यान अर्थात् एकाग्रचिंतन। ध्याता का ध्येय में स्थित होना ही ध्यान है।²⁵ ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का होता है।²⁶ अप्रशस्त ध्यान संसारवर्द्धक एवं प्रशस्त ध्यान आत्मोत्थान का हेतु है।²⁷ ध्यान के चार भेद हैं- आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें आर्त, रौद्र अप्रशस्त एवं धर्म, शुक्ल प्रशस्त ध्यान हैं।²⁸

(१) आर्तध्यान-

आर्त शब्द 'ऋत' से बना है।²⁹ ऋत का अर्थ है पीड़ा अर्थात् दुःख में जो उत्पन्न हो वह आर्तध्यान कहलाता है। इसकी उत्पत्ति का कारण मिथ्याज्ञान है। यह अशुभ परिणामों की एकाग्रता जनित है।³⁰ आर्तध्यान के चार कारण कहे गये हैं³¹- अनिष्टयोगज, इष्टवियोगज, पीड़ाचिंतन और निदान।

(२) रौद्रध्यान-

रुद्र का अर्थ है क्रूरता।³² इसमें होने वाला भाव रौद्र है। अतः रुद्र आशय से उत्पन्न

हुआ ध्यान रौद्रध्यान है।³³ इसके भी चार कारण कहे गये हैं³⁴— हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषय-संरक्षणानन्द।

(३) धर्मध्यान-

धर्म से युक्त भाव को धर्म्य कहते हैं।³⁵ धर्म्य से युक्त ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। रागद्वेष मूलक समस्त पर पदार्थों का त्याग करके श्रेयोमार्ग में स्थित साधक के द्वारा साम्यता के लिए ध्याया जाने वाला ध्यान धर्मध्यान है।³⁶ धर्म ध्यान के चार भेद हैं³⁷— आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। संस्थान विचय धर्मध्यान के भी चार भेदों का उल्लेख ज्ञानार्णव में किया गया है—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितं।

चतुर्धा ध्यानमाप्नातं भव्यराजीव भास्करैः॥³⁸

(४) शुक्लध्यान-

यह ध्यान की चरमोत्कर्ष अवस्था है। एकाग्रता और निरोध यहीं पूर्णता को प्राप्त होते हैं। ज्ञानार्णवकार शुक्ल ध्यान का स्वरूप वर्णित करते हुए कहते हैं कि—

निष्क्रियं करणातीतं ध्यान धारणा वर्जितम्।

अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥³⁹

अर्थात् निष्क्रिय, इन्द्रियातीत, ध्यान और धारणा से रहित आत्मा की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को शुक्लध्यान कहते हैं। यह आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था है। कषाय के क्षय या उपशम से शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है।⁴⁰ इसकी चार श्रेणियाँ हैं⁴¹— पृथक्त्ववितर्क-वीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति अथवा समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति।

ध्यान का फल-

आर्त और रौद्र ध्यान संसार दुःखों के कारण हैं एवं धर्मध्यान परंपरा से तथा शुक्लध्यान साक्षात् मोक्ष का हेतु है।

इस प्रकार ध्यान का समीचीन मार्गदर्शन ग्रंथकार द्वारा किया गया है।

पञ्चम अध्याय-

जैन परंपरा ध्यान-योग संबंधी साहित्य से समृद्ध है। अनेक आचार्यों द्वारा इस विषय पर अपने अपने मत प्रस्तुत किये गये हैं। यथा—

१. मोक्षपाहुड - इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द (ईसा की प्रथम सदी) हैं। 106 गाथाओं के माध्यम से इसमें ध्यान योग का वर्णन किया गया है। योग के सात अंगों— यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का इसमें स्फुटरूप से वर्णन है।

२. समाधितंत्र- आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित इस कृति में 105 श्लोक हैं। संस्कृत की यह कृति आत्म विवेचन को ध्यान में रखकर रची गयी है। अतः ध्यान-योग से

संबन्धित विवेचन के लिए महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

३. इष्टोपदेश- आचार्य पूज्यपाद द्वारा रचित संस्कृत भाषा की इस कृति में 51 श्लोकों के माध्यम से आत्मा की विशुद्धता, वीतरागता, अपरिग्रह और आचरण का वर्णन किया गया है।

४. तत्त्वार्थवार्तिक- तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ पर रचित यह महत्त्वपूर्ण टीका ग्रंथ है। इसके भाष्यकार आचार्य अकलंक हैं जो कि तर्क के प्रसिद्ध विद्वान् रहे हैं। नवम अध्याय में निर्जरा तत्त्व के वर्णन के अन्तर्गत सूत्र संख्या 27-44 तक ध्यान की चर्चा की गयी है। योग का वर्णन भी अनेक स्थानों पर किया गया है।

५. तत्त्वानुशासन- तत्त्वानुशासन ग्रंथ के कर्ता आचार्य रामसेन हैं। इस ग्रंथ में 259 श्लोकों में ध्यान का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ का दूसरा नाम ध्यानशास्त्र है। ज्ञानार्णव में वर्णित धर्मध्यान के भेद- पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के नामों का उल्लेख यहां पर किया गया है।

६. ध्यानशतक- इस ग्रंथ में मूलकर्ता का कोई निश्चय नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने इस ग्रंथ की टीका करते हुए ध्यान शतक नाम दिया है। मूल ग्रंथ में ग्रंथ का नाम 'ध्यानाध्ययन' प्राप्त होता है। इसमें 105 गाथाओं के द्वारा ध्यान-योग की चर्चा की गयी है।

७. आदिपुराण- आदिपुराण महापुराण का प्रथम खण्ड है। द्वितीय खण्ड उत्तरपुराण है। आदिपुराण सैंतालीस पर्वों में पूर्ण हुआ है। जिसमें बयालीस पर्व और तैंतालीसवें पर्व के तीन श्लोक जिनसेनाचार्य द्वारा तथा अवशिष्ट पांच पर्व और उत्तरपुराण जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्राचार्य द्वारा रचित हैं। आदिपुराण के 21वें पर्व में 268 श्लोकों के द्वारा ध्यान की चर्चा की गयी है।

८. उपासकाध्ययन- यह ग्रंथ आचार्य सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक चम्पू का एक अंश है। यशस्तिलक चम्पू के तीन आश्वासों-छठवाँ, सातवाँ और आठवाँ के 909 श्लोक इसके अन्तर्गत आते हैं। इसमें श्रावक के आचार का विस्तृत वर्णन है।

९. अमितगति श्रावकाचार- प्रस्तुत ग्रंथ आचार्य अमितगति द्वितीय के द्वारा रचित है। पन्द्रह परिच्छेदों में विभक्त इस ग्रंथ के चौदह परिच्छेदों में श्रावक के कर्तव्यों एवं पन्द्रहवें में ध्यान का निरूपण किया गया है।

१०. ज्ञानसार- ज्ञानसार मुनि पद्मसिंह द्वारा रचित है। इनका समय काल वि. सं. 1086 है। प्रस्तुत ग्रंथ में 63 गाथाओं के द्वारा ज्ञान की चर्चा करते हुए ध्यान का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

११. योगसार- यह आचार्य हेमचन्द्र विरचित ध्यान-योग का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। ग्रंथ का मुख्य विषय योग होने से इसका नाम योगशास्त्र भी सार्थक है। यह 12 प्रकाशों में विभक्त है। ज्ञानार्णव के पश्चात् रचा जाने वाला यह ग्रंथ ध्यान-योग का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस पर ज्ञानार्णव का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

उपर्युक्त ग्रंथों के साथ ज्ञानार्णव का तुलनात्मक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। जैन साहित्य की प्रचुरता और अधिकांश ग्रंथों में संक्षिप्त या विस्तृत रूप से ध्यान योग का वर्णन होने के कारण कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों के साथ ही ज्ञानार्णव की तुलना की गयी है। इसके माध्यम से पूर्वाचार्यों का ज्ञानार्णव पर प्रभाव एवं परवर्ती आचार्यों पर ज्ञानार्णव का प्रभाव सुनिश्चित होता है। ज्ञानार्णव के काल निर्धारण के लिए भी यह महत्वपूर्ण है।

षष्ठ अध्याय-

यहाँ वैदिक ध्यान-योग परंपरा के पातञ्जल योगसूत्र और बौद्ध ध्यान-योग परंपरा का ज्ञानार्णव के साथ समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पातञ्जल योगसूत्र महर्षि पतञ्जलि के द्वारा रचित योग का महत्वपूर्ण ग्रंथ है इसमें अष्टांग योग के द्वारा योग को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया है। ज्ञानार्णव और योगसूत्र में वर्णित विषय क्रम समान प्रतीत होता है लेकिन दोनों के मूलभूत सिद्धांत भिन्न-2 हैं।

बौद्ध ध्यान-योग परम्परा में ध्यान-योग की विस्तृत चर्चा की गयी है लेकिन ध्यान-योग विषयक स्वतंत्र ग्रंथ प्राचीन धारा में उपलब्ध नहीं होता। अतः बौद्ध ध्यान-योग परंपरा से ही ज्ञानार्णव की तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षा की गयी है। दोनों में समानता के अनेक बिंदु दृष्टिगोचर होते हैं लेकिन मूल मान्यता में भिन्नता होने के कारण ध्यान-योग के भिन्न-2 आधार दृष्टिगोचर होते हैं।

सप्तम अध्याय- छह अध्यायों में ध्यान-योग का विवेचन करने के उपरान्त इस अध्याय में उपसंहार लिखा गया है। इसमें भारतीय योग परंपरा की वैदिक, बौद्ध और जैन धारा से संबद्ध मौलिक विशेषताओं का निदर्शन हुआ है। यहाँ अष्टांग योग का प्रणेता महर्षि पतञ्जलि को न स्वीकारते हुए आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी को स्वीकार किया गया है। ज्ञानार्णव के परिप्रेक्ष्य में जैन ध्यान योग का मूल्यांकन किया गया है।

परिशिष्ट- शोध के अंत में परिशिष्ट के माध्यम से कुछ ऐसे विषयों का उल्लेख किया गया है जिनका विवेचन ज्ञानार्णव में नहीं किया गया। लेकिन जैन ध्यान-योग हेतु अपेक्षित है।

संदर्भ:

1. तत्त्वार्थसूत्र, 9/3
2. ज्ञानार्णव, 1/19
3. तत्त्वार्थराजवार्तिक, 9/26/13
4. ताश्च संवेग वैराग्यं प्रशम सिद्धये।- ज्ञानार्णव, 2/6
5. ज्ञानार्णव, 2/7
6. रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद्भूयातुमिच्छति।
रणपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुत शोखरम्॥- ज्ञानार्णव, 6/4
7. ज्ञानार्णव, 8/6
8. ज्ञानार्णव, 18/3

9. स्थानासन विधानानि ध्यान सिद्धेर्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः॥- ज्ञानार्णव, 28/20
10. ज्ञानार्णव, 28/20
11. पर्यंकमर्द्धपर्यंकं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वं च कायोत्सर्गश्च सम्मतः॥- ज्ञानार्णव, 28/10
12. ज्ञानार्णव, 29/3
13. ज्ञानार्णव, 29/4
14. ज्ञानार्णव, 29/5
15. ज्ञानार्णव, 29/6
16. ज्ञानार्णव, 30/4
17. ज्ञानार्णव, 30/1
18. ज्ञानार्णव, 30/12
19. एकाग्रचिन्ता निरोधो यस्तद्ध्यानं भावनापरा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते॥ - ज्ञानार्णव, 25/16
20. तत्त्वार्थसूत्र, 9/27; चारित्रसार, 166/6; तत्त्वानुशासनम्, 56
21. ज्ञानार्णव, 25/7
22. ज्ञानार्णव, 4/5
23. ज्ञानार्णव, 4/6
24. ध्येयमप्रशस्तप्रशस्त परिणाम कारणं। चारित्रसार, 167/2
25. ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते॥ तत्त्वानुशासनम्, 67
26. ज्ञानार्णव, 25/12
27. ज्ञानार्णव, 25/17-18
28. ज्ञानार्णव, 25/20
29. ऋतं दुःखं, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्।- सर्वार्थसिद्धि, 9/28/445/10
30. ज्ञानार्णव, 25/23
31. ज्ञानार्णव, 25/24
32. रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्।- सर्वार्थसिद्धि, 9/28/445/10
33. ज्ञानार्णव, 26/1
34. ज्ञानार्णव, 26/3
35. सर्वार्थसिद्धि, 9/36/450/4
36. ज्ञानार्णव, 33/1-2
37. ज्ञानार्णव, 33/5
38. ज्ञानार्णव, 37/1
39. ज्ञानार्णव, 42/4
40. ज्ञानार्णव, 42/6
41. ज्ञानार्णव, 42/9-11

जीवन और समाज का आधार : अनेकान्त

-डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

दर्शन के किसी भी सिद्धान्त का महत्त्व सिर्फ इस बात तक सीमित नहीं रहता कि वह निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए कितना जरूरी है, और न ही सिर्फ इस बात तक सीमित रहता है कि उसने प्रकृति के रहस्यों की कितनी सटीक व्याख्या की है? आज के इस दौर में दर्शन का महत्त्व इस बात से भी आँका जा रहा है कि दर्शन के अमुक सिद्धांत या अवधारणा की उपयोगिता जीवन व समाज में कितनी है? यदि वह सिद्धांत या अवधारणा हमारे जीवन और समाज की रोजमर्रा की समस्याओं में समाधान बनकर सामने नहीं आती है तो उसका शास्त्रीय महत्त्व चाहे जितना हो मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में उसकी कीमत नहीं रहती।

आज अनेकान्त दर्शन की धूम मच रही है। वह इसलिए क्योंकि उसने वस्तु तत्त्व को समझने के साथ साथ जीवन और समाज से जुड़ी तमाम समस्याओं के समाधान भी दिये हैं। भूमण्डलीकरण के इस दौर में यदि अनेकान्त सिद्धान्त को स्वीकार न करें तो जीवन संकट में पड़ सकता है। यह बात अपने आप में सत्य है कि भगवान् महावीर ने आज से लगभग 2600 वर्ष पहले प्रकृति के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की व्याख्या की किन्तु फिर भी इतने मात्र से अनेकान्त दर्शन को किसी धर्म, मजहब, संप्रदाय या दर्शन मात्र के सीमित दायरे में देखना बहुत बड़ी भूल होगी।

महापुरुषों का जीवन वास्तव में संपूर्ण मानव जाति एवं अन्य सभी जीवों के लिए होता है। इसलिए यह सत्य होते हुये भी कि यह जैनधर्म की मौलिक देन माना जाता है इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कम या अधिक रूप में इसके सूत्र सभी धर्मों तथा दर्शनों में प्राप्त होते हैं। दरअसल अनेकान्त एक अस्तित्व है, एक जीवन है। अनेकान्त से इंकार अस्तित्व से इंकार होगा। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र, जीवन घटनायें, प्रकृति के प्रत्येक संबन्ध अनेकान्त स्वरूप हैं। मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि हम चाहें तो भी एकान्तवादी नहीं हो सकते क्योंकि मेरी दृष्टि में एकान्त असत् का सूचक है।

फिर सहज ही मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनेकान्त का नियम न मानने वालों को, वस्तु की अनन्त धर्मता को अस्वीकृत करके उसके किसी एक धर्म को ही वस्तु का स्वभाव मानने वालों को (शास्त्रों में) एकान्तवादी क्यों कहा गया है? इस प्रश्न के जवाब में भी मेरा मात्र इतना कहना है कि सच है कि उनकी मान्यता एकान्तवाद की है; इसी दृष्टि से वे एकान्तवादी कहे गये हैं किन्तु उनका भी जीवन व्यवहार एकान्तवादी नहीं हो सकता, अपने सामाजिक जीवन में यदि वे एक ही पक्ष को लेकर चलेंगे तो जी नहीं सकते। सामाजिक जीवन में ऐसे लोग भी अनेकान्त की ही अनुपालना

करते हैं। अतः इस दृष्टि से वे अनेकान्तवादी ही कहे जायेंगे। मेरी स्पष्ट मान्यता है कि विचारों में एकान्त हो सकता है जीवन में नहीं।

अनेकान्त की परिभाषा

जैन शास्त्रों में अनेकान्त की परिभाषा है—

‘एक ही वस्तु में वस्तुपने को निपजाने वाली परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना अनेकान्त है।’ तात्पर्य यह है कि बिना विरोध के अस्तित्व नहीं है और विरोध की स्वीकृति है अनेकान्त। अनेकान्त एक ऐसी पद्धति है जिसमें हमें सिर्फ शास्त्रों के ही नहीं बल्कि जीवन के भी अर्थ समझ में आते हैं। दुनिया में चाहे कोई भी दार्शनिक रहा हो, चाहे कोई भी शास्त्र उनमें कहीं न कहीं अनेकान्त की आभा विराजमान रही है क्योंकि व्यक्ति चाहे तो अन्तर्जगत् में रहने वाला दार्शनिक हो या बाह्य जगत् में रहने वाला भौतिक या पदार्थवादी; वास्तव में यदि वह मनुष्य है और संवेदनशील है तो ‘अनेकान्त’ उसके अनुभव का विषय जरूर बनता है। फिर भले ही वहाँ ‘अनेकान्त’ संज्ञा का प्रयोग न हुआ हो किन्तु एक ही स्थल पर अनन्त धर्मात्मकता और विरोध को प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।

पाश्चात्य विचारक और अनेकान्त

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. हैयनाक एलिस (1819-1939) ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक ‘आई विलीव’ में विरोध को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

“मैंने यह महसूस किया है कि अपनी प्रकृति के दोनों विरोधी तत्त्वों में जिस समन्वय को उपलब्ध करने में मैं सफल हुआ था वह वस्तुतः मेरे स्वभाव में गहरी जड़ जमाकर बैठी हुयी विशेषता के उपयोग के ही कारण था।”

इसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन के कई दार्शनिक ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व इसी अनुभव से गुजरे। उन्होंने विरोध को स्वीकार किया। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हेरेक्लाइटस (Heraclitus 600 B.C.) ने संघर्ष, विरोध, निषेध और अभाव को बहुत महत्व दिया। वे मानते थे कि विरोध और निषेध का अर्थ गति या परिवर्तन है। अतः जीवन के लिए विरोध आवश्यक है। विरोध का अभाव मृत्यु है। विरोध या निषेध के बिना गति या परिवर्तन (विकास) संभव नहीं है। हेरेक्लाइटस विरोध के माध्यम से ही अस्तित्व की स्वीकृति मानते हैं। वे आगे यह भी कहते हैं कि विरोध का अर्थ आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्यन्तिक विरोध असंभव है; यह हमारी कल्पना है, वस्तु सत्य नहीं। विरोध तो साधन मात्र है, साध्य है समन्वय।’ (पाश्चात्य दर्शन, पृ.5-6)

जैनदर्शन भी एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की स्वीकृति प्रदान करता है, यही -‘अनेकान्तवाद’ है। यहां एक बात और ध्यातव्य है कि यहां भी परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का सहावस्थान एक वस्तु माना है। नित्य-अनित्य धर्म वास्तव में विरोधी प्रतीत होते हैं, विरोधी हैं नहीं यदि वास्तव में विरोधी होते तो क्या ये एक स्थान पर रहते?

हेरेक्लाइटस प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष मानते हैं। वे कहते हैं कि समुद्र का पानी मछली के लिए मीठा और हमारे लिए खारा है। 'हम हैं भी और नहीं भी हैं'। हम 'सत्' भी हैं, 'असत्' भी हैं, और सदसदनिर्वचनीय भी हैं। जितने भी द्वन्द्व हैं, सब सापेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरणार्थ एक और अनेक, अच्छा और बुरा, गति और स्थिति, परिणाम और सत्ता, जीवन और मरण, सर्दी और गर्मी आदि। (पाश्चात्यदर्शन, पृ.6-7)

यहाँ हम हेरेक्लाइटस के इस चिंतन की तुलना जैनदर्शन के अनेकान्त स्याद्वाद से कर सकते हैं। काफी कुछ चिंतन में साम्य दिखता है। यद्यपि हेरेक्लाइटस के सिद्धान्त कई स्थलों पर अपरिपक्व हैं किन्तु उनका चिंतन यह तो प्रमाणित करता ही है कि विरोध उनके अनुभव का एवं दर्शन का विषय बना था।

डॉ. एलिस जो कि जीवन और अस्तित्व के बारे में खोज करने वाले प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हैं, का स्पष्ट कहना है कि—

‘हमें यह सिखलाया जाता है कि विरोधी शक्तियों के आकर्षण विकर्षण के और विरोधी दिशाओं में खींच-तान के कारण ही हमारे ग्रहों और उपग्रहों की यह समूची व्यवस्था समन्वयपूर्ण ढंग से कार्य करने में सफल होती है। यही संघर्ष वनस्पति जगत् में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विरोध का अस्तित्व जीवन के लिए कोई बाधा नहीं है, यह तो जीवन के सुचारु संपादन के लिए एक आवश्यकता है।’

यह तो अनुभव का विषय है कि हम चाहें तो भी जीवन में एकरूपता कायम नहीं कर सकते। स्थूल रूप से हम यदि ऐसा कर भी लेंगे तो सूक्ष्म दृष्टि से हम पायेंगे कि यह निर्मित एकरूपता और कुछ नहीं विभिन्न बहुलताओं का समुदाय मात्र है। विरोध और बहुलता से इंकार करने का मतलब है अस्तित्व का इंकार, जीवन का इंकार और अनेकान्त का इंकार।

ग्लोबल समाज और अनेकान्त दर्शन

दर्शन पक्ष की तरफ से अनेकान्त पर बहुत विचार हुआ, किन्तु यह युग की मांग है कि इस सिद्धान्त के सामाजिक पक्ष पर भी कुछ विचार हो। वैश्वीकरण के इस दौर में बहुरूपता और बहुलता और अधिक बढ़ी है। नये किस्म के समाज की संरचना हो रही है। एक धर्म, जाति, भाषा और एक समाज के मुहल्ले, गाँव बसना अब बन्द हैं। यह एक किस्म की आर्थिक परतंत्रता है कि व्यक्ति चाहकर भी संयुक्त एकरूपता कायम नहीं कर सकता। मनुष्य की रोजी-रोटी, नौकरी, व्यवसाय इत्यादि जिधर जमे उसे वहीं रहना पड़ता है। भिन्न भाषा, धर्म, जाति के लोगों के साथ कॉलोनियों में रहना है। यहाँ वैचारिक रूप से व्यक्ति अनेकान्त बन जाता है। सभी तरह के लोगों के साथ उठना-बैठना, व्यवहार निभाना, उनके समक्ष एक नये समाज की रचना प्रस्तुत करता है। ऐसी परिस्थिति में यदि वह अपने व्यक्तित्व को अनेकान्त में नहीं ढालता है तो उसका जीवन कठिन हो जायेगा।

जैनदर्शन का अनेकान्तवाद विरोध में अस्तित्व का सिद्धान्त समझाकर इस व्यवहार जगत् को संदेश देता है और समाधान बतलाता है। यहाँ किसी एक विचार या

संस्कृति को स्वीकार करने का हठाग्रह लेकर हम चलेंगे तो हम समाज में नहीं रह सकते। क्योंकि हमें हिन्दू, जैन, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई इत्यादि समाज में नहीं रहना है बल्कि विश्व समाज में रहना है जहाँ बहुलता ही बहुलता है। ध्यान रखें, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एकरूपता का नाम 'एकान्त' है और बहुलता का नाम ही 'अनेकान्त' है।

जीवन एकान्तवादी नहीं हो सकता

विचारों के आधार पर मनुष्य कदाचित् एकान्तवादी भी हो सकता है, किन्तु जीवन और समाज में व्यक्ति एकान्तवादी नहीं हो सकता। जिंदगी अनेकान्त का नाम है। एक मुसलमान विचारों के आधार पर भले ही सिवाय इस्लाम के कहीं भी सिर न झुकाये किन्तु जब वह व्यवसाय करता है तब ग्राहक कौन है? हिन्दू अथवा ईसाई या अन्य कोई? वह इसका भेद नहीं करता, वह उसे सम्मान देता है। स्वयं उसे जीवन के अनेक कार्यों के मध्य मात्र इस्लाम अनुयायियों से काम चल जायेगा- ऐसा नहीं है।

फिदा हुसैन एक ब्राह्मण अभिनेत्री माधुरी दीक्षित पर यदि फिदा है तो वह यह विचार नहीं करता है कि यह तो मुसलमान नहीं है मैं इसका चित्र क्यों बनाऊँ? उसी प्रकार हिन्दू या अन्य मतानुयायी भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सभी से कार्य करवाते हैं। यदि कोई मुस्लिम डॉक्टर कोई बहुत बड़ा ऑपरेशन किन्हीं पण्डित जी या पादरी जी का करता है तब इसमें से कोई मना नहीं करता। शाहरुख खान, सैफअली खान, गुलाम अली से लेकर मुहम्मद अजहरुद्दीन तक सभी मात्र मुसलमानों के ही चहेते हैं ऐसा नहीं है। उसी प्रकार सचिन तेंदुलकर, ऐश्वर्या राय, अमिताभ, अभिषेक बच्चन, अनिल और शाहिद कपूर तथा जगजीत सिंह पर मात्र हिन्दू ही जान छिड़कते हैं ऐसा भी नहीं है। भवन निर्माण में यदि मुस्लिम मिस्त्री सिद्धहस्त हैं तो पण्डित जी उसी से मकान बनवाते हैं यहाँ तक कि मंदिर तक।

हम स्वयं विचार करें कि क्या जीवन कभी एकान्तवादी हो सकता है? जैन या हिन्दू निःशुल्क अस्पतालों में मुस्लिम महिलाओं एवं बच्चों की लम्बी कतार यह कभी विचार नहीं करती कि यह तो काफिरों के द्वारा बनाया गया अस्पताल है यहाँ इलाज मत कराओ। यहाँ के ट्रस्टी या डॉक्टर भी ऐसा कोई बोर्ड नहीं लगाते कि वे मुसलमानों का निःशुल्क इलाज नहीं करेंगे।

क्या सामाजिक जीवन में अनेकान्त को स्वीकार किये बिना इस प्रकार के सुन्दर जीवन की कल्पना संभव है? विभिन्नता, विविधता और विरोध यदि समाप्त हो जायें, जैसी कि कामनायें की जाती हैं; तो क्या अस्तित्व बचेगा? यह कल्पना भी कितनी निरर्थक मालूम होती है कि सर्वत्र एकरूपता, परिपूर्णता कायम हो जाये। यह वस्तु स्वभाव के विपरीत कल्पना है, जो कि असंभव है।

अनेकान्त दर्शन की व्यावहारिकता

जैन साहित्य में अनेकान्त दृष्टि की प्रधानता है। यह अनेकान्त में एकता करने का सशक्त माध्यम है। यह सभी के हितों का चिंतन करता है। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी के साथ सर्वोदय शब्द जुड़ा हुआ है। डॉ. रामजी सिंह का मानना है कि संस्कृति

के प्रामाणिक शब्दकोशों में भी इसका उल्लेख नहीं है। किन्तु जैन संस्कृत वाङ्मय के सिंहावलोकन से पता चलता है कि आगमयुग के बाद ही अनेकान्त स्थापना युग में सिद्ध स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपने ग्रंथ 'युक्त्यनुशासन' में सर्वोदय तीर्थ का प्रयोग किया है-

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥६१॥

अर्थात् हे प्रभु! आपका तीर्थ, शासन सर्वान्तवान् है और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिए हुए हैं। जो शासन वाक्यधर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता, वह सर्वधर्मों से शून्य है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सर्व दुःखों का अंत करने वाला है, यही निरन्त है और यही सभी प्राणियों के अभ्युदय का साधक ऐसा सर्वोदय तीर्थ है।

यहाँ सर्वोदय तीर्थ-विचार तीर्थ के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यही धर्म तीर्थ भी है। यही जैन तत्त्वज्ञान का मर्म है। सर्वोदय तीर्थ अनेकान्तात्मक शासन के रूप में व्यवहृत हुआ है। अनेकान्त विचार ही जैनदर्शन, धर्म और संस्कृति का प्राण है और यही इसका सर्वोदयी तीर्थ भी है।

अनेकान्तदृष्टि के मूल में दो तत्त्व हैं- (1) पूर्णता (2) यथार्थता जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप में प्रतीत होता है, वही सत्य कहलाता है। किन्तु पूर्ण रूप से त्रिकाल बाधित यथार्थ का दर्शन दुर्लभ है। देश-काल-परिस्थिति, भाषा और शैली आदि अनिवार्य भेद के कारण भेद का दिखायी देना अनिवार्य है फिर साधारण मनुष्य की बात ही क्या? साधारण मनुष्य यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। यदि अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी दूसरे की बात सत्य है, अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी अपनी बात सत्य है; तो दोनों को न्याय कैसे मिल सकता है?

इसी समस्या के समाधान के लिए अनेकान्त दृष्टि का उद्भव हुआ जिसकी मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं-

(1) राग और द्वेषजन्य संस्कारों से ऊपर उठकर मध्यस्थ भाव रखना।

(2) जब तक इस प्रकार के तटस्थ एवं मध्यस्थ भाव का पूर्ण विकास न हो, तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा करना।

(3) विरोधी पक्ष के प्रति आदर रखकर उसके भी सत्यांश को ग्रहण करना।

(4) अपने या विरोधी के पक्ष में जहाँ जो ठीक जैचे उनका समन्वय करना।

इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि के द्वारा हम एक नयी 'समाज मीमांसा' और नये 'समाज तर्क' के अविष्कार की ओर बढ़ सकते हैं और उसके द्वारा समाज में समन्वय लाया जा सकता है। यह ठीक है कि चूँकि दार्शनिक और आध्यात्मिक साधना में ही अनेकान्त दृष्टि आयी किन्तु अब समाज साधना में इनके प्रयोग को आगे बढ़ाना चाहिए। यही वह जीवन्त अनेकान्त होगा जिसका उपयोग एक जीवन दर्शन की तरह होगा। जो सही अर्थों में जीवन को जीता है वह वास्तव में 'अनेकान्त' को जीता है। हम सभी का यह अनुभूत एवं ज्ञात विषय है कि जीवन बहुआयामी है। जीवन या समाज की व्याख्या किसी

एक पहलू से नहीं की जा सकती। लन्दन के वैज्ञानिक लेखक डॉ. न्यूलियन हक्सले (1887-1966) ने स्पष्ट लिखा है कि-

‘हम अपने सिद्धान्तों को गिनती के कुछ सीधे सादे शब्दों की कारां में कैद नहीं कर सकते। जीवन बहुत उलझा हुआ है तथा वैविध्यपूर्ण है। हमें सिद्धान्तों को आस्था के द्वारा पूर्णता देनी होगी और आस्था का अन्तिम लक्ष्य जीवन है, उसकी प्रगति और समृद्धि है। अस्तु मेरी अंतिम आस्था जीवन में है।

निष्कर्ष यही है जीवन, समाज और अस्तित्व तर्क का नहीं आस्था का विषय है। अनेकान्त को भी तर्क समझा गया। उसके पीछे एक कारण यह है कि अनेकान्त का उपयोग दार्शनिक क्षेत्र में ही किया गया। अनेकान्त जीवन से जुड़ा है इसलिए यह तर्क से परे आस्था का भी विषय बनता है। सारांश यह है कि हम अपने अस्तित्व, जीवन और समाज से जुड़ी समस्याओं की तह में जायेंगे तो पायेंगे कि ये समस्यायें अनेकान्त को नहीं समझ सकने से उत्पन्न हुई हैं।

संदर्भ:-

1. समयसार- आचार्यकुन्दकुन्द की अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति टीका, प्रकाशन-पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1999
2. युक्त्यनुशासनम्- आचार्य समन्तभद्र; समन्तभद्र ग्रंथावली, संकलन-डॉ. गोकुलचन्द जैन, प्रकाशन- वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1989
3. श्रमण, (शोधपत्रिका), पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
4. पाश्चात्यदर्शन- चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, 2006
5. जैनधर्म: एक झलक; डॉ. अनेकान्त जैन, श्री शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रंथमाला, बुढ़ाना, (उ.प्र.), 2007
6. अनेकान्त सिद्धांत का दुरुपयोग (शोध लेख), जैन अनेकान्त कुमार, प्रकाशन- अनेकान्त (शोध त्रैमासिक), वर्ष-52, किरण-3, जुलाई-सितम्बर-1999, पृष्ठ 23-24
7. अनेकता में एकता (लेख) डॉ. अनेकान्त जैन, अणुव्रत पाक्षिक, 16-30 सितम्बर, 2002, पृ. 22
8. परंपरा और अनेकान्त (लेख)- डॉ. अनेकान्त जैन, अणुव्रत पाक्षिक, 1-15 नवम्बर, 2002 पृष्ठ-15
9. अनेकान्त का अर्थ है जीवन का अस्तित्व (लेख)- डॉ. अनेकान्त जैन, प्रकाशन, सराक सोपान (मासिक), दिल्ली रोड, मेरठ (उ.प्र.)

जैनदर्शन विभाग,
श्री लाल बहादुर शास्त्री रा. संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110016

जैन अपरिग्रह की अवधारणा सूत्रकृतांग के विशेष संदर्भ में

-डॉ. वन्दना मेहता

संपूर्ण धर्म जगत् का एक मान्यता प्राप्त विचार है- अहिंसा परमो धर्मः। अहिंसा का सभी धर्म तथा दर्शनों में सर्वोत्तम स्थान है। जैनदर्शन की तो प्रसिद्ध सूक्ति ही है- अहिंसा सव्वभूयखेमंकरि¹ और जैनदर्शन को अहिंसा का पर्याय माना जाता है। अहिंसा क्या है यह जानने से पहले इसका अर्थ जान लेना उचित लगता है “न हिंसा इति अहिंसा” अर्थात् हिंसा का न होना ही अहिंसा है। प्राणों का अतिपात न करना सभी जीवों के प्रति संयम रखना ही अहिंसा है।² जैनदर्शन में मुख्य रूप से 3 प्रकार की हिंसाओं का वर्णन मिलता है-

1. संकल्पजा,
2. विरोधजा,
3. आरंभजा।

संकल्पजा अर्थात् संकल्पपूर्वक किसी जीव की हिंसा करना। इसके पीछे कारण अपना स्वार्थ भी हो सकता है तो कोई पुराना बैर या द्वेष भी हो सकता है। इसमें व्यक्ति स्वेच्छा से किसी के प्राणों का हनन करने को उद्यत होता है। वहीं विरोधजा हिंसा दूसरे व्यक्ति के प्रतिकार स्वरूप होती है। इसमें सामने वाला व्यक्ति जब दूसरे पर आक्रमण करता है तो स्वहिताय और रक्षा के लिए वह उससे बचने की कोशिश करता है और जब वह बचने में असमर्थ हो जाता है तो उसके पास एक ही उपाय रहता है “करो या मरो” और वह दूसरे प्राणी की हिंसा में प्रवृत्त होता है। इसमें व्यक्ति प्रेरित होकर हिंसा करता है, लेकिन स्वेच्छा से नहीं। तीसरी आरंभजा हिंसा यह व्यक्ति अपने जीवन यापन और उसकी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करता है। जिसके बिना उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। इस प्रकार की हिंसा उसके जीवन को बनाये रखने के लिए होती है।

भगवान् महावीर ने दो प्रकार के चारित्र धर्मों का प्रतिपादन किया- अगार धर्म और अनगार धर्म।³ अनगार धर्म के आराधक मुनि कहलाते हैं उनके लिए तो सर्वप्रकार की हिंसा को त्याज्य बताया गया है किन्तु अगार धर्म को पालने वाले गृहस्थी को भी कम से कम हिंसा करने का उपदेश जैन आगमों में दिया गया है। उनके लिए कहा गया है कि आवश्यक हिंसा और विरोधजा हिंसा उन्हें करनी पड़ सकती है किन्तु संकल्पजा तो उनके लिए सर्वथा त्याज्य है और आवश्यक हिंसा का भी सीमाकरण आवश्यक है।

इस प्रकार सभी दर्शनों एवं धर्मों में अहिंसा का सर्वोपरि स्थान है और हिंसा न करने की बात कही गई। उसे दार्शनिक एवं धार्मिक जगत् का नरपति बना विश्व सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया गया। अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान एवं उसका स्थान प्रथम है। खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड़ होती है वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं इसलिए अहिंसा की प्रधानता मानी गई है। महावीर ने प्राणीमात्र में संयमभूत अहिंसा को प्रथम स्थान दिया और बताया कि उसके यथार्थ स्वरूप को निष्णात व्यक्ति ही जान सकता है।⁴ शेष सत्य आदि चार व्रत तो इसी के संरक्षक मात्र हैं। अहिंसा अनाज है सत्यादि उसकी रक्षा करने वाले बृहद् बाड़े हैं।⁵ अहिंसा जल है और सत्यादि व्रत तो उसी के संरक्षक खेत हैं।⁶ बंधन और मुक्ति के प्रसंग में भी हिंसा को ही मूलभूत कारण स्वीकार किया गया। किन्तु जैनधर्म के आधार ग्रंथों में से एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है सूत्रकृतांग। इसके प्रथम अध्ययन के अन्तर्गत हिंसा की बजाय परिग्रह को बंधन का मूल कारण बताया गया है। वहां कहा गया है “परिग्रह ही सब कर्मों का मूल है उसे छोड़कर ही व्यक्ति बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रस्थान कर सकता है।” सूत्रकृतांग सूत्र के पहले अध्ययन ‘समय’ के पहली दो गाथाओं में ही इस रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहा गया है—

बुद्धोज्ज तितट्टेज्जा बधणं परिजाणिया।

किमाह बंधणं वीरे? किं वा जाणं तितट्टइ?

चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किंसाववि।

अण्णं वा अणुजाणइ एवं दुक्खा ण मुच्चई॥

इसमें कहा गया है कि महावीर ने बंधन किसे कहा है और किसे जानकर उसे तोड़ा जा सकता है। समाधान शैली में कहा गया—परिग्रह बुद्धि (ममत्व) ही बंधन का हेतु है और ममत्व रखने वाला जीव कभी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। बंधन मुक्ति के उपायों की चर्चा करते हुए भगवान् महावीर ने कहा बंधन मुक्ति के दो उपाय हैं—

1. धन और परिवार में अत्राण दर्शन
2. जीवन का मृत्यु की दिशा में संधावन⁷

मननशील प्राणी/ मनुष्य का हर प्रयत्न दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिए होता है और अध्यात्म की भाषा में बंधन दुःख है और मोक्ष/मुक्ति सुख है। अर्थात् आध्यात्मिक दुःख-सुख है— बंध और मोक्ष।

कर्म बंध यानी दुःख के हेतुओं की चर्चा जैनधर्म की एक मौलिक चर्चा है। कर्म का इतना सूक्ष्म और विशद विवेचन अन्य कहीं उपलब्ध नहीं होता। उस विशद चर्चा का सार यह है कि बंध के दो मुख्य हेतु हैं

1. आरंभ (हिंसा) 2. परिग्रह

हिंसा की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। उनके अतिरिक्त राग-द्वेष, मोहादि भी बंधन के कारण माने गये हैं पर इन सबकी धुरी एक है— परिग्रह। आज हम देख रहे हैं जितनी भी हिंसा हो रही है पर्यावरण प्रदूषण एवं उसका दोहन आदि उसका मूल कारण है—परिग्रही दृष्टिकोण। आज मनुष्य की लालसा बढ़ती जा रही है। जितना है उससे और

अधिक पाने की चाह पैदा हो गई है। भगवान् महावीर ने कहा-

सुवण्णरूपस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया।

नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा उ आगाससमा अणंतिया॥

(उत्तराध्ययनसूत्र. 9.48)

करोड़पति चाहता है मैं अरबपति बनूँ और इसके लिए वह किसी भी हद तक नीचे गिरने को तैयार है, कुछ भी करने को तैयार है। बढ़ता हुआ आतंकवाद इसका जाज्वल्यमान उदाहरण है। इन सबका मूल कारण क्या? मूल कारण है-परिग्रह। आज धन कुछ व्यक्तियों के मध्य विकेंद्रित हो गया है और हमारी अर्थ व्यवस्था का ढांचा भी कुछ इस तरह का है कि इसमें अमीर और अमीर होता जा रहा है और गरीब और गरीब। विश्व की ऐसी दयनीय स्थिति को देखते हुए ही महान् दार्शनिक विवेकानन्द आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है-

आकाश में तारे हैं
वे नीचे आना चाहते हैं
धरती पर वृक्ष हैं
वे ऊपर जाना चाहते हैं
संतोष ऊपर भी नहीं है
नीचे भी नहीं है॥

और इसी असंतोष अतृप्ति की फलश्रुति है- हिंसा, आतंकवाद। जब तक व्यक्ति के परिग्रह की चेतना रहती है तब तक व्यक्ति अहिंसक नहीं बन सकता।

भगवान् महावीर ने ये कभी नहीं कहा कि- धन मत रखो, संपत्ति मत रखो क्योंकि जीवनयापन के लिए धन भी आवश्यक है, संपत्ति भी जरूरी है। ये परिग्रह नहीं है परिग्रह है इनके प्रति होने वाला मूर्च्छा भाव, ममत्व भाव।⁸ जहां ममत्व बुद्धि जुड़ जाती है वहां धन-दौलत, स्त्री, पुत्र, स्वजन और शरीर आदि सभी परिग्रह हैं। मैं और मेरापन एक ऐसा भाव है जिनसे व्यक्ति बंध जाता है और फिर वह इनके लिए हिंसा भी कर सकता है, झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है और अब्रह्म का सेवन भी कर सकता है अर्थात् जब तक परिग्रह की साधना नहीं सधती तब तक वह बंधन मुक्ति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता।

परिग्रही व्यक्ति की ऐसी चेतना रहती है कि वह अप्राप्त परिग्रह की तीव्र आकांक्षा रखता है, प्राप्त के संरक्षण हेतु विविध आयाम करता है और जो नष्ट हो गया है उसके लिए अनुताप करता है और इसी चिंतन में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को नष्ट करता हुआ वह बंधन को और अधिक गाढ़ बना देता है। क्योंकि ईंधन डालने से कभी आग शान्त नहीं होती वैसे ही उपभोग से कभी तृप्ति नहीं मिलती और व्यक्ति की परिग्रह दृष्टि और बढ़ती जाती है।

बंधन मुक्ति के उपायों की चर्चा करते हुए सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया- बैर की परंपरा को विच्छिन्न करो लेकिन जब परिग्रह है, ममत्व है, तब तक व्यक्ति/ प्राणी के प्राण

वियोजन मर्म-छेदन आदि किसी से नहीं घबराता और इस तरह वह एक लम्बी बैर परंपरा का सृजन कर लेता है और दुःख की परंपरा को बढ़ा देता है। एक दुःख से मुक्त होकर दूसरे दुःख में फंस जाता है।⁹

बंधन से मुक्त होना है तो व्यक्ति को ममत्व बुद्धि का परिहार करना होगा उसे यह समझना होगा कि धन, स्त्री, स्वजन आदि त्राण नहीं हैं, शरण नहीं हैं। कृत कर्मों का फल स्वयं को ही भोगना पड़ता है कोई किसी का सहयोग नहीं करता, हिस्सा नहीं बाँटता। व्यक्ति को चाहिए कि वह परिग्रही दृष्टिकोण को छोड़ अपरिग्रह की ओर प्रस्थान करें और कर्मों की श्रृंखला को तोड़ बंधन से मुक्ति की ओर अग्रसर हो।

कर्म बंधन के परोक्ष हेतु हैं-राग और द्वेष। प्रत्यक्ष हेतु हैं-परिग्रह और हिंसा। कारण को मिटाए बिना कार्य को नहीं मिटाया जा सकता। बंधन के कारणों को मिटाए बिना बंधन को नहीं तोड़ा जा सकता। परिग्रह की मूर्च्छा को तोड़ना ही वह सत्य है जिसे जान लेने पर बंधन को तोड़ा जा सकता है। परिग्रही दृष्टिकोण यदि बदल जाए तो आज विश्व की अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

कहा भी जाता है- “अपरिग्रह का रक्षाकवच विश्वशांति का रक्षाकवच है।”

संदर्भ:

1. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 108
2. दशवैकालिकसूत्र 6.8 अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो।
जैन सिद्धांत दीपिका, 6.7 प्राणानामनतिपातः सर्वभूतेषु संयमः अप्रमादो वा अहिंसा।
3. स्थानांगसूत्र, 2.109 चरित्तं धम्मं दुविहे पण्णत्ते, तं जहा अगारचरित्तधम्मं चेव
अणगारचरित्तधम्मं चेव। उपासकदशासूत्र, 1.11 तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ, तं जहा अगार
धम्मं अणगारं धम्मं च।
4. दशवैकालिकसूत्र, 6.8 तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो।
5. हरिभद्रीय अष्टक, 6.5 अहिंसा शस्यसंरक्षणेवृत्ति कल्पत्वात् सत्यादिब्रतानां।
6. योगशास्त्र, 2 अहिंसा पयसः पालि भूतान्यब्रतानि यत्।
7. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.5 वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं ण ताणइ।
संधाति जीविंते चेव, कम्मणा उ तिउट्ठइ॥
8. दशवैकालिकसूत्र, 6.20 न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो....
8. सूत्रकृतांगसूत्र, 1.1.3-4

सयं तिवातए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए।

हणंतं वाणुजाणइ वेरं वड्ढ अप्पणो॥

जस्सि कुले समुप्पण्णे जेहिं वा संवसे णरे।

ममाती लुप्पती बाले अण्णमण्णेहिं मुच्छिए॥

-गांवगुडा, राजसमन्द
(राजस्थान)

अकालमरण: आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में

- पुलक गोयल

श्रमण संस्कृति का प्रवाह अनादिकाल से है। तीर्थंकरों ने समय-समय पर इस संस्कृति का प्रवर्तन किया है। तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से सृजित द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपी सूर्य से श्रमण संस्कृति प्रकाशमान होती है। वर्तमान में इस ज्ञान का आंशिक प्रकाशमात्र उपलब्ध है। इस न्यूनातिन्यून संरक्षित ज्ञान का पूर्ण श्रेय श्रमण संस्कृति के नायक, सांसारिक विभूतियों से विरक्त और सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय की भावना से ओतप्रोत आचार्यों की विशाल श्रृंखला को जाता है।

अशेष-पदार्थ-वेत्ता आचार्य उमास्वामी अपरनाम आचार्य गृद्धपिच्छ का इस स्वर्णिम श्रृंखला में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके द्वारा विरचित सूत्रग्रंथ 'तत्त्वार्थ' का अध्ययन प्रत्येक जैन दार्शनिक का प्राथमिक अनिवार्य कर्तव्य है। वस्तुतः समग्र जैनधर्म और दर्शन के बीज इस ग्रंथ में निहित हैं। संस्कृत भाषा में निबद्ध यह ग्रंथ जैन परंपरा का प्रथम और सर्वाधिक अधीत सूत्र साहित्य है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, आचार्य विद्यानंद आदि जैन तार्किक, दार्शनिक, वैयाकरण भी इस ग्रंथ पर टीका लिखने का लोभ संवरित नहीं कर पाये। इस ग्रंथ का प्रत्येक सूत्र जैन वाङ्मय के लाखों पृष्ठों का मूलाधार है।

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में अकालमरण

आचार्य उमास्वामी ने अपने एकमात्र ग्रंथ 'तत्त्वार्थसूत्र' में अकालमरण शब्द का प्रयोग नहीं किया है। तथापि दूसरे अध्याय के अंतिम सूत्र में आपने 'अनपवर्त्यायुष्क जीवों' का निर्देश किया है। इस सूत्र पर टीका करते हुए प्रायः सभी टीकाकारों ने अवशिष्ट जीवों के अकालमरण की भजनीयता प्रकट की है। इस सूत्रवाक्य के आधार से विभिन्न आचार्यों ने अकालमरण के विभिन्न कारणों पर भी दृष्टिपात किया है। अधिकांश जैनाचार्यों ने संसार की अनित्यता, शरीर के प्रति विरक्तता, परभव संबन्धी दुःखों से भय आदि विषयों पर व्याख्यान हेतु इस सिद्धांत का पूर्ण समर्थन किया है। चिकित्सा विषयक शास्त्रों का सृजन भी इस अकालमरण की अवधारण का संपुष्ट प्रतिफल है, जो इसकी भजनीयता को देखते हुए इससे बचने का कार्य करता है। जीवदया का मार्मिक उपदेश भी इस सिद्धांत की सत्यता स्वीकारने पर ही उपयोगी और अनुपालन योग्य है। यह कहना गलत नहीं होगा कि अकालमरण उतना ही सत्य है, जितना जीवन और मरण का संबन्ध।

अकालमरण का स्वरूप

शास्त्रों में अकालमरण के अनेक नामान्तर प्राप्त होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी अकालमरण को 'अवमिच्चु' (अपमृत्यु) कहते हैं।¹ सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपादस्वामी

‘अयथाकालमरण’ नाम प्रदान करते हैं² राजवार्तिक एवं श्लोकवार्तिक में ‘अप्राप्तकालमरण’, ‘अपवर्त्यायुष’ और ‘अकालमृत्यु’ का प्रयोग है।³ धवला जी, गोम्मटसार आदि ग्रंथों में ‘कदलीघातमरण’ शब्द दृष्टिगोचर होता है।⁴

‘अकाल एव जीवितभ्रंशोऽकालमृत्युः।’

अर्थ- असमय में बद्ध आयुःस्थिति के पूर्व में ही जीवित का नाश होना अकालमृत्यु अथवा अकालमरण है।⁵ तात्पर्य यह है कि भुज्यमान आयु (वर्तमान भोगी जाने वाली आयु) का एक समय शेष रहते भी मरण होता है, तो वह अकालमरण है। जैसे कोई मनुष्य आयु 90 वर्ष भोगते हुए दुर्घटना आदि में रक्तक्षय हो जाने से 50 वर्ष की उम्र में (अथवा 90 वर्ष से पूर्व कभी भी) मरण हो जाता है, तो उसे अकालमरण, अयथाकालमरण, अपमृत्यु, कदलीघातमरण, अप्राप्तकालमरण आदि कहा जाता है।

अकालमरण किस जीव का नहीं होता है?

इस सम्बन्ध में आचार्य उमास्वामी ने एक स्वतंत्र सूत्र की रचना की है। उन्होंने पूर्ण आयु भोगकर मरण प्राप्त करने वालों की सूची अपने सूत्र में दी है, जिससे टीकाकारों ने शत प्रतिशत स्वीकार भी किया है। सूत्र इस प्रकार है-

“औपपादिक-चरमोत्तम-देहा-संख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः॥२/५३॥

अर्थ- उपपाद जन्मवाले देव और नारकी, चरमोत्तम देह वाले अर्थात् तद्भव मोक्षगामी और असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमि के जीव परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् इन जीवों की असमय में मृत्यु नहीं होती है।⁶

यह सामान्यतया नियम है कि देव, नारकी, भोगभूमि और कुभोगभूमि के मनुष्य और तिर्यञ्च तथा तद्भवमोक्षगामी जीवों का अकालमरण नहीं होता है।

अकालमरण किस जीव का हो सकता है?

उपर्युक्त सूत्र की टीकाओं में यह निर्देश प्राप्त होता है कि इनसे अतिरिक्त जीवों का अकालमरण न होने के संबन्ध में कोई नियम नहीं है। आचार्य पूज्यपाद और आचार्य अकलंक भट्ट अपनी टीकाओं में लिखते हैं-

‘इतरेषामनियमः।’

अर्थ- इनसे अतिरिक्त जीवों के यह नियम नहीं है।⁷

यदि आचार्य उमास्वामी को यह दृष्ट होता है कि ‘अकालमरण’ होता ही नहीं है तब उन्हें यह सूत्र लिखने की आवश्यकता ही न पड़ती। कोई भी मतिमान इस सूत्र के तात्पर्य को सहज अनदेखा नहीं कर सकता है। आचार्य अकलंकस्वामी अकालमरण की सिद्धि में हेतु देते हैं कि ‘अप्राप्तकाल में मरण की अनुपलब्धि होने से अकालमरण नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जैसे कागज, पयाल आदि उपायों के द्वारा आम्र आदि फल अवधारित (निश्चित) परिपाककाल के पूर्व ही पका दिये जाते हैं या परिपक्व हो जाते हैं, ऐसा देखा जाता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न (अवधारित) मरणकाल के पूर्व ही उदीरणा के कारण से आयु की उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। आयुर्वेद के सामर्थ्य

से अकालमरण सिद्ध होता है। जैसे- अष्टांग आयुर्वेद को जाननेवाला अतिनिपुण वैद्य यथाकाल वातादि के उदय के पूर्व ही वमन-विरेचन आदि के द्वारा अनुदीर्ण ही कफ आदि दोषों को बलात् निकाल देता है, दूर कर देता है तथा अकालमृत्यु को दूर करने के लिये रसायन आदि का उपदेश देता है। अन्यथा यदि अकालमरण नहीं है तो रसायन आदि का उपदेश व्यर्थ है। रसायन का उपदेश है, अतः आयुर्वेद के सामर्थ्य से भी अकालमरण सिद्ध होता है।⁸

निश्चय नय को सर्वोत्कृष्ट और व्यवहार नय को झूठा कहने वाले कुछ एकान्ती प्रवचनकार अकालमरण को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि निश्चय नय की अपेक्षा से अकालमरण नहीं होता है। उनका यह कथन नयविषयक अज्ञान को ही दर्शाता है। वास्तविकता यह है कि जन्म और मरण निश्चय नय की अपेक्षा नहीं है, व्यवहार नय की अपेक्षा है। जब निश्चय नय से मरण ही नहीं होता है, फिर अकालमरण नहीं होता, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

व्यवहार नय कर्म सापेक्ष होता है और निश्चय नय कर्म निरपेक्ष, अतः आयुर्कर्म के क्षय से मरण होता है, यह वाक्य निश्चय नय से नहीं कहा जाता है, अपितु व्यवहार नय से ही कहा जाता है। इसी प्रकार से देवादि के अतिरिक्त शेष जीवों का अकालमरण भजनीय है, यह कथन भी व्यवहार नय से कहा जाता है, निश्चय नय से नहीं।

कुछ एकान्तवादी पण्डितमानी यह कहते हैं कि सांसारिक दृष्टि में अकालमरण भले ही हो, परन्तु सर्वज्ञ की दृष्टि में सभी का सकालमरण ही होता है। यह तर्क भी असंगत है। जिस संसार को हम रंग-बिरंगा देखते हैं, क्या सर्वज्ञ की दृष्टि में वह कुछ अन्य प्रकार से दिखेगा? लेखनी की यह नीली स्याही क्या सर्वज्ञ की दृष्टि में लाल हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती, अन्यथा वे उन्मत्तवत् कुछ का कुछ देखने-जानने वाले हो जावेंगे। सर्वज्ञ की दृष्टि में भी यही प्रतिभासित होगा कि 90 वर्ष की आयु पूर्ण करने से पहले ही वह जीव (50 वर्ष की आयु में) मरण को प्राप्त हुआ/ हो रहा है/ होगा। अतः यह अकालमरण है।

यदि अकालमरण वास्तव में होता ही नहीं/ हो सकता भी नहीं है, तो वाहनों से भरे हुए मार्ग में हमें आँखें बन्द करके दौड़ना चाहिये, जानलेवा भी रोग होने पर चिंतित नहीं होना चाहिये, चिकित्सकों और वैद्यों के पास नहीं जाना चाहिये, तैरना नहीं आने पर भी बाढ़ के पानी में कूद जाना चाहिये, तेज रफ्तार से आती हुई ट्रेन के सामने खड़े हो जाना चाहिये, दिन-रात धूम्रपान करना चाहिये, 25वीं मंजिल से कूदने का शौक रखना चाहिये, हवाई जहाज से भी बिना पैराशूट के छलांग मारनी चाहिये, जलते हुए घर में चैन से सो जाना चाहिये इत्यादि। परन्तु एक अबोध पुरुष भी जानबूझकर ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहता है क्योंकि उसे मालूम है कि इन सबसे अकारण मृत्यु हो जायेगी। अतः प्रत्येक जीव आचार्य उमास्वामी की इस दृष्टि का पूर्ण सम्मान करता है और उसे स्वीकार भी करता है।

पुराणों से लेकर सिद्धांत ग्रंथों तक प्रत्येक शास्त्र में किसी न किसी प्रकरण में इन कारणों का संकेत मिल ही जाता है। सभी का यहाँ उल्लेख नहीं करते हुए, उपलक्षण मात्र के लिये अध्यात्म जगत् के उपलब्ध आद्य ग्रंथकार आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी की गाथाएँ प्रस्तुत हैं-

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं।
 आहारुस्साणं णिरोहणा खिज्जए आऊ॥२५॥
 हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुहणपडणभंगेहिं।
 रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहिं विविहेहिं॥२६॥
 इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं।
 अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्तं॥२७॥

अर्थात् विष की वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र की चोट, संक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छ्वास के निरोध से आयु क्षीण होती है। हिम, अग्नि, पानी, बहुत ऊँचे पर्वत अथवा वृक्षों के ऊपर चढ़ने और गिरने के समय होने वाले अंग-भंग से तथा रसविद्या के योग धारण और अनीति के नाना प्रसंगों से आयु क्षीण होती है। हे मित्र! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य जन्म में चिरकाल तक अनेक बार उत्पन्न होकर तू अपमृत्यु के तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ है।^१

आधुनिक विज्ञान और अकालमरण

आधुनिक विज्ञान ने ऐसे कई अविष्कार किये हैं, जिनसे असाध्य रोग भी साध्य हो गये हैं, शरीर का कोई अंग (हृदय, गुर्दा आदि) खराब होने पर बदला जा सकता है, रक्त अधिक बह जाने पर दूसरे व्यक्ति का रक्त भी चढ़ाया जा सकता है, इत्यादि उपचारों से अकालमरण की संभावनाएँ घट जाती हैं। परन्तु औद्योगिक उन्नति के कारण शहरों में प्रदूषण की मात्रा बढ़ने से प्रायः सभी की आयु निरंतर उदीरणा को प्राप्त हो जाती है। मनुष्यों की औसत आयु घट रही है। वैज्ञानिकों ने विविध परीक्षणों से यह सिद्ध भी किया है कि प्रदूषणमुक्त समुद्र में रहनेवाली मछलियाँ अधिक जीवी होती हैं, परन्तु प्रदूषणयुक्त समुद्र में वे जल्दी मरण को प्राप्त हो जाती हैं।

वर्तमान समय में फल, सब्जी, दूध, अनाज, घी आदि भी मिलावटी और कृत्रिम रसायनों से मिश्रित आते हैं, हवा में जहरीली गैसों की मात्रा आवश्यकता से कहीं अधिक है, साँस की बीमारियाँ बढ़ रही हैं, शहरी व्यस्तताओं के कारण तनाव बढ़ रहा है इत्यादि कारणों से वृद्धावस्था एवं इन्द्रियों की शिथिलता कम उम्र में आती है और शीघ्र मरण हो जाता है। अतः आधुनिक विज्ञान भी अकालमरण के इस सिद्धांत से पूर्ण सहमत है।

संदर्भ:

1. आ. कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़), भा. अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया, 1994, गाथा 27, पृष्ठ 272
2. आ. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1999, अध्याय 2, सूत्र 53, पृष्ठ 147
3. आ. भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2008, अध्याय 2, सूत्र 53, पृष्ठ 158
4. आ. नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, शिवसागर ग्रंथमाला, महावीर जी, 2003, गाथा 58, पृष्ठ 38
5. पं. बालभद्र सिद्धांतशास्त्री, जैन लक्षणावली, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली, 1972, भाग 1, पृ. 4
6. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, साहित्य प्रकाश समिति, बरेला, प्रथम संस्करण, अध्याय 2, सूत्र 53, पृष्ठ 38
7. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली 1999, अध्याय 2, सूत्र 53, पृष्ठ 149, आचार्य भट्ट अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2008, अध्याय 2, सूत्र 53, पृष्ठ 158
8. आर्यिका विज्ञानमती, तत्त्वार्थमञ्जूषा, जैन समाज, आरौन, 2005, प्रथम खण्ड, अध्याय 2, सूत्र 53, पृष्ठ 361
9. आचार्य कुन्दकुन्द, अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़), भा. अनेकान्त वि. प., लोहारिया, 1995, गाथा 25-27, पृष्ठ 270-272

-(शोध छात्र)

प्राकृत जैनागम विभाग

श्री दि० जैन आ० संस्कृत महाविद्यालय

सांगानेर, जयपुर (राज०) 302029,

मो० 9314591397

Year-64, Volume-3
RNI No. 10591/62

July-September 2011
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदायपुर

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editor

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondance for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

मुनिवर-स्तुति

गुरु समान दाता नहिं कोई

गुरु समान दाता नहिं कोई।
भानु प्रकाश न नाशत जाको,
सो अंधियारा डारै खोई। गुरु.....

मेघ समान सबनपै बरसै,
कछु इच्छा जाके नहिं होई।
नरक पशुगति आगमाहितै,
सुरग मुक्त सुख थापै सोई। गुरु.....

तीन लोक मंदिर में जानौं,
दीपकसम परकाशक लोई।
दीपतलैं अंधियारा भरयो है,
अन्तर बहिर विमल है जोई। गुरु.....

तारन तरन जिहाज सुगुरु है,
सब कुटुम्ब डोवै जगतोई।
‘द्यानत’ निशिदिन निरमल मन में,
राखो, गुरु-पद पंकज दोई। गुरु.....

- पं. द्यानतराय जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
मुनिवर-स्तुति		3
विषयानुक्रमणिका		4
1. जिनप्रतिमा और जिनपूजन: एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण		
	-प्राचार्य पं. निहालचंद जैन	5-14
2. अपामार्ग औषधि	- डॉ. चरणसिंह	15-19
3. तत्त्वसार (तत्त्वदेशना) के परिप्रेक्ष्य में हेय और उपादेय	-डॉ. जयकुमार जैन	20-24
4. जैन विद्या में जीव-तत्त्व-सिद्धि	-डॉ. बसन्त लाल जैन	25-29
5. जैनधर्म में नारी की स्थिति	-डॉ. रमेशचन्द्र जैन	30-40
6. जैन प्रतिमा विज्ञान	-डॉ. अशोककुमार जैन	41-46
7. हाड़ौती की जैन मूर्तिकला परंपरा	-ललित शर्मा	47-58
8. पण्डित दानतराय और उनका रचना-संसार	-डॉ. कमलेशकुमार जैन	59-66
9. त्रिलोकसार आधारित सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य की दृष्टि में उपास्य (पूज्य) देव	-डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	67-71
10. जैन धर्म निरपेक्षता	-सतेन्द्रकुमार जैन	72-85
11. Concept of Functional Consciousness (Upayoga) in Jainism	- Samani Chaityapragya	86-90
12. वीर शासन जयंती राष्ट्रीय व्याख्यानमाला सम्पन्न		
	-पं. निहालचंद्र जैन	91-94
13. पुस्तक समीक्षा	-आलोक कुमार जैन	95
14. विद्वानों और पाठकों से निवेदन		96

जिनप्रतिमा और जिनपूजन: एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

-प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

श्रावक के षट्कर्मों में जिनदेव पूजा का प्रथम स्थान है। पूजा-भक्ति और गुणस्तवन के माध्यम से श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है। पूजा के द्वारा भक्त अपनी प्रणति को इतना प्रांजल और समर्पित करना चाहता है कि पूजा की प्रशस्तताएँ विलीन होकर प्रणाम का व्यवहार ही समाप्त हो जाए। यानि पूजा करने वाला एक दिन स्वयं पूज्य बन जाता है। पूजा है-जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना और पल-प्रतिपल आनंद में जीने का भाव। जैन संस्कृति में परमात्मा पद को प्राप्त व्यक्ति विशेष की प्रतिकृति-प्रतिमा कहलाती है, जबकि मूर्ति (Statue) किसी भी व्यक्ति की ऐसी प्रतिकृति होती है जो उसके बाहरी रूप से अधिक साम्य हो। 'चैत्य' शब्द भी प्रतिमा के लिए संज्ञित है।

पूजा का ध्येय है मूर्त से अमूर्त की यात्रा। देवी या गणेश की मूर्ति बिठाकर फिर उसका विसर्जन कर देते हैं। इसके पीछे बड़ा रहस्य है- “इधर बनाओ मूर्ति आकार में और पूजा की पूर्णता हो निराकार में उसको विसर्जित करके। मूर्ति का अपना महत्त्व है और इसके पीछे अतीत का प्रामाणिक इतिहास है। मंदिर में ही पूजा क्यों की जाती है? इसका एक वैज्ञानिक चिंतन है। जिनपूजन के लिए आवश्यक है बाह्य शुद्धि के साथ अंतरंग शुद्धि। पूजा के दो रूप हैं- तदाकार स्थापना और पुष्पादि में स्थापना। पूजन 6 प्रकार से करना चाहिए- प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजा का फल। पूजा पाँच प्रकार की होती है-नित्यमह पूजा, आष्टाह्निक पूजा, चतुर्मुख महामह पूजा, कल्पद्रुम पूजा और ऐन्द्रध्वज पूजा। जो अष्ट द्रव्यों के साथ महोत्सव पूर्वक की जाती है। पूजन के अवांतर 6 भेद भी कहे गये हैं- नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। पूजन करने का अपना एक वास्तु है। किस दिशा में मुँह करके पूजन की जावे और उसका क्या फल होता है? इक्कीस प्रकार की जिनराज की पूजन है- जिसे जो प्रिय हो उसे भावपूर्वक करें। जिनेन्द्र भगवान् की पूजन करने का सर्वोत्तम फल यह है कि पूजक, उन्हीं की भाँति पूज्य बन जाता है। उससे सांसारिक वैभव, समृद्धि, पुण्यादि चरमोत्कर्ष के रूप में प्राप्त होकर परम आत्म-विशुद्धि पूर्वक केवलज्ञान रूपी साम्राज्य प्राप्त होता है।

आचार्य पद्मनंदी ने श्रावक के षट्कर्म बताये हैं-

देवपूजा गुरुपास्तिः, स्वाध्याय संयमस्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां, षट्कर्माणि दिने दिने॥^१

उक्त छह कर्तव्यों में 'देवपूजा' को प्रथम स्थान दिया है। वह देव कैसा हो जिसकी पूजा की जाए? उत्तर है- वह अठारह दोषों से रहित वीतरागी हो, विश्व के संपूर्ण पदार्थों का ज्ञाता यानि सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो, ऐसा अर्हन्त देव परमात्मा पूज्य है जैसा

कि आचार्य समंतभद्र ने कहा है-

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥^१

जो पूजा, पूजक को पूज्य बना दे, ऐसी पूजा ही उस पूजा का सही फल है। आचार्य कुंदकुंददेव (प्रथम शती ई.) ने मानव के चार कर्तव्य बताये हैं-दान, पूजा, तप और शील।^३ वैदिक और श्रमण सभी ने पूजा/ उपासना को स्वीकृति (मान्यता) दी है। हाँ इतना अवश्य है कि कोई निर्गुण उपासना को मानता है तो कोई सगुण उपासना को। सगुण उपासना वाला मूर्ति या प्रतिमा के माध्यम से भगवत्पूजन करता है।

‘पूजा’ श्रद्धा की अभिव्यक्ति है। भक्ति और स्तुतियों के माध्यम से श्रद्धा घनीभूत हो, पूजा के रूप में नर्तन करने लगती है। भक्त, अपने आराध्यदेव के गुणों से इतना सम्मोहित हो जाता है कि उन जैसा बन जाने की अभिलाषा अपनी पूजा में करने लगता है। जैनधर्म में व्यक्ति विशेष की पूजा का विधान नहीं है बल्कि मूर्तमान की उस गुणराशि की पूजा है जो स्वात्मदर्शन के लिए परम सहायक है।^४ भक्त भगवान् के समक्ष प्रणाम करता हुआ भावना करता है कि भगवन्! आपके और हमारे बीच की दूरी ने प्रणाम को स्थापित किया है। आपके सन्निकट आकर इस बीच के अन्तर को समाप्त कर जब आपके स्वरूप को आत्मसात कर लेंगे तो प्रणाम का यह व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा। हमारा प्रणाम इतना प्रांजल और समर्पित बन जाये, हमारी प्रणति इतनी पारदर्शी एवं विशुद्ध बन जाये कि पूजा की प्रशस्तताएँ ही विलीन हो जायें। वीतराग जिनदेव की पूजा की यह अद्भुत विशेषता है कि पूजा करने वाला एक दिन स्वयं पूज्य बन जाता है। जिनदेव की पूजा-उनकी प्रसन्नता के लिए नहीं बल्कि आत्मा को पवित्र करने के ध्येय से की जाती है।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्रं दुरिताञ्जनेभ्यः॥^५

पूजा का लक्ष्य होता है, चित्त की चंचलता को समेटना, मन की कल्मषता को धोना और अहंकार शून्य हो जाना। पूजा यानि संपूर्ण समर्पण। अपने उपाधिजन्य अस्तित्व का विसर्जन। पूजा है-आत्मोत्कर्ष की वह भाव दशा, जहाँ किसी सांसारिक विकल्प के लिए कोई स्थान न रहे। श्रावक के शेष पाँच कर्तव्य-जिनपूजा के ही अनुप्रयोग हैं। गुरु उपासना यानि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की भक्ति, वैयावृत्ति आदि क्या पूजा की कोटि में नहीं आती? स्वाध्याय, संयम और तप-ये आत्मशोधन की आध्यात्मिक प्रक्रिया हैं अस्तु निश्चय से ये आत्मपूजा हैं। इसी प्रकार ‘दान’ पर पदार्थ से निर्ममत्व की चेतना का विकास है। पूजा से जो ‘भेद-विज्ञान’ अनुभव किया उसको जीवन के विज्ञान में चरितार्थ करना।

जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना है-पूजा

वर्तमान के एक-एक समय में आनंद में जीने का काम है-पूजा

पूजा की पारलौकिकता पर ज्यादा विचार न करके वर्तमान में जागरूक, अप्रमादी, नियंत्रित और संयमित रूप से जीने का भाव पूजा की निष्पत्तियाँ हैं। पूजा को भविष्य की कामना से न जोड़ें कि स्वर्ग, संपदा, सुख वैभव उपलब्ध होगा बल्कि उस अनुभूति से

संस्पर्शित हों, जो पूजा करते समय पल-प्रतिपल मिल रही है। यह जानें कि 'पूजा' के क्षण, हमारे केवल अपने क्षण होते हैं। शेष क्षण तो मोह और ममता के कटघरे में कैद रहते हैं। परिवार के खाते में चले जाते हैं। पूजा है- 'स्वसमय में जीना। पूजा के अलावा जो समय है, वह परसमय है। 'परसमय' यानि राग के अनुबंध और द्वेष के उत्पीड़न रूप संसार प्रवर्तन का समय। 'परसमय' यानि हमारी मूर्च्छा और आसक्ति का फैलाव।

जैन संस्कृति में 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग अतिविशिष्ट गुणों से युक्त परमात्मा पद को प्राप्त व्यक्ति विशेष की प्रतिकृति के लिए किया जाता है। उसमें रूप गौण और गुण की प्रधानता रहती है। जबकि मूर्ति (स्टेच्यु) किसी भी व्यक्ति की प्रतिकृति के लिए अभिहित है। मूर्ति में उस व्यक्ति के बाहरी रूप की अधिक साम्यता होती है। भगवती आराधना में प्रतिमा को 'चैत्य' शब्द से संज्ञित किया है।

चैत्यं प्रतिबिम्बमिति यावत्। प्रत्यासत्तेः श्रुतयोरेवार्हत्सिद्धयोः प्रतिबिम्बग्रहणं⁶

आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना में लिखा है कि अरिहंत आदि की प्रतिमा के दर्शन और पूजन से उनके गुणों का स्मरण हो जाता है तथा इससे अशुभ कर्मों का संवर होता है। इष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि में जिनबिंब (प्रतिमा) कारण होते हैं और प्रतिमा की भक्ति (चैत्य-भक्ति) आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में सहायक होती है।⁷

पूजा का ध्येय-

कुछ प्रश्न मेरे मानस में आंदोलित होते हैं कि आखिर अरिहंत देव-प्रतिमा की पूजा क्यों की जाती है? परमात्मा तो सर्वव्यापी निराकार हैं फिर मंदिर जाकर वहाँ पूजा करने की क्या आवश्यकता है?

पूजा के संबन्ध में पहली बात तो यह है कि वह है मूर्त से अमूर्त की यात्रा। मूर्ति को प्राण दिये बिना वह पत्थर है। प्राण दिये जाने के बाद पूजा का आरंभ होता है। जैसे ही मूर्ति को प्राण दिये गये वैसे वह जीवंत व्यक्तित्व हो गया। जीवंत में आकार और निराकार दोनों समाविष्ट हो जाते हैं। जहाँ जीवन है वहाँ आकार और निराकार का मिलन है। जब तक मूर्ति पत्थर है, तब तक आकार है और जैसे ही उसकी प्राण-प्रतिष्ठा हुई वह जीवंत हो गयी। निराकार का द्वार खुल गया उसके दूसरी तरफ, इस प्रकार पूजा है आकार से निराकार की यात्रा।⁸

मूर्ति पूजा का एक और आधार है आपके मस्तिष्क में और विराट परमात्मा के मस्तिष्क में संबन्ध है। दोनों के संबन्ध को जोड़ने वाला बीच में एक सेतु चाहिए। मूर्ति वह सेतु है क्योंकि अमूर्त परमात्मा से सीधा कोई संबन्ध स्थापित नहीं हो सकता। आपके या हमारे सारे अनुभव मूर्त के अनुभव हैं। हमारे पास निराकार का एक भी अनुभव नहीं है।⁹ आचार्य रजनीश ने मूर्ति पूजा के एक प्रवचन में कहा- महावीर की मूर्ति के सामने आप बैठे हैं। महावीर की चेतना तो अनंत में खो गयी है। इस मूर्ति के सामने बैठकर आप अपनी पूरे के पूरे प्राणों की ऊर्जा को आज्ञाचक्र पर इकट्ठा करके छलांग लगा दें मूर्ति के मस्तिष्क में तो तत्क्षण वह विचार महावीर की चेतना तक संक्रमित हो जायेगा।¹⁰

हमारे देश में हजारों साल तक मूर्तियाँ बनायीं और फिर उन्हें विसर्जित कीं। देवी या गणेश की मूर्ति बिठाते हैं, बनाते हैं, सजाते हैं, फिर उन्हें पानी में डालकर विसर्जित कर देते हैं। इस विसर्जन के पीछे बड़ा रहस्य है। बनाओ मूर्ति आकार में और मिटाओ निराकार में। गहरे अर्थ में पूजा की पूर्णता तो निराकार में होती है। उसका मिटाना या विसर्जन बड़े चिन्मय अर्थों में है जबकि उसका बनाना है मृण्यम अर्थों में। पूजा का आरंभ आकार मूर्ति से होता है और उसकी पूर्णता निराकार में, मूर्ति के विदाई में होता है।

ऐसा ही प्रश्न, जैसा मेरे मानस में उत्पन्न हुआ है, एकबार किसी भक्त ने चारित्र्य चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज से किया था। आचार्य श्री ने उसका उत्तर दिया था-“अर्हतदेव की पूजा ‘पुष्प’ के समान है और आत्मदर्शन रूप निराकार परमात्मा की उपासना ‘फल’ के समान है।” देव आराधना के बिना आत्मदर्शन रूप ज्ञान प्राप्त नहीं होता। ठीक उसी प्रकार जैसे फूल के बिना फल नहीं हो सकता। जिनप्रतिमा की पूजा मुक्तिमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। आज की गई हमारी पूजा आगे विकसित होती हुई जब आत्म विकास के मुक्तायन में प्रवेश करेगी तो मंदिर में की जाने वाली पूजा की पंखुड़ियाँ स्वयमेव झड़ने लगेंगी और मोक्षफल की प्राप्ति होगी। अर्हत भगवान् की पूजा ही समस्त दुःखों का निवारण करके कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के समान मनोवांछित फल देने की सामर्थ्य रखता है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्रस्वामी रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखते हैं-

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।

कामदुह कामदाहिनी परिचिनुयाद्रादतो नित्यम्॥

मूर्ति का महत्त्व-

इतिहास इस बात का साक्षी है कि एकलव्य ने बिना गुरु के उनकी मूर्ति का निर्माण किया और उस मूर्ति का ध्यान करके एवं उनके गुणों का स्मरण करते हुए धनुर्विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था। स्वामी विवेकानंद, श्री अलवरनरेश से इसलिए मिलने गये थे कि उन्होंने अंग्रेजों और यूरोपीय सभ्यता से प्रभावित हो मूर्ति पूजा छोड़ दी थी। विवेकानंद ने तर्क और अपने ज्ञान प्रभाव से मूर्ति की पूज्यता और महत्त्व समझाया। कुण्डलपुर के बड़े बाबा आदिनाथ भगवान् की मनोरम मूर्ति का भजन करने के उद्देश्य से महमूद गजनवी अपने साथियों के साथ आया परन्तु जैसे ही उसने मूर्ति पर प्रहार किया उसमें से दूध की धारा निकल पड़ी। इस चमत्कार से वह डर गया। इतने में ही हजारों मधुमक्खियों ने उसे काटना प्रारंभ कर दिया और वह जान बचाकर भागा। सन् 1755 में हैदरअली दक्षिण भारत पर विजय हासिल कर श्रवणबेलगोला की विशाल सुंदर मूर्ति को तोड़ने के विचार से आया लेकिन वह अवाक् खड़ा रह गया। वैराग्यपूर्ण, त्याग और शांति का संदेश देती उस प्रतिमा ने हैदर के हृदय को परिवर्तित कर दिया, कतिपय उक्त घटनाओं से मूर्ति की जीवंतता स्वयंसिद्ध होती है।

मंदिर में ही पूजा क्यों?

मंदिर का वास्तु इस प्रकार का है कि हमारी ध्वनि, हमारी पुकार पुनः लौटकर आ जाए। मंदिर का गुम्बज और गर्भगृह अर्द्धगोलाकार ठीक आकाश की छोटी प्रतिकृति

जैसा निर्मित किया गया। उसके भीतर जो भी मंत्रोच्चार या पूजा के स्वर निकलेंगे, वे सीधे आकाश में नहीं खो जायेंगे बल्कि वापस लौटकर प्रतिध्वनि पैदा करेंगे। ओम् का उच्चारण करें या मंत्र बोलें, प्रतिध्वनि के कारण एक सर्किल, एक वर्तुल निर्मित होता है। उस वर्तुल का आनंद ही अद्भुत है। पद्मासन में बैठी प्रतिमाएं भी एक वर्तुल का निर्माण करती हैं। दोनों जुड़े हुए पैरों पर दोनों हाथ रखे हुए ध्यानस्थ मुद्रा में तो पूरा शरीर वर्तुल का काम करने लगता है। इस वर्तुल के कारण शरीर की विद्युत् फिर कहीं बाहर नहीं निकलती। एक सर्किट निर्मित होता है। सर्किट के निर्मित होते ही हम बाहर के विचारों से शून्य होने लगते हैं। ध्वनि भी विद्युत् का एक रूप है तभी तो यह रेडियो तरंगों के रूप में परिवर्तित करके सैकड़ों कि.मी. भेजी जा सकती हैं। मंत्र ध्वनि का वर्तुल बना कि भीतर विचारों का कोलाहल शांत होने लगता है। मंदिर के गुम्बज से वर्तुल बनाने की बड़ी अद्भुत प्रक्रिया है। ध्वनि से गहरा संबंध है, मंदिर की आर्किटेक्चर का। संस्कृत या प्राकृत में जो ध्वनि है, उसका प्रभाव शब्दगत की अपेक्षा ध्वनिगत ज्यादा है। हमारे शास्त्र 'श्रुत' कहलाते हैं क्योंकि पूर्वाचार्यों ने भगवान् महावीरस्वामी के निर्वाण के पश्चात् 683 वर्ष तक श्रुत-परंपरा से शास्त्रों का ज्ञान, एक गुरु से दूसरे शिष्य तक गया। जब शास्त्र लिपिबद्ध होने लगे तो यह 'श्रुत' या फोनेटिक प्रभाव लुप्त होने लगा। जैसे 'ऊँ' के अर्थ की अपेक्षा इसका ध्वनिगत महत्त्व ज्यादा है। मंदिर में की जाने वाली पूजा की ध्वनिगत उपयोगिता ज्यादा है, क्योंकि मंदिर के गर्भगृह में उच्चारी गई ध्वनि वर्तुल बनाती है। वह वर्तुल प्रतिध्वनि, मूल ध्वनि से मिलकर तीव्रनाद (Intense Sound) पैदा करता है। इस प्रकार मंदिर एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो ध्वनि के माध्यम से हमारे/आपके भीतर शांतिदायी, सुखद और प्रीतिकर भाव को जगाने का अद्भुत काम करता है।

देवपूजन/जिनपूजन के लिए आवश्यक शुद्धि-

जिनेन्द्र भगवान् के अभाव में उनकी प्रतिमा का पूजन पुण्यबंध का हेतु है। देवपूजन के लिए अंतरंग शुद्धि और बहिरंग शुद्धि करनी चाहिए। मन के बुरे विचारों को दूर करना अंतरंग शुद्धि है तथा विधिपूर्वक स्नानादि करना बाह्य शुद्धि है।¹¹

जिनपूजा के २ रूप-

१. पुष्प आदि में जिन भगवान् की स्थापना करके पूजा की जाती है।
२. जिनबिम्बों में जिन भगवान् की स्थापना करके पूजा की जाती है।

किन्तु अन्य देव हरिहरादिक की प्रतिमा में जिन भगवान् की स्थापना नहीं करना चाहिए। जैसे शुद्ध कन्या में ही पत्नी का संकल्प किया जाता है, दूसरे से विवाहिता में नहीं।¹²

पुष्पादि से स्थापना

अर्हत, सिद्ध को मध्य में, आचार्य को दक्षिण में, उपाध्याय को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और पूर्व में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र को क्रम से भोजपत्र या पाटे पर हृदय में स्थापित करना चाहिए।¹³

अर्हत भगवान् की पूजा आरोग्य प्राप्ति के लिए, सिद्ध का स्तवन (पूजा) कर्मबंधन से मुक्त होने के लिए, आचार्य को हृदय कमल में विराजमान करके उपाध्याय को पुण्य और श्रुत की प्राप्ति के लिए तथा आत्मा की साधना के लिए साधु परमेष्ठी की पूजा करना चाहिए। चिंतामणि को देने वाले सम्यग्दर्शन की भक्तिपूर्वक पूजा करें। हिताहित को देखने वाले नेत्र के समान सम्यग्ज्ञान की तथा धर्मबुद्धिपूर्वक चारित्र की शरण में जाकर पूजा करनी चाहिए।¹⁴ अतदाकार (निराकार) पूजन के अन्तर्गत दर्शन, ज्ञान, चारित्र भक्ति, अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, चैत्य और शांति भक्ति करना चाहिए।

पूजन करने की विधि या दिशा-

यदि जिनबिम्ब का मुख पूर्व दिशा की ओर हो तो उत्तर दिशा की ओर मुँह करके खड़ा होकर मन, वचन, काय को स्थिर रखते हुए निम्नांकित 6 प्रकार से पूजन करना चाहिए-

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम्।

पूजा, पूजाफल चेति षड्विधं देवसेवनम्॥¹⁵

१. प्रस्तावना- जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करना। इसके तीन प्रयोजन हैं-शारीरिक मल को दूर करना, जलार्चन द्वारा पूज्यता का समावेश तथा गार्हस्थिक कामादि सेवन गत दोषों की विशुद्धि। जिनेन्द्रदेव का परमौदारिक शरीर मल रहित होता है, वे कामादि सेवन नहीं करते तथा तीनों लोकों में पूज्य हैं अतः पुण्य संचय के लिए अभिषेक करता हूँ।

२. पुराकर्म- वेदी के चारों कोनों में जल से भरे चार घटों को स्थापित करना।

३. स्थापना- जल से शुद्ध किया गया, अर्घ्य दिया गया तथा जिस पर 'श्रीं ह्रीं' लिखा गया, ऐसे सिंहासन पर जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा को स्थापित करना।

४. संनिधापन- जिनबिम्ब साक्षात् भगवान् हैं, सिंहासन सुमेरु पर्वत है, घटों में भरा जल क्षीरसागर का है और अभिषेक के लिए तैयार "मैं" साक्षात् इन्द्र हूँ ऐसी भावना करना संनिधापन है।

५. पूजा- इक्षु आदि रसों, घृत, दुग्ध और चंदन आदि सुगंधित जल से अभिषेक करना, अभिषेक के पश्चात् आरती करना, फिर अष्ट द्रव्य से पूजन करना चाहिए। पूजन के पश्चात् उनका स्तवन, नाम की जाप, ध्यान और शास्त्र का स्वाध्याय करना चाहिए।

६. पूजा का फल- जब तक आपका परम पद स्थान मुझे प्राप्त न हो जावे तब तक आपके चरणों में मेरी भक्ति रहे तथा चित्तवृत्ति में परोपकार, प्राणियों में मैत्रीभाव तथा आतिथ्य सत्कार की भावना बनी रहे।

पूजा के प्रकार- पूजा के विशेष पाँच प्रकार होते हैं-

नित्यमह पूजा, आष्टाहिक (नंदीश्वर पूजा), चतुर्मुख महामह पूजा, कल्पद्रुम पूजा एवं ऐन्द्रध्वज पूजा।

१. नित्यमह पूजा- जिन साधनों से पूजन के लिए सदैव सामग्री मिलती रहे उन साधन सामग्री के दान देने को आगम में नित्यमह कहा है। घर की सामग्री से प्रतिदिन पूजन

करना, जिनचैत्य-चैत्यालय निर्माण कराना, अपनी अचल संपत्ति मंदिर के लिए लगा देना, संयमी एवं महाव्रती मुनियों को पूजा के बाद आहार देना 'नित्यमह पूजा' है।

२. आष्टाह्निक (नंदीश्वर) पूजा- नंदीश्वर पर्व (कार्तिक, फाल्गुन, आषाढ़ मास) के अंतिम आठ दिन-अष्टमी से पूर्णिमा तक भव्यजनों द्वारा की जाने वाली पूजा।

३. चतुर्मुख महामह पूजा- मण्डलेश्वर-महामण्डलेश्वर राजाओं के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् का पूजा मण्डप में चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान करके चारों ही दिशाओं में खड़े होकर पूजन करना।

४. कल्पद्रुम पूजा- चक्रवर्ती या मुकुटबद्ध मण्डलेश्वर राजाओं द्वारा भक्ति से महोत्सव के साथ जो पूजन की जाती है वह वह कल्पद्रुम पूजन होती है।

५. ऐन्द्रध्वज पूजा- इन्द्रादिक देवों द्वारा समारोह के साथ जो पूजन की जाती है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजन आठ द्रव्यों से की जाती है उसके क्या प्रयोजन हैं। उनकी सार्थकता को संक्षेप में वर्णित किया जाता है-

अष्ट द्रव्यों की सार्थकता- जल से स्नानकर शुद्ध धोती-दुपट्टा पहनकर फिर सकलीकरण के जल से शुद्ध होकर जिन भगवान् की अष्ट द्रव्यों से पूजन करना चाहिए।¹⁶

१. जल- जिनके वचन संसार ताप को नाश करने वाले हैं, जो बाह्य एवं अंतरंग मल से रहित हैं, भवसागर से पार करने वाले हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान् का जल से दुःखों एवं पापों की शांति के लिए एवं जन्म-जरा-मरण के विनाशार्थ पूजन किया जाता है।

२. सुगंधित द्रव्य या चंदन- जिनका कमनीय शरीर अपने आप सुगंधित है उनके चरण कमलों की पूजा चंदनादि द्रव्य से संसार-संताप के विनाश के लिए की जाती है।

३. अक्षत- जिन्होंने अष्टकर्म रूपी दुर्जय शत्रु को नाश कर दिया। जिनका अंतःकरण पूर्ण शुद्ध और पवित्र है ऐसे भगवान् के चरण-कमलों को अखण्ड व पवित्र अक्षत से अक्षय पद (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए पूजन करते हैं।

४. पुष्प- जिन्होंने काम का सर्वथा नाश किया ऐसे जिनेन्द्र प्रभु की अर्चना कमल, केवड़ा, गुलाब, चमेली, मालती आदि सुगंधित पुष्पों से काम एवं इन्द्रियों के विजय हेतु की जाती है।

५. नैवेद्य- केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली ऐसे प्रभु की पूजन मनोहर व्यंजनादि नैवेद्यों से भूख-प्यास के सर्वथा विनाश हेतु पूजन करते हैं।

६. दीप- जिनके केवलज्ञान प्रकाश से दिशाएँ दैदीप्यमान हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव की पूजन दीप के स्वर्णिम प्रकाश से अज्ञानतम को हरने के लिए करते हैं।

७. धूप- जिन्होंने कर्म समूह के गहन वन को जला दिया ऐसे प्रभु की अर्चना कृष्णा गुरु आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी धूप को अग्नि में जलाकर अष्टकर्मों के नाश हेतु तथा उत्कृष्ट सौभाग्य प्राप्ति के लिए की जाती है।

८. फल- स्वर्गादिक एवं मोक्ष फल को देने वाले प्रभु की पूजा आम, अनार, केला, नारंगी, बीजपुर आदि उत्तम पके फलों को समर्पित कर मोक्षफल की प्राप्ति के लिए की

जाती है।

अर्घ्य- अष्ट कर्म रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों से विभूषित सिद्धचक्र का अष्ट द्रव्यों से पूजन करता हूँ। अर्हत पद की प्राप्ति के लिए अर्घ्य समर्पित किया जाता है।

महार्घ्य सिद्धपद की प्राप्ति हेतु एवं **पूर्णार्घ्य** निर्वाण कल्याण की प्राप्ति हेतु चढ़ाया जाता है।¹⁷

यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि सचित्त पदार्थ से पूजन करने से तो सावद्य (आरंभ) होता है। **समाधान**- जिनपूजन से जन्म-जन्म में उपार्जित पापकर्म क्षणमात्र में नाश हो जाते हैं तो क्या अत्यल्प सावद्य कर्म नाश नहीं होगा? अवश्य होगा। यदि केवल विष खाया जाये तो नियम से प्राणों का नाश होगा, परन्तु वही विष मरीचादि उत्तम औषधियों के साथ खाया जाय तो जीवन दान देता है। उपायान्तर से उपयोग में लाई गई वही वस्तु गुणकारक हो जाती है। उसी प्रकार कुटुम्ब के लिए किया गया आरंभ आदि पापकारक होता है, परन्तु धर्म के अर्थ किया गया वही आरंभ हिंसा को केवल लेशमात्र कारण माना जाता है। उस अधिक पुण्य समूह में सावद्य का लवदोष (पाप) का कारण नहीं हो सकता है जिस प्रकार विष की एक कणिका समुद्र के जल को बिगाड़ नहीं सकती। फोड़ा चीरने में दुःख देना भी लाभदायक होता है अतः जिनधर्म की प्रभावना करने में तत्पर भव्यों के आरंभ भी पुण्योत्पत्ति का कारण है।¹⁸

पूजन के अवान्तर ६ भेद कहे गये हैं-

१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य ४. क्षेत्र ५. काल ६. भाव ।

१. **नाम**- जिनेन्द्रादिक का नामोच्चारण करके शुद्ध प्रदेश में पुष्पादि क्षेपण करना।

२. **स्थापना**- सद्भाव स्थापना पूजा में साकार वस्तुओं में गुणों का आरोप किया जाता है। असद्भाव स्थापना में वराटक (कमलगट्टा) आदि में जिन भगवान् की कल्पना नहीं की जानी चाहिए।

३. **द्रव्य**- सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य पूजा के 3 विकल्प हैं।

४. **क्षेत्र**- जिन क्षेत्रों में तीर्थंकर भगवान् के गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक हुए उनका अष्ट द्रव्यों से पूजन करना।

५. **काल**- जिस दिन अर्हत भगवान् के गर्भ, जन्म, दीक्षा आदि कल्याणक हों, उस दिन या नंदीश्वर पर्व में या रत्नत्रय, दशलक्षण पर्व में पूजन करना।

६. **भाव**- अनन्त चतुष्टय से युक्त जिन भगवान् के गुणों की स्तुति पूर्वक जो त्रिकाल सामायिक की जाती है वह भाव पूजा है। पंच परमेष्ठियों का नाम स्मरण करना भी भाव पूजन है।

बिना तिलक लगाये पूजन नहीं करना चाहिए। 9 स्थानों पर तिलक चिह्न लगाना चाहिए। मध्याह्न में पुष्पों से तथा संध्या दीप-धूप से पूजन करना चाहिए। अरिहंत भगवान् के दक्षिण भाग में दीपक स्थापित करना चाहिए और अरहंत देव के दक्षिण भाग में बैठकर ध्यान करना चाहिए। पुष्पों के अभाव में पीले अक्षत से पूजा करें।

२९ प्रकार की जिनराज पूजा है-^{१९}

स्नान पूजा, विलेपन पूजा, आभूषण पूजा, पुष्प पूजा, सुगंध पूजा, धूप पूजा, प्रदीप पूजा, फल पूजा, तन्दुल पूजा, पत्र पूजा, पुंगीफल पूजा, नैवेद्य, जल, वसन, चमर, छत्र, वादित्र पूजा, गीत पूजा, नृत्य पूजा, स्वस्तिक पूजा और कोषवृद्धि पूजा जिसे जो प्रिय हो उसे भावपूर्वक करें।

शांतकार्य में श्वेत, जयकार्य में श्याम, कल्याणकार्य में रक्त, भयकार्य में हरित, धनादि के लाभ में पीत और सिद्धि के लिए पंचवर्ण के वस्त्र पहनकर उसी वर्ण के पुष्पादि से पूजन करें। यद्यपि निर्माल्य वस्तु का ग्रहण दोष कारक है तथापि गंधोदक को ग्रहण करना शुद्धि के लिए तथा आशिका को ग्रहण करना संतान वृद्धि के लिए माना जाता है। सुगंधित चंदन केशर को ग्रहण करना दोष का भागी नहीं है।

पूजन करने का फल-^{२०}

1. भव्य जीवों को छह खण्ड पृथ्वी से सुशोभित तथा रत्न और निधियों से विभूषित चक्रवर्ती की विभूति की प्राप्ति।
2. तीर्थंकर पद की प्राप्ति।
3. त्रिकाल पूजा करने वाले को समस्त भोगों को भोगकर मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति।
4. कल्पवृक्ष और कामधेनु के समान अभिर्वाञ्छित पदार्थों की प्राप्ति चिंतामणि रत्न के समान जिनपूजा का फल है।
5. असह्य रोग तथा डाकिनी, शाकिनी, पिशाच, दुष्ट, शत्रु, चोर, कोतवाल, राजा आदि से उत्पन्न हुए समस्त उपद्रव नष्ट हो जाते हैं।
6. तीनों लोकों की लक्ष्मी स्वयंवर करती है।
7. भारी लाभ होता है।
8. समस्त गार्हस्थिक कार्य निर्विघ्नता पूर्वक संपन्न हो जाते हैं।
9. जो मंदिर जी में छत्र, चमर आदि समर्पण करते हैं उन्हें स्वर्ग का साम्राज्य प्राप्त होता है।
10. जो जिनालय में धर्मोपकरण देते हैं वे भोगोपभोग के उपकरण प्राप्त करते हैं।
11. सिद्धांत ग्रंथों के प्रकाशन में द्रव्य देने वालों का ज्ञान एवं सुख सफल माना जाता है।
12. जिस प्रकार बहुत समय से इकट्ठे किये हुए समस्त काष्ठ समूह को अग्नि क्षण मात्र में जला देती है उसी प्रकार पूजन से जन्म-जन्म के संचित पापकर्म नष्ट हो जाते हैं।
13. एकापि समर्थेयं जिनभक्तिं दुर्गतिः निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्चियं कृतिनः॥^{२१}
14. यद्यपि जिनेन्द्र भगवान् को अपनी पूजा से क्या प्रयोजन है? किन्तु जो धर्मतत्त्व के जानकार हैं वे जिनेन्द्र भगवान् के चरण युगल को पूजते हैं उन्हें केवलज्ञान रूपी साम्राज्य प्राप्त होता है।

15. मनुष्य के उत्तम आठ फल कहे गये हैं उनमें देवपूजा प्रथम है।

देवपूजा दया दानं, तीर्थयात्रा जपस्तपः।

शास्त्रं परोपकारत्वं, मर्त्यजन्मफलाष्टकम्॥

संदर्भ-

1. पद्मनंदी पंचविंशतिका, आ. पद्मनंदी, संपा.-पं. जवाहरलाल शास्त्री, श्लोक 403, पृ.191
2. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आ. समंतभद्र, संपा.-डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, श्लोक 5, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1972
3. अष्टपाहुड-संस्कृत टीका, दिग. जैन संस्थान, महावीरजी, पृ. 100
4. जैन कला में प्रतीक, ले. पवनकुमार जैन, जैनेन्द्र साहित्य सदन, ललितपुर, 1983, पृ. 51
5. स्वयंभूस्तोत्र, आचार्य समंतभद्र श्लोक 57
6. भगवती आराधना, आचार्य शिवार्य, संपा.-कैलाशचन्द्र सिद्धांतशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, गाथा 45, पृष्ठ 85, 2006
7. वही, गाथा 46, पृष्ठ 88
8. गहरे पानी पैठ, आ. रजनीश, संपा.- महीपाल, प्रथम संस्करण 1971, मूर्ति पूजा, पृ. 119-120
9. वही, पृष्ठ 107
10. वही, पृष्ठ 133
11. श्रावकाचार संग्रह, भाग 1, संपा. पं. हीरालाल शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर 2001 गाथा 428, पृ.171
12. वही, गाथा 447, पृष्ठ 173
13. वही, गाथा 448-449 पृष्ठ 173
14. वही, गाथा 451-458, पृष्ठ 174
15. वही, गाथा 495, पृष्ठ 180
16. श्रावकाचार संग्रह, भाग 2 में संकलित 'धर्म संग्रह श्रावकाचार', संपा. पं. हीरालाल शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2001 षष्ठ अधिकार, पृष्ठ 156, श्लोक 55
17. जैन पूजा काव्य-एक चिंतन, लेखक- डॉ. दयाचंद जैन साहित्याचार्य सागर, भारतीय ज्ञानपीठ 2003, पृष्ठ 86
18. वही, श्लोक 73, 77, 78
19. श्रावकाचार संग्रह, भाग 3, श्लोक 136-138
20. वही, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार 20 वां परिच्छेद, पृ. 378, श्लोक 207-223 का सार संक्षेप
21. श्रावकाचार संग्रह, भाग 2 में धर्मोपदेश पीयूष वर्ष श्रावकाचार, पं. हीरालाल शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2001 पृष्ठ 492, श्लोक 206

-जवाहर वार्ड,
बीना, जिला-सागर
(म.प्र.)-470117

अपामार्ग औषधि

-डॉ. चरणसिंह

अपामार्ग को चिरचिटा, लटजीरा आदि नाम से भी जाना जाता है। अपामार्ग तो संस्कृत का शब्द है। इसे बंगाली में आपांग, पंजाबी में मठकंडा, मराठी में अधाड़ा, गुजराती में अधेड़, कर्नाटकी में उत्तरने, चिचिरा, तैलंगी में दुच्चिगिके और उत्तरप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में औंगा और लटजीरा कहते हैं।

आयुर्वेद की वनस्पतियों के गुण गण आदि की दृष्टि से द्रव्य गुण विज्ञान नामक ग्रंथ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनके अनुसार यह अपामार्ग शिरोविरेचन, कृमिघ्न, वमनोपगण का है। इसका लैटिन में एकाइरैन्थस ऐस्परा (*Achyramthes aspra*), संस्कृत में अपामार्ग का दोषों का मार्जक या संशोधक अर्थ है। इसके पुष्प-फल शिखर तुल्य मञ्जरी में होने से शिखरी नाम है। अधोमुख कंटक होने से अधोमुख नाम है। मयूरक, खरमञ्जरी-पुष्प मञ्जरी खर होने से नाम है। अपामार्ग को मलयालम में कटलती, असम में अल्कुम, फारसी में खारे बाजगून, अंग्रेजी में प्रिकली चाफ फ्लावर (*Prickly chaff flower*) कहते हैं।

अपामार्ग का स्वरूप:-

चिरचिटा एक बूटी है। इसकी क्षुप 1-3 फुट ऊँचा काण्ड सरल या शाखायुक्त होती है। इसके पत्ते अण्डाकार या अभिलटवाकार, लंबा 1-5 इंच लम्बे रोमश होते हैं। पुष्पमञ्जरी लगभग 1 फुट लम्बी खर और दृढ़ तथा अग्रभाग पर स्थूल और झुकी हुई होती है जिसमें अधोमुख 1/6-1/4 इंच लम्बे पुष्प लगते हैं। वृन्तपत्रक लटवाकर, गुलाबी रंग के कांटेदार प्रायः कांटे से आधे या बराबर लम्बे होते हैं। फलीय परिपुष्प 1.8-2 इंच लम्बा, हरितवर्ण गुलाबी **आक्सस** लिए वृन्तपत्रकों के साथ पृथक् हो जाता है, केवल मुड़ा हुआ कोण पुष्पक रह जाता है। परिपुष्प के दल भालाकार, बाहरी विशेष तीक्ष्णाग्र होते हैं। पुंकेसर पांच होते हैं। कण्टकीय वृन्तपत्रकों तथा तीक्ष्णाग्र परिपुष्प के कारण फल कपड़ों में चिपक जाते हैं और हाथ में भी गड़ जाते हैं। पके फलों के भीतर से चावल के समान दाने निकलते हैं जिन्हें 'अपामार्ग तण्डुल' कहा गया है। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं तथा ग्रीष्मकाल में फल पककर गिर जाते हैं।

जाति- आयुर्वेद के निघण्टुओं में अपामार्ग को दो प्रकार का कहा गया है (1) श्वेत अपामार्ग (2) रक्त अपामार्ग। रक्त अपामार्ग का काण्ड और शाखाएं रक्ताभ होती हैं। पत्रों पर भी लाल-लाल दाग होते हैं।

उत्पत्तिस्थान- यह समस्त भारत के शुष्क प्रदेशों में स्वयं होता है।

रासायनिक संघटन- इसकी राख में विशेषतः पोटाश होता है।

गुण- अपामार्ग लघु, रूक्ष तथा तीक्ष्ण गुणवाला है।

रस- अपामार्ग का रस कटु तथा तिक्त होता है।

विपाक- पकाने पर अपामार्ग का स्वाद कटु होता है।

वीर्य- यह उष्णवीर्य औषधि है।

दोषकर्म- अपामार्ग कफ-वात शामक तथा कफ-पित्त संशोधक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य- शोधहर (सूजन को दूर करने वाला) वेदना स्थापन (दर्दनाशक) लेखन, विषघ्न, त्वग्दोषहर और व्रणशोधन है। यह शिरोविरेचन भी है।

आभ्यन्तर- पाचन संस्थान- यह रोचन, दीपन, पाचन, पित्तसारक और कृमिघ्न है। इसके बीज दुर्जर (कठिनाई से पचने वाले) होते हैं।

रक्तवह संस्थान- अपामार्ग हृदय, रक्तशोधक, रक्तवर्द्धक और शोथहर है।

श्वसन संस्थान- यह कफ निःसारक है।

मूत्रवह संस्थान- यह अपामार्ग मूत्रल अश्मरीनाशन (पथरी) और मूत्राम्लता नाशक है।

त्वचा- यह स्वेदजनन, कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न है।

सात्मीकरण- यह कटु पौष्टिक और विषघ्न है।

उत्सर्ग- इसका क्षार त्वचा, फुफ्फुस, अमाशय, यकृत और पित्त के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग:-

दोष प्रयोग- यह कफ-वात रोगों में प्रयुक्त होता है। कफ रोगों में संशोधनार्थ इसके तण्डुल का नस्य देते हैं और पैत्तिक रोगों में इसका स्वरस पिलाते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य:- शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों में विशेषतः अत्रण शुक्ल (फूली) में इसकी जड़ मधु में घिसकर अञ्जन लगाते हैं। व्रणों (घाव) में इसका स्वरस लगाते हैं। वृश्चिक (बिच्छू) और सर्प के दंश स्थान पर इसका लेप करते हैं। कर्णशूल में इसके क्षार से सिद्ध तैल डालते हैं। नस्य के लिए इसके तण्डुल के चूर्ण का प्रयोग होता है। पामा आदि चर्मरोगों में इस अपामार्ग की जड़ घिसकर लगाते हैं।

आभ्यन्तर:- पाचन संस्थान- यह अपामार्ग अरुचि, छर्दि, अग्निमांघ्र, शूल, उदररोग, आध्मान, अर्श, पित्ताशामरी (पित्त की पथरी) तथा कृमिरोगों में इसका प्रयोग होता है। इसके बीजों की खीर बनाकर भस्मक रोग में देते हैं।

रक्तवह संस्थान:- हृदय रोग, रक्तविकार, पाण्डु, गण्डमाला, आमवात और शोथ रोग में उपयोगी है। यह अपामार्ग रक्ताम्लता में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसन संस्थान:- कास और श्वांस में इसका क्षार कफ निकालने के लिए प्रयुक्त होता है।

मूत्रवह संस्थान:- वस्तिशोथ, वृक्कशोथ, अश्मरी आदि रोगों में लाभकारी है।

त्वचा:- कुष्ठ, चर्मरोग वर्णविकार आदि में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण:- सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं। सर्पविष में इसका मूल कालीमिर्च के साथ पीसकर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग:- मूल, तण्डुल, पत्र, पञ्चांग।

मात्रा- स्वरस 10-20 मि.ली., क्षार- 1/2-2 ग्राम। देहाती चिकित्सक नामक ग्रंथ में अपामार्ग के विषय में लिखा है कि चिरचिटा बूटी सांप और बिच्छू के जहर का उतार है अर्थात् सांप तथा बिच्छू के विष को यह चिरचिटा औषधि दूर कर देती है। इसकी जड़ को पानी में पीसकर पिलाने और काटे हुए स्थान पर लगाने से सांप तथा बिच्छू का विष उतर जाता है। **कुत्ते** के काटने पर भी यह औषधि देते हैं। **कुत्ते** के काटने पर चिरचिटा की पत्तियों को गुड़ के साथ पीसकर देते हैं उस काल में पीली वस्तु हल्दी आदि पदार्थ सेवन निषिद्ध माना गया है।

विष परीक्षण- कुत्ते के या अन्य किसी जानवर के काटने पर यदि संशय हो तो उसके परीक्षण के लिए कांसे की थाली को पीठ पर लगायें यदि विष होगा तो थाली पीठ पर चुम्बक की भाँति चिपक जाती है। यदि कम होगा तो कम चिपकेगी नहीं होगा तो नहीं चिपकेगी।

कुछ साधु सन्त लोग इस अपामार्ग को श्वास रोग में भी प्रयुक्त करते हैं। दमा रोग में भी यह औषधि आराम देती है।

बवासीर रोग में यह औषधि अत्यन्त लाभकारी है। इसके सात पत्ते, सात काली मिर्च के दानों के साथ पीसकर छानकर पिलाने से बवासीर का खून रुक जाता है और पत्तों को कुचलकर इसकी टिकिया बनाकर कुछ हल्की गर्म बांधने से मस्से मुरझाकर गिर जाते हैं।

यह अपामार्ग औषधि वर्मों को घुलाती है। इसके पत्तों पर तेल लगाकर गर्म करके चन्दवार बांधने से हर प्रकार के फोड़े फुन्सी ठीक हो जाते हैं।

क्षार- इस अपामार्ग को जलाकर क्षार तैयार किया जाता है जो अपामार्ग क्षार कहा जाता है। यह क्षार भोजन को शीघ्र पचाता है। भूख लगाता है और शरीर से अतिरिक्त अपान वायु को बाहर निकालता है। इसके प्रयोग से छाती का कफ (बलगम) निकल जाता है। यह खांसी, दमा, पेट का दर्द, बड़े हुए यकृत (लिवर) और तिल्ली को ठीक करता है।

पीलिया रोग में अधिकांश ग्रामीण जन अपामार्ग की माला को धारण करते हैं। यह माला अपामार्ग की टहनी को छोटा-छोटा काटकर रेशम के धागे में गर्दन में फंसाकर बांधते हैं और जैसे-जैसे पीलिया रोग ठीक होता जायेगा वैसे-वैसे यह माला बढ़ती जाती है।

अपामार्ग का क्षार जलोदर रोग में बहुत उपयोगी है। इस क्षार को आधे माशे से एक माशे की मात्रा तक ऊँटनी के दूध के साथ दिया जाता है। आधा शीशी रोग में इसके रस को कान में डालते हैं। इससे 15-20 वर्ष पुराना सिर का दर्द गायब हो जाता है। यह औषधि प्रातः सूर्योदय के पहले अधिक प्रभावशाली रहती है। एक सांप-बिच्छू वाले बंगाली ने बताया कि अपामार्ग की जड़ को हाथ में पकड़ने से बिच्छू डंक नहीं मारता।

कभी-कभी कफ के साथ रक्त आ जाता है तो अपामार्ग के सात पत्ते पीसकर पिलाने से रक्त बहना बन्द हो जाता है। लाल पेचिश में अपामार्ग सर्वोत्तम चिकित्सा है। फूड

पॉइजनिंग में अपामार्ग की पत्तियों का रस पिलाने से तुरन्त आराम मिलता है।

अथर्ववेद में लगभग 76 औषधियों का नाम आया है। इसी वेद में अपामार्ग नामक दो सूक्त हैं। इसमें अपामार्ग के गुण, बल और रोगानुसार सेवन के विषय में वर्णन प्राप्त होता है।

अपामार्ग भेषजों की ईशानः- यह अपामार्ग औषधियों का ईशान ईश्वर है। यह रोगों को दग्ध करने वाली तथा सब पापों को दूर करने वाली है। प्रभु ने इस औषधि को अपरिचित सामर्थ्ययुक्त बनाया है।¹

अथर्ववेद के दूसरे मंत्र में अपामार्ग के विषय में लिखा ही है कि यह औषधि सचमुच रोगों को जीतने वाली, पीड़ाजनित आक्रोशों को दूर करने वाली, रोगों को अभिभूत करने वाली, अनेक व्याधियों को निवृत्ति के लिए फिर-फिर मलों का निःसारण करने वाली इस अपामार्ग औषधि को मैं पुकारता हूँ।²

आयुर्वेद में औषधियों का प्रयोग करने से पूर्व आह्वान करना आवश्यक है बिना निमंत्रण के औषधियाँ अपना प्रभाव पूर्णरूप से नहीं दिखाती हैं।

रोग वृद्धि की समाप्तिः- कई रोगों में रोगी ऊटपटांग बोलने लगता है, उसे चित्तभ्रम सा हो जाता है। कईयों में मूर्च्छा की स्थिति हो जाती है। कई रोगों में खून सूखने लगता है। अपामार्ग इन सब रोगों को रोकती है।³ बच्चों को सूखा रोग हो जाता है रोग कृमि बालक के अपरिपक्व शरीर में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। ये कृमि रुधिर या मांस में प्रविष्ट होकर विकार का कारण बनते हैं। महौषधि अपामार्ग इन रोग कृमियों को समूल नष्ट करता है।⁴ अपामार्ग के प्रयोग से हम पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। बुरे स्वप्न नहीं आते हैं। जीवन रोग शून्य होकर कष्टमय नहीं रहता, भयजनक रोगकृमियों का विनाश होता है, शरीर अलक्ष्मीक (अशोभित) नहीं रहता, बवासीर आदि अशुभ रोग दूर हो जाते हैं। रोग से आक्रान्त होकर हम अशुभ वाणियाँ नहीं बोलते।⁵

अपामार्ग औषधि के सेवन से भूख-प्यास के अभावजनक रोग को, इन्द्रिय शैथिल्य और नपुंसकता को अपामार्ग के प्रयोग से विनष्ट करते हैं।⁶

यह अपामार्ग औषधि सब औषधियों के गुणों से संपन्न है। इसके प्रयोग से शरीर में कहीं भी स्थित रोग को हम दूर करते हैं। यह रुग्ण पुरुष नीरोग होकर विचरण करें।⁷

क्षेत्रिय रोग निराकरणः- अपामार्ग औषधि जन्मजात रोगों के नष्ट करने की शक्ति वाली है। यह औषधि माता-पिता के शरीर से आगत संक्रामक क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को दूर करती है। जो रोग पीड़ा को उत्पन्न करने वाले हैं उन्हें भी निश्चय से दूर करने की सामर्थ्य वाली है तथा ये औषधि कान्तिहीन शरीर को कान्तिवाली बनाने की सामर्थ्य रखती है।⁸

अपामार्ग औषधि रक्तशोधक और रक्तवर्धक होने से कान्तिहीन को कान्तिवान बनाने में समर्थ है।

अथर्ववेद का अगला मंत्र पुनः शरीर को रोग रहित व तेजस्वी बनाने की विधि में अपामार्ग औषधि का प्रयोग करने का आशीर्वाद देता है। मंत्र में कहा गया है कि हे

अपामार्ग! हम तेरे यथायोग के द्वारा (यातुधानान्) पीड़ाओं का अहित करने वाले कष्टों (रोगों) को दूर करके तथा सब अलक्ष्मियों को शोधकर उस सब अवांछनीय रोगमात्र को दूर कर देते हैं।

अपामार्ग औषधि को अनेक रोगों में दिया जा सकता है। जैसे श्वास रोग, फेफड़े में जमे हुए कफ रोग में, शरीर के अन्दर जख्म (घावों) में, बाहरी घावों में, पेट में जलन, एसिड, पीलिया रोग, यकृतरोग आदि में इसके विशेष प्रभाव हैं। इसके अलावा फूड पायजनिंग में यह औषधि शीघ्र प्रभाव वाली है। किडनी रोग वेदना में भी यह अपामार्ग शीघ्र प्रभाववाली प्रतीत होती है। आधा शीशी (आधे शिरदर्द) में जहाँ किसी दवा का प्रभाव न हो वहाँ अपामार्ग औषधि के पत्तों का स्वरस कान में डालने मात्र से आधा शीशी रोग की समाप्ति हो जाती है।

ज्वर में भी अपामार्ग की पत्तियों के रस का प्रयोग लाभकारी सिद्ध हुआ है। दांत के रोगों में अपामार्ग की टहनी से दातून करने से पायरिया जैसे रोग को भी नष्ट किया जा सकता है।

अपामार्ग के बीजों की खीर बनाकर खाने से कई दिन भूख से विश्राम पाया जा सकता है। इसलिए अपामार्ग गुणों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हम इसका सावधानी से सेवन कर लाभ उठायें और जीवन सुखमय व नीरोग बनायें।

अपमृज्य यातुधानामयसर्वा अरारसः।

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदथ मृज्यहे॥ अथर्ववेद 4-18/8

संदर्भः

1. ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्या औषधे त्वा॥अथर्ववेद 4-17-1
2. सत्याजितं शपथयावनीं सहमानां पुनः सराम्।
सर्वाः समह्योषधीरतो नः पारयादिति॥ अथर्ववेद 4-17-2
3. याशशाप शपनेन याघं मूरमा दधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेमे लोकमतु सा। अथर्ववेद 4-17-3
4. यां ते चक्ररामे पात्रे यां चक्रुनील लोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि। अथर्ववेद 4-17-4
5. दौस्वप्नां दौर्जीवित्यं रक्षो अभव मराय्यः।
दुर्णाम्निः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ 4-17-5
6. क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्यहे॥ 4-17-6 अथर्ववेद।
7. अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इदृशी।
तेन ते मृज्य आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥ 4-17-8 अथर्ववेद।
8. अपामार्गोऽयं मार्ष्टुं क्षेत्रियं शपथश्च यः
अपाह यातुधानीय सर्वा अराय्यः। अथर्ववेद 4-8/7

- प्राध्यापक निवास, एस. डी. कालेज परिसर
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

तत्त्वसार (तत्त्वदेशना) के परिप्रेक्ष्य में हेय और उपादेय

-डॉ. जयकुमार जैन

तत्त्वसार दसवीं शताब्दी के आचार्य देवसेन की 74 गाथाओं में निबद्ध एक आध्यात्मिक कृति है, जिस पर सुप्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता आचार्य विशुद्धसागर महाराज ने 2004 ई. में विदिशा (म.प्र.) में ग्रीष्मकालीन प्रवचन दिये थे। उन्हीं का संपादित रूप तत्त्वसार (तत्त्वदेशना) के रूप में प्रकाशित है। प्रस्तुत आलेख में तत्त्वदेशना में आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज द्वारा की गई हेय एवं उपादेय की देशना की सावधान समीक्षा की गई है।

हेय शब्द हा धातु से यत् प्रत्यय से तथा उपादेय शब्द उप+आ उपसर्ग पूर्वक दा धातु से यत् प्रत्यय से निष्पन्न शब्द हैं, जिनका अर्थ क्रमशः त्याज्य और ग्राह्य या करणीय और अकरणीय है। क्षत्रचूड़ामणि में श्री वादीभसिंहसूरि ने कहा है-

‘हेयोपादेयविज्ञानं नो चेद्व्यर्थः श्रमः श्रुतौ।

किं ब्रीहिखण्डनायासैस्तण्डुलानामसंभवे॥’

अर्थात् हेय-उपादेय या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक यदि नहीं है तो शास्त्र में परिश्रम करना निरर्थक है। चावलों के न होने पर धान्य के कूटने के परिश्रम से क्या प्रयोजन है? वे आगे पुनः हेयोपादेयविवेक की महत्ता बताते हुए कहते हैं-

तत्त्वज्ञानं च मोघं स्यात्तद्विरुद्धप्रवर्तिनाम्।

पाणौ कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम्॥’

अर्थात् उस हेय और उपादेय के विवेक से विपरीत व्यवहार करने वालों का तत्त्वज्ञान भी निष्फल हो जाता है। हाथ में लिए हुए दीपक के साथ कुआँ में गिरने वालों का क्या फल है?

सुस्पष्ट है कि शास्त्र-स्वाध्याय का फल हेय-उपादेय का विवेक है। आचार्य विशुद्धसागर महाराज की तत्त्वदेशना में प्रसंगतः अनेकत्र इस संदर्भ में चर्चा की गई है।

१. जिनवाणी श्रवण उपादेय

तत्त्वसार के मंगलाचरण के व्याख्यान के प्रसंग में ही हेय-उपादेय की ओर संकेत कर आचार्यश्री कहते हैं कि तत्त्वश्रवण समझ में न आने पर भी उपादेय है। वे लिखते हैं-

‘भो ज्ञानी! जिनदेशना भव्य जीवों के लिए नरक में भी देशनालब्धि का कारण बनती है। अतः जब जिनवाणी का घोष होता है तब कल्याणेच्छुकों को पूर्ण शान्त होकर श्रवण करना चाहिए। कभी-कभी प्रारब्ध अवस्था में तत्त्व समझ में नहीं आता, फिर भी हमें श्रवण करते जाना चाहिए।’³

आचार्यश्री सर्वार्थसिद्धि से मिट्टी के नवीन सकोरे में पानी की एक बूंद डालने पर दिखाई न देने का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

‘जब हम प्रारब्ध अवस्था में तत्त्वज्ञान को सुनते हैं, तब कुछ मालूम नहीं पड़ता है परन्तु जैसे-जैसे अध्ययन बढ़ता जाता है कि वह ज्ञान विद्वान् के रूप में प्रकट हो जाता है। साथ ही सिद्धांत कहता है कि जिनवाणी के श्रवण मात्र से असंख्यात गुणश्रेणी कर्मों की निर्जरा होती है।’⁴

आज समाज में घर में अप्रतिष्ठित प्रतिमा रखकर तथा तीर्थकर या मुनि की फोटो लगाकर उसकी पूजा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। स्थापना मंगल के व्याख्यान के अवसर पर आचार्यश्री ने इस प्रवृत्ति को उपादेय नहीं मानकर स्पष्टतया उन्हें पूजने योग्य स्वीकार नहीं किया है। वे स्पष्टतया कहते हैं-

‘जैनशासन में रजतमय, स्वर्णमय, रत्नमय, पाषाणमय, अष्टधातु, मणि आदि निर्मित जिनबिम्ब पूज्यता को प्राप्त हैं। अन्य कागज, प्लास्टिक अथवा केमिकल से बनाई गई प्रतिमा को प्रतिष्ठा शास्त्र में पूजनीय स्वीकार नहीं किया गया है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य, मुनियों व भगवान् की जो फोटो तथा तस्वीरें घरों व मंदिरों में लगी हुई हैं, वे प्रतीक मात्र हैं। वे आदर/सम्मान के योग्य तो हैं परन्तु अष्ट द्रव्य द्वारा उनकी पूजा नहीं करना चाहिए। वे पूजने योग्य नहीं हैं।’⁵

आचार्यश्री जिनवाणी के जानने की अपेक्षा उसे मानने को अधिक उपादेय स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि-

‘ग्रंथराज समयसारजी में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है कि संपूर्ण आगम को कण्ठस्थ कर लो, घोलकर पी जाओ परन्तु जब तक तुम्हारे विषय नहीं घुलेंगे तब तक कल्याण होने वाला नहीं है। प्रवचनसारजी की चरणानुयोग चूलिका में भगवान् कुन्दकुन्द ने बहुत ही गहरा कथन किया है- जिनवाणी को नहीं जानने वालों का कल्याण हो जायेगा पर जिनवाणी को नहीं मानने वालों का कभी कल्याण नहीं होगा। इसलिए वीतरागी वाणी को तुम जानो भी, मानो भी और तदनुसार परिणमन भी करो।’⁶

२. निज आत्मा परम उपादेय, पंच परमेष्ठी भी उपादेय, देह हेय

तत्त्व के मुख्य दो भेद हैं- स्वगत और परगत। निज आत्मा से अत्यन्त भिन्न होने के कारण पंच परमेष्ठी को भी परगत तत्त्व कहा गया है। आचार्यश्री कहते हैं-

‘वे हमारे आराध्य हैं, पर साध्य तो एकमात्र निज परमात्म भाव ही है। उस परम साध्य आत्मदेव की सिद्धि का साधन पंच परमेष्ठी की आराधना है परन्तु साध्यभूत तो मात्र निज आत्मा ही है।’⁷

‘यथार्थ में निश्चय दृष्टि से निज शुद्धात्मा ही हमारा परम ध्येय है, व्यवहार दृष्टि से पंच परमेष्ठी ध्येय हैं। शेष पदार्थ हेय हैं, ज्ञेय हैं। परम शुद्ध निश्चय नय से निज आत्मा ही ध्येय है, उपादेय है। ग्रंथराज वारसाणुवेक्खा में भी कुन्दकुन्दाचार्यजी ने लिखा है-

अरुहा सिद्धाङ्गरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी।

तेविहु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।’⁸

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी आत्मा में ही विराजे हैं, इसलिए आत्मा ही मेरा परम ध्यान है, आत्मा ही परम ध्येय है, आत्मा ही परम उपादेय है।⁹

जो निश्चय ध्येय है, वही मेरा आत्मा है और निश्चय ध्येय की पूर्ति तब होगी जब तुम हेय रूप देह को छोड़ दोगे।¹⁰

३. विभूति के लिए तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग हेय

विभूति को सर्वस्व मानने वाले को भेद विज्ञान कैसे हो सकता है? आज लौकिक प्रयोजनों के लिए श्रावक तो श्रावक श्रमण भी तन्त्र-मन्त्र, गंडा, ताबीज, रक्षासूत्र, माला, मंत्रित नारियल आदि का धड़ल्ले से प्रयोग कर रहे हैं। साधुओं द्वारा तन्त्र-मन्त्र का लौकिक कार्यों के लिए प्रयोग अविचारितरम्य हो सकता है। इस विषय में आचार्यश्री लिखते हैं-

‘जो विभूति के लिए तन्त्र-मन्त्र के पीछे दौड़ रहे हैं, उन्हें न तो अपने पुण्य पर विश्वास है और न जिनवाणी पर। चमत्कार में लुट रहे हो, पर आत्म-चमत्कार को खो रहे हो। यदि संसार के देवी-देवता कुछ देते होते तो वे स्वयं अपनी आयु को क्यों नहीं बढ़ा लेते। ध्यान रखना अज्ञानी चमत्कारों में घूमता है, ज्ञानी चेतन चमत्कार में रमण करता है।¹¹

‘दिशाबोध’ अक्टूबर 2007 में श्री सुरेश ‘सरल’ की इस विषय में प्रकाशित कुछ पंक्तियाँ समाज के दिशाबोध के लिए उद्धृत करना जरूरी समझता हूँ, ताकि आचार्यश्री की भावना और स्पष्ट हो सके। वे लिखते हैं-

‘किसी जैन साधु को तन्त्र-मन्त्र की सेना के साथ देखें तो विश्वास कर लें कि उन्हें जैनागम का ठोस ज्ञान नहीं है। फलतः भटकन की चर्या में जी रहे हैं। उनके पास दो-दो, चार-चार श्रावकों के समूह जावें और कर्म सिद्धांत का अध्ययन करने को मनावें। जो मान जावें, उनमें परिवर्तन की प्रतीक्षा करें और जो न मानें तो उन्हें धर्म की दुकान चलाने वाला व्यापारी मानें। ऐसा व्यापारी जिसे अपने लाभ और यश की चिंता है, परन्तु समाज और धर्म की नहीं।¹²

४. अन्य श्रावकों को विघ्नकारक भक्ति भी उपादेय नहीं

प्रायः देखा जाता है कि अनेक श्रावक मंदिर में प्रवेश करते ही अपने मधुर कण्ठ से इतने जोर-जोर से भक्ति करना प्रारंभ कर देते हैं कि पहले से शांत स्वर में भक्ति कर रहे श्रावकों का ध्यान अनायास ही भक्ति से विचलित हो जाता है तथा उनका ध्यान नवप्रविष्ट भक्त की ओर चला जाता है। उनके लिए आचार्यश्री कहते हैं-

‘भक्ति तो करना पर विवेक के साथ करना ताकि अन्य श्रावकों को अन्तराय नहीं पड़े। हम कभी-कभी भक्ति करते समय विवेक खो देते हैं कि हमने तो नियम लिया है कि भगवान् की वेदी के सामने खड़े होकर ही जाप करेंगे। लेकिन उसके बाद आपने सोचा कि कितने लोग मन मसोस करके आपकी पीठ की ही वंदना कर चले जाते हैं। काश, मैं भगवान् के चेहरे को देख लेता। यहाँ आपने दर्शनावरणी कर्म का बन्ध कर लिया। जिनवाणी में लिखा है कि एक व्यक्ति पाठ कर रहा है और आपने इतने जोर से आवाज

कर दी कि पाठी की आवाज दब गई, यह असमाधि का कारण है।¹³

५. मुक्ति पुरुषार्थ परम उपादेय किन्तु पुरुषार्थत्रय में धर्म पुरुषार्थ उपादेय

तत्त्वसार में आचार्य देवसेन ने कहा है कि देह के रोग, सड़न, पतन, जरा और मरण को देखकर जो भव्य आत्मा को ध्याता है, वह पांच प्रकार के शरीरों से मुक्त हो जाता है।¹⁴ इस कथन से स्पष्ट है कि शरीर के प्रति ममत्व रूप बहिरात्मपना हेय है और शरीरों से मुक्ति रूप मोक्ष पुरुषार्थ परम उपादेय है। किन्तु जब हमारे समक्ष धर्म, अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की उपस्थिति हो, तब उस दशा में धर्म पुरुषार्थ ही उपादेय है। भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देते हुए आचार्यश्री लिखते हैं-

‘देखो संसार की दशा, एक साथ तीन चीजें प्राप्त हुई- चक्ररत्न प्रकट हुआ, पुत्ररत्न प्राप्त हुआ और तीर्थकर को कैवल्य की प्राप्ति हुई एक समय में। सेनापति संदेश लेकर पहुंच गया कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। राजप्रासाद से दासियों की भीड़ आकर कहने लगी कि महारानी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है और वनपाल ने आकर संदेश दिया- हे चक्रेश! प्रथम तीर्थकर भगवान् आदिनाथ स्वामी को कैलास पर्वत पर कैवल्य की प्राप्ति हुई। यह था पुण्य का वेग। ज्ञानी जीव यहाँ विवेक लगाता है कि पहले कौन से पुरुषार्थ के फल को भोगा जाये। एक क्षण को स्तब्ध हो गया चक्रवर्ती भरतेश। फिर बोला जिसकी प्राप्ति के लिए मुनिजन भी परिश्रम करते हैं, ऐसे धर्म पुरुषार्थ के फल की प्राप्ति हुई है। अतः तीर्थकर के कैवल्य की पूजा पहले होना चाहिए।’¹⁵

६. आस्रव हेय, संवर-निर्जरा-मोक्ष उपोदय

परम उपादेय मोक्ष की उपलब्धि रागद्वेष की हानि तथा ज्ञान एवं वैराग्य की भावना पूर्वक किये गये तप से होती है क्योंकि संवरसहित तप ही मोक्षसापेक्ष निर्जरा का कारण बनता है। आचार्यश्री तत्त्वसार की 51वीं गाथा की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि-

‘भो ज्ञानी! कर्म के फल को भोगते समय न राग करो न द्वेष करो। जो कर्म के विपाक में राग-द्वेष नहीं करता, वह पूर्वसंचित कर्म का विनाश कर देता है एवं नये कर्म का बन्ध नहीं करता। यदि रागद्वेष करते रहोगे तो कभी मोक्ष नहीं होगा क्योंकि पूर्व कर्म नष्ट तो हुये, परन्तु नवीन कर्म का बंध हो गया। जो मुमुक्षु जीव होता है, वह पूर्व के कर्म को तो नाश करता है और वर्तमान में किबाड़ बन्द कर लेता है। इसी का नाम संवर है। संवर सहित निर्जरा मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है और संवर से रहित निर्जरा मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। संवर एवं निर्जरा की प्राप्ति बिना तपस्या के संभव नहीं है। आचार्य भगवान् उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है- ‘तपसा निर्जरा च’। तप से निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है। इसलिए हे मनीषियो! संवर की ओर बढ़ो, निर्जरा की ओर बढ़ो, आस्रव को छोड़ो। आस्रव हेय तत्त्व है, संवर-निर्जरा एवं मोक्ष उपादेय तत्त्व हैं।’¹⁶

७. दया धर्म भी धर्म का मूल होने से उपादेय

तत्त्वसार की 72वीं गाथा के व्याख्यान में सिद्धों की विवेचना के संदर्भ में आचार्यश्री लिखते हैं ‘कभी-कभी ऐसा होता है कि लोग भगवान् की खोज तो करने लगते हैं, किन्तु

इंसान की खोज नहीं करते। यदि इंसान की खोज की गई तो भगवान् तो अपने आप बन जाओगे।¹⁷

इस प्रसंग में आचार्यश्री ने एक मनोरम दृष्टान्त दिया है कि एक चौबीसी जिनालय में बैल से लेकर सिंह तक सभी तीर्थकरों के चिह्न वाले जानवर इकट्ठे होकर प्रतिमाओं के सामने बैठ गये। उन्हें देखकर एक बुढ़िया मूर्च्छा खाकर गिर गई। उस मूर्च्छित बुढ़िया को देखकर कर्म सिद्धान्त के ज्ञाता, अध्यात्मवेत्ता धर्मात्मा पुरुष अपने-अपने अधीत ज्ञान की बातें कहकर चले गये परन्तु उस बुढ़िया पर किसी को भी दया नहीं आई। आचार्यश्री कहते हैं कि-

‘सबने कर्मसिद्धांत और आत्मा के उपदेश दिये परन्तु ‘धर्मस्य मूलं दया’ की चर्चा किसी ने नहीं की। वह मनुष्य ही नहीं है जिसके अन्दर करुणा/ दया की भावना नहीं हो। मनुष्य वही है जिसके अन्दर प्रेम, वात्सल्य, दया, एकत्व दृष्टि छिपी है। जब तक एकत्व दृष्टि नहीं बनेगी, एक सिद्ध में अनेक सिद्ध बनकर कैसे विराजेंगे।’¹⁸

‘जब तक स्वतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक परगत तत्त्व को भूल मत जाना।’¹⁹ इस प्रकार आचार्यश्री विशुद्धसागर महाराज ने तत्त्वदेशना में हेय-उपादेय की देशना की है। निश्चय ही उनकी यह देशना शास्त्रसमुद्र को गागर में भरने जैसा दुष्कर कार्य है। इस देशना से भव्यों का अनन्त उपकार हो सकेगा- यह अर्सीदिग्ध रूप में कहा जा सकता है।

संदर्भ:

1. क्षत्रचूडामणि, लम्ब 2, श्लोक 44	2. वही, 45
3. तत्त्वसार तत्त्वदेशना पृष्ठ 1	4. वही, पृष्ठ 1
5. वही, पृष्ठ 3	6. वही, पृष्ठ 130
7. वही, पृष्ठ 8	8. वही, वारसाणुवेक्खा, गाथा 12
9. तत्त्वसार तत्त्वदेशना पृष्ठ 35	10. वही, पृष्ठ 37
11. वही, पृष्ठ 65	12. दिशाबोध, अक्टूबर 2007 पृष्ठ 22-23
13. तत्त्वसार तत्त्वदेशना, पृष्ठ 68	14. तत्त्वसार गाथा 49
15. तत्त्वसार तत्त्वदेशना पृष्ठ 127	16. वही, पृष्ठ 126
17. वही, पृष्ठ 161	18. वही, पृष्ठ 163
19. वही, पृष्ठ 165	

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
एस.डी. (पी.जी.) कॉलेज
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

जैन विद्या में जीव-तत्त्व-सिद्धि

-डॉ. बसन्त लाल जैन

तत्त्व का अर्थ-

तत्त्व का अर्थ है 'सारभूत पदार्थ'। 'तत्' शब्द से 'तत्त्व' शब्द बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लगाकर 'तत्त्व' शब्द बना हुआ है। तत् का अर्थ है 'वह' और 'त्व' का अर्थ है- भाव या पना। अर्थात् वस्तु का भाव या पना ही तत्त्व है। तस्य भावः तत्त्वम्¹ अर्थात् वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहा जाता है। जैसे- अग्नि का अग्नित्व, स्वर्ण का स्वर्णत्व, मनुष्य का मनुष्यत्व आदि। 'तत्त्व' शब्द बहुत व्यापक है। यह अपनी समस्त जाति में अनुगत रहता है। जैसे-स्वर्णत्व समस्त स्वर्ण जाति में व्याप्त है। वह एक है, भले ही स्वर्ण अलग-अलग है। उसी प्रकार सभी जीवों का जीवत्व एक है भले ही जीव अनेक हैं।

आत्मवादी दर्शन में आत्म सिद्धि-

भारतीय दर्शन में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले दर्शन को आत्मवादी दर्शन कहा जाता है और आत्म-अस्तित्व को स्वीकार न करने वाले दर्शन को अनात्मवादी दर्शन माना जाता है। चार्वाक और बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन माने जाते हैं क्योंकि इन दर्शनों में आत्मा नामक तत्त्व को नहीं माना गया है, जो पूर्व और उत्तर जन्म में स्थायी रूप से रहता है। शेष दर्शन पुनर्जन्म रूप में आत्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं, इसलिए न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, अद्वैतवेदांत और जैनदर्शन को आत्मवादी दर्शन कहा जाता है।

(क) गौतम ऋषि ने न्याय सूत्र में अनुमान प्रमाण और शास्त्रीय आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है तथा कणाद ऋषि ने वैशेषिक सूत्र में आत्मा के अस्तित्व को अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया है।

प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि को आत्मा के लिंग कहकर इन्हीं से आत्मास्तित्व सिद्ध किया है।² इसी प्रकार न्याय सूत्रकार ने भी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, विनिर्णयात्मक ज्ञान हेतुओं के द्वारा आत्मा की सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध किया है।³ न्यायदर्शन में मानसप्रत्यक्ष के द्वारा भी आत्मा की सत्ता को सिद्ध किया गया है लेकिन वैशेषिकदर्शन में कणाद और प्रशस्तपाद आत्मा को मानस प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं।⁴

(ख) सांख्यदर्शन में आत्मसिद्धि-

१. सांख्यदर्शन के अनुसार समुदाय रूप जड़ पदार्थ दूसरों के लिए होते हैं स्वयं के लिए नहीं। प्रगति और उसके समस्त कार्य संघात रूप होने से जिसके लिए है वही पुरुष है।

2. त्रिगुणादि विपर्ययाद् अर्थात् तीनों गुणों से भिन्न होने से पुरुष की सत्ता का अनुमान होता है। संसार के सभी पदार्थ सत्त्व, रज और तम रूप हैं। अतः इन गुणों से भिन्न जिसकी सत्ता है, वही पुरुष-आत्मा है।

3. संसार के समस्त पदार्थों का कोई न कोई अधिष्ठाता होता है। अतः बुद्धि अहंकारादि का जो अधिष्ठाता है, वही पुरुष है।

4. सुख-दुःख का जो भोक्ता है वही पुरुष है। यहाँ भोक्ता का अर्थ द्रष्टा किया गया है। बुद्धि आदि पदार्थ दृश्य हैं। अतः इनका द्रष्टा होना अनिवार्य है। इस अनुमान से सिद्ध है कि दृश्य पदार्थों का जो द्रष्टा है, वही पुरुष है।

5. जीवन का अंतिम एवं परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है, यह उसकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से सिद्ध होता है कि प्रकृति आदि से भिन्न पुरुष का अस्तित्व है।⁵

(ग) मीमांसादर्शन में आत्मसिद्धि-

मीमांसा सूत्र में आत्मसिद्धि के प्रमाण प्राप्त नहीं होते हैं लेकिन जैमिनी के बाद प्रभाकर और कुमारिल भट्ट आदि दार्शनिकों ने न्याय-वैशेषिक और सांख्यों की तरह ही युक्तियाँ दी हैं।⁶ शबर स्वामी ने मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध की है।⁷

यज्ञ विहित फल के भोक्ता के रूप में आत्मास्तित्व सिद्ध किया है क्योंकि कर्मों का फल अवश्य मिलता है। अतः कर्म करने वाला और भोगने वाला शरीरादि से भिन्न आत्मा नामक तत्त्व अवश्य है।⁸

(घ) अद्वैत वेदान्तदर्शन में आत्मसिद्धि-

अद्वैत वेदान्तदर्शन के अनुसार आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। अनुभव करने वाले के रूप में आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। यदि ज्ञाता के रूप में आत्मा की सत्ता न मानी जाय तो किसी भी ज्ञेय विषय का ज्ञान न हो सकेगा। अतः अनुभवकर्त्ता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।⁹

(ङ) जैनदर्शन में आत्मास्तित्व की सिद्धि-

जैन दर्शन के प्रमुख आचार्य स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, भट्ट अकलंकदेव, विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनभद्रगणि, प्रभाचंद, मल्लिषेण और गुणरत्न आदि ने आत्मा की सत्ता को प्रत्यक्ष और अनुमानादि सबल, अकाट्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है।

१. आचार्य पूज्यपादस्वामी- जैन आचार्य पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि- श्वासोच्छ्वास रूप कार्य से क्रियावान् आत्मा का अस्तित्व उसी प्रकार सिद्ध है जिस प्रकार यन्त्रमूर्ति की चेष्टाओं से उसके प्रयोक्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है।¹¹

२. आचार्य भट्ट अकलंकदेव - आचार्य भट्ट अकलंकदेव के अनुसार श्वासोच्छ्वास रूपी क्रियाएं बिना कारण के नहीं होती हैं क्योंकि ये क्रियाएं नियमपूर्वक होती हैं। विज्ञानादि अमूर्त हैं इसलिए उनमें प्रेरणा शक्ति का अभाव होता है। अतः वे इन क्रियाओं के कारण नहीं हो सकते हैं। रूप स्कन्ध के द्वारा भी क्रियाएं नहीं हो सकती हैं क्योंकि

रूपस्कन्ध अचेतन है। अतः सिद्ध है कि श्वासोच्छ्वास रूप कार्य का जो कर्ता है, वही आत्मा है।¹²

आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होने से, उसका अभाव मानना नितान्त गलत है क्योंकि इन्द्रिय निरपेक्ष आत्मजन्य केवलज्ञान रूप सकल प्रत्यक्ष के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है एवं देशप्रत्यक्ष अवधि और मनः पर्यय ज्ञान के द्वारा कर्म-नोकर्म संयुक्त अशुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है।¹³

इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्ष जैनदर्शन में परोक्ष प्रमाण माना गया है। घटादि परोक्ष हैं क्योंकि अग्राहक निमित्त कारणों से, धूप से अनुमित अग्नि की तरह ग्राह्य होते हैं। इन्द्रियाँ अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जाने पर स्मृति उत्पन्न होती है। जिस प्रकार खिड़की के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा देखने वाला विद्यमान रहता है उसी प्रकार इन्द्रियों से देखने वाले आत्मा की सत्ता रहती है।

भट्ट अकलंकदेव ने इन्द्रिय संकलनात्मक ज्ञान द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि इन्द्रिय और उनसे उत्पन्न ज्ञानों में 'जो मैं देखता हूँ, वही मैं चखता हूँ' एकत्व विषयक फल नहीं पाया जाता है। लेकिन इस प्रकार का एकत्व विषयक ज्ञान होता है। अतः इन्द्रियों द्वारा जाने गये विषयों एवं ज्ञानों में एकसूत्रता देखने वाले ग्रहीता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। इन्द्रियों से ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि वे अचेतन एवं क्षणिक हैं। अतः इन्द्रियों से भिन्न सकल ज्ञान और विषय को ग्रहण करने वाला कोई होना चाहिए और जो ऐसा है वही आत्मा है।¹⁵ आ. मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में भी संकलनात्मक ज्ञान के द्वारा आत्मा की सत्ता को सिद्ध किया है।¹⁶

३. आचार्य जिनभद्रगणि श्रमण- आचार्य जिनभद्रगणि ने स्मरणादि विज्ञान रूप गुणों के आधार पर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा है कि आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष होता है क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञान रूप गुणों का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। जिन गुणों के गुणों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है उसका भी प्रत्यक्ष होता है। जैसे घट रूप गुण के रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष अनुभव होने से घट का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मा के गुण ज्ञानादि का प्रत्यक्ष अनुभव होने से आत्मा का भी प्रत्यक्ष अनुभव होना मानना चाहिए। यदि गुण और गुणी को भिन्न मानने वाले ज्ञान गुण से आत्मा रूप गुणी की सत्ता स्वीकार न करें तो रूपादि गुणों के आधार घटादि पदार्थों की भी सत्ता नहीं माननी चाहिए। अतः स्मरणादि गुणों के द्वारा आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।¹⁷ जिनभद्रगणि ने आत्मा की सिद्धि गुणों के आधार के अलावा इन्द्रियों के अधिष्ठाता के रूप में शरीर के कर्ता के रूप में, अदाता, भोक्ता, देहादि संघातों के स्वामी के रूप में आत्मास्तित्व की सिद्धि की है।

४. आचार्य हरिभद्र- शास्त्रवार्तासमुच्चय के कर्ता ने भूत चैतन्यवाद का खण्डन करके आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि आत्मा चेतना का आधार है, इसलिए सदा स्थित शील तत्त्व के रूप में उसकी सत्ता सिद्ध होती है और यही आत्म तत्त्व परलोक जाता है इसलिए परलोकी के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध है।¹⁸

५. आचार्य विद्यानन्द- आचार्य विद्यानन्दजी ने सत्यशासन परीक्षा में कहा है कि चित्र देखकर पुरुष कहता है कि यह सजीव चित्र है। यद्यपि चित्र अजीव है लेकिन उसमें जीव की गौण कल्पना की गयी है। यदि जीव का अस्तित्व न होता तो यह चित्र सजीव है, ऐसा कथन नहीं होना चाहिए। इस प्रकार की गौण कल्पनाओं के आधार पर कहा जाता है कि जो सजीव पदार्थ है वही आत्मा है।¹⁹

६. वादीभसिंह- आचार्य वादीभसिंह ने स्याद्वादसिद्धि में अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा आत्मा की सत्ता को सिद्ध करते हुए कहा है कि धर्मादि का कर्त्ता आत्मा है, अन्यथा सुख-दुःख नहीं होते। सुख-दुःख का अनुभव होता है, इसलिए धर्मादि का कर्त्ता आत्मा है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की सिद्धि होती है।²⁰

७. आचार्य प्रभाचन्द्र-

- क. शब्द, रूप और रसादि ज्ञान किसी आश्रयभूत द्रव्य में रहते हैं क्योंकि वे गुण हैं। जो गुण होते हैं वे अपने आश्रित द्रव्य में रहते हैं। जैसे रूपादि गुण घड़े के आश्रित रहते हैं। शब्दादि गुण जिस द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वही आत्मा है।²¹
- ख. आचार्य प्रभाचन्द्रजी के अनुसार ज्ञान, सुख आदि कार्यों का कोई उपादान कारण अवश्य है क्योंकि ये कार्य हैं। जो कार्य होता है उसका उपादान कारण होता है। जैसे 'घट' कार्य होने से मिट्टी उसका उपादान कारण है। अतः ज्ञान, सुख आदि को जो उपादान कारण है, वही आत्मा है।²²
- ग. न्याय कुमुदचन्द्र में आचार्य ने लिखा है कि- जीवित शरीर किसी की प्रेरणा द्वारा संचालित होता है क्योंकि यह शरीर इच्छानुसार क्रिया करता है। जो इच्छानुसार क्रिया करता है उसका संचालन अवश्य होता है। जैसे- रथ का संचालक रथी होता है, उसी प्रकार इस शरीर का जो संचालक है, वही आत्मा है।²³
- घ. आत्मा-सिद्धि में इन्द्रियों को प्रेरक रूप मानते हुए प्रभाचन्द्र जी कहते हैं कि श्रोत्रादि इन्द्रियाँ करण हैं। अतः उनका कोई प्रेरक होना चाहिए क्योंकि जो करण होते हैं, वे प्रेरित होकर ही अपना कार्य करते हैं। जैसे बसूला बढ़ई से प्रेरित होकर छेदनादि क्रिया करता है। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जिससे प्रेरित होकर कार्य करती हैं वही आत्मा है।²⁴

८. मल्लिषेण सूरि- स्याद्वादमंजरी के कर्त्ता आचार्य मल्लिषेण सूरि ने शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हुए कहा है कि हित रूप साधनों का ग्रहण और अहित रूप साधनों का त्याग प्रयत्नपूर्वक ही होता है क्योंकि वह विशिष्ट क्रिया है। जितनी विशिष्ट क्रियाएं होती हैं, वे प्रयत्न पूर्वक ही होती हैं। जैसे रथ की चलने वाली विशिष्ट क्रिया सारथी के प्रयत्न से होती है, उसी प्रकार शरीर की व्यवस्थित या विशिष्ट क्रिया भी किसी के प्रयत्नपूर्वक होती है। जिसके प्रयत्न से यह क्रिया होती है, वही आत्मा है।²⁵

९. गुणरत्न सूरि- गुणरत्न सूरि के अनुसार 'अजीव' शब्द का प्रतिपक्षी 'जीव' का अस्तित्व अवश्य है क्योंकि अजीव शब्द व्युत्पत्ति सिद्ध और शुद्ध पद का प्रतिषेध करता

है। जिस निषेधात्मक शब्द के द्वारा व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध पद का प्रतिषेध होता है, उसका प्रतिपक्षी अवश्य होता है। अजीव निषेधवाची शब्द यौगिक तथा अखण्डजीव का निषेध करता है। इसलिए अजीव के प्रतिपक्षी जीव का अस्तित्व विद्यमान है।²⁶

उपर्युक्त आत्मवादी विश्लेषण से स्पष्ट है कि शरीरादि से भिन्न आत्मा की स्वतंत्र सत्ता वास्तविक रूप से अस्तित्व में है।

संदर्भ-

1. सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ 7
2. वैशेषिकसूत्र 3/2/4-13
3. न्यायसूत्र 3/1/10
4. भारतीय दर्शन- सं. डॉ. नंद किशोर देवराज पृष्ठ 311
5. (1) सांख्यकारिका 17 (2) सांख्यप्रवचनसूत्र 1/66 (3) योगसूत्र 4/24
6. (1) श्लोकवार्तिक/ आत्मवाद (2) तंत्रवार्तिक: प्रभाकर पृष्ठ 516
7. ब्रह्मसूत्र, शंकर भाष्य 1/1/5 पृष्ठ 14
8. वही
9. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य 2/3/7 पृष्ठ 542
10. वही
11. सर्वार्थसिद्धि 5/19 पृष्ठ 288
12. तत्त्वार्थवार्तिक 5/19 38 पृष्ठ 473
13. तत्त्वार्थवार्तिक 2/8/18/ पृष्ठ 123
14. तत्त्वार्थवार्तिक 2/8/18/ पृष्ठ 122
15. तत्त्वार्थवार्तिक 2/8/19 पृष्ठ 122
16. स्याद्वादमंजरी कारिका 17 पृष्ठ 173
17. विशेषावश्यक भाष्य- गणधरवाद गाथा 1558-60
18. शास्त्रवार्तासमुच्चय 1/78
19. सत्यशासनपरीक्षा पृष्ठ 14
20. स्याद्वादसिद्धि कारिका 9-10
21. (1) न्यायकुमुदचंद्र पृष्ठ 348 (2) प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. 112
22. न्यायकुमुदचंद्र पृष्ठ 649
23. न्यायकुमुदचंद्र पृष्ठ 349
24. प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ 113
25. स्याद्वादमंजरी कारिका 17 पृष्ठ 174
26. षड्दर्शनसमुच्चय टीका- गुणरत्नसूरि का. 40, पृष्ठ 230

- भगवान् पुष्पदन्त नाथ जन्मभूमि
काकन्दी, दिग. जैन तीर्थक्षेत्र
खुखुन्दु, देवरिया (उ.प्र.)

जैनधर्म में नारी की स्थिति

-डॉ. रमेशचन्द्र जैन

जैन कानून-

स्त्रियों के विषय में जैन लॉ और हिन्दू लॉ में बहुत अन्तर है। जैन लॉ के अनुसार स्त्रियाँ दायभाग की पूर्णतया अधिकारिणी होती हैं। हिन्दू लॉ में उनको केवल जीवन पर्यन्त (Life estate) अधिकार मिलता है। संपत्ति का पूर्ण स्वामित्व हिन्दू लॉ के अनुसार पुरुषों को ही मिलता है। पत्नी पूर्णतया अर्धांगिनी के रूप में जैन लॉ में ही पाई जाती है। पुत्र भी उसके समक्ष कोई अधिकार नहीं रखता है। जैन लॉ में लड़की केवल बाबा (पितामह) की संपत्ति में अधिकारी है। पिता की निजी स्थावर संपत्ति में उसको केवल गुजारे का अधिकार प्राप्त है और अपने जंगम द्रव्य का पिता पूर्ण अधिकारी है, चाहे जिस प्रकार व्यय करे।¹

हिन्दू लॉ में खानदान मुश्तरिका मिताक्षरा की दशा में मृत भ्राता की विधवा की कोई हैसियत नहीं होती है और वह केवल भोजन, वस्त्र पा सकती है।

जैन लॉ में वह मृत पुरुष के भाग की अधिकारिणी होगी, चाहे उसकी विभक्ति हो चुकी या नहीं हो चुकी है। पुत्र भी जैन लॉ के अनुसार केवल पैतामहिक संपत्ति में पिता का सहभागी होता है और अपना भाग विभक्त कराकर पृथक् कर सकता है। किन्तु पिता की मृत्यु के पश्चात् उस भाग को पायेगा।²

जैन लॉ में विधवा संपत्ति की पूर्ण स्वामिनी होती है। पुत्री या नाती का कोई अधिकार नहीं होता। अतः यदि उसके पति के भाई भतीजे उसको प्रसन्न रखें और उसका आदर और विनय करें तो वह उनको सब धन दे सकती है।³ स्त्री को स्त्रीधन के व्यय करने का अपने जीवन में पूर्ण अधिकार है। वह उसको अपने भाई भतीजों को भी दे सकती है। ऐसा दान साक्षी द्वारा होना चाहिए।⁴

एक या अधिक भगिनी पिता के मरे पश्चात् कुंवारी हों तो उनको सब भाई अपने अपने भाग का चतुर्थांश लगाकर ब्याह दें।⁵ जिस कन्या का ब्याह हो गया हो, उसको पिता के द्रव्य में भाग नहीं होगा। पिता ने जो कुछ उनको दिया हो, वही उसका धन है।⁷ पिता को अपनी स्त्रियों को पुत्रों के समान भाग देना चाहिए।⁸ जिस मनुष्य के केवल एक कन्या हो और कुछ संतान न हो तो उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके धन के मालिक पुत्री-दौहित्र होंगे।⁹

साहित्यिक विवरण-

जैनधर्म में नारियों की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। पति के प्रत्येक कार्य में वे सहयोग दिया करतीं थीं। किसी प्रकार की शंका या कार्य उपस्थित होने पर पत्नी निःसंकोच पति के पास जाकर शिष्टाचार पूर्वक निवेदन करती थी। सोलह स्वप्न दिखाई देने पर मरुदेवी पति

के पास जाकर नीचे आसन पर बैठी और उत्तम सिंहासन पर आरूढ़ हृदयवल्लभ को हाथ जोड़कर क्रम से स्वप्नों का निवेदन किया।¹⁰

माता के रूप में नारी अपरिमित श्रद्धा का भाजन थी। विजयाभिगमन के अवसर पर लव और कुश माता को प्रणाम कर मंगलाचारपूर्वक घर से निकले।¹¹ पत्नी के रूप में नारी पति को कुमार्ग में भटकने से बचाने का सदैव प्रयत्न करती थी। सीता की प्राप्ति हेतु युद्ध में प्रवृत्त रावण को समझाती हुई मंदोदरी कहती है- “आपका यह मनोरथ अत्यन्त संकट में प्रवृत्त हुआ है इसलिए इन इन्द्रिय रूपी घोड़ों को शीघ्र रोक लीजिए। आप तो विवेक रूपी सुदृढ़ लगाम को धारण करने वाले हैं। आपकी उत्कृष्ट धीरता, गंभीरता और विचारकता उस सीता के लिए जिस कुमार्ग से गई है, हे नाथ! जान पड़ता है, आप भी किसी के द्वारा उसी कुमार्ग से ले जाये जा रहे हैं”।¹² पिता के घर पुत्री का लालन-पालन बड़े स्नेह से होता था¹³ परन्तु पुत्री के यौवन अवस्था प्राप्त कर लेने पर पिता को यह चिंता लग जाती थी कि कन्या उत्तम पति को प्राप्त होगी या नहीं।¹⁴

कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा का पूरा प्रबन्ध किया जाता था। वे गंधर्व आदि विद्याओं में निपुण होती थीं।¹⁵ आभूषण धारण करने की प्रथा स्त्रियों में प्रचलित थी।¹⁶ चँवर ढोने, शय्या बिछाने, बुहारने, पुष्प विकीर्ण करने, सुगंधित द्रव्य का लेप लगाने, भोजन-पान बनाने आदि कार्यों में उनकी निपुणता का उल्लेख मिलता है।¹⁷

युद्धादि के लिए सेना के प्रयाण में भी स्त्रियाँ जाती थीं। वज्रनाभि की दिग्विजय के प्रसंग में सेना के साथ स्त्रियों के जाने का भी वर्णन हुआ है।¹⁸ सार्वजनिक उत्सवों एवं अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोदों में नारी की भूमिका महत्वपूर्ण है।¹⁹

कन्याएं अपने पिता से किसी विषय पर निःसंकोच बातचीत करती थीं। श्रीमती अपने पिता वज्रदन्त से अपने पूर्वभव के पति ललितांग के विषय में विभिन्न जिज्ञासायें व्यक्त करती है।²⁰ महाराजा वज्रबाहु की पण्डिता नाम की धाय बड़ी चतुर थी। श्रीमती को पूर्वजन्म के स्मरण होने पर पण्डिता ललितांग का चित्र लेकर महापूत जिनालय गई और ललितांग का परिचय प्राप्त कर वापिस आई।²¹

आदिपुराण से ज्ञात होता है कि कन्या और पुत्र में कोई अन्तर नहीं था। दोनों समान रूप से संस्कारित किए जाते थे।²² आदिपुराण में कन्या जन्म को अभिशाप नहीं माना गया है।²³ बाल्यावस्था से ही कन्या को नूपुर आदि अलंकारों से अलंकृत किया जाता था।²⁴ समराइच्चकहा में कन्या की शिक्षा-दीक्षा पर विशेष बल दिया गया है; क्योंकि रूप, कला, विज्ञान आदि कन्या के गुण माने जाते थे।²⁵ इन्हीं गुणों से युक्त कन्या विवाह के योग्य मानी जाती थी। चित्रकला के साथ-साथ उसे काव्य आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।²⁶ माता-पिता अपनी कन्या को कला-विज्ञान आदि से सुशिक्षित करने का भरपूर प्रयास करते थे।²⁷ रूप, कला एवं विज्ञान आदि से युक्त कन्यायें युवावस्था को प्राप्त होने पर विवाह योग्य समझी जाती थी।²⁸

समराइच्चकहा में भार्या को गृहणी नामक संज्ञा से संबोधित किया गया है। (सम.क. 4 पृ. 358)। वह घर गृहस्थी की साम्राज्ञी समझी जाती थी तथा अपने पति की

जीवनसंगिनी तथा सलाहकार समझी जाती थी। (सम. क. 1 पृ. 181) घर में प्रवेश करते ही सास-ससुर बहू का सम्मान करते थे तथा पति उसे जीवन साथी के रूप में ग्रहण करता था। अतः पति-पत्नी के बीच सहकारिता पूर्ण भावना के फलस्वरूप पत्नी को मित्रवत् समझा जाता था। (सम. क. 9 पृ. 925)

आदिपुराण में कहा गया है कि जननी को अपने पुत्र के विवाह के अवसर पर सबसे अधिक प्रसन्नता होती थी।²⁹ मरुदेवी को नवीन पुत्रवधुयें प्राप्त कर अत्यधिक प्रसन्नता हुई।³⁰

पिता की अपेक्षा परिवार में माँ को अधिक प्रेम और सम्मान प्राप्त था। भगवती सूत्र³¹ में अम्म शब्द पितृ शब्द से पहले प्रयुक्त हुआ है-**अम्मापियरो** यहाँ यह भी ज्ञात होता है कि पति और पत्नी धर्म के समान सहभागी थे। यदि पति प्रव्रजित होने का निर्णय ले लेता था तो पत्नी कभी भी बाधक नहीं होती थी। धार्मिक क्षेत्र में वह पति का अनुगमन करती थी। इस प्रकार वह एक शांतिपूर्ण वातावरण का निर्माण करती थी। पति उसे जीवन यात्रा का सहभागी मानता था। सांसारिक कार्यों में वह उसे निंदनीय वस्तु नहीं मानता था। यह बात श्रेणिक तथा उसकी पत्नी चेलना तथा उदयन एवं उसकी पत्नी के संबंधों से विदित होती है। सिन्धु सौवीर की रानी प्रभावती देवी भगवान् महावीर के पवित्र उपदेशों को सुनने के लिए राजगृह के बाहर गुणशिला चैत्य तथा वीतभय नगर के मृगवन की धर्मसभा में जाती है। जब उदयन संसार छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और भगवान् महावीर की शरण में चले जाते हैं तो वह बीच में बाधक नहीं बनती है।

हस्तिनापुर के राजा बल ने, जब उसकी रानी अर्द्धरात्रि के समय स्वप्न देखने के बाद उसके कक्ष में प्रविष्ट हुई, तब उसका स्वागत किया। पहले उसने उसे सुखासन पर बैठाया तथा मधुरवचन बोलकर उसका सम्मान किया। अनन्तर अप्रत्याशित आगमन के विषय में पूछा। उसने सम्मानजनक शब्दों में अपने स्वप्न का निवेदन किया और कहा कि एक सुन्दर सिंह को गर्जना करते हुए उदर में प्रविष्ट होते हुए देखा है। अपनी मेधा के आधार पर राजा ने इस स्वप्न की व्याख्या इस प्रकार की कि वह एक महान् पुत्र को जन्म देगी। अनन्तर उसने उसे इस सौभाग्य पर बधाई दी।

ब्राह्मणकुण्डग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण ने भूशालक चैत्य में भगवान् महावीर के उपदेश सुने और वह प्रसन्नता पूर्वक बैलगाड़ी में बैठाकर पत्नी देवनन्दा को ले गया और दोनों ने भगवान् महावीर से प्रव्रज्या अंगीकार की।³² श्रावस्ती के श्रमणोपासक और श्रमणोपासिका शंख तथा उत्पला का जीवन आदर्श दाम्पत्य जीवन था, जो कि पारस्परिक प्रेम, श्रद्धा, भक्ति और सम्मान से भरा हुआ था। वे सांसारिक कार्यों और पूजन वगैरह में पवित्र हृदय से जीवन यापन करते थे।

मंख मंखलि और उसकी पत्नी भद्रा ने निर्धनता की कठिनाईयों में रहकर भी शांति और संतोष के साथ उतार-चढ़ाव वाली जिंदगी बिताई। भौतिक आपदायें उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं कर सकीं और न उनकी शान्ति भंग कर सकीं। एकबार गृहविहीन जीवन व्यतीत करते हुए जब भद्रा गर्भवती थी तो उन्होंने सरवण ग्राम में एक ब्राह्मण गोबहुल की

गोशाला में शरण ली। वे एक गाँव से दूसरे गाँव घूमकर वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे, क्योंकि उनके पास रहने को घर नहीं था। गरीबी और कष्ट के बीच उपर्युक्त गोशाला में भद्रा ने मंखलिपुत्र गोशाल को जन्म दिया। उनकी जीवन यात्रा कठिनाईयों के मध्य साथ-साथ गुजरती गई किन्तु उन्होंने पत्नी और पति के पवित्र मिलन के³² आदर्श को तिलांजलि नहीं दी।

गृहस्थ जीवन में प्रवेश के निमित्त युवा और युवती को एक सूत्र में बाँधने के लिए विवाह होता था। भोगभूमि के समय स्त्री-पुरुष का जोड़ा साथ ही उत्पन्न होता था और प्रेमबन्धन बद्ध हुए साथ ही उनकी³³ मृत्यु हो जाती थी। बाद में विवाह संबन्धी कई प्रथायें प्रचलित हुईं। किसी शुभ दिन जबकि सौम्यग्रह सामने स्थित होते थे, क्रूर ग्रह विमुख होते थे और लग्न मंगलकारी होती थी, तब स्त्रियों के मंगलगीत, तुरही की ध्वनि आदि क्रियाओं के साथ कन्या को लेकर पिता वर के घर पर ही विवाह कार्य संपन्न करा देते थे।³⁴ कभी-कभी वर के किसी सुन्दर रूप और गुणों वाली कन्या पर आसक्त हो जाने पर वह स्वयं अथवा उसका पिता कन्या के पिता से कन्या की प्राप्ति हेतु याचना करता था। पिता उसके कुल, रूप, गुण तथा आयु आदि का विचार कर स्वीकृति या अस्वीकृति देते थे।³⁵ अस्वीकृति देने पर कभी-कभी युद्ध होता था और युद्ध में यदि वर पक्ष जीत जाता था तो उसके बल और पौरुष से प्रभावित होकर या विवशता के कारण उसे कन्या देनी पड़ती थी।³⁶ पद्मचरित में प्रेम विवाह के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। प्रेम का प्रारंभ कभी कन्या³⁷ की ओर से होता था, कभी वर³⁸ की ओर से। कभी-कभी दोनों एक दूसरे को देखकर प्रेमपाश में बँध जाते थे।³⁹

उत्तराध्ययनसूत्र की सुखबोधा टीका से ज्ञात होता है कि गंधर्व देश की राजधानी पुण्ड्रवर्द्धन थी। वहाँ के राजा का नाम सिंहरथ था। एकबार उसे उत्तरापथ से दो घोड़े उपहार में मिले। राजा ने उनकी परीक्षा करनी चाही। एक पर राजा स्वयं चढ़ा और दूसरे पर राजकुमार। राजा जिस घोड़े पर सवार हुआ था, वह विपरीत शिक्षा वाला था। ज्यों-ज्यों उसकी लगाम खींची जाती, त्यों-त्यों वह वेग से दौड़ता था। इस प्रकार वह घोड़ा राजा को लेकर 12 योजन चला गया। अन्त में राजा ने लगाम ढीली कर दी। घोड़ा वहीं रुक गया। घोड़े को वहीं एक वृक्ष से बाँध राजा पर्वत पर दीख रहे सात मंजिले प्रासाद पर चढ़ा और वहाँ एक युवती से गन्धर्व विवाह कर लिया।⁴⁰

पाञ्चाल राजा के पुत्र ब्रह्मदत्त ने अपने मामा पुष्पचूल की लड़की पुष्पावती से गंधर्व विवाह किया।⁴¹

क्षितिप्रतिष्ठान नगर के राजा जितशत्रु ने एक दरिद्र चित्रकार की पुत्री कनकमञ्जरी के वाक्कौशल से प्रभावित होकर गंधर्व विवाह कर लिया।⁴² यह अन्तर्जातीय विवाह का भी उदाहरण है।⁴³

गंधर्व विवाह⁴⁴ के साथ स्वयंवर प्रथा के भी उल्लेख मिलते हैं। स्वयंवर पद्धति में पुत्री का पिता अनेक लोगों को आमंत्रित करता था। सुसज्जित मंच के ऊपर राजाओं को बैठाकर प्रतीहारी क्रम से कन्या को राजाओं का परिचय⁴⁵ देती जाती थी। अन्त में जिस

वर को कन्या चाहती थी, उसके गले में वरमाला डाल देती थी। तदनन्तर लोगों के द्वारा विभिन्न प्रकार के कौतुक और मंगलाचार के साथ कन्या का पाणिग्रहण होता था।⁴⁶

कभी-कभी कन्या वर की खोज में विभिन्न स्थानों पर जाती थी। एक बार मथुरा के राजा जितशत्रु ने अपनी पुत्री निर्वृत्ति को इच्छानुसार वर की खोज करने के लिए कहा। वह सेना और वाहन लेकर इन्द्रपुर गई। वहाँ के राजा इन्द्रदत्त के बाईस पुत्र थे। कन्या ने एक शर्त रखते हुए कहा- आठ रथ चक्र हैं, उनके आगे एक पुतली स्थापित है। जो कोई उसकी बाईं आंख को बाण से बींधेगा, उसी का मैं वरण करूँगी। राजा अपने पुत्रों को लेकर रंगमंच पर उपस्थित हुआ। बारी बारी से राजा के सभी पुत्रों ने पुतली को बींधने का प्रयास किया, किन्तु कोई भी सफल नहीं हो सका। अन्त में राजा का एक पुत्र सुरेन्द्रदत्त, जो कि मंत्री की कन्या से उत्पन्न था, रंगमंच पर आया। चारों ओर से हो हल्ला होने लगा। दो व्यक्ति नंगी तलवार लेकर दोनों ओर खड़े हो गए और कुमार से कहा- यदि तुम इस कार्य में असफल रहे तो हम तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देंगे। कुमार उनकी चुनौती स्वीकार करते हुए आगे आया और देखते ही देखते पुतली की बाईं आंख को बाण से बींध डाला। कुमारी ने उसके गले में वरमाला पहना दी।⁴⁷

कभी-कभी पिता द्वारा कन्या के लिए विशेष वर का निर्धारण हो जाने पर भी किसी विशेष कारणवश कोई आवश्यक शर्त रख दी जाती थी कि जो कोई उस शर्त को पूरा करेगा, उसे ही कन्या दी जायेगी। उदाहरण स्वरूप विद्याधरों ने राजा जनक के सामने यह शर्त रखी कि वज्रावर्त धनुष को चढ़ाकर ही राम सीता को ग्रहण कर⁴⁸ सकते हैं। राम उस शर्त को पूरा कर देते हैं और उनका सीता के साथ विवाह होता है। कभी-कभी वर की धीरता, वीरता तथा कुल और शील का परिचय प्राप्त करने के लिए युद्ध की आवश्यकता पड़ती थी। वर में जितने गुण होने चाहिए, उनमें शुद्ध वंश में जन्म लेना प्रमुख माना जाता था।⁴⁹ कुल, शील, धन, रूप, समानता, बल, अवस्था, देश और विद्यागम ये नौ वर के गुण कहे गए हैं। उनमें भी कुल को श्रेष्ठ माना⁵¹ गया है। कुल नामका प्रथम गुण जिस वर में न हो, उसे कन्या नहीं दी जाती थी।⁵²

सोमा और विजयसेना गन्धर्व आदि कलाओं के परम सीमा को प्राप्त थीं- इसलिए उनके पिता सुग्रीव ने ऐसा विचार कर लिया था कि जो गन्धर्व विद्या में इनको जीतेगा, वही इनका भर्ता होगा।

चारुदत्त की पुत्री गन्धर्वसेना, जो कि संगीतशास्त्र में पारंगत थी, की प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे संगीतशास्त्र में जीतेगा, उसके साथ ही मैं विवाह⁵⁴ करूँगी।

सोमशर्मा के भद्रा और सुलसा नामक दो पुत्रियाँ थीं, जो वेद व्याकरणादि शास्त्रों में परम पारगामिनी थीं। इन दोनों ने कुमारी अवस्था में ही वैराग्यवश परिव्राजक की दीक्षा ले ली और दोनों ही शास्त्रार्थ में अनेक वादियों को जीतकर परम प्रसिद्धि को प्राप्त हुईं।⁵⁵

भगवान् ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी नाम पुत्रियाँ अक्षर, चित्र और गणितशास्त्र में पारंगत थीं।⁵⁶ एक स्थान पर मरुदेवी के अक्षरविज्ञान, चित्रविज्ञान, संगीतविज्ञान, गणित विज्ञान, आगमविज्ञान तथा कला-कौशल की प्रशंसा की⁵⁷ गई है। अनेक स्त्रियाँ मधुर गान

गाती थीं एवं मनोहर नृत्य भी करती थीं।⁵⁸

राजा द्रुपद ने यह घोषणा की थी कि जो गाण्डीव धनुष को गोल करने और बेधने में समर्थ होगा, वही द्रोपदी का पति होगा। जब वह किसी से भी नहीं टूट सका तो अन्त में अर्जुन ने उसका सन्धान कर द्रोपदी का वरण किया।⁵⁹

राजकीय परिवारों में जिस प्रकार बालक के पालन के लिए धाय नियुक्त की जाती थी, उसी प्रकार बालिकाओं के लिए भी नियुक्त की जाती थी। विद्याधर की पुत्री श्रीमाला का उल्लेख पउमचरिय में हुआ है, जिसके लिए धाय नियुक्त की गई थी। यह धाय सर्वार्थशास्त्र कुशल थी, जिससे कि वह बालिका के शारीरिक और मानसिक विकास की अच्छी तरह देखभाल कर सके। पुत्र के अभाव में माता-पिता का प्रेम पुत्री के प्रति बढ़ जाता था। जब भामण्डल का अपहरण कर लिया गया तो माता-पिता को सांत्वना उसकी बहिन सीता से प्राप्त हुई। सीता के कारण माता-पिता ने अपने पुत्र के खोने के दुःख को भुला दिया। बढ़ती उम्र में लड़की को खुली हवा, उचित साथ तथा सही स्वतंत्रता आवश्यक थी, जो कि पुत्रियाँ प्राप्त करती थीं। अञ्जना इस अवस्था में गेंद खेलती थी। सीता अपनी विद्याधर सहेलियों के साथ खेलती थी। वे उद्यान में जलक्रीड़ा करती थीं। राजकुमारी अतिसुन्दरा एक गुरु के यहाँ शिक्षा प्राप्त करती थी। कन्याओं की शिक्षा बहुमुखी थी। कैकेयी ने कला और विज्ञान के अनेक विषयों का अध्ययन किया था। जैसे अक्षर विद्या, व्याकरण, छन्दशास्त्र, ललित कलायें- संगीत, नृत्य-चित्रकला, वेश कौशल, गंध विद्या, पत्तियाँ काढ़ना, विज्ञान-अंकगणित, रत्नपरीक्षा, पुष्पविद्या, गजविद्या तथा अश्वविद्या। क्षत्रिय कन्या होने के कारण उसने सैन्यविज्ञान का निश्चित रूप से अध्ययन किया होगा, नहीं तो युद्ध में दशरथ के रथ की वह सारथी कैसे बनती? रानी सिंहिका ने उत्साहपूर्वक युद्ध कर आक्रमणकारियों को परास्त किया। सीता ने कुछ मुनियों के सामने नृत्य करते हुए गायन किया। गन्धर्वी चित्रमाला ने वन में अञ्जना को सांत्वना देने के लिए संगीत की ध्वनि की। सुग्रीव की पुत्रियों ने राम को दुःख के समय मन बहलाने के लिए संगीत की ध्वनि के साथ नृत्य किया। लक्ष्मण की पत्नियों द्वारा संगीत तथा नृत्य किया जाना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि कन्याओं को संगीत तथा नृत्यकला का प्रशिक्षण देने का रिवाज था। कैकेयी की शैक्षणिक योग्यताएं यह निर्देश करती हैं कि कन्याओं को विभिन्न विषयों का शिक्षण- प्रशिक्षण दिया जाता था। यह माँ बाप पर निर्भर था कि वे अपनी पुत्रियों को किस प्रकार का शिक्षण प्रशिक्षण दें। इसके लिए यह आवश्यक था कि शिक्षा प्राप्ति के अंतिम समय तक उन्हें स्वतंत्रता दी जाय। अतिसुन्दरा का अपने गुरु के घर जाना, वहाँ पुरोहित पुत्र के साथ पढ़ना, उनमें आपस में प्रेम का विकसित होना और अंत में दोनों का भाग जाना- ये सब चीजें इस बात को कहती हैं कि कन्यायें घर में बन्द नहीं रहती थीं तथा वे एक निश्चित अवस्था- विवाह की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करती थीं। कल्पसूत्र में स्त्रियों की चौंसठ कलाओं का उल्लेख है। इससे यह निर्देश प्राप्त होता है कि स्त्रियाँ अध्ययन की सभी शाखाओं में शिक्षित होती थीं। कौशल्या तथा तारा मंत्रीवत् थीं। पण्डिता के रूप में द्रोपदी यह प्रदर्शित करती है कि स्त्रियाँ वेद तथा ज्ञान की दूसरी शाखाओं में

शिक्षित होती थीं।

माता-पिता अपनी पुत्रियों का विवाह सही पुरुषों से करने का ध्यान रखते थे। वे अच्छे से अच्छा वर तलाशते थे। एक लड़की के भविष्य की प्रसन्नता इस बात पर निर्भर है कि उसे वर कैसा मिला? अतः माता-पिता वर का कुल, चरित्र, स्वास्थ्य तथा उपलब्धियों पर विचार करते हैं। परिपक्वता तथा पूरी जवानी विवाह के लिए उचित योग्यतायें थीं। पुत्री की इच्छाओं का विवाह हेतु ध्यान रखा जाता था। जो व्यक्ति जबरदस्ती किसी लड़की से विवाह करना चाहते थे, माता-पिता उसका अत्यधिक विरोध करते थे। प्राचीन काल में असुर और राक्षस विवाह भी होते थे, किन्तु उन्हें समाज में अच्छा नहीं समझा जाता था। कन्या का अपहरण करने के बाद उसे दासता के गर्त में नहीं धकेला जाता था। श्रीवर्द्धित ने श्रीकान्त की पुत्री का अपहरण किया तथा उससे विवाह कर लिया। खरदूषण ने चन्द्रनखा का अपहरण कर उससे विवाह कर लिया। उसने उसे वही सम्मान दिया, जो एक पत्नी आशा करती थी। प्रायः कन्याओं की शादी प्रसन्नतादायक थी। पउमचरित में कोई भी ऐसा मामला नहीं है, जहाँ माता-पिता ने अपनी पुत्री का विवाह उसकी इच्छा के विपरीत किया है या विवाह के बाद पति-पत्नी के बीच लड़ाई होकर तलाक हो गया है।

पत्नी घरेलू कार्यों की स्वामिनी थी, वह पति की साधिन थी। पति उसका भरण पोषण करता था, अतः भार्या कहलाती थी। पति का अर्थ पत्नी का संरक्षक है। भर्ता का अर्थ भरण पोषण करने वाला है। ये शब्द यह निर्देश करते हैं कि पत्नी तथा पति एक दूसरे के पूरक थे। दोनों का उत्तरदायित्व समान था। यह आवश्यक था कि पति पत्नी को समुचित सम्मान दे। जब विभीषण की पत्नी ने राम से आतिथ्य ग्रहण करने की प्रार्थना की तो विभीषण ने राम को ले जाकर उसकी सहमति प्रदान की।

पारिवारिक मामलों में पत्नी का समान अधिकार था। कैकेयी ने जब भरत का विवाह सुभद्रा से करना चाहा तो दशरथ ने तत्काल उसके निर्णय पर सहमति व्यक्त की। रावण अपनी बहिन के अपहर्ता खरदूषण को मारना चाहता था, किन्तु मंदोदरी ने ऐसा करने से मना कर दिया। पत्नी को प्रिया, कान्ता और वल्लभा भी कहा जाता था, जिससे निर्दिष्ट होता है कि उसे पति से प्रेम और लगाव प्राप्त था। पति का कर्तव्य केवल पत्नी का भरण पोषण करना ही नहीं था, अपितु उसे प्रसन्न रखना भी था। कठिनाई के क्षणों में वह पत्नी से सहानुभूति रखता था। पति गर्भिणी की इच्छा (दोहद) को पूरा करता था। राम ने सीता की प्रार्थना पर उसके साथ जलक्रीड़ा की। प्रेम का बन्धन इतना गहरा था कि पति को पत्नी की सुरक्षा करनी पड़ती थी और उसे प्रसन्न रखना होता था। जब सीता का अपहरण हुआ तो राम उसके वियोग में अत्यधिक दुःखी हुए। राम ने सुग्रीव की पत्नी की पुनः स्थापना हेतु कठिन परिश्रम किया। यद्यपि राम के अन्तःपुर में बहुत सी स्त्रियाँ थीं, किन्तु सीता के बिना उन्होंने प्रसन्नता का अनुभव नहीं किया। उसने रावण द्वारा प्रस्तावित समस्त भूमि और धन को नकार दिया। उन्होंने तभी प्रसन्नता का अनुभव किया, जब उन्हें उनकी पत्नी मिल गई। सीता की पुनः प्राप्ति हेतु झेली गई समस्त कठिनाईयों और दुःखों को

उन्होंने मन में नहीं रखा। राम की कहानी एक पति की पत्नी के प्रति विश्वासपूर्ण कर्तव्यपरायणता की कहानी है। सुग्रीव की पत्नी को जब कृत्रिम सुग्रीव ने छल से ग्रहण करना चाहा तो उसने राम की शरण ली और सीता की खोज में अनेक कठिनाईयों का सामना किया; क्योंकि वह तारा को प्रसन्न रखना चाहते थे। सुग्रीव ने रावण से टक्कर लेने का कठिन निर्णय लिया। पवनञ्जय को जब अपनी निष्कासित पत्नी का पता नहीं चला तो उसने आत्मघात का निश्चय किया। पुरोहित मधुपिंगल तथा वीरक जुलाहे को बहुत कष्ट हुआ, जबकि उनकी पत्नियों का अपहरण हुआ। उन्हें पुनः प्राप्त करने का उन्होंने उत्तम प्रयास किया।

पत्नी को प्रणयिनी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह पति से प्रेम करे और उसे प्रसन्न रखे। पति-पत्नी की प्रेम क्रीड़ा के अनेक संदर्भ प्राप्त होते हैं। जब पति बाहर होता था तो पत्नी उसकी प्रतीक्षा करती थी और वापिस आने पर उत्साह से हर्ष के क्षणों में उत्सव मनाती थी। पत्नी की जिज्ञासा तब और बढ़ जाती थी, जब उसका पति युद्ध के लिए जाता था। सैनिक का कर्तव्य घर-त्याग करना था। अतः उसकी पत्नी का कर्तव्य उसका उत्साहवर्धन करना था। क्षणिक रूप में उसे अलगाव महसूस होता था, किन्तु उसके सामने राष्ट्रीय कर्तव्य होता था। एक सैनिक की पत्नी उसे विदा देना गुणवत्ता और वीरता का कार्य मानती थी। वह पति को उत्साहित करती थी कि युद्धभूमि में भागने की अपेक्षा संग्राम में मर जाना अच्छा है। कठिनाई के समय पत्नी पति की मदद करती थी जब सिंहेंदु को जंगल में साँप ने काट लिया, तब उसकी पत्नी उसे अपनी पीठ पर ले गई और एक मुनि की मदद से उसकी चिकित्सा की। लक्ष्मण की आठ विद्याधर पत्नियों ने लक्ष्मण के भाग्य में सहभागी बनने हेतु अपने आपको युद्धक्षेत्र के लिए प्रस्तुत कर दिया। स्नेह का बन्धन यह माँग करता है कि पत्नी को पति के प्रति वफादार होना चाहिए। सीता रावण के द्वारा अपहृत होने पर भी उसके साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुई। वह राम के लिए मरने को तैयार थी। पति के विरह में उसने भोजन का परित्याग कर दिया। बहुत से राजकीय प्रलोभन उसे विचलित नहीं कर सके। अंजना को पवनञ्जय ने गलतफहमी के कारण विवाह के तत्काल बाद छोड़ दिया, किन्तु उसने अपने पति को कभी नहीं भुलाया। अन्ततः पवनञ्जय को अपनी भूल प्रतीत हुई और उसने अपनी पत्नी को स्वीकार कर लिया। तत्काल अञ्जना पर एक और दुर्भाग्य टूट पड़ा। उसे उसकी सास ने बाहर निकाल दिया, जबकि उसका पति बाहर था। उसे अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ा, किन्तु वह पतिभक्ता रही तथा वह दिन भी आया, जब वह अपने पति से पुनः मिल गई। पति ने उसके इस प्रेम की प्रशंसा की तथा उसे देवी तथा सुन्दरी कहा। वह महिलारत्न के रूप में जानी गई।

किसी की पत्नी को मारना बहुत बड़ा पाप माना जाता था। जब पति राजसिंहासन पर बैठता था तो पत्नी भी साथ में बैठती थी। धार्मिक मामलों में उसका समान रूप से सम्मान होता था। एक बड़े धार्मिक समारोह की व्यवस्था का सारा दायित्व रावण ने मंदोदरी को सौंपा था।

प्राचीन काल में अनेक पत्नियाँ रखने का रिवाज था। अतः स्वाभाविक है कि किसी के प्रति अधिक अनुराग हो। अतः पट्टरानी को विशेष अधिकार प्राप्त थे।

कभी-कभी रानियों में धार्मिक प्रतिद्वंद्विता भी हो जाती थी। काम्पिल्यपुर के राजा सिंहध्वज की वप्रा और लक्ष्मी नामक रानियाँ भिन्न-भिन्न धर्मों की थी। उनमें अपने-अपने रथ को पहले निकालने पर विरोध हो गया। इस कारण राजकुमार हरिषेण को कुछ समय के लिए अपना घर छोड़ना पड़ा। कनकोदरी अपनी सौत द्वारा जिनप्रतिमा की पूजा सहन नहीं कर सकी, अतः उसने उसे बाहर रखवा दिया।

परिवार में माँ का बड़ा सम्मान था। संतान का माँ के नाम पर नाम होना सिद्ध करता है कि माँ की स्थिति सम्मानप्रद थी। लक्ष्मण को सौमित्र तथा सीता को विदेहा या वैदेही कहा गया है। जब पुत्र किसी कार्य से गृहत्याग करते थे या प्रव्रज्या ग्रहण करते थे तो वे अपनी माँ की अनुमति लेते थे। जब वे लौटते थे, तब भी माँ के पास आते थे। सौतेली माँ भी उसी प्रकार सम्मान की अधिकारिणी थी। माता-पिता गुरु माने जाते थे। किसी की माँ को मारना बहुत बड़ा पाप माना जाता था। उस पुत्र को अयोग्य माना जाता था, जो अपनी सगी या सौतेली माँ को जरा भी कष्ट देता था। हरिषेण घर छोड़कर चला गया और योग्य स्थिति को प्राप्त करने के बाद वह घर वापिस लौटा और माँ की इच्छा पूरी की। राम का वनगमन उनकी सौतेली माँ कैकेयी की इच्छापूर्ति के लिए था। लवण तथा अंकुश राम के द्वारा अपनी माँ के निष्कासन के अपमान को सहन नहीं कर सके। उन्होंने तभी विश्राम लिया, जबकि राम से युद्ध हो गया और राम को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। यद्यपि उनके इस कार्य का माँ ने विरोध किया था। हनुमान ने महेन्द्र पर आक्रमण कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी माँ को अपने यहां शरण नहीं दी थी, जबकि उसकी सास ने गलतफहमी के कारण अञ्जना को निकाल दिया था।

नारी के चरित्र के साथ चपलता लगी हुई है। सीता यद्यपि निर्दोष थी, फिर भी कृतान्तवक्र द्वारा वन में छोड़ दिए जाने पर कहती हैं कि स्त्रियाँ चंचल होती हैं। इस कारण नारी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति की दासी बन जाती है। कैकेयी का भरत को राजसिंहासन दिलाने की माँग इसी प्रकार की है। उसे एक वरदान देने का वायदा किया गया था, जिसे दशरथ ने राम तथा लक्ष्मण की सहमति से पूरा किया। कैकेयी ने इसके परिणामों का विचार नहीं किया। भरत को वह अपने पास रखना चाहती थी, वर मांगकर वह इसमें सफल हुई। जब राम और लक्ष्मण वन को चले गए तो उनकी माताओं को अपार कष्ट हुआ। यहां तक कि कैकेयी को भी अपनी सौतों की यातना सहन नहीं हुई। अतः उसने राम तथा लक्ष्मण को वापिस चलने हेतु भरत को भेजा और स्वयं भी गई। किन्तु प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा थी, वचन, वचन थे। अतः राम कैकेयी के आग्रह पर भी नहीं लौटे। वहां कैकेयी ने अपने चपल मन और दूरदर्शिता की कमी के विषय में सोचा।

लालच का दोष भी नारियों में पाया जाता है। रत्नप्रभा ने धन के लालच में अपनी पुत्री को किसी अन्य व्यक्ति को सौंप दिया, यद्यपि उसके पति ने उसे धनदत्त को दे दिया था। अहिदेव और महिदेव की माँ अपने पुत्रों से जवाहरात की सुरक्षा के लिए उन्हें विष

देना चाहती थी। नारी के कामुक चरित्र के भी अनेक दोष पउमचरित में प्रकट किए गए हैं।

संपूर्ण रूप में देखा जाय तो नारी के अन्दर आत्मसम्मान की भावना रही है। यह परिस्थिति तथा सामाजिक स्थिति भी रही कि विवाहित स्त्रियाँ भी अपहृत हुईं और उन्हें अपहरणकर्ता की पत्नी बनना पड़ा। चन्द्राभा को मधु ने उसके पति से छलपूर्वक अलग कर दिया और बलात् उसे अपनी पत्नी बना लिया। किन्तु ऐसा ही एक अन्य मामला आने पर उसने मधु को फटकारा। सीता ने राम के अपकृत्य की भर्त्सना की और राम द्वारा क्षमायाचना करने पर भी उसने पुनः गृहस्थावस्था स्वीकार नहीं की और संन्यस्त जीवन को स्वीकार⁶⁰ किया। धार्मिक मामलों में गृहस्थ नारी और पुरुष को समान अधिकार और समान नियम थे।

संदर्भ:-

1. वैरिस्टर चम्पतराय जैन: जैन लॉ, प्रस्तावना पृ. 13-14
2. वही पृष्ठ 17
3. वही पृष्ठ 18
4. इन्द्रनन्दि संहिता पृ. 49-50
5. वही पृष्ठ-51
6. अर्हन्नीति-दायभाग 25
7. वही 26
8. वही 27
9. वही 32
10. पद्मचरित 3/152
11. वही 101/37
12. वही 73/51-52
13. वही 64/61
14. वही 15/24
15. वही 15/20, 24/5
16. वही 71/6, 3/102
17. वही 3/118-120
18. वादिराजसूरि : पार्श्वनाथचरित, षष्ठसर्ग
19. वही 4/126-139
20. महाकवि अर्हद्दास, पुरुदेवचम्पू 2/65
21. वही 6/45
22. आचार्य जिनसेन : आदिपुराण 38/60
23. वही 6/83
24. समराइच्चकहा 8 पृ. 744
25. वही 8 पृष्ठ 735-739
26. वही 2 पृ. 87-88, 8 पृ. 759
27. वही 8 पृ. 759

28. वही 3 पृ. 185, 7 पृ. 673, 613, 8पृ. 737-738
29. आदिपुराण 7/205, 15/73
30. आदिपुराण 15/74
31. भगवती सूत्र 9/33/384
32. Dr. J. C. Sikdar: Studies in Bhagwati Sutra P.189-191
33. पद्मचरित 3/51
34. पद्मचरित अष्टम पर्व में मन्दोदरी का दशानन के साथ विवाह।
35. वही 10/4-10
36. पद्मचरित 93वें पर्व में श्रीराम को मनोरमा कन्या की प्राप्ति का वर्णन।
37. वही 8/107, 8/101
38. वही 93/18
39. वही 6/19
40. उत्तराध्ययन सूत्र- सुखबोधन पत्र 141
41. वही पत्र 190
42. वही पत्र 142
43. मुनि नथमल : उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन पृष्ठ 428, पद्मचरित 9/108
44. वही 24/89
45. वही 24/90
46. वही 24/101
47. उत्तराध्ययन सूत्र, सुखबोधा टीका पत्र 148-150
48. पद्मचरित 28/171
49. वही 101/60
50. वही 6/49
51. वही 101/14,15
52. वही 101/16
53. आचार्य जिनसेन : हरिवंशपुराण 19/56
54. हरिवंशपुराण 19/122-123
55. वही 21/132-33
56. वही 9/24
57. वही 8/43
58. वही 19/56
59. वही 45/127-135
60. Dr. K. R. Chandra: A critical Study of Paumachariyam P. 350-364

-बिजनौर (उ.प्र.)

जैन प्रतिमा विज्ञान

-डॉ. अशोककुमार जैन

इस भरत क्षेत्र में पञ्चम काल में साक्षात् तीर्थंकर तथा अर्हंतों का अभाव पाया जाता है। ऐसी स्थिति में उन अरिहन्तों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित कर स्थापित की जाती हैं। टेलीविजन आदि विद्युतीय माध्यमों के युग में सहजतया इस विज्ञान को समझा जा सकता है। व्यक्ति के आंतरिक भाव उसकी मुखाकृति पर आ जाते हैं। उस अशांत एवं शांतमयी मुखाकृति को देखकर व्यक्ति के भीतर तदनुरूप शांत एवं अशांत भाव उदित होते हैं तथा वह व्यक्ति तत्काल उन भावों का अनुभव भी करता है। क्रोधी व्यक्ति को देखकर क्रोध के और वीतरागी एवं शांत भावयुक्त मुखाकृति को देखकर शांत एवं समता भाव उदित होते हैं। अतः अपने भीतर में शांत भाव को उदित करने के लिए अरहंत वीतरागियों की आकृति वाली प्रतिमायें निर्मित की जाती हैं।

जैनदर्शन में स्थापना का विशिष्ट स्थान है। किसी वस्तु में अपने इष्ट की परिकल्पना करना स्थापना कही जाती है। वह स्थापना दो प्रकार की होती है- अतदाकार और तदाकार। जो वस्तु परिकल्पना के अनुरूप आकार नहीं रखती और फिर भी उसका प्रतिनिधित्व करती है, वह अतदाकार स्थापना कही जाती है जैसे शतरंज की गोटियों में हाथी, घोड़े आदि की परिकल्पना, कागज के टुकड़े में धन की कल्पना, दो-तीन रंग के कपड़े के टुकड़ों के झण्डों में विशिष्ट समायोजन में देश के गौरव की कल्पना, पत्थर के टुकड़े में गाँधीजी के व्यक्तित्व की कल्पना। उक्त वस्तुयें अपने परिकल्पित इष्ट का प्रतिनिधित्व करती हैं। गांधी समाधि, देश के ध्वज का सम्मान और अपमान पूरे राष्ट्र के विशुद्ध व्यक्तित्व और गौरव का मान तथा अपमान है। दूसरी तदाकार स्थापना में वस्तु की आकृति स्थापित कल्पना के अनुरूप होती है, जैसे पिता के चित्र में पिता की स्थापना तथा शांत मुद्रांकित मूर्ति में अरिहंत की स्थापना। अतः मूर्ति विज्ञान अति प्राचीन तथा वैज्ञानिक है।

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार में लिखा है- जिनभवन, जिनबिम्ब, जिनशास्त्र और मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ इन सात क्षेत्रों में जो धन रूपी बीज बोया जाता है, वह अपना है ऐसी मैं अनुमोदना करता हूँ। जिनबिम्ब, जिनालय, जिनप्रतिष्ठा, दान, पूजा और सिद्धान्त लेखन ये सात धर्म क्षेत्र हैं। जो मनुष्य **बिम्बा पत्र** की ऊँचाई वाले जिनभवन को और जौ की ऊँचाई वाली जिनप्रतिमा को भक्ति से बनवाते हैं, उनके पुण्य को कहने के लिए सरस्वती भी समर्थ नहीं है फिर दोनों को कराने वाले मनुष्य के पुण्य का तो कहना ही क्या है?

वसुनन्दि श्रावकाचार में लिखा है-

मणि-कणय-रयण-रुप्पय- पित्तल- मुत्ताहलोवलाईहिं।

पडिमालक्खविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा॥३९०॥

मणि, स्वर्ण, रत्न, चांदी, पीतल, मुक्ताफल (मोती) और पाषाण आदि से प्रतिमा की लक्षणविधिपूर्वक अरहंत सिद्ध आदि की प्रतिमा बनवाना चाहिए। और भी लिखा है-

निर्माप्य जिनचैत्यतद्गृहमठस्वाध्यायशालादिकं।

श्रद्धा शक्त्यनुरूपमस्ति मदृतेधर्मानुबन्धाय यत्।

हिंसारम्भविवर्तिनां हि गृहिणां तत्तादृगालम्बन

प्रागल्भीलसदाभिमानकरसं स्यात्पुण्यचिन्मानसम् ॥ २/३५

जो बड़े भारी धर्मसाधन का हेतु है वह जिनबिंब, जिनमंदिर, मठ और स्वाध्यायशाला आदिक अपनी रुचि और आर्थिक शक्ति के अनुसार बनवाना चाहिए, क्योंकि हिंसायुक्त आरंभ में फंसे रहने वाले गृहस्थों का जिनप्रतिमादिक तथा जिनप्रतिमा के समान तीर्थ यात्रादिक सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के कारणों की प्रौढ़ता के द्वारा शोभायमान है स्वाभिमान से परिपूर्ण हर्ष जिसमें ऐसा मन पुण्य को बढ़ाने वाला होता है।

इसके भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है- जिनप्रतिमा, जिनमंदिर आदि धर्म के आयतन हैं। इनके निमित्त से नवीन धर्म की प्राप्ति, प्राप्त धर्म की रक्षा और रक्षित धर्म की वृद्धि होती है, तथा उसी से धर्म परंपरा चलती है। आरंभ में आसक्त गृहस्थों के मन में इन आयतनों के निर्माण के अवलम्बन से अपने जीवन में एक प्रकार का सत्कृत्य सम्बन्धी गौरव का अनुभव प्राप्त कराने वाला स्वाभिमान रस से युक्त परिणाम होता है और उस परिणाम से पुण्यबंध होता है इसलिए श्रावक को भक्ति और शक्ति के अनुसार जिनमंदिर बनवाना चाहिए।

उमास्वामि श्रावकाचार में चैत्यालय बनाने की विधि के सम्बन्ध में लिखा है- घर में प्रवेश करते हुए शल्य-रहित वाम भाग में डेढ़ हाथ ऊँची भूमि पर देवता का स्थान बनावें। यदि गृहस्थ नीची भूमि पर स्थित देवता का स्थान बनायेगा, तो वह अवश्य ही संतान के साथ निचली-निचली अवस्था को प्राप्त होता जायेगा। घर के चैत्यालय में ग्यारह अङ्गुल प्रमाण वाला जिनबिंब सर्व मनोवांछित अर्थ का साधक होता है, अतएव इस प्रमाण से अधिक ऊँचा जिनबिंब नहीं बनाना चाहिए। एक अङ्गुल प्रमाण जिनबिम्ब श्रेष्ठ होता है, दो अङ्गुल प्रमाण का जिनबिम्ब धन-नाशक होता है, तीन अङ्गुल के जिनबिम्ब बनवाने पर धन-धान्य एवं संतान आदि की वृद्धि होती है और आठ अङ्गुल के जिनबिम्ब होने पर धन धान्यादिक की हानि होती है। नौ अङ्गुल के जिनबिंब होने पर पुत्रों की वृद्धि होती है और दश अङ्गुल तक के जिनबिंब को घर में स्थापन करने का शुभाशुभ फल रहा है। अतएव गृहस्थ को घर में ग्यारह अङ्गुल प्रमाण वाला जिनबिंब पूजना चाहिए। इससे अधिक प्रमाण वाला जिनबिंब ऊँचे शिखर वाले जिनमंदिर में स्थापना करके पूजें। घर के चैत्यालय के लिए प्रतिमा काष्ठ, लेप (चित्राम) पाषाण, स्वर्ण और चांदी की बनवायें। ग्यारह अङ्गुल से अधिक प्रमाण वाली प्रतिमा को आठ प्रातिहार्य आदि परिवार से रहित नहीं पूजना चाहिए अर्थात् ग्यारह अङ्गुल से बड़ी प्रतिमा को आठ प्रातिहार्यादि परिवार से संयुक्त ही बनवाना चाहिए तथा आज के समय में काष्ठ, लेप और लोहे की प्रतिमा नहीं बनवाना चाहिए। क्योंकि इनकी बनवाई गई यथोक्त योग्य प्रतिमाओं के निर्माण का कोई

लाभ नहीं है और जीवों की उत्पत्ति अधिक होने से अनेक दोषों की संभावना है। अतः जिनमंदिर के ध्वजा से रहित होने पर पूजन-हवन और जप आदिक सर्व विलुप्त हो जाते हैं। जिनमंदिर पर ध्वजारोहण करना चाहिए जिस जिनबिम्ब को पूजते हुए एक सौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं और जिस जिनबिम्ब को उत्तम पुरुषों ने स्थापित किया है, वह जिनबिम्ब यदि अंगहीन है तो भी पूज्य है, उसका पूजन निष्फल नहीं है।

इस विषय में प्रतिष्ठा शास्त्रों में ऐसा कहा है- जो जिनबिम्ब शुभ लक्षणों से युक्त हो, शिल्पिशास्त्र में प्रतिपादित नाप-तौल वाला हो, अंग और उपांग से सहित हो और प्रतिष्ठित हो, वह यथायोग्य पूजनीय है किन्तु जो जिनबिम्ब नासा, मुख, नेत्र, हृदय और नाभिमण्डल इतने स्थानों पर यदि अंगहीन हो तो वह प्रतिमा नहीं पूजनी चाहिए। यदि कोई प्रतिमा प्राचीन हो और अतिशय संयुक्त हो, तो वह अंगहीन भी पूजनी चाहिए किन्तु शिर हीन प्रतिमा पूज्य नहीं है उसे नदी-समुद्रादिक में विसर्जित कर देना चाहिए।

प्रतिमा स्वरूप- जयसेन प्रतिष्ठा-पाठ में प्रतिमा के स्वरूप के संबन्ध में लिखा है-

संस्थान-सुन्दर मनोहर रूपमूर्ध्व प्रालंबितं ह्यवसनं कमलासनं च।

नान्यासनेन परिकल्प्यमीशबिम्बमर्हाविधौ प्रथितमार्थमतिप्रपन्नैः॥

वृद्धत्व-बाल्यरहितांगमुपेतशान्तिं श्रीवृक्षभूषिहृदयं नखकेशहीनं।

सद्धातुचित्रदृषदां समसूत्रभागं वैराग्यभूषितगुणं तपसिप्रशक्तम्॥

सांगोपांग, सुन्दर, मनोहर, कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन, दिगम्बर, युवावस्था, शान्तिभावयुक्त, हृदय पर श्रीवृक्ष चिह्न सहित, नख केशहीन, पाषाण या अन्य धातु द्वारा रचित, समचतुरस्रसंस्थान एवं वैराग्यमय प्रतिमा पूज्य होती है। उक्त लक्षणों में अर्हन्त प्रतिमा के अष्ट प्रातिहार्य और तीर्थंकर का चिह्न होना चाहिए। सिद्धप्रतिमा प्रतिष्ठित कराना हो तो अर्हन्त प्रतिमा के समान ही सांगोपांग होना चाहिए। केवल प्रातिहार्य और चिह्न न होकर उसके नीचे सिद्ध प्रतिमा खुदवा देना चाहिए। यथा-

सिद्धेश्वराणां प्रतिमापि योज्या।

सत्प्रातिहार्यादि विना तथैव॥

प्रतिमा नासाग्रदृष्टि और क्रूरतादि 12 दोषों (रौद्र, कृशाङ्ग, संक्षिप्तांग, चिपिट नासा, विरूपक नेत्रहीन मुख, महोदर, महाहृदय, महाअंश, मापकटी, हीन जंघा, शुष्क जंघा) से रहित होनी चाहिए।

पद्मासन प्रतिमा- इसका माप 5 अंगुल होता है। बैठी प्रतिमा के दोनों के घुटने का सूत्र का मान, दाहिने घुटने से बायें कंधे तक और बायें घुटने के दाहिने कंधे तक दोनों तिरछे सूत्रों का मान तथा सीधे में नीचे में ऊपर के शान्त भाग तक लम्बे सूत्र का मान ये चारों भाग समान होना चाहिए। $13''+13''+13''+13''=52$

दोनों हाथ की अंगुली के और पेट का अन्तर 4 भाग रखें। कोहनी के पास 2 भाग का उदर से अन्तर और पोंची से कोहनी तक शोभानुसार हानिरूप रखें। नाभि से लिंग 8 भाग नीचा, 5 भाग लंबा बनाये तथा लिंग के मुख के नीचे से अभिषेक के जल का निकास दोनों पैरों के नीचे से चरण चौकी के ऊपर करें।

प्रतिमा बनाने के जो-जो लक्षण शिल्पशास्त्रों में वर्णन किये गये हैं उनसे युक्त अंग, उपांग सहित तथा शास्त्रानुसार प्रतिष्ठित किये हुए जो जिनबिम्ब (जिनप्रतिमा) हैं वे पूजन योग्य हैं। यदि कोई जिनबिम्ब खण्डित अर्थात् किसी अंग से रहित हो जाये परन्तु यदि वह अत्यन्त जीर्ण (प्राचीन) है अथवा किसी प्रकार के अतिशय से युक्त है तो वह पूजनीय है परन्तु जो प्रतिमा मस्तक रहित है और वह प्राचीन तथा अतिशय युक्त भी है तो पूजनीय नहीं है। ऐसी प्रतिमाओं को मन्दिरादि में न रखकर नदी, समुद्रादि जहाँ कहीं बहुत गहरा जल हो वहाँ निक्षेपित (प्रवाहित) कर देना चाहिए।

प्रतिमादर्शन पुण्य प्राप्ति में कारण-

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में लिखा है कि कोई यह कहे कि अरे! ये प्रतिमा तो अचेतन (जड़) है क्या इनके पूजन से जीवों को पुण्य का बन्ध होगा? तो उन लोगों को समझाना चाहिए कि शान्त (वीतरागस्वरूप) निश्चल विराजमान तथा मोक्ष के स्वरूप को बताने वाली जिनप्रतिमा को देखकर जीवों का जो शांत परिणाम होता है वह परिणाम पुण्य के लिए कारण होता है। पूर्वकाल में जितने भव्यात्मा सिद्ध हुए हैं और आगे सिद्ध होंगे तथा वर्तमान में होने वाले हैं वे सब इसी स्थिति से हुए हैं, होंगे तथा होने वाले हैं ऐसा जो आत्मा का परिणाम होता है वही पुण्य का उत्पादक होता है। इस अपार संसार में इन प्रतिमाओं के समान परिग्रह छोड़कर किस समय शान्त स्वभाव वाला, स्थिरासन तथा मोक्ष हो जाने योग्य मैं होऊँगा यह जो आत्मा में संकल्प होना है वही पुण्य प्राप्ति का कारण है। इन कारणों से प्रतिमा का पूजना पुण्य का हेतु है इसलिए श्रावक लोगों को भक्तिपूर्वक अकृत्रिम (अनादिकाल से चली आई) तथा कृत्रिम (शास्त्रानुसार शिल्पिकारों से निर्माण कराकर प्रतिष्ठा की हुई) प्रतिमायें निरंतर पूजनी चाहिए क्योंकि इन प्रतिमाओं में साक्षाज्जिन भगवान् के गुणों का संकल्प (निक्षेप) होता है। इसलिए जिसने जिनप्रतिमाओं की पूजा की है समझना चाहिए कि उसने साक्षाज्जिन भगवान् की पूजा की है।

‘प्रश्नोत्तर श्रावकाचार’ में लिखा है कि श्री जिनेन्द्रदेव का भक्त जो भव्यपुरुष जिनबिम्बों का निर्माण करता है वह नित्यपूजा आदि के संबन्ध में अपरिमित पुण्य को प्राप्त करता है, उसके पुण्य को कोई जान भी नहीं सकता। जो पुरुष महापुण्य को देने वाली भगवान् की पूजा प्रतिदिन करता है, उसके लिए इन्द्रपद अथवा चक्रवर्ती का पद कुछ कठिन नहीं है। विद्वान् लोग जब तक उस प्रतिमा की पूजा करते रहते हैं तब तक उसके निर्माण करने वाले कर्त्ता को पुण्य की प्राप्ति होती रहती है। और भी लिखा है-

यस्य गेहे जिनेन्द्रस्य बिम्बं न स्याच्छुभप्रदम्।

पक्षिगृहसमं तस्य गेहं स्यादतिपापदम्॥ १८५

जिसके घर में पुण्य उपार्जन करने वाली भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा नहीं है उसका घर पक्षियों के घोंसले के समान है और वह अत्यन्त पाप उत्पन्न करने वाला है।

वे लोग तीनों लोकों में धन्य हैं जो केवल धर्म पालन करने के लिए भगवान् की पूजा करते हैं, उनकी स्तुति करते हैं और जिनभवन अथवा जिनबिम्बों का निर्माण कराते हैं।

जो भव्यपुरुष चौबीस तीर्थंकरों की उत्तम प्रतिमाओं का निर्माण कराता है वह स्वर्ग

के राज्य को एवं मनुष्य लोक के राज्य को पाकर अन्त में मोक्ष का साम्राज्य प्राप्त कर लेता है।

जो भव्यपुरुष स्वर्ण की, चांदी की, रत्नों की अथवा पाषाणादि की उत्तम जिन प्रतिमा बनवाता है उसके धर्म और सुख देने वाली लक्ष्मी प्राप्त होती है।

गृहस्थों का बिम्ब प्रतिष्ठा के समान और कोई धर्म नहीं है क्योंकि बिम्ब प्रतिष्ठा में अनेक जीवों का उपकार होता है और धर्म रूपी महासागर की वृद्धि होती है। जो भव्य जीव बिम्ब प्रतिष्ठा कराता है वह श्रेष्ठ धर्म की वृद्धि का कारण होता है इसलिए वह इन्द्र और चक्रवर्ती के सुख भोगकर अन्त में मोक्षरूप महावृद्धि को प्राप्त करता है। जो बुद्धिमान श्री जिनेन्द्रदेव की उत्तम प्रतिष्ठा करते हैं वे तीर्थंकर का परम पद पाकर मुक्तिरूपी ललना का सेवन करते हैं। प्रतिष्ठा में जितनी प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा होती है और उनकी जबतक नित्यपूजा आदि होती रहती है तब तक उनके कर्त्ताओं को धर्म की प्राप्ति रहती है। जो भव्य जीव प्रतिष्ठा कराते हैं वे देव, विद्याधर सबके द्वारा पूज्य होते हैं, स्तुति और वंदना के योग्य होते हैं और इस लोक तथा परलोक दोनों लोकों में महासागर के समान महा सुख को प्राप्त होते हैं। बहुत कहने से क्या मनुष्य प्रतिष्ठा कराता है, संसार में उसी का जन्म सफल है क्योंकि प्रतिष्ठा धर्म, अर्थ और सुख देने वाली है।

आचार्य वसुनन्दि लिखते हैं-

जिणपडिमइं कारावियइं संसारहं उत्तारु।

गमणट्ठयहं तरंडउ वि अह व ण पावइं पारु॥ 11/112

भवणइं कारावियइं लब्भइं सग्गि विमाणु।

अह टिक्कइं आराहणइं होइ समीहिइं ठाणु॥ 11/113

जिनप्रतिमा प्रतिष्ठित कराने से जीव संसार के पार उतरता है अथवा गमन में उद्यत पुरुषों को जहाज क्या पार नहीं पहुंचाता है? पहुंचाता ही है। जिनभवन को बनवाने से मनुष्यों को स्वर्ग में विमान प्राप्त होता है तथा जिनभवन की टोंक (छाप) और आराम (पलस्तर) करने से समीहित स्थान की प्राप्ति होती है।

मूर्ति-मूर्तिमान का दिशा संकेत करती है। मूर्ति किसी व्यक्ति की रुचि का मापदण्ड है जैसी रुचि, संस्कार और लक्ष्य होता है, वह उसके अनुरूप देवालय में (मंदिर) मूर्ति किसी के दर्शनार्थ जाता है और वहां उस मूर्ति में मूर्तिमान की भावना करके उसकी स्तुति और पूजा करता है। स्तुति, पूजा द्वारा मन्दिर के परमात्मा को जागृत या प्रसन्न नहीं करते हैं वरन् अपने परमात्मा को जागृत और प्रसन्न करते हैं जो अंतर में विद्यमान हैं। वस्तुतः मूर्ति के माध्यम से अपने परमात्मा की ही स्तुति पूजा की जाती है। मेरा परमात्मा मैं ही हूँ। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है-

यः परमात्मा स एवाऽहं, योऽहं सः परमस्ततः।

अहमेव मयोपास्यः नान्यः कश्चिदिति स्थितिः॥

जो परमात्मा है वह मैं ही हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है। मैं अपने द्वारा ही उपास्य हूँ अर्थात् मुझे अपने आप अपनी उपासना करनी है। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं

है।

मूर्तिपूजा गुणों की पूजा है, मूर्ति के माध्यम से पूजित परमात्मा के गुणों का स्मरण व्यक्ति को गुणों की निर्मलता प्रदान करता है। निर्मलता से परिणाम-विशुद्धि होती है और परिणाम विशुद्धि ही चारित्र मार्ग की जननी है। चारित्र से मोक्ष सिद्धि होती है। वस्तुतः मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान के गुणों की पूजा जैन मूर्तिपूजा का उद्देश्य है, न तो यह जड़ पाषाण की पूजा है और न इससे लौकिक कामना की जाती है। बल्कि यह मूर्ति के माध्यम से भक्त को भावना में परमात्मा को विराजमान करने पर बल देता है। भावना में परमात्मा हो तो समस्त कामनायें निःशेष हो जाती हैं। संसार में मूर्तिपूजा का यह आदर्श जैनधर्म के अतिरिक्त किसी ने उपस्थित नहीं किया। प्रतिदिन हम पढ़ते हैं-

पश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।

ते दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥

जो जिनेन्द्रदेव का भक्तिपूर्वक दर्शन-पूजा एवं स्तवन आदि करते हैं वे तीनों लोकों में दर्शनीय, पूजनीय एवं स्तुत्य हो जाते हैं।

- जैन बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृतविद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.)

जिनवचनों की महिमा

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।

जर-मरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥ दंसण पाहुड

अर्थात् यह जिनवचन रूपी औषधि विषयसुख को दूर करने वाली है, अमृत रूप है, जरा और मरण की व्याधि को हरने वाली है तथा सब दुखों का क्षय करने वाली है। सर्वज्ञ वीतराग की वाणी को आचार्य ने औषधि की उपमा दी है। जिस प्रकार उत्तम औषधि शरीर के भीतर विद्यमान मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है तथा मनुष्य के असामयिक मरण को दूर करती है उसी प्रकार जिनवाणी रूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पंचेन्द्रियों के विषयसुख का विरेचन करने वाली है, अमृतरूप है। बुढ़ापा और मरण रूपी रोग को हरने वाली है एवं शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःखों का क्षय करने वाली है।

हाड़ौती की जैन मूर्तिकला परंपरा

-ललित शर्मा

मध्ययुग में हाड़ा राजपूत शासकों के प्राधान्य के कारण राजस्थान का दक्षिणी पूर्वी भू-भाग हाड़ौती कहलाता था, यद्यपि वर्तमान में इस क्षेत्र को प्रशासनिक दृष्टि से हाड़ौती संभाग कहा जाता है और इसमें बूंदी, बारां, कोटा, झालावाड़ जिले आते हैं। यह भू-भाग पूर्व मध्ययुग से ही जैनधर्म एवं संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। इस अवधि में यहाँ निरंतर अनेक तीर्थकरों की सुन्दर मूर्तियों से युक्त मन्दिरों का निर्माण होता रहा, परन्तु इनका शोध की दृष्टि से आजतक विवेचन नहीं हो पाया। यद्यपि इस भू-भाग में आज भी अनेक जैन मंदिर कलात्मक दृष्टि से न केवल सुन्दर हैं अपितु उनमें स्थापित तीर्थकर मूर्तियाँ हमारे देश की अमूल्य सांस्कृतिक एवं कलात्मक धरोहर हैं। ज्ञातव्य है कि विगत दो दशकों में इस भू-भाग में खोज एवं उत्खनन के दौरान अनेक दुर्लभ जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं जो आज भी कोटा एवं झालावाड़ के शासकीय पुरातत्त्व संग्रहालयों में दर्शित हैं। इन सभी के अध्ययन से इस क्षेत्र में जैनधर्म की प्राचीनता एवं प्रभाव प्रमाणित होता है।

कोटा क्षेत्र में कोटा, अटूर, शेरगढ़, रामगढ़, बारां, बूंदी, नैनवा, केशवरायपाटन सहित झालावाड़ जिले क्षेत्र के पचपहाड़, रंगपाटन, झालरापाटन, गागरोन, अकलेरा, चाँदखेड़ी, नागेश्वर पार्श्वनाथ आदि इस संभाग के ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ से जैनधर्म की अमूल्य पुरा-सामग्री मिली है, परन्तु इनका परिचयात्मक कला सर्वेक्षण न होने से यह विपुल धरोहर भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में आज भी अज्ञात और अप्रकाशित है।

क्षेत्र में जैनधर्म का उक्त दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ 8वीं सदी से 17वीं सदी के मध्य जैन संस्कृति खूब पुष्पित एवं पल्लवित हुई। इसमें 11वीं से 13वीं सदी के मध्य का युग तो जैनमूर्ति एवं स्थापत्यकला की दृष्टि से स्वर्णिम काल समझा जाता है। इन कालों में एवं इसके बाद के कालों में देश के विभिन्न भागों के जैन आचार्यों, श्रावकों-श्राविकाओं एवं श्रेष्ठी वर्गों ने इस क्षेत्र की जैन संस्कृति, कला को विकसित कर प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा तत्कालीन शासकों की उदार प्रवृत्ति के कारण भी यहाँ जैनधर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। इन शासकों ने जैन धर्म को विकसित करने में सदैव धार्मिक सहिष्णुता तथा सहृदयता का परिचय दिया। जैन मंदिरों की निरन्तर प्रगति में जैन मुनियों का भी पर्याप्त योगदान रहा, जिन्होंने इस क्षेत्र के विभिन्न भागों के जैन मन्दिरों में तीर्थकरों और जैनमतीय यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ स्थापित करवाई।

उक्त युग की अनेक कलात्मक जैन मूर्तियाँ राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय कोटा में संरक्षित हैं। यह मूर्तियाँ इस साक्ष्य की प्रबल प्रमाण हैं कि यहाँ जैनधर्म का प्रभाव काफी विकसित था। इन मूर्तियों के अध्ययन करने पर इनमें सबसे बड़ी विशिष्टता यह दिखाई

देती है कि इनमें जैनदर्शन के सौन्दर्यभाव तथा अभिव्यक्ति सहित भद्रता, सरलता और आध्यात्मिकता का अद्भुत दर्शन देखने को मिलता है। कोटा के उक्त संग्रहालय में संग्रहित ये जैन मूर्तियाँ बारां, काकूनी, रामगढ़, अटरु, विलासगढ़ तथा चेचट स्थानों से प्राप्त हुई हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः ध्यानावस्था एवं कार्योत्सर्ग मुद्रा में प्रशांतमुख एवं आजानबाहु रूप में उत्कीर्ण हैं। इनका कलात्मक विवरण निम्नानुसार है-

बूंदी जिले की केशवरायपाटन नगरी के एक टीले पर प्राचीन जैन मंदिर है। इसमें जैन तीर्थंकरों की विभिन्न युगों की कई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित एवं सुपूज्य हैं। इन मूर्तियों में सबसे प्राचीन तीर्थंकर की एक मूर्ति 8 इंच ऊँची है जो श्यामवर्णीय है। इस मूर्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके पादपीठ पर इसकी निर्माण तिथि ज्येष्ठ वदी 3 संवत् 664 (सन् 607 ई०) अंकित है। इस आधार पर इस तीर्थंकर जैन मूर्ति को राजस्थान प्रदेश की प्राचीनतम मूर्तियों एवं अभिलेखी साक्ष्य के रूप में प्राचीन माना जा सकता है। यहाँ की अन्य जैन तीर्थंकर मूर्तियों पर विक्रम संवत् 1321 से वि०सं० 2032 तक के लेख अंकित हैं जिनसे स्पष्ट रूप से यह पता चलता है कि ईसा की 7वीं सदी से लेकर वर्तमान सदी तक इस भू-भाग में अनवरत रूप से जैनधर्म ने सांस्कृतिक, धार्मिक रूप में प्रगति की है।

राजस्थान के ख्याति प्राप्त पुरातत्त्ववेत्ता श्री सत्य प्रकाश श्रीवास्तव (सम्प्रति: वरिष्ठ अधीक्षक-कला सर्वेक्षण-निदेशालय पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, राजस्थान सरकार, जयपुर) की शोध के आधार पर ज्ञात होता है कि कोटा के राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय के संख्यांक 103 पर दर्ज 52''x31'' माप की बारां से अवाप्त रक्त पाषाण पर उत्कीर्ण एक छत्रयुक्त तीर्थंकर महावीर स्वामी की 9वीं सदी की मूर्ति पद्मासनावस्था एवं बद्धपद्मांजली मुद्रा में प्रदर्शित है। इस मूर्ति के परिकर में बायें-दायें मालाधारी गंधर्वों सहित चंवरधारी सेवकों, यक्ष-यक्षिणियों तथा आसनस्थ श्रावक-श्राविकाओं का चित्ताकर्षण अंकन कला की दृष्टि से उपयोगी है। मुख्यतः इस मूर्ति से ज्ञात होता है कि यह क्षेत्र 9वीं सदी से ही जैनधर्म के केन्द्र के रूप में उभरकर श्रमण संस्कृति का केन्द्र बन गया था।

श्रीवास्तव के अनुसार इस क्षेत्र के जैनाचार्य पद्मनन्दी ने उक्त काल में 'जम्बूदीप पण्णत्ति' नामक जैन ग्रन्थ का कुशल संपादन कर इस क्षेत्र को गौरवान्वित किया था। इसी परम्परा में मूलसंघ के 23वें भट्टारक माघचन्द्र द्वितीय ने संवत् 1083 में अपनी पीठ अवन्तिका (उज्जैन) से बारां में स्थानांतरित कर स्थापित की थी। इस आशय का भी प्रमाण मिलता है कि बारां भू-भाग को लगभग 10 महान् भट्टारकों के इस गद्दी पर विराजने का गर्व प्राप्त है।

संग्रहालय के संख्यांक 469 पर बारां क्षेत्र के विलासगढ़ से प्राप्त 47''x9'' माप की 9वीं-10वीं सदी का प्रतिनिधित्व करने वाली रक्त पाषाण में उत्कीर्ण एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति आजानबाहु एवं कार्योत्सर्ग मुद्रा की अवस्था में है। इसके छत्र पर गज युगल को घटाभिषेक करते हुए दर्शाया है। मूर्ति परिकर में मालाधारी गंधर्व तथा पैरों के निकट चंवरधारी सेवकों का अंकन चित्ताकर्षक है। मूर्ति के नीचे की एक रथिका में अर्द्धसुखासन पीठिका पर स्थापित यक्ष की मूर्ति के एक हाथ में बिजौरा तथा दूसरा हाथ अभयमुद्रा

में है। यक्ष की यह लघुमूर्ति आकर्षक केश विन्यास तथा अनेक आभूषणों से युक्त है। विलासगढ़ देखने पर ज्ञात होता है कि यहाँ कई प्राचीन जैन मंदिरों के अवशेष हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यहाँ जैनधर्म लोकप्रियता के रूप में प्रसारित था। 1218 ई० में रचित 'जिनदत्त चरित्र' की प्रशस्ति में ऐसा भी उल्लेख प्राप्त होता है कि लक्ष्मण नामक एक व्यक्ति त्रिभुवन गिरी (तहनगढ़) का वासी था, वह मुस्लिम आक्रमणों के भय से उस स्थान को छोड़कर विलासगढ़ आ गया था। यहाँ जिस श्रीधर श्रावक ने उसे आश्रय दिया उसी की प्रेरणा से उसने 'जिनदत्त चरित्र' ग्रंथ की रचना उक्त सन् में की।

संग्रहालय में प्रदर्शित काकूनी से अवाप्त जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ स्वामी (ऋषभदेव) की 133x68 सेमी. माप की रक्त पाषाण से निर्मित एक भव्य स्थानक मूर्ति है। इस मूर्ति के परिकर में चार अन्य तीर्थंकरों की पद्मासन एवं बद्धपद्मांजलि मुद्रा में अंकन है। जबकि दोनों ओर एक-एक त्रिभंग मुद्रा में पद्महस्ता नारी का अंकन है। इन नारियों के आकर्षक केशों का विन्यास एवं शरीर पर धारित आभूषण जैन मूर्ति कला के सर्वोच्च कलात्मक भावों के प्रमाण माने जा सकते हैं। इन नारियों ने अपना एक-एक हाथ उरु भाग पर रखा हुआ है। इनके नीचे बायीं ओर अर्द्धसुखासन में चतुर्भुज गौमुखी यक्ष तथा दाईं ओर चक्रेश्वरी शासन देवी के तीन हाथों में से एक चक्र और एक में बिजोरे फल का स्पष्ट अंकन दृष्टव्य है। इसकी पीठिका पर चिह्न रूप में वृषभ की उपलब्धता महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है। जैन मूर्तिकला सम्बन्धी प्रतीकों के कोण से इन तीर्थंकर की अन्यान्य पहचान के चिह्नों में इनके केश कन्धों तक आते हुए उक्रे गए हैं। कुछेक मूर्ति विशेषज्ञों का ऐसा भी कथन है कि तपश्चर्या के पश्चात् इन्द्र ने उन्हें सभी केशों का लुंघन नहीं करने दिया था। इस कारण इन्हें पातरशना मुनि और तथाकेशी भी कहा गया। तीर्थंकरों में प्रथम होने के कारण ये आदिनाथ भी कहे जाते हैं। यह मूर्ति संग्रहालय के संख्यांक 622 पर प्रदर्शित है।

संग्रहालय में इसी क्रम की एक अन्य ऋषभनाथ की मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रदर्शित है जो तीन लटकती केश वल्लरियों से सुशोभित है। इसकी पीठिका पर दो वृषभों का अंकन है। यह मूर्ति भी काकूनी से प्राप्त हुई है जो 12वीं सदी की है। 182x80 सेमी. माप वाली इस भव्य मूर्ति में मूलनायक सहित 108 लघु जिन आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। जो पद्मासन तथा बद्धपद्मांजलि मुद्रा में हैं। मूर्ति के शीर्ष भाग पर मृदंग वादक के दोनों ओर गजों की अलंकृत आकृतियाँ हैं। उनके ठीक नीचे उड़ीयमान मालाधारी का अंकन है। नीचे की ओर दक्षिण और वाम पार्श्व में चंवरधारी आकृतियाँ स्थानकावस्था में उत्कीर्ण हैं। मूर्ति की पीठिका के दक्षिण भाग में यक्ष सर्वानुभूति एवं वामाध में यक्षी अम्बिका का तक्षण है। यह मूर्ति संग्रहालय के संख्यांक 624 पर प्रदर्शित है।

संग्रहालय में सुरक्षित एवं संख्यांक 620 पर प्रदर्शित एक जैनमूर्ति तीर्थंकर स्वामी अजितनाथ की है। काकूनी से अवाप्त रक्त पाषाण निर्मित यह मूर्ति 136x68 सेमी. माप वाली है। 12वीं सदी की इस सुंदर मूर्ति में तीर्थंकर अजितनाथ को एक चैत्यवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में दर्शाया गया है, जो बड़ी भावपूर्ण तपसाधना का अनुपमेय अंकन है। मूर्ति

की पीठिका पर धर्मचक्र के नीचे गज का अंकन है। यद्यपि मूर्ति के दोनों हाथ और स्कन्धों के भाग भग्न हैं, परन्तु इसके बाद भी इसका कलात्मक निर्माण भाव कम नहीं आंका जा सकता है। मूर्ति के ऊर्ध्व परिकर भाग की प्रथम पंक्ति के अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इसके मुख्य ताक में मूलनायक के लांछन चिह्न गज का अंकन है तथा इस चिह्न के दोनों ओर एक-एक जिनमूर्ति ध्यानावस्था में उत्कीर्ण है। इनके दोनों ओर उड़ीयमान मालाधार की मूर्तियाँ उकरी हुई हैं।

परिकर भाग की द्वितीय पंक्ति का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसके मध्य में मृदंग वादक तथा उसके दायें-बायें गजों का अंकन है। इन गजों के भी दायें-बायें छोरों पर एक ओर झल्लरी वादक तथा दूसरी ओर शंखनाद करते एक पुरुषाकृति दिखाई देती है। मूलनायक के शीर्षभाग के दोनों छोरों पर अप्रतियक्रा तथा कमलहस्ता महाविद्या देवियों का अंकन है। इनके दायें-बायें दो कार्यात्सर्ग मुद्रा की जिनमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। तीर्थकर अजितनाथ की पीठिका पर चामरधारी के नीचे द्विहस्ता यक्ष-यक्षी की मूर्तियाँ भी दिखाई देती हैं।

संग्रहालय के संख्यांक 5 पर प्रदर्शित अटल से प्राप्त तीर्थकर पार्श्वनाथ की मूर्ति 130x77 सेमी. माप की है जो अति भव्य है। 10वीं सदी की इस मूर्ति में मूलनायक कार्यात्सर्ग मुद्रा में हैं तथा इसमें सर्प की कुण्डलियों को चरणों तक उकेरा गया है। शीश पर सप्त सर्पफणों की छत्र छाया है। छत्र के ऊपरी परिकर भाग में भग्न मृदंग वादक एवं उसके दोनों ओर गजरोही का अंकन है। इसके आसपास मालाधार हैं। मूलनायक के सप्तसर्प फणरूपी छत्रवली के दायीं तथा बायीं ओर ताक बने हुए हैं जिनमें ध्यानावस्था की मूर्तियाँ हैं। जबकि आसन के निकट भग्न चंवरधारी एवं सप्तसर्पफणों से युक्त स्त्री-पुरुष का अंकन है।

इसी क्रम में उक्त स्थल से एक अन्य तीर्थकर पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रदर्शित है। 50x85 सेमी. माप की यह मूर्ति ध्यानावस्था में है। इसके शीष पर छत्ररूपी सप्तसर्प फणावलियाँ हैं। परिकर में भी ऊपर की ओर छत्र तथा उसके दोनों ओर गजों का अंकन है। मूलनायक की पीठिका पर इसके निर्माण का संवत् 1188 पठन में आता है। इसके दोनों ओर चंवरधारी पुरुषाकृतियाँ हैं, साथ ही एक-एक ध्यानस्थ जिन मूर्तियों का अंकन है। पीठिका के मध्य में सरस्वती समान कोई देवी (संभवतः शांतिदेवी) तथा दायीं ओर गज व बायीं ओर सिंह का अंकन है। पीठिका पर 4 पंक्तियों का निम्न प्रकार से एक लेख पठन में आता है :-

“रीनवझदेवनाऊसट त॥ ८८

आषाढवदि ॥ का

अडालान पेरवग्रतिन सा

लमनदयारनेःपल्यश्र ॥”

तीर्थकर पार्श्वनाथ की बारां जिले के रामगढ़ स्थल से अवाप्त एक 9वीं सदी की 21x16 सेमी. नाप की रक्त पाषाण निर्मित मूर्ति आजानबाहु (जिस व्यक्ति, महापुरुष के

दोनों हाथ घुटनों तक लम्बवत् हों) रूप में प्रदर्शित है। मूलनायक के दोनों ओर दो चंवरधारी सेवक स्थानक मुद्रा में हैं जबकि पाद पीठिका पर सिंहाकृतियों सहित सुदर्शन चक्र का अंकन है। ज्ञातव्य है कि रामगढ़ नामक यह स्थल जैनधर्म के भेदवंशीय शासकों के काल में खूब फला-फूला। यहाँ 11वीं से 13वीं शती ई० की जैन तीर्थंकर मूर्तियाँ बहुतायत में मिली हैं जो इस भू-भाग में प्राचीन जैन मन्दिरों के विशाल अस्तित्व एवं उनके विकसित प्रभाव की स्पष्टतः सूचक मानी जा सकती हैं। इसी क्रम में अटारु से प्राप्त 9वीं सदी की उक्त संग्रहालय में प्रदर्शित 5231 सेमी. नाप की एक और मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथ की उल्लेखनीय है। इसमें मूल नायक के छत्र रूप में परम्परागत सर्प फणावलियाँ हैं जबकि मूलनायक स्थानक अवस्था में है। कुंचित केश एवं श्रीवत्स के चिह्न से युक्त इस मूर्ति के दोनों ओर छत्र के निकट गवाक्ष में अन्य तीर्थंकरों का अंकन है जिनकी मुद्रा पद्मावस्था एवं बद्धपद्मांजलि में है। इस मूर्ति के परिकर में चंवरधारी सेवक, मालाधारी गन्धर्व, गज शार्दूल सहित त्रिभंग मुद्रा में पद्महस्ता नर-नारियों का आकर्षक अंकन है। नीचे दायीं ओर अर्द्धसुखासन में बिजोरा फल लिए यक्ष तथा बायीं ओर अपनी गोद में एक शिशु को लिए मातृका शिशुमति यक्षणी का अनुपम दृष्टव्य है। ये सभी माननीय रूपों की मूर्तियाँ आकर्षक केशविन्यास तथा विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित हैं।

बारां जिले का पुरास्थल शेरगढ़ प्राचीन काल में कोषवर्धन नाम से इतिहास में विख्यात रहा है। यहाँ के साक्ष्यों से यह प्रमाणित होता है कि यहाँ प्राचीन काल से जैनधर्म का जो प्रभाव रहा वह आज भी जीवन्त है। कोटा के संग्रहालय में यहाँ के 1105 ई० के एक संरक्षित अभिलेख का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तीर्थंकर नेमिनाथ का महोत्सव यहाँ नये चैत्य में मनाया गया था। इस समारोह का संचालन वीरसेन ने किया था। यहाँ के एक अन्य 1191 के शिलालेख में यह भी उल्लेख है कि खण्डेलवाल श्रेष्ठि शांति के पुत्रों द्वारा रत्नत्रय (तीर्थंकर शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरनाथ) की मूर्तियों का निर्माण किया गया तथा अपने पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों एवं कोषवर्धन (वर्तमान शेरगढ़) के गोष्ठियों के संघ में इनके प्रतिष्ठा समारोह का आयोजन किया गया। इसी क्रम में एक अन्य प्रभावोत्पादक मूर्ति सर्वतोभद्र की है। कुंचित केश युक्त यह मूर्ति 11x38 सेमी. माप की तथा 9वीं सदी की है। रक्त पाषाण पर निर्मित इस मूर्ति में जैन तीर्थंकर चारों दिशाओं में देखते हुए अत्यन्त सुरम्य मुद्रा में खड़े हैं। तीर्थंकरों की लम्बवत् लटकती कानों की लोबें, घुटने के नीचे जाती भुजाएँ (जिनकी उंगलियाँ विशेष मुद्रा में हैं) मूर्तिकला की महानता की द्योतक मानी जा सकती हैं। प्रतीत होता है जैनधर्म के समवसरण भावों को ध्यान में रखकर यह मूर्ति निर्मित की गई होगी। सर्वतोभद्र की ऐसी मूर्तियों का अंकन 7वीं-8वीं सदी से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। जैनधर्म में इस मूर्ति को सभी ओर से मंगलकारी माना जाता है।

संग्रहालय के संख्यांक 625 पर प्रदर्शित काकूनी से अवाप्त 12वीं सदी की 122x80 सेमी. माप की रक्त पाषाण मूर्ति तीर्थंकर शांतिनाथ की है जो कार्योत्सर्ग मुद्रा में स्थानकावस्था में है। मूर्ति के परिकर भाग में आसनस्थ उपासक, गज शार्दूल सहित

श्रावक-श्राविकाएँ तथा चंवरधारी सुंदरियों का अंकन है। मूर्ति की पीठिका पर उत्कीर्ण लघु मूर्तियों में हाथ जोड़े श्रावक, अर्द्धसुखासन में चतुर्भुजी यक्ष-यक्षिणी तथा मध्य की रथिका में हिरण युगल का आकर्षक प्रेमालाप युक्त अंकन है। ज्ञातव्य है कि बारां जिले के सारथल कस्बे की परवन नामक नदी के तट पर स्थित प्राचीन काकूनी अपने अनुपमेय स्थापत्य, कला, वास्तु तथा मूर्तिकला के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस क्षेत्र की जैन मूर्तिकला में भव्यता के साथ-साथ सूक्ष्मता का अनूठा संगम देखने को मिलता है। यह पूरा क्षेत्र पूर्व में परमारों, प्रतिहारों तथा चौहान शासकों के आधीन रहा है। इसी स्थल से जैनधर्म की कुछ अन्य विशिष्ट मूर्तियाँ संग्रहालय में प्रदर्शित हैं जो लगभग 11वीं-12वीं सदी की जैन मूर्तिकला का प्रतिनिधित्व करती हैं। अध्ययन के आधार पर इनका परिचय इस प्रकार है :-

संग्रहालय के संख्यांक 592 पर प्रदर्शित 120x61 सेमी. माप की जैन पद्मावती देवी की मूर्ति अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। मूलतः इस देवी को तीर्थंकर पार्श्वनाथ की यक्षी और यक्ष धारणेन्द्र की अर्द्धांगिनी माना जाता है। सप्तसर्पछत्र एवं आकर्षक जूड़े युक्त अनुठे केश विन्यास के प्रभाव मण्डल में षट्भुजी देवी पद्मावती अपनी ग्रीवा, कटि प्रदेश तथा भुजाओं के अनेक सुन्दर आभूषण धारण किये हैं। ये आभूषण गलसटी, हार, हंसली व मुक्तमाल के रूप में दिखाई देते हैं। देवी के कानों में कुण्डल और ओगनी (जो कान के ऊपरी लोल में) भुजाओं में बाजुबन्धा टड्डा, कटि में करधनी तथा पावों में पायल का अंकन है। मूर्ति के शीर्ष भाग पर चैत्यवृक्ष का अंकन है जिसके नीचे ध्यान मुद्रा में आसनस्थ तीर्थंकर सम्भवनाथ (जिनके लांछन चिह्न रूप में अश्व हैं) का अंकन है। इनके कुछ नीचे दोनों छोरों पर ध्यानस्थ एवं पद्मासन एवं बद्धपद्मांजलि मुद्रा की पाँच और सप्त सर्पछत्रधारी तीर्थंकर पार्श्वनाथ की दो मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पद्मावती की इस मूर्ति की पीठिका पर दो पंक्तियों का एक भग्न लेख है किन्तु उसका संवत् 1156 मात्र ही पठन में आ पाया है।

संग्रहालय के क्रमांक 621 पर प्रदर्शित 125x65 सेमी. माप की रक्त पाषाण पर बनी तीर्थंकर विमलनाथ की मूर्ति 12वीं सदी की है। इसमें मूलनायक कार्यात्सर्ग मुद्रा में स्थानकावस्था में है। कमल पत्रों से सुसज्जित परिकर में दोनों ओर की रथिका में आसनस्थ एक-एक पुरुष और नारी की चतुर्भुजी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। परिकर के सर्वोपरि भाग में कुछ उपासकों को घटाभिषेक करते उत्कीर्ण किया गया है जो अत्यन्त कलात्मक है। पाचों के समीप दोनों ओर तीन-तीन परिचारकों का अंकन है, जिनमें से मध्य की एक नारी का जंघा पर हाथ रखे हुए चित्ताकर्षक अंकन है। मूलनायक की पाद पीठिका के मध्य में मालाधारी गंधर्वों के मध्य सुदर्शन चक्र और उसके नीचे शूकर का अंकन दिखाई देता है जो मूर्तिकला की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इसी क्रम में संख्यांक 535 पर 20x17 सेमी. माप की 12वीं सदी की जैन यक्षिणी का प्रदर्शन भी दृष्टव्य है। इसका शीश भाग इतना अधिक कलात्मक है कि इसमें आम्रलुम्बनी युक्त परिकर के मध्य सूक्ष्म जैन तीर्थंकर का अंकन है, जो इसे जैन यक्षिणी प्रमाणित करता है। मूर्ति के केशविन्यास अत्यन्त आकर्षक हैं जबकि कानों में कुण्डलों का प्रभावी अंकन है।

संग्रहालय के क्रमांक 613 पर प्रदर्शित 125x75 सेमी. माप की तीर्थकर मल्लिनाथ की एक शीशविहीन मूर्ति की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि शीशविहीन होने के पश्चात् भी इसकी पद्मासन और बद्धपद्मांजलि युक्त मुद्रा एवं शीश पृष्ठ का आकर्षक प्रभामण्डल तथा छत्र इसके गौरव में अभिवृद्धि करते हैं तथा ये अंकन इस बात के प्रमाण हैं कि यह मूर्ति कितने जीवन्त भावों से निर्मित की गयी होगी। मूर्ति के परिकर के उपासक भी भग्न हैं लेकिन उनके पादपों के नीचे धर्म चक्र एवं कलश का अंकन मूलनायक के चिह्न के रूप में प्रभावोपलब्ध है।

संग्रहालय में प्रदर्शित बारां से अवाप्त 11वीं सदी की अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी की 132x79 सेमी. माप की मूर्ति ध्यानमुद्रा में है। प्रभामण्डल युक्त इस मूर्ति का परिकर एवं शीर्ष भाग जोड़ा गया प्रतीत होता है। मूर्ति की कोहनी से नीचे तक हाथ और घुटने से नीचे तक के पैर भग्न हैं। मूर्ति परिकर के शीर्ष भाग पर कायोत्सर्ग मुद्रा में दो जैन मूर्तियों का अंकन है। इनके ठीक नीचे उड़ीयमान मालाधार उत्कीर्ण हैं। मूलनायक के दोनों ओर चंवरधारी आकृतियाँ हैं। नीचे के आसन के समानांतर दोनों ओर दो-दो जिन आकृतियाँ हैं जिनमें दो कायोत्सर्ग एवं दो ध्यानमुद्रा में उत्कीर्ण हैं। पीठिका पर मध्य में कीर्तिमुख और उसके दोनों ओर एक-एक सिंह का उत्कीर्णन है। पीठिका के दोनों छोरों पर द्विहस्त सामान्य लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी की मूर्तियाँ हैं।

पूर्वोक्त वर्णित पंक्तियों में चूँकि यह तथ्य रेखांकित किया जा चुका है कि बूंदी जिलान्तर्गत केशोरायपाटन कस्बा जैनधर्म का प्राचीन केन्द्र रहा है। इसी क्रम में यहाँ स्थित मुनिसुव्रतनाथ के जैन मन्दिर का उल्लेख 'प्राकृत निर्वाण काण्ड' और 'अपभ्रंश निर्वाण भक्ति' में रेखांकित मिला है। इस देवालय में इस आशय के साक्ष्य हैं कि नेमिचन्द ने सोमश्रेष्ठ हेतु 'वृहद् द्रव्य संग्रह' ग्रंथ की रचना की थी। 13वीं सदी में एक श्रेष्ठ मदन कीर्ति ने यहाँ शासन 'चतुस्त्रिंशतिका' में इस तीर्थ का उल्लेख किया था।

संग्रहालय के क्रमांक 301 पर अटारू से प्राप्त 12वीं सदी का प्रतिनिधित्व करने वाली 30x34 सेमी. माप की एक जैन तीर्थकर मूर्ति देखने में आती है। पद्मासनावस्था में निर्मित यह मूर्ति मूलतः जिनायतन जैनमूर्ति के मध्य की रथिका में है। इसके निकट चंवरधारी सेवकों तथा इसकी पाद पीठिका पर गजों के मध्य धर्म चक्र का अंकन है। इसके चारों ओर 108 आसनस्थ देवपुरुषों का भव्य अंकन है जो इस मूर्ति की विशेषता का परिचायक है। इसकी पाद पीठिका पर संवत् 1165 का एक लेख भी पठन में आता है।

बूँदी मुख्यालय के मध्य नाहर का चोहदा नामक मौहल्ले में स्वामी आदिनाथ का जैन दिगम्बर मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस मन्दिर के सभामण्डप की एक दीवार पर तीर्थकर नेमिनाथ के जन्म, दीक्षा, ज्ञान, मोक्ष इन पंच कल्याणक सहित कई घटनाओं को बड़ी ही भावप्रणता से उकेरा गया है। इस कला में मूलनायक के सोलह स्वप्न, गज, गाय, सिंह, लक्ष्मी, चन्द्रमा, सूर्य, मत्स्य युग्म, इन्द्र एवं रत्नादि का सुन्दर अंकन है।

कोटा के आवां नामक प्राचीन ग्राम में तीर्थकर ऋषभदेव का एक मन्दिर प्रतिहार युगीन

वास्तुकला का अध्ययन करने के लिये महत्वपूर्ण है। यद्यपि यह मन्दिर खण्डरावस्था में है परन्तु पश्चिमोन्मुखी शिखर युक्त इस मन्दिर के गर्भगृह की द्वार शाखाएँ एवं ललाट पट्टिका इसका सर्वाधिक कलात्मक पक्ष है। इस मन्दिर का प्रवेश द्वार चतुरशाखा शैली का है जिसमें पुष्पावलंकरण, गुंथित नागवल्लरी सहित प्रेमालाप युक्त स्त्री-पुरुष युग्म और अश्वारोहियों की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं। इस मन्दिर के ललाट बिम्ब के मध्य में जूटधारी तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन है। यह मूर्ति पद्मावसनावस्था में है। इसके वामवर्ती व दक्षिणवर्ती भाग में दो-दो पृथक् रथिकाओं में अन्य तीर्थंकरों का भी इसी मुद्रा में अंकन है। इनके मध्य वाले भागों में स्थानकावस्था में चार सर्पछत्र से युक्त तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। द्वार शाखा चंवरधारी सेवक तथा मालाधारी गन्धर्व एवं श्रावक-श्राविकाओं के अलंकरणों से सुसज्जित हैं। इस प्रकार कोटा के संग्रहालय में कोटा, बूंदी एवं बारां क्षेत्र की जैनधर्म की मूर्तियाँ अध्ययन की दृष्टि से बहु उपयोगी हैं।

झालावाड़ क्षेत्र में अनेक स्थलों से प्राप्त जैन मूर्तियों का अपना निजस्व है जो अभी तक अध्ययन और शोध की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षित एवं अप्रकाशित रहा है। झालावाड़ संग्रहालय तथा इस क्षेत्र के जैन मन्दिरों में स्थापित जैन मूर्तियों का परिचय इस प्रकार है:-

झालावाड़ जिले के गंगधार कस्बे से 10 कि.मी. दूर दक्षिण में जैनधर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का एक भव्य मन्दिर है-‘नागेश्वर पार्श्वनाथ’। यह मन्दिर उन्हेल नामक गाँव में होने से इसे ‘नागेश्वर उन्हेल’ भी कहा जाता है। इस मन्दिर में मूल मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथ की है जो कला, कमनीयता के स्तर पर जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। लगभग साढ़े 13 फीट की यह मूर्ति ग्रेनाइट सेण्डस्टोन के हल्के हरे रंग की आभा लिये हुए बनी है जिसे स्थानीय श्वेताम्बर जैन पंथानुयायी नील स्फटिक की बताते हैं। इस प्राचीन मूर्ति का दैहिक सौन्दर्य इतना अधिक तेज लिये है कि यहाँ प्रज्वलित दीपज्योति भी इसमें प्रतिबिम्बित होती है। मूर्ति के शीश पर सप्त सर्पफणों की छत्रावलि है तथा अत्यन्त समानुपातिक स्वरूप में मुखमण्डल, देह पर कटिसूत्र एवं कुरीयुग मापमण्डल उकरा है जो इसे श्वेताम्बरमतीय सिद्ध करता है। जैन परिमाणानुसार मूर्ति के अंगोंपांगों का माप इस प्रकार है- पादासन में धर्मचक्र 8 इंच चौड़ा और 15 इंच लम्बा, पैरों के पंजे 8 इंच लम्बे और 15 इंच चौड़े, कमर से घुटनों तक की लम्बाई 41 इंच, वक्षस्थल 38 इंच चौड़ा तथा 15 इंच ऊँचा, कायोत्सर्ग मुद्रा की दोनों भुजाओं का अन्तर 43 इंच, भुजाओं की चौड़ाई 8 इंच और ऊँचाई 25 इंच, हाथ की चौड़ाई 6 इंच और लम्बाई 35 इंच, मुख 27 इंच चौड़ा और 30 इंच लम्बा है। मस्तक पर सर्पफणों की चौड़ाई 42 इंच और लम्बाई 19 इंच है। सेण्डस्टोन की इस मूर्ति को श्वेताम्बर जैन पंथानुयायी उनके जैन मतानुसार 2500 वर्षों से अधिक प्राचीन बताते हुए लिखते हैं कि ऐसी मूर्तियों का निर्माण तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल में ही हो गया था जो महावीर स्वामी से पूर्व का था। इस मूर्ति के पैरों के निकट एक-एक चामर धारी देवों की 37 इंच ऊँची पाषाण मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इनके निकट साढ़े 4 फुट ऊँची तीर्थंकर शांतिनाथ एवं महावीर स्वामी की कायोत्सर्ग मुद्रा की श्वेत पाषाण मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। प्रतीत होता है ये मूर्तियाँ मूल मूर्ति

की प्रतिष्ठा के पश्चात् यहाँ स्थापित की गई होंगी। यहाँ यह भी उल्लेख आवश्यक होगा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सेण्डस्टोन पाषाण से निर्मित इस प्रकार की मूर्ति आस-पास के क्षेत्र से अब तक प्राप्त अन्य पाषाण मूर्तियों से सर्वथा भिन्न है जो मूर्ति विशेषज्ञों के लिए गवेष्य का विषय हो सकता है।

जिले के खानपुर कस्बे के चाँदखेड़ी नामक ग्रामान्तर्गत आदिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर के भूगर्भ में प्रतिष्ठित तीर्थंकर स्वामी आदिनाथ (ऋषभदेव) की एक विशाल, अति भव्य और कलात्मक मूर्ति प्रतिष्ठित है जो सुपूज्य है। यह मूर्ति निकट की एक पर्वतमाला से निकली थी। मूर्ति की भुजा पर यद्यपि संवत् 512 का अंकन है परन्तु इसका ऐतिहासिक आधार अभी स्पष्ट नहीं हो पाया कि क्या यह उक्त संवत् में निर्मित हुई थी? पुराकला की दृष्टि से यह मूर्ति इतनी मनोज्ञ है कि इसे बाहुबली की मूर्ति के उपरान्त जैनमतीय मूर्तिकला में भारत की दूसरी मनोज्ञ मूर्ति माना जाता है। यह 6.25 फीट ऊँची और 5 फीट 5 इंच चौड़े रक्त पाषाण पर उकेरी गई है। अज्ञात शिल्पी ने इसे जैन शास्त्रीय कला परम्परानुसार पद्मासनावस्था तथा बद्धपद्मांजलि मुद्रा में निर्मित किया है। मूर्ति के वक्ष पर श्रीवत्स तथा हाथ पैरों में पद्म बने हुए हैं जो अपूर्व वीतरागता को दर्शाते हैं। मूलनायक के अधखुले नेत्रों और उसकी धनुषाकार भौहों के अंकन अत्यन्त प्राणवान हैं।

जिले की झालारापाटन नगरी के शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर में मूलनायक तीर्थंकर शांतिनाथ की 12 फुट ऊँची सुन्दर मूर्ति खड्गासन मुद्रा में प्रतिष्ठित है। मूर्ति में तप भावों सहित सौम्यता के स्वरूप अपूर्व वीतरागता को प्रदर्शित करते हैं। झालावाड़ राज्य के पुरातत्त्ववेत्ता पं. गोपाल लाल व्यास ने इस मूर्ति पर अंकित एक लेख में संवत् 1145 (सन् 1088 ई०) पढ़ा था। चूँकि इस मन्दिर का निर्माण 1046 ई० में हुआ जो पूर्व का समय है। अतः यह माना जाना चाहिए कि इस मूर्ति पर अंकित अभिलेख का वर्ष संवत् 1145 इस मूर्ति का इस मन्दिर में प्रतिष्ठा काल का होगा, क्योंकि मन्दिर निर्माण के पश्चात् ही मूर्ति की प्रतिष्ठा होती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मन्दिर निर्माण तथा मूर्ति की प्रतिष्ठा में 42 वर्ष का अंतर रहा है।

इस मन्दिर के गर्भगृह के बाह्य भाग में अम्बिका देवी और चक्रेश्वरी देवी की बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं जो भारतीय जैन मूर्तिकला में कलात्मक दृष्टि से आधार बनाने योग्य हैं। इनमें से एक कलात्मक मूर्ति चक्रेश्वरी की है जो अष्टभुजा युक्त है। इसके मुख्य करों में क्रमशः जपमाला और एक हाथ जंघा पर समर्पित मुद्रा में है जबकि शेष करों में से दो में चक्र, बिजोरा फल, शूल, मुगदर आदि धारित हैं। देवी के शीश पर सुन्दर मुकुट एवं ग्रीवा से अनेक लड़ियों का हार और एक लम्बी मणिमाला है जो वक्ष के मध्य से होकर नाभि तक है। मूर्ति में देवी को पुरुष पीठ पर आसीन बताया गया है। इसी के निकट दक्षिण भाग में षष्ठभुजाधारी अम्बिका की मूर्ति है जो सिंह पीठ पर बने एक पादपीठ पर आसनस्थ है। देवी का बायाँ जनु सिंह की पीठ पर है। इसमें देवी के करों में कटार, वज्र, कमल, घण्टा, ढाल एवं पुष्प हैं। इसी प्रकार एक अन्य आसनस्थ देवी की मूर्ति है जिसके करों में भी उक्त प्रकार के आयुध हैं। दोनों देवी मूर्तियों को परम्परागत आभूषणों से

समलंकृत किया गया है। मन्दिर के इसी भाग में गज लक्ष्मी, शिव स्थानक एवं अन्धकासुर वध की मूर्तियाँ भी हैं, वहीं मुख्य रथिकाओं में अनेक कायोत्सर्ग मुद्रा की जैन मूर्तियाँ हैं।

इसी मन्दिर के परिसर में उत्तर की ओर यहाँ की विख्यात व्यापारिक फर्म सेठ विनोदीरामबालचंद परिवार द्वारा स्थापित सेठों की चाँदी की एक प्राचीन कलायुक्त तीर्थकर वेदी है। इसे 20वीं सदी के आरम्भ में इस परिवार के सेठ माणिक चंद सेठी, लालचंद सेठी और सेठ नेमिचंद सेठी ने बनवाकर जैन शास्त्रोक्त विधिअनुसार इसमें तीर्थकर पार्श्वनाथ सहित तीर्थकर चन्द्राप्रभू आदि की श्वेतपाषाण व धातु मूर्तियाँ स्थापित करवाई थीं। इनमें तीर्थकर पार्श्वनाथ की मूर्ति के पादपीठ पर एक अभिलेख संवत् 1055 का पठन में आता है। इस मूर्ति के शीश पर सप्तसर्प फणावलियाँ हैं तथा यह पद्मासन मुद्रा में प्रतिष्ठित है जबकि चन्द्रप्रभू स्वामी की धातुमूर्ति के शीश पर केशबन्धन तथा वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन उनके तप भावों को प्रकट करता है। दोनों मूर्तियाँ आज भी सुपूजित हैं। प्रतीत होता है ये मूर्तियाँ सेठी परिवार द्वारा अन्यत्र स्थान से लाकर यहाँ प्रतिष्ठित की गई होंगी। उक्त परिवार के वर्तमान वंशज विनोद भवन झालरापाटन के सुरेन्द्र कुमार सेठी तथा निखिलेश सेठी बताते हैं कि चाँदी की इस सुन्दर वेदी में जैन तीर्थकरों की तपसाधनाओं को सूक्ष्म अंकनों से की गई कलात्मकता से जिस प्रकार निर्मित किया गया है वह देखने योग्य है जिसे जैन मूर्तिकला परम्परा में आधार बनाया जा सकता है।

मुख्यालय झालावाड़ के निकट स्थित है प्राचीन जलदुर्ग गागरोन! इस दुर्ग से अनेक ऐसी जैन मूर्तियाँ प्रकाश में आई हैं जिन पर अभी तक किसी उत्खननकर्ता का ध्यान ही नहीं गया। वर्ष 2008 में स्वयं लेखक अपने संस्कृति रुचिवान मित्र निखिलेश सेठी (विनोद भवन, झालरापाटन) के साथ उक्त दुर्ग में खोजबीन के दौरान गया था। दुर्ग की प्राचीन भैरवपोल के निकट परकोटे के एक कंगूरे के मध्य हमें तीर्थकर महावीर स्वामी की लगी मूर्ति मिली। यह मूर्ति डेढ़ फीट ऊँची और एक फीट चौड़े पीतवर्ण पाषाण खण्ड पर निर्मित है जो पूर्णतया ध्यानावस्था में है। मूर्ति के गले की सलवटें एवं कन्धों को छूते दोनों कान अज्ञात शिल्पी की दार्शनिक चेतना के प्रमाण हैं। मूर्ति के शीश पर केशों का अंकन कलात्मकता लिए उकेरा गया है जबकि दोनों हाथ पद्मासन अवस्था में हैं। पैरों के नीचे सिंह का लांछन है। इस मूर्ति का काल 10वीं सदी बताया जाता है। दुर्ग के रंगमहल में एक अन्य जैन मूर्ति तीर्थकर आदिनाथ की है जो पद्मासन मुद्रा में है। 25सेमी. ऊँची और 22 सेमी. चौड़े माप की यह मूर्ति सिलेटिया पत्थर पर बनी है। ध्यानावस्था की इस मूर्ति के पैरों के नीचे लांछन रूप में वृषभ है तथा मूर्ति उठाने की भार साधक मुद्रा में नीचे की ओर दो सेवको की मूर्तियाँ हैं।

झालावाड़-झालरापाटन मार्ग के मध्य स्थित गिन्दौर गाँव में जैन दिगम्बर मत की एक नसियां है। इसमें मूलनायक तीर्थकर पार्श्वनाथ की सुन्दर और कलात्मक मूर्ति दृष्टव्य है। इसकी ऊँचाई 2 फीट 8 इंच है। मूलनायक के मस्तक पर सप्तसर्प फणावलियाँ हैं जिनकी आवरण कला का सूक्ष्म अंकन कला की दृष्टि से देखने योग्य है। मूलनायक के परिकर में छत्र, गज, मालाधारी देव एवं चमरेन्द्र का कलात्मक अंकन है। मूर्ति के दोनों ओर सप्त

पद्मासन जैन मूर्तियाँ हैं जबकि छत्रावली के ऊपर 8 खड़गासन जैन मूर्तियाँ बनी हुई हैं। प्रह्लासन मूर्ति के ठीक नीचे धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ हैं। एक ही शिलाफलक पर उत्कीर्ण इस मूर्ति का काल संवत् 1226 ज्येष्ठ वदी, 16 बुधवार माना जाता है जो इसकी पीठिका पर अंकित है।

झालावाड़ के राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय में जैन तीर्थंकरों की अनेक ऐसी मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं जिन पर आज तक प्रकाश ही नहीं डाला गया। इस क्षेत्र में जैन पुराकला का अध्ययन करने की दृष्टि से इन मूर्तियों का विवरण आवश्यक माना जा सकता है। यहाँ प्रदर्शित ईसा की 9वीं से 16वीं सदी अवधि की जैन मूर्तियाँ इस जिले के विभिन्न स्थलों से अवाप्त की गई थीं। इनमें तहसील पंचपहाड़ के रतनपुरा से प्राप्त एवं संग्रहालय के संख्यांक 37 पर प्रदर्शित मूर्ति तीर्थंकर अजितनाथ की है जो 9वीं सदी की रेखांकित की गई है। 40X22 इंच माप की सिलेटिया पाषाण खण्ड पर उत्कीर्ण यह मूर्ति कायोत्सर्ग मुद्रा की है। इसमें पैरों के नीचे अग्रभाग में गज का लांछन है। मूर्ति के कन्धों पर दोनों ओर गजों की मूर्तियों के दायीं-बायीं ओर पुरुषों की चंवर लिए लघु मूर्तियाँ हैं। इनके नीचे पद्मासन मुद्रा में तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। इसी के निकट 16वीं सदी की प्रदर्शित मूर्ति तीर्थंकर सम्भवनाथ की है, जो श्वेत पाषाण पर उत्कीर्ण है। पद्मासन मुद्रा की इस मूर्ति के नीचे पीठिका के समक्षघोड़े का चिन्ह है। मूलनायक के वक्ष के मध्य श्रीवत्स का अंकन है जबकि जंघाओं के पृष्ठ में एक लेख में संवत् 1544 पठन में आता है। मूर्ति 20X16 इंच माप की है, जिसमें वीतरागता के भाव को मुखरित किया गया है।

संग्रहालय के संख्यांक 449 पर प्रदर्शित 11वीं सदी की एक मूर्ति तीर्थंकर ऋषभदेव की है जो सन् 2003 में अकलेरा उपखण्ड के देवली गाँव से मिली थी। 75X69 इंच माप की यह मूर्ति हल्के सिलेटिया पाषाण फलक पर उत्कीर्ण है, जिसमें शीश के पृष्ठ में सुन्दर प्रभामण्डल का कलात्मक अंकन है। मूर्ति के पादपीठ के नीचे और हाथों में कमल पुष्पों का अंकन दृष्टव्य है, जबकि शीश के दोनों कानों के नीचे तक घुंघराले केशों का अंकन है। इसी के निकट एक अन्य प्रदर्शित मूर्ति तीर्थंकर वासुपूज्य की है। श्वेत पाषाण पर उत्कीर्ण तथा 16X12 इंच माप की इस मूर्ति के वक्ष के मध्य में श्रीवत्स का चिह्न और पीठिका पर एक अस्पष्ट लेख है, जो पठन में नहीं आता, परन्तु उसमें संवत् 1544 पढ़ने में आया है। इसी के निकट एक और मूर्ति तीर्थंकर पार्श्वनाथ की है, जो श्यामवर्णीय पाषाण पर 22X17 इंच माप की है। यह भी पद्मासन मुद्रा में है। इसकी पाद पीठिका पर संवत् 1544 अंकित है। मूर्ति के शीश पर यहाँ पंचमुखी सर्प का वितान है तथा वक्ष के मध्य में श्रीवत्स का अंकन है। मूर्ति के एक चौखट में नाग की आकृति का अंकन तथा एक अस्पष्ट सा लेख है। अत्यधिक घिसाई से उभरी चमक के कारण यह धातु मूर्ति होने का आभास देती है।

संग्रहालय में प्रदर्शित एक अन्य जैन मूर्ति तीर्थंकर ऋषभदेव की है। मटमैले पाषाण फलक पर पद्मासन मुद्रा में 25X22 सेमी. माप की इस मूर्ति की पीठिका पर वृषभ की आकृति का अंकन है। ऊपर की ओर तीर्थंकर के जन्म के भावों का अंकन इस मूर्ति के

वैशिष्ट्य को प्रदर्शित करता है, जो इस प्रकार की अब तक हाड़ौती में अवाप्त ऋषभदेव विषयक किसी मूर्ति में दर्शित नहीं हुआ है। इस अंकन के निकट ही दो दम्पति को उनका पूजन करते हुए भी उकेरा गया है।

झालरापाटन के एक जैन मन्दिर के शिखर भाग में ध्वजस्थापना खण्ड पर चारों दिशाओं की ओर ध्यानमुद्रा में सर्वतोभद्र मूर्तियाँ हैं जो पद्मासन मुद्रा में दिखाई देती हैं। जैनधर्म में सर्वतोभद्र को चारों ओर से शुभ तथा मंगलकारी माना जाता है, अर्थात् ऐसा शिल्पकार्य जिसमें शिलाखण्ड के चारों ओर चार जिन मूर्तियाँ निरूपित हों। जैन अभिलेखों में ऐसी मूर्तियों को 'प्रतिभासर्वतोभद्र' अथवा 'चतुर्बिम्ब' अथवा 'शवदोभद्रिक' भी कहा जाता है। इनमें तीर्थकरों के वक्ष के मध्य में श्रीवत्स का अंकन जगत् के प्रधान प्रकृति के चिन्तन से सम्बद्ध माना जाता है।

इस प्रकार हाड़ौती क्षेत्रीय इतिहास में जैनधर्म के पुरातात्विक श्रोतों, मूर्तियों का अपना विशिष्ट महत्त्व है, जिन पर अभी तक कोई गम्भीर शोधपरक कार्य नहीं हुआ है। प्रस्तुत आलेख यद्यपि इस क्षेत्र में यथोलब्धि के लिये माना जा सकता है क्योंकि अभी इस क्षेत्र में जैनधर्म के अन्य पुरा साक्ष्यों की प्राप्ति की और भी प्रबल सम्भावनाएँ हैं।

- जैकी स्टूडियो,
13, मंगलपुरा,
झालावाड़-326001
(राजस्थान)

पण्डित दानतराय और उनका रचना-संसार

-डॉ. कमलेशकुमार जैन *

जैनधर्म मूलतः अध्यात्म-प्रधान धर्म है और वीतरागता उसका प्राण है। अब तक जितने भी जीव मोक्ष गये हैं या भविष्य में जायेंगे, उसमें मुख्य कारण वीतरागता ही है। यहाँ वीतरागता का अर्थ है- आत्मा का रागादि भावों से सर्वथा पृथक् हो जाना। राग संसार है और वीतरागता उस संसार-सागर से मुक्त हो जाना है। जीव अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है और जब तक कर्मों का किञ्चित् भी अंश जीव के साथ संबद्ध रहेगा, तब तक उसे मुक्ति ही प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः मुक्ति के लिये वीतराग-दशा परमावश्यक है।

जीव में यह वीतरागता प्रकट हो, इसके लिये रागादि भावों से निवृत्त होकर आत्म-स्वभाव में तल्लीन हो जाना ही एकमात्र उपाय है। इसलिये महाकवि पण्डित दौलतराम ने अपने छहढाला के प्रारंभिक मंगलाचरण में लिखा है कि-

तीन भुवन में सार वीतराग- विज्ञानता।

शिव स्वरूप शिवकार नमहूँ त्रियोग सम्हारिकै॥^१

यद्यपि जीव सांसारिक बन्धनों में जकड़ा हुआ है तथापि जब वह संसार की विचित्र दशा को देखता है और उस पर विचार करता है तो वह अध्यात्म की ओर मुड़े बिना नहीं रहता है, साथ ही यदि वह कवि हृदय है तो वह अपना उपयोग स्थिर करने के लिये अनुभूतियों को लिपिबद्ध करता है, जिससे लेखक या कवि का चित्त स्थिर हो जाता है और उसका लाभ समकालीन लोगों के साथ-साथ आगे आने वाली अन्य अनेक पीढ़ियों को स्वतः मिल जाता है।

इसी मानसिकता को अपने अन्दर समेटे हुये अनेक लेखकों ने अपने हृदयंगत विचारों को मूर्त रूप दिया है, जो संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश आदि विविध भाषाओं में व्यक्त किये गये हैं/ लिखे गये हैं। इसी क्रम में हिन्दी भाषा में भी विपुल मात्रा में साहित्य लिखा गया है, जो हिन्दी-साहित्य के नाम से जाना जाता है।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य यद्यपि अनेक विधाओं का समूह है तथापि आध्यात्मिकता उसका प्राण है और इसी आध्यात्मिकता की पुष्टि हेतु जिन जैन-कवियों ने साधिकार अपनी लेखनी चलाई है, उसमें महाकवि पण्डित बनारसीदास, महाकवि पण्डित दानतराय और महाकवि पण्डित दौलतराम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य अनेक कवियों के साथ महाकवि बनारसीदास ने जिस परंपरा का विकास किया, उसी को आगे बढ़ाने में महाकवि दानतराय की महती भूमिका रही है और उसी परंपरा का अनुसरण

* आचार्य एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परवर्ती महाकवि दौलतराम आदि ने भी किया है।

ये तीनों जैन कवि अपनी आध्यात्मिक विचारधारा के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। जहाँ पण्डित बनारसीदास ने समयसार-नाटक नामक अपनी कृति के माध्यम से आध्यात्मिकता का निरूपण किया है, वहीं पण्डित दानतराय ने भी विविध आध्यात्मिक पदों एवं पूजाओं आदि के माध्यम से अपनी कीर्ति को अक्षुण्ण रखा है। महाकवि दौलतराम ने छहढाला नामक कृति के माध्यम से उपर्युक्त दो महाकवियों की धारा को और आगे प्रवाहित किया है।

इस प्रकार हिन्दी जैन साहित्य के इन तीन महाकवियों ने अध्यात्म की जो धारा प्रवाहित की, वह आज भी जैन समाज के लिये दीपक का कार्य करती है। इन तीन महाकवियों में मध्यमणि के रूप में प्रतिष्ठित महाकवि दानतराय अपने आध्यात्मिक पदों एवं प्रतिदिन उपयोग में आने वाली आरतियों, पूजाओं तथा अनेक स्तोत्रों के रचयिता होने के कारण जैन श्रावकों के गले का हार हैं।

ऐसे भक्त एवं आध्यात्मिक भावों से ओत-प्रोत महाकवि दानतराय के पूर्वज मूलतः लालपुर के निवासी थे। बाद में वे आगरा में आकर बस गये और यहीं आगरा में महाकवि दानतराय का जन्म वि.सं. 1733 में हुआ था। इनके पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामदास था।² इनका विवाह वि. सं. 1748 में मात्र पन्द्रह वर्ष की आयु में हो गया था। आगरा उस समय न केवल व्यापार के लिये प्रसिद्ध था, अपितु जैनधर्म का भी अच्छा केन्द्र था। वहाँ उस समय धर्म के क्षेत्र में पण्डित बिहारीदास और पण्डित मानसिंह का अच्छा प्रभाव था, जिसका लाभ महाकवि दानतराय को सहज उपलब्ध हो गया था। फलस्वरूप उनके उपदेशों से दानतराय की जैनधर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा हो गई थी और वे वि. सं. 1777 में सम्मेशिखर की यात्रा पर भी गये थे। बाद में वे आगरा से दिल्ली चले गये थे।

पण्डित दानतराय का कृतित्व :

महाकवि पण्डित दानतराय ने जैन हिन्दी काव्य साहित्य के विकास में अविस्मरणीय योगदान किया है। जहाँ एक ओर उनकी काव्य-रचनाओं के द्वारा जैन आध्यात्मिक एवं दार्शनिक साहित्य का संरक्षण एवं संवर्द्धन हुआ है, वहीं दूसरी ओर उनकी रचनाओं से हिन्दी काव्य साहित्य का भी उत्कर्ष हुआ है। पण्डित दानतराय की काव्य-कला बेजोड़ है। यह अलग बात है कि एक संप्रदाय विशेष से जुड़े होने के कारण हिन्दी के इतिहासकारों ने उनके साहित्य का उचित मूल्यांकन नहीं किया है।

पण्डित दानतराय द्वारा लिखित जो ग्रन्थ अद्यावधि उपलब्ध हुये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं-धर्मविलास अथवा दानतविलास, चरचा शतक, छहढाला, आगम विलास, भेदविज्ञान या आत्मानुभव, 108 नामों की गुणमाला, विविध पूजाएँ, आरतियाँ एवं आध्यात्मिक पद-साहित्य आदि। इस पर आगे विस्तार से विचार किया गया है।

धर्मविलास या दानतविलास :

पण्डित दानतराय द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रंथ वर्तमान में धर्मविलास या दानतविलास के

नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ प्रारंभ में मूलतः धर्मविलास के नाम से प्रसिद्ध रहा है।³ किन्तु परवर्ती काल में बनारसी विलास आदि की तर्ज पर उनकी कुछ स्फुट रचनाओं के संकलित रूप को दानतविलास भी कहा जाने लगा और आज यह ग्रंथ धर्मविलास के साथ ही दानत विलास के रूप में भी जाना जाता है। अतः मैं डॉ. वीरसागर जैन के इस कथन से पूर्णतः सहमत हूँ कि- जिन रचनाओं का नाम कवि के नाम पर आधारित है, उनका नामकरण कवि ने स्वयं नहीं किया है, अपितु बाद में अन्य प्रस्तुतकर्ता ने उस कवि की छोटी-छोटी अनेक या सभी रचनाओं को एकत्र संग्रहीत कर उसका नाम कवि के नाम पर रख दिया।⁴

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रंथों के नाम कहीं तो विषय वस्तु पर आधारित हैं और कहीं कवि-विशेष के नाम पर। किन्तु इतना सत्य है कि कवि के नाम पर आधारित ग्रंथों का नामकरण परवर्ती है और यही बात दानतविलास इस नामकरण के मूल में प्रतीत होती है।

धर्मविलास :

महाकवि पण्डित दानतराय द्वारा लिखित धर्मविलास में छोटी-बड़ी कुल 45 रचनाओं का समावेश है। ये रचनाएँ विविध विषयों को आधार बनाकर लिखी गई हैं, जिनका नामकरण प्रायः विषय के साथ ही उनकी पद्य संख्या के आधार पर किया गया है। जैसे- जिनगुणमाल सप्तमी, यतिगुण भावनाष्टक, दर्शन दशक, ज्ञान दशक, भक्ति दशक, आरती दशक, वर्तमानबीसी दशक, सज्जनगुण दशक, स्तुति बारसी, व्यसनत्याग षोडश, तिथि षोडशी, विवेक बीसी, षट्गुणी-हानिवृद्धि बीसी, दशस्थान चौबीसी, द्रव्यादिचौबोल पचीसी, धर्म पच्चीसी, दशबोल पचीसी, व्यौहार पचीसी, पल्ल पच्चीसी, सुख बत्तीसी, वैराग छत्तीसी, सरधा चालीसी, सुबोध पंचासिका, अध्यात्म पंचासिका, शिक्षा पंचासिका, पूरण पंचासिका, अक्षर बावनी, धर्मरहस्य बावनी, दान बावनी, नेमिनाथ बहत्तरी और उपदेश शतक आदि। चरचा शतक स्वतंत्र रूप से प्रकाशित है। इन रचनाओं में दो-दो पदों का समावेश है। इनमें प्रथम पद उस रचना की विषयवस्तु का द्योतक है और द्वितीय पद उस रचना में प्रयुक्त पद्यों की संख्या का। कहीं कहीं पद्यों की संख्या अधिक भी है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इस धर्मविलास नामक ग्रंथ में महाकवि दानतराय ने तत्त्वसार भाषा (79 पद्य), चार सौ छह जीवसमास (23 पद्य), समाधिमरण (23 पद्य), आलोचना पाठ (6 पद्य), एकीभाव स्तोत्र⁶ (26 पद्य), स्वयम्भू स्तोत्र (25 पद्य), पार्श्वनाथ स्तवन (10 पद्य), वज्रदन्तकथा (11 पद्य), धर्मचाह गीत (8 पद्य), आदिनाथ स्तुति (36 पद्य), जुगल आरती (20 पद्य) और वाणी संख्या (112 पद्य) नामक शीर्षक वाली रचनाओं का भी समावेश किया है।

इन रचनाओं में 'समाधिमरण' में मनुष्य अन्त समय में किस प्रकार की भावना भावे एवं उसके आहार आदि का क्रम क्या हो? इस पर संक्षेप में विचार किया गया है। 'स्वयम्भूस्तोत्र' में चौबीस तीर्थंकरों की वंदना की गई है। यह स्तोत्र प्रायः किसी भी धार्मिक कार्य के संपन्न होने पर श्रावकों द्वारा समवेत स्वर में पढ़ा जाता है। 'वज्रदन्तकथा'

में अति संक्षेप में वज्रदन्त चक्रवर्ती का कथानक है। 'वाणी संख्या' में जैनधर्म सम्मत वर्णमाला के चौसठ वर्णों के साथ अंग साहित्य और उपांग साहित्य के पदों की संख्या का विस्तार से विवेचन है।

ये पद्य कहीं दोहों अथवा सोरठों के रूप में दो-दो पंक्तियों के रूप में हैं, कहीं चौपाई आदि के रूप में चार-चार पंक्तियों में हैं, कहीं कुण्डलियों आदि के रूप में छह-छह पंक्तियों में हैं और कहीं छन्द मलिक माला आदि के रूप में आठ-आठ पंक्तियों में लिखे गये हैं। हिन्दी के इन प्रचलित विविध छन्दों में तो महाकवि पण्डित दयानाराय ने लिखा ही है, साथ ही मन्दाक्रांता, शार्दूलविक्रीडित, भुजंगप्रयात, मालिनी और वसन्ततिलका जैसे अतिप्रसिद्ध संस्कृत छंदों में भी अनेक पदों की रचना की है। हिन्दी के छन्दों में दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय, सवैया इकतीसा (मनहर), सवैया (सुन्दरी), सवैया (मदिरा), करवा छन्द (सर्वलघु), कवित्त, अडिल्ल, छन्द चाल, ढाल, गीता, अनंगशेखर छन्द, अशोकपुष्प मञ्जरी, जोगी रासा, मोती दाम, दोहा की ढाल, दोहा की दूसरी ढाल, रेखता, चौबीसा छन्द (आठ रगण) और सुन्दरी आदि प्रसिद्ध एवं अल्प प्रसिद्ध छंदों का प्रयोग किया है।

चरचा शतक^१:

इस ग्रंथ में कुल एक सौ तीन पद्य हैं, जो प्रायः पूर्वोक्त हिन्दी छंदों में लिखे गये हैं। इसके प्रारंभ में पञ्च परमेष्ठी की स्तुति, नेमिनाथ की स्तुति, अकृत्रिम चैत्यालयों की प्रतिमाओं की स्तुति और सिद्ध स्तुति की गई है। पुनः तीन लोक का विवेचन, लोक और अलोक का विभाजन और लोक के स्वरूप का विस्तार से बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। महाकवि दयानाराय के इस विवेचन से लोक के घनफल आदि की भी जानकारी मिलती है तथा छहों संहनन वाले जीव मरकर कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते हैं? चौबीस तीर्थकरों के बीच का अंतराल, कर्मों की एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ किस-किस गुणस्थान में क्षय होती हैं? तीन लोक के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या, तीर्थकरों के शरीरों का वर्ण, अधोलोक के चैत्यालयों की संख्या, इन्द्र की सेना, आठ कर्मों के आठ दृष्टान्त, जम्बूद्वीप का वर्णन, पञ्च परावर्तन का स्वरूप, नंदीश्वर द्वीप एवं मेरु पर्वत का वर्णन, सात नरकों एवं सोलह स्वर्गों में आवागमन, कषायों के दृष्टान्त और उनके फल, चौरासी लाख योनियाँ, कर्म प्रकृतियों का क्षय-क्षयोपशम तथा जिनवाणी के सात अंगों आदि का विस्तार से विवेचन है। ये विषय तो मुख्य-मुख्य हैं। इनके अवान्तर भेदों का भी विवेचन है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस 'चरचा शतक' में तत्त्वार्थसूत्र के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के साथ ही गोम्मटसार (जीवकाण्ड एवं कर्मकाण्ड) तथा तिलोयपण्णत्ती आदि के विषय का एकदेश विवेचन है। यह ग्रंथ स्वाध्याय करने वाले श्रावकों के लिए अत्यन्त उपादेय है।

'चरचा शतक' की विषय वस्तु अस्त-व्यस्त है। इसके विषयों में क्रमबद्धता नहीं है। इसका कारण संभवतः यह है कि अलग-अलग समयों में श्रावकों के साथ धर्मचर्चा होती होगी और उसी को पण्डित दयानाराय कविताबद्ध करते गये होंगे। बाद में सभी चर्चाओं को

उसी क्रम से एकत्रित कर ग्रंथ का रूप दे दिया गया होगा। फलस्वरूप विषयों में क्रमबद्धता का अभाव है। कर्म प्रकृतियों का विवेचन करते हुये बीच में जम्बूद्वीप आदि का वर्णन करना और पुनः कर्म प्रकृतियों का विवेचन करने आदि से उक्त कथन की पुष्टि होती है।

पूजा साहित्य :

महाकवि पण्डित दानतराय ने लगभग एक दर्जन पूजाओं की रचना की है, जिनमें देव-शास्त्र-गुरु-पूजा और विद्यमान बीस तीर्थकर पूजा- ये दो पूजायें अति प्रसिद्ध हैं। ये दोनों पूजायें आज भी पूजन करने वाले श्रावकों के लिये अनिवार्य हैं। यद्यपि संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अब हिन्दी में अन्य अनेक आधुनिक कवियों की पूजायें भी उपलब्ध हैं तथापि सामान्य श्रावक दानतरायकृत पूजाओं को ही प्राथमिकता देता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त पर्व विशेष में की जाने वाली पूजाओं में पण्डित दानतरायकृत सोलहकारण पूजा, पञ्चमेरु पूजा, नन्दीश्वर द्वीप पूजा, दशलक्षण धर्म पूजा, रत्नत्रय पूजा (दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र पूजा), निर्वाणक्षेत्र पूजा, सरस्वती पूजा, विदेहक्षेत्र पूजा और सिद्धचक्र पूजा⁸ आदि प्रमुख तथा बहुचर्चित हैं। इन पूजाओं में से अनेक पूजाओं का अर्घ्य तो प्रायः प्रतिदिन चढ़ाया जाता है और अवकाश के दिनों में समय होने पर अथवा अष्टमी-चतुर्दशी के दिनों में अधिक पूजायें भी की जाती हैं, किन्तु अष्टाहिका पर्व और पर्युषण पर्व में इन पूजाओं को गांव-देहात से लेकर महानगरों और अब विदेशों में भी व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप में नृत्य एवं संगीत के साथ किया जाता है।

पण्डित दानतरायकृत पूजाओं की अर्घ्यावली और जयमाला में अथवा केवल जयमाला में दानत या दानतराय का नामोल्लेख अवश्य मिलता है, जिससे यह सहज ज्ञात हो जाता है कि ये पूजायें पण्डित दानतराय द्वारा रचित हैं। ये पूजायें अत्यन्त सरल, सरस और भक्ति से ओतप्रोत हैं। इनसे तत् तत् विषयों की सूक्ष्म जानकारी भी मिलती है।

आरती साहित्य:

पण्डित दानतरायकृत अनेक आरतियों का उल्लेख मिलता है। ये आरतियाँ जैन समाज में बहुप्रचलित हैं। 'इह विध मंगल आरती कीजै' तो उनकी ऐसी कालजयी रचना है जो बच्चों से लेकर बूढ़ों तक को मुँहजबानी याद है। इनके अतिरिक्त 'करोँ आरती वर्धमान की' आदि भी प्रसिद्ध हैं। धर्मविलास में 'आरती दशक' शीर्षक से जिन ग्यारह आरतियों का संग्रह किया गया है, उनमें से आठ आरतियों की अंतिम पंक्ति में 'दानत' पद का प्रयोग किया गया है, किन्तु नेमिनाथ तीर्थकर की आरती के अन्त में मानसिंह महाराज, निश्चय आरती के अन्त में दीपचंद और आत्मा की आरती के अंत में बिहारीदास का नामोल्लेख है।⁹

पण्डित दयाचन्द्र जैन साहित्याचार्य ने पण्डित दानतरायकृत बीस आरतियों का उल्लेख किया है,¹⁰ जिनमें पूर्वोक्त के अतिरिक्त पार्श्वनाथ, वासुपूज्य, समुच्चय सिद्ध भगवान् और पञ्चकल्याणक आरतियों के साथ ही अष्ट-कर्मों का नाश करने वाली आठ आरतियों का भी नामोल्लेख है, जिनके नाम इस प्रकार हैं- 1. ज्ञानावरणीकर्मनाशक सिद्ध आरती, 2.

दर्शनावरणीकर्मनाशक सिद्ध आरती, 3. वेदनीयकर्मनाशक सिद्ध आरती, 4. मोहनीयकर्मनाशक सिद्ध आरती, 5. आयुर्कर्मनाशक सिद्ध आरती, 6. नामकर्मनाशक सिद्ध आरती, 7. गोत्रकर्मनाशक सिद्ध आरती और अन्तरायकर्मनाशक सिद्ध आरती।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डित दयाचन्द्र जैन साहित्याचार्य ने जो अष्ट-कर्मों का नाश करने वाली उक्त आठ आरतियों का उल्लेख किया है, वे स्वतन्त्र आरतियाँ न होकर पण्डित दानतरायकृत सिद्धचक्रपूजा के अन्तर्गत लिखी गई आठ कर्मों की जयमालायें ही हैं क्योंकि मुझे इन आरतियों का स्वतंत्र उल्लेख नहीं मिला है।

पद साहित्य :

पण्डित दानतराय ने अनेक आध्यात्मिक पदों की रचना की है, जो उसके अध्यात्मप्रिय होने का सबल प्रमाण है। उनके इन पदों का संग्रह 'जैन पद संग्रह' (चौथा भाग) के नाम से स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हो चुका है। इनमें से अनेक पद अन्यत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं।¹¹ इन पदों में पण्डित दानतराय ने साधु के गुणों की चर्चा, जिनराज की शरण, अरहन्त नाम स्मरण, प्रभु महिमा, मनुष्य जन्म की दुर्लभता, आत्महित करने की सीख, सकल विकल्पों के अभाव की भावना, सम्यग्दर्शन की महिमा एवं निश्चयनय की साधक सामग्री आदि का गहराई से विवेचन किया है। देह की नश्वरता और आत्मतत्त्व की अमरता का विवेचन करने वाला अग्रांकित पद द्रष्टव्य है-

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥ टेक॥

तन कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे।

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥१॥

उपजै मरै कालतैं प्रानी, तातैं काल हटैंगे।

राग-दोष जग बंध करत हैं, इनको नाश करेंगे॥

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥२॥

देह विनाशी मैं अविनाशी, भेदज्ञान पकरेंगे।

नासी जासी हम शिरवासी, चोखे हों निखरेंगे॥

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥३॥

मरे अनन्त बार बिन समझैं, अब सब दुःख बिसरेंगे।

'दानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरेंगे॥

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥४॥

अपने इन आध्यात्मिक पदों में पण्डित दानतराय ने अपनी चिर-परिचित शैली में हिन्दी की प्राचीन विविध राग-रागनियों का प्रयोग किया है, जिनमें राग सोरठा, गुजराती भाषा गीत, राग विलावल, राग गौरी, राग सारंग, राग काफी धमाल, राग विहागरो, राग-मल्हार, राग गौड़ी, राग ख्याल, राग रामकली, राग आसावरी, सवैया, छप्पय, कुण्डलिया और अशोक छन्द आदि प्रमुख हैं। राग-रागनियों के इन विविध प्रयोगों से ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डित दानतराय की संगीत के क्षेत्र में अच्छी पकड़ थी और वे अपने इन पदों को

सार्वजनिक शास्त्र-सभाओं आदि में संगीतमय शैली से प्रस्तुत करते रहे होंगे।

अन्य साहित्य :

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने पण्डित दानतरायकृत अन्य दो ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं- आगम विलास और भेद विज्ञान अथवा आत्मानुभव। आगम विलास में पण्डित दानतराय की छियालीस रचनाओं का संकलन है। इन रचनाओं का संकलन पण्डित दानतराय की मृत्यु के पश्चात् पण्डित जगतराय ने किया था।¹²

आगम विलास के प्रारंभ में 152 सवैया छन्दों में सैद्धान्तिक विषयों की चर्चा है। अतः सैद्धान्तिक विषयों की प्रधानता के कारण ही इस रचना का नाम 'आगम विलास' रखा गया है।¹³

भेद विज्ञान या आत्मानुभव में जीव द्रव्य और पुद्गलादि द्रव्यों का विवेचन है। इसमें पण्डित दानतराय ने लिखा है कि- आत्मतत्त्व रूपी चिन्तामणि के प्राप्त होते ही समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं और आत्मतत्त्व के उपलब्ध होते ही विषयरस नीरस प्रतीत होने लगते हैं।¹⁴

डॉ. प्रेमसागर जैन ने पण्डित दानतरायकृत '108 नामों की गुणमाला' नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है।¹⁵

पण्डित दौलतरामकृत छहढाला तो प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य जो दो छहढाला उपलब्ध हैं, उनमें एक छहढाला पण्डित बुधजनकृत है और दूसरा पण्डित दानतरायकृत।¹⁶ ये दोनों छहढाला पण्डित दौलतरामकृत छहढाला की अपेक्षा अल्प प्रसिद्ध हैं।

पण्डित दानतराय ने सिद्धान्तदेव मुनि नेमिचन्द्र द्वारा रचित प्राकृत द्रव्यसंग्रह का हिन्दी पद्यानुवाद भी किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यात्मप्रेमी महाकवि पण्डित दानतराय ने छोटे-बड़े अनेक ग्रंथों की रचना की है, जिनमें जैन सिद्धान्तों का मार्मिक विवेचन किया गया है।

संदर्भ-

1. छहढाला, 1/1
2. अग्रनाम तपसी बसे सौं अगरोहा भया, तिनकी संतान सब अग्रवाल गए हैं।
ठारे सुत भये तिन ठारै गोत नाम दये, तहाँसौं निकसिकैं हिसार माहिं छाए हैं॥
फिर लालपुर आय व्यैंक 'चौकसी' कहाय, गोलगोती वीरदास आगरे मैं आए हैं।
ताही के सपूत स्यामदास के दानतराय, देस पुर गाम सारे साहमी कहाए हैं॥
-धर्मविलास, पूरण पंचासिका, पद्य 26
3. आगरौ गुननिकौ जहानाबाद रहे कोय, सुधरूप धर्मविलासकौ प्रकास है।
धर्मविलास धर्म के कियैं सदा विलास, धर्मकौ विलास यह धर्मविलास है॥
4. दौलत विलास, संपादक- डॉ. वीरसागर जैन, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2000, प्रस्तावना पृष्ठ 8
5. पण्डित नाथूराम प्रेमी द्वारा संपादित एवं श्री जैन ग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई द्वारा सन् 1914 में प्रकाशित।

6. यह स्तोत्र श्री वादिराजसूरि के संस्कृत एकीभाव स्तोत्र का भावानुवाद है। यथा-
शब्द काव्य हित तर्कमें, वादिराज सिरताज। एकीभाव प्रगट कियौ, दानत भगति जहाज॥26॥
7. पण्डित नाथूराम प्रेमीकृत सुगम हिन्दी टीका सहित श्री जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, पो. गिरगांव, बम्बई द्वारा सन् 1926 में द्वितीयावृत्ति के रूप में प्रकाशित।
8. द्रष्टव्य, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, लेखक- डॉ. प्रेम सागर जैन, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् 1964, पृष्ठ 281-283
9. द्रष्टव्य, धर्मविलासः आरती दशक, पृष्ठ 149-156
10. द्रष्टव्य, जैन पूजा-काव्य एक चिंतनः भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण, सन् 2005, पृष्ठ 149-151
11. द्रष्टव्य, श्री आध्यात्मिक पाठ संग्रह, संपादक- पं. श्रेयांस कुमार जैन शास्त्री, प्रकाशक-श्री मगनलाल हीरालाल पाटनी, दि. जैन पारमार्थिक दृष्टान्तर्गत श्री पाटनी दि. जैन ग्रंथमाला, मारोठ (मारवाड़), प्रथम संस्करण, मई 1951
12. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, 4/278
13. तीर्थंकर महावीर और उनका आचार्य परंपरा, 4/279
14. तीर्थंकर महावीर और उनका आचार्य परंपरा, 4/279
15. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृष्ठ 287
16. दानतराय की यह लघुकृति श्रीमती शैल बंसल द्वारा संकलित एवं समन्वय वाणी जिनागम शोध संस्थान, जयपुर द्वारा सन् 2010 में प्रकाशित छहढाला त्रयी में पृष्ठ 24 से 30 तक संकलित की गई है, जो मात्र 49 पद्यों में समाहित है।

आवास-निर्वाण भवन,
बी-2/249, लेन नं. 14
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी (उ.प्र.)
मो. 91-9235693230

त्रिलोकसार आधारित

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य की दृष्टि में उपास्य (पूज्य) देव

-डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्यवर्य श्री नेमिचन्द्र द्वारा विरचित श्री त्रिलोकसारजी की गाथा 988 के आधार पर उपलक्षण न्याय से यह सिद्ध किया जा रहा है कि तीर्थंकर भगवान् के यक्ष-यक्षिणी एवं क्षेत्रपालादि समस्त रक्षक देव पूज्य हैं। इस गाथा पर प्रकाश डालने के पूर्व त्रिलोक संबन्धित अकृत्रिम चैत्यालयों/ जिनमंदिरों एवं उनकी पूज्यता का स्वरूप श्री त्रिलोकसारजी के अनुसार समझना आवश्यक है।

श्री त्रिलोकसारजी करणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी रचना का आधार तिलोपपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति), तत्त्वार्थवार्तिक का तीसरा और चौथा अध्याय एवं आ. जिनसेन कृत हरिवंश पुराण का लोकवर्णनाधिकार है। श्री त्रिलोकसारजी के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र षट्खण्डागम के पारगामी विद्वान् थे। उनके गुरु आचार्य अभयनन्दि जी थे। सर्वश्री वीरनन्दी एवं इन्द्रनन्दी इनके विद्यागुरु थे। ये देशीयगण के थे। आचार्य नेमिचन्द्र गंगनरेश राचमल्लदेव के प्रधान सचिव और सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे। गोम्मटेश्वर भगवान् की 57 फुट ऊँची भव्य प्रतिमा का निर्माण आचार्य नेमिचन्द्र के आशीर्वाद और मार्गदर्शन में हुआ था। इसकी प्रतिष्ठा चैत्रशुक्ला पंचमी, रविवार दि. 13 मार्च, 981 को आगमिक पद्धति से हुई थी। इस प्रकार आपका समय विक्रम की 10वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

श्री त्रिलोकसारजी में 1018 गाथाएँ हैं, जो छह अधिकारों में विभक्त हैं; यथा- (1) लोकसामान्याधिकार, (2) भवनाधिकार, (3) व्यन्तरलोकाधिकार, (4) ज्योतिर्लोकाधिकार, (5) वैमानिकलोकाधिकार और (6) नरतिर्यग्लोकाधिकार। अंतिम चार गाथाएँ प्रशस्ति रूप हैं।

त्रिलोक के जिनमंदिर की वंदना-

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रत्येक अधिकार के प्रारंभ में उस लोक के जिनमंदिरों की संख्या दर्शाते हुए उनकी वंदना और नमस्कार किया है।

इस संबन्ध में गाथा 2, 208, 250, 302, 451 और 561 अवलोकनीय हैं। प्रशस्तिगाथा 1015 में अकृत्रिम-कृत्रिम सभी अर्हन्त और सिद्ध प्रतिमाओं को नमस्कार किया है। गाथा 1016 में भवनवासी (सात करोड़ बहत्तर लाख), वैमानिक (84,97023) एवं मध्यलोक (458) संबन्धी कुल 85697481 जिनमंदिरों को नमस्कार किया है।

ज्योतिष एवं व्यन्तर देवों के जिनमंदिर असंख्यात हैं, उन्हें भी नमस्कार किया है। गाथा 1017 में त्रिलोकगोचर अकृत्रिम-कृत्रिम सभी जिनमंदिरों की वंदना की है। अंतिम 1018वीं गाथा में गुरु अभयनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती का स्मरण/कृतज्ञता व्यक्त करते हुए त्रिलोकसार जी की किसी भूल के लिये क्षमा याचना की है। इस प्रकार आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने तीनलोक की समस्त जिनेन्द्र प्रतिमाओं और जिनमंदिरों की वंदना-नमस्कार किया है। किसी यक्ष-यक्षिणी, श्रीदेवी-श्रुतदेवी या किसी शासन रक्षकदेव की वंदना नहीं की और न ही उनकी वन्दना करने का निर्देश दिया। चतुर्णिकाय देवों की वन्दना वैदिक परंपरा में इष्ट है, दि. जैन परंपरा में गृहीत मिथ्यात्व है। श्री नेमिचन्द्र आचार्य ने शाश्वत मूल जैन परंपरा का सर्वत्र निर्वाह किया है।

आचार्य वीरसेनस्वामी ने भी धवला टीका (ई. 816) के प्रारंभ में अरहंत-सिद्ध को नमस्कार कर बारह अंगरूप श्रुतदेवता के प्रसन्नता की भावना आयी थी। श्रुत देवता के सर्वमल एवं तीन मूढ़ता रहित सम्यक्त्व का तिलक और निर्मल चारित्र रूप आभूषण हैं (धवला भाग-1, पृष्ठ. 6)। द्वादशांग धारक ऐसा श्रुत देवता 'देवमूढ़ता' की प्रेरक सरस्वती की मूर्ति कैसे हो सकती है? सरस्वती की मूर्ति की पूजा की प्रेरणा देना जिनवाणी की आड़ में आगम का उपहास और मिथ्याचार है।

चैत्य वृक्ष: जिन प्रतिमाएँ एवं मानस्तम्भ-

भवनवासी देवों के असुरादिक कुलों के चिह्न स्वरूप क्रम से दस चैत्य वृक्ष होते हैं। (गा.217)। चैत्य वृक्षों के मूल भाग की चारों दिशाओं में प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित 5-5 जिन प्रतिमाएँ होती हैं जिन्हें देवगण पूजते हैं (गा.215)। इन प्रतिमाओं के सामने प्रत्येक दिशा में 5-5 मानस्तम्भ विराजमान हैं। प्रत्येक दिशा 7-7 प्रतिमाओं सहित हैं (गा. 216)।

व्यन्तर देवों के 8 चैत्यवृक्ष होते हैं। चैत्यवृक्षों के मूल की प्रत्येक दिशा में 4-4 तोरणों से युक्त पद्मासन स्थित 4-4 जिन प्रतिमाएँ देवों द्वारा पूज्य हैं। प्रत्येक प्रतिमा के आगे एक-एक मानस्तम्भ है जो तीन पीठ ऊपर तथा तीन कोटों से घिरा हुआ है (गा. 253-255)।

नरतिर्यग्लोक में भी जम्बूवृक्ष और शाल्मलिवृक्ष आदि में जिनमंदिर स्थित हैं (गा. 562)।

नन्दीश्वर द्वीप के जिनालय-

आठवाँ द्वीप नन्दीश्वर के नाम से प्रसिद्ध है। इस द्वीप के 52 पर्वत पर 52 जिनालय हैं। उनमें अन्य देवों और भवनत्रिक के साथ सौधर्मादि कल्पों के 12 इन्द्र अपने विमानों में आरूढ़ हो दिव्य फल एवं पुष्प आदि सहित नन्दीश्वर द्वीप जाकर प्रत्येक वर्ष के आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास की अष्टमी से पूर्णिमा तक दो-दो पहर पूजा करते हैं (गा. 973-976)। उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य जिनालयों का आयाम क्रम से 100 योजन, 50 योजन और 25 योजन प्रमाण है (गा. 983)। सभी जिनालयों के चार गोपुर द्वारों सहित मणिमय तीन कोट हैं। प्रत्येक वीथी में एक-एक मानस्तम्भ और नव-नव स्तूप हैं

(गा. 983)। प्रत्येक जिनभवन में 108 गर्भगृह और रत्न-स्तंभों सहित एक-एक मण्डप है। प्रत्येक गर्भगृह में सिंहासनादि युक्त एक-एक रत्नमय जिनप्रतिमा होती है जो आदिनाथ भगवान् सदृश 500 धनुष ऊँची है (गा. 985-86)।

जिनप्रतिमाओं की शोभा का वर्णन- (गाथा 988)

ये जिन प्रतिमाएँ चौंसठ चमरों से वीज्यमान हैं। नागकुमार के 32 युगलों और यक्षों के 32 युगलों सहित एक-एक गर्भगृह में सदृश पंक्ति में शोभायमान हैं। उन प्रतिमाओं के पार्श्वभाग में श्री (लक्ष्मी) देवी, श्रुत (सरस्वती) देवी, सर्वाण्ह यक्ष और सनत्कुमार यक्ष की प्रतिमाएँ तथा झारी, दर्पण, कलश आदि अष्टमंगल द्रव्य हैं। ये प्रत्येक मंगल द्रव्य 108-108 प्रमाण होते हैं (गा. 987-989), आगे की गाथाओं में गर्भगृह के बाहर शोभा का वर्णन है। वहां सिद्धार्थ और चैत्य नाम के दो वृक्ष हैं। इनकी चारों दिशाओं की पीठ में चार सिद्ध प्रतिमाएँ और चार अरहन्त प्रतिमाएँ विराजमान हैं, महाध्वजाएँ स्थित हैं (गा.1002)। ध्वजपीठ के आगे जिनमंदिर हैं।

प्रत्येक जिनमंदिर की चारों दिशाओं में सिंह, वृषभ, हाथी, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल और चक्र से चिह्नित 108, 108 मुख्य ध्वजाएँ हैं। इनके साथ 108-108 छोटी ध्वजाएँ होती हैं। द्वितीय और तृतीय कोट के अन्तराल में चार वन हैं जिनमें भोजनांगादि दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं, पुष्प और फलों से युक्त चैत्यवृक्ष हैं जिनके चारों ओर प्रातिहार्य युक्त जिनबिंब विराजमान हैं। इस प्रकार जिनप्रतिमाएँ और जिनमंदिर दिव्य शोभायुक्त हैं, जो वैराग्यभावबोधक हैं।

चतुर्णिकाय के देवों द्वारा जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक-पूजन-

देव उत्पन्न होने के उपरांत सरोवर में स्नान करते हैं फिर अभिषेक और अलंकारों को प्राप्त होकर सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक-पूजन करते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों द्वारा संबोधित किये जाने पर जिनपूजन करते हैं। (गा. 551-553)।

इससे स्पष्ट है कि भगवान् की शोभा के रूप में स्थापित नागयुगल, यक्षयुगल और अन्य देवियों / यक्षों की पूजा देवलोक के देवों द्वारा नहीं की जाती क्योंकि वे अपूज्य हैं। वे तो जिनेन्द्र भगवान् की शोभा, भक्त-सेवक के रूप में स्थापित हैं। उनकी समर्पित सेवा का फल जिनेन्द्रदेव की निकटता है न कि जिनेन्द्र सम पूज्यता। जैनदर्शन में असंयमी, रागी देवी-देवता अपूज्य हैं। नारी और नारी प्रतिमा पूज्य नहीं है। सर्वाण यक्ष और सनत्कुमार यक्ष को धर्मचक्र संवाहन करने के कारण सम्मान मिला। इन्द्रादिक को यह सम्मान नहीं मिला।

प्रतीकात्मक श्रीदेवी और श्रुतदेवी की मूर्तियों का औचित्य-

गाथा 988 में भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के पार्श्व में श्रीदेवी और श्रुतदेवी की मूर्तियों की शोभा का उल्लेख है। त्रिलोकसारजी में इन देवियों के नाम, वैभव या जिनशासन में किसी योगदान का कोई संकेत नहीं है। गाथा 555 की उत्थानिका में शंका की गई कि देवादिक संपत्ति किन जीवों को प्राप्त होती है? उसके समाधान में गाथा 555

आयी।

विविहतवरयणभूसा णाणसुची सीलवत्थसोम्मंगा।

जे तेसिमेव वस्सा सुरलच्छी सिद्धिलच्छी य॥

अर्थ- 'मोक्षलक्ष्मी और सुरलक्ष्मी' उन्हीं जीवों के वश में होती है जिनके अंग निरंतर नाना प्रकार के तपों से विभूषित, ज्ञान से पवित्र और शील रूपी वस्त्र के संयोग से सौम्य रहते हैं।

उक्त गाथा में 'मोक्ष' और 'स्वर्ग' को लक्ष्मी कहा है। इस प्रकार लक्ष्मी शब्द व्यक्तिवाची न होकर भाववाची है। जिस प्रकार वैदिक परंपरा में विष्णु जी की पत्नी लक्ष्मी के रूप में पूज्य हैं, वैसी स्थिति दि. जैन परंपरा में नहीं है। यहाँ लक्ष्मी रूपक है। यही स्थिति सरस्वती देवी की है। वैदिक परंपरा में सरस्वती पिता को मोहित करने वाली ब्रह्माजी की पुत्री हैं। जैन परंपरा में द्वादशांगवाणी, केवलज्ञान के प्रतीक रूप में सरस्वती शब्द का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार लक्ष्मी और सरस्वती देवी की मूर्तियाँ प्रतीकात्मक हैं। ये सूर्य-चन्द्रमा जैसे उपमेय नहीं हैं, जिनकी उपमा किसी को दी जाये। प्रतीकात्मक मूर्तियाँ पूज्य कैसे हो सकती हैं? जिनेन्द्रदेव का अस्तित्व है, अतः उनकी मूर्तियाँ स्थापित होती हैं और पूज्य हैं। द्वादशांग रूप श्रुत देवता व्यक्तिनिष्ठ देव नहीं होते। जिनागम ही श्रुत देवता है।

नरतिर्यग्लोकाधिकार के अनुसार जम्बूद्वीप के हिमवान् आदि छह पर्वतों पर पद्म, महापद्म आदि छह विशाल सरोवर स्थित हैं। गाथा 572 के अनुसार इन सरोवरों के कमलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की छह देवांगनाएं अपने परिवार सहित निवास करती हैं। इनमें प्रथम तीन सौधर्मेन्द्र की देवकुमारियाँ हैं और अंतिम तीन ईशानेन्द्र की देवकुमारियाँ हैं (गा.577)। इन देवकुमारियों का ऐसा कोई कर्तव्य स्पष्ट नहीं है जो उन्हें विशिष्ट सम्मान दिला सके। इसी संदर्भ में त्रिलोकसारजी के टीकाकार श्री पं. टोडरमलजी ने मोक्ष-स्वर्ग और धनरूप लक्ष्मी तथा जिनवाणीरूप सरस्वती की जगत् में उत्कृष्टता दर्शाते हुए उनके देवांगना के आकार रूप प्रतिबिंब होने का समाधान दिया है। विशेष भक्त का संबोधन सर्वाण्हयक्ष और सनत्कुमार यक्ष के लिये किया है, प्रतीकात्मक देवियों के लिये नहीं किया। श्री पं. टोडरमलजी के इस समाधान से लक्ष्मी और सरस्वती देवियों तथा कल्पित शासन देवों की मूर्तियों की पूजा का औचित्य सिद्ध नहीं होता। यह बालू से तेल निकालने जैसा असंभव कृत्य है। देवों द्वारा अपूज्य को विवेकी मनुष्य पूज्य कैसे मान सकते हैं? विचारणीय है।

उपसंहार-

आचार्य कल्प पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक तथा पं. सदासुखदासजी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका में क्षेत्रपाल, पद्मावती एवं अन्य रागी देवी-देवताओं की पूजा को गृहीत मिथ्यात्व माना है। उनकी इस स्पष्ट आगमिक धारणा को थोथे, विरोधाभासी और उन्माद भरे कुतर्कों से विकृत नहीं किया जा सकता। दिगम्बर जैन परंपरा

में तो मात्र पंचपरमेष्ठी ही पूज्य हैं। जिनदेव के भक्त, विशेष भक्त सम्माननीय हैं। सम्माननीय को पूज्य मानना अभिप्राय के अनुसार अनंत संसार का कारण हो जाता है। यह दोष-अतिचार की श्रेणी में भी नहीं आता। गृहीत मिथ्यात्व और देवमूढ़ता का प्रभाव क्षेत्र एक समान नहीं है। जो विद्वान्, जिनदीक्षाधारी, आर्यिका-गणिनी और संस्थाएँ गृहीत मिथ्यात्व का पोषण और प्रचार कर रही हैं वे जिनेन्द्रभक्त कैसे हो सकती हैं? गृहीत मिथ्यात्व के पोषण और सिद्धि के लिये श्री त्रिलोकसारजी ग्रंथ और उसकी टीका को आधार बनाना जिनशासन को समूल ध्वस्त करने जैसा जघन्य अपराध है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य कृत श्री त्रिलोकसारजी ग्रंथ दि. जैन मूलाम्नाय का वीतरागता द्योतक ग्रंथ है। इसमें जिनेन्द्रदेव और जिनालयों की वंदना की गई है। देवगण भी ऐसा ही करते हैं। किसी रागी देवी-देवता या असंयमी की वंदना करने की सिद्धि कहीं नहीं होती। यक्ष-यक्षिणी, क्षेत्रपाल एवं लक्ष्मी, सरस्वती की मूर्तियों की पूजा जिनशासन के अनुरूप नहीं है, प्रतिगामी है और अनंत संसारवर्द्धक है। सुधीजन मार्गदर्शन करें।

बी-369, ओ.पी.एम. कालोनी,
अमलाई-484117
जिला-शहडोल (म.प्र.)

मनुष्य भव की दुर्लभता

जो भविओ मणुअभवं लहिउं धम्मप्पमायमायरइ।
सो लद्धं चिंतामणिरयणं रयणायरे गमइ॥

अर्थात् जो भव्य जीव मनुष्य भव को प्राप्त करके धर्म के आचरण में प्रमाद करता है वह प्राप्त किए गए चिन्तामणि रत्न को समुद्र में खो देता है। जिस प्रकार समुद्र में गिरा रत्न पुनः मिलना दुर्लभ है उसी प्रकार एकबार मनुष्य पर्याय को व्यर्थ में ही विषय कषायों में खो दिया तो फिर पुनः मनुष्य भव प्राप्त करना दुर्लभ है। जैसे चिन्तामणि रत्न से मात्र चिन्तन करने से मनचाहा पदार्थ प्राप्त हो जाता है वैसे ही मनुष्य पर्याय से मोक्षफल की प्राप्ति सम्भव है, इसलिए मनुष्य पर्याय को आचार्यों ने दुर्लभ कहा है।

जैन धर्म निरपेक्षता

—सतेन्द्रकुमार जैन

भूमिका :

भारत धर्म प्रधान देश होने के साथ कर्म प्रधान देश भी है। यहाँ भाग्य के साथ पुरुषार्थ को भी समानता से मान्यता प्राप्त है। प्रत्येक धर्म में भेदभाव से रहित होकर आचरण करने पर बल दिया गया है। भारत में समान संस्कृति और सभ्यता वाले लोग तो मिलकर रहते ही हैं परन्तु असमान सभ्यता और संस्कृति वाले लोगों का समावेश भी भारत की धर्म निरपेक्षता की विशेषता है। यहाँ पर विभिन्न जाति, धर्म, संस्कृति, सभ्यता के अनुयायी निवास करते हैं। इन सभी के मध्य भाईचारा का संबन्ध स्थापित करने के लिए धर्म निरपेक्षता की नितान्त आवश्यकता है। जैनधर्म का कथन है कि सभी जीवों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ का भाव रखने से द्वेषभाव कम होता है। अन्य धर्मों ने मात्र मनुष्य के प्रति मैत्री, प्रेम का भाव रखने का संकेत दिया है परन्तु जैनदर्शन में आचार्य अमितागति ने कहा है कि—

**सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देवी॥^१**

अर्थात् सज्जन पुरुषों से मित्रता, गुणीजनों में आनन्द का भाव, पापी जीवों में कृपा का भाव तथा विपरीतवृत्ति वाले जीवों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिये। इन भावों के कारण से बुद्धि में विकार भाव उत्पन्न नहीं होते तथा व्यक्ति निःस्वार्थ भावना से सतत धर्म निरपेक्षता के प्रति प्रयत्नशील होता है।

धर्म का स्वरूप :

जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में विविध आचार्यों ने धर्म के स्वरूप का कथन बहु प्रकार से किया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में कहा है कि—

**देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म निर्वर्णम्।
संसार दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥^२**

अर्थात् जो जीवों के कर्म नाश करने में सहायक तथा संसार रूपी दुःख से उठाकर सुख में धरता है उस धर्म को कहने की प्रतिज्ञा आचार्य महाराज ने की है। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी कहा है—

जो धर्मात्मा पुरुषों को नीचपद से उच्चपद में धारण करता है वह धर्म कहलाता है। संसार नीचपद है तथा मोक्ष उच्चपद है। जो मनुष्य को इस अपार संसार-सागर के दुःखों से उद्धार करके नित्य और अविनाशी सुख वाले मोक्ष में धरे, उसे धर्म जानना चाहिये। यशस्तिलक चम्पू में सोमदेव सूरि महाराज ने अभ्युदय मोक्ष सुख प्राप्त कराने वाले को

धर्म कहा है तथा सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपादस्वामी ने इष्टस्थाने धत्ते इति धर्मः कहकर आत्मा को इष्ट स्थान में धरने वाले को धर्म कहा है।⁴

निरपेक्षता का अर्थ :

धर्म निरपेक्षता में दो शब्दों का समावेश होता है। जिसमें धर्म का अर्थ धारण करना है तथा निरपेक्षता का अर्थ एकान्त अपेक्षा से रहित होना है अर्थात् जिसमें एकान्त अपेक्षा से रहित होकर अनेकान्त को धारण किया जाता है, वह धर्म निरपेक्षता है।

सैद्धान्तिक धर्म निरपेक्षता :

जैनदर्शन में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन अरिहन्त भगवन्तों ने किया है वह सभी जीव मात्र के लिए है। चाहे वे एकन्द्रिय हों अथवा पंचेन्द्रिय हों, चाहे निम्न वर्ग के हों अथवा उच्चवर्ग के हों। सभी को इन सिद्धान्तों को मानने के लिए स्वतंत्रता प्राप्त है। ये सिद्धान्त किसी के व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक सिद्धान्त हैं, तभी तो जैनदर्शन के सिद्धान्तों की अन्य भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों के साथ समानता देखी जाती है। इसे ही धर्म निरपेक्षता के अंतर्गत लिया गया है। जैनदर्शन में सिद्धान्तों का विवेचन जितना सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है उतना अन्य भारतीय दर्शनों में सूक्ष्म रूप प्राप्त नहीं होता अपितु भारतीय दर्शनों में इन सिद्धान्तों का बहिरंग रूप अथवा स्थूल रूप का विवेचन प्राप्त होता है।

अहिंसा :

अहिंसा जैनाचार का प्राण तत्त्व है। इसे ही परमब्रह्म और परमधर्म कहा गया है। किसी जीव को मात्र मारना ही हिंसा नहीं है। हिंसा और अहिंसा का संबंध तो हमारे भावों, परिणामों (विचारों) से है। इसे हमें व्यापक अर्थों में समझना चाहिए। यँ तो संसार में सर्वत्र जीव भरे हैं तथा वे प्रतिसमय अपने-अपने निमित्तों से मरते रहते हैं। इतने मात्र से कोई हिंसक नहीं हो सकता। जैनधर्म के अनुसार हिंसा रूप परिणाम होने पर ही किसी को हिंसक कहा जा सकता है। हिंसा की परिभाषा बताते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा⁵ अर्थात् जब कोई प्रमादी बनकर, जान-बूझकर असावधानी अथवा लापरवाही से किसी भी जीव का घात करता है अथवा कष्ट पहुँचाता है तभी उसे हिंसक कहा जा सकता है। आशय यह है कि हिंसा तीन परिस्थितियों में होती है। पहली जान बूझकर-अभिप्राय पूर्वक, दूसरी असावधानी या लापरवाही जन्य और तीसरी हिंसा न चाहते हुए भी पूर्ण सावधानी बरतने पर भी, अचानक या अनायास किसी जीव का वध हो जाने पर। जब कोई प्रेरित व्यक्ति कषाय के वशीभूत होकर किसी पर वार करता है तो यह हिंसा कषाय प्रेरित हिंसा असावधानीकृत हिंसा कही जाती है, लेकिन पर को कष्ट पहुँचाने की भावना से शून्य पूरी तरह से सावधान व्यक्ति द्वारा यदि अनायास किसी प्राणी का घात हो जाता है तो उक्त परिस्थिति में उसे हिंसक नहीं कहा जा सकता। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि-

उच्चलियमिह पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।

आबाधेज्ज कुलिंग मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।

णहि तस्स तण्णिमित्तो बन्धो सुहुमोवि देसिदो समये।⁶

यदि कोई मनुष्य सावधानीपूर्वक जीवों को बचाते हुए देखभाल कर चल रहा है, फिर भी यदि कदाचित् कोई जीव उसके पैरों के नीचे आकर मर भी जाए तो उसे तज्जन्य हिंसा संबन्धी सूक्ष्म पाप भी नहीं लगता, क्योंकि उसके मन में हिंसा का भाव नहीं है तथा वह सावधान है।

जैनदर्शन में अहिंसा को व्रत के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उसकी रक्षा के लिए पाँच भावनाओं का विवेचन भी किया है। कहा है कि **वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिपेक्षण-समित्यालोचितपानभोजनानि पंच**⁷ अर्थात् अहिंसा की रक्षा के लिए वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिपेक्षण समिति और आलोचितपान भोजन का पालन करना चाहिए। इनके दोषों से बचने के लिए बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध का निषेध किया है।

अन्य भारतीय दर्शनों में अहिंसा का इतना सूक्ष्म विवेचन अप्राप्य है, परन्तु धर्म निरपेक्षता के कारण अन्य दर्शनों में जैन अहिंसा के स्थूल रूप के समान अहिंसा को माना है। जिसमें दूसरे जीवों को काय से सताना, मारना तथा दुःख देना हिंसा कहा है तथा इनसे बचने का नाम अहिंसा कहा है परन्तु वचन और मन से की जाने वाली हिंसा को परिगणित नहीं किया है।

सत्यव्रत :

सत्यव्रत जैनधर्म का मौलिक तत्त्व है। अहिंसा की आराधना के लिए सत्य की उपासना अनिवार्य है। झूठा व्यक्ति सही अर्थों में अहिंसक आचरण कर ही नहीं सकता तथा सच्चा अहिंसक कभी असत्य आचरण नहीं कर सकता। सत्य और अहिंसा में इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक के अभाव में दूसरे का पालन हो ही नहीं सकता। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जिस झूठ से समाज में प्रतिष्ठा न रहे, प्रामाणिकता खण्डित होती हो, लोगों में अविश्वास उत्पन्न होता हो तथा राजदण्ड का भागी बनना पड़े, इस प्रकार के झूठ को स्थूल झूठ कहते हैं। सत्याणुव्रती श्रावक इस प्रकार के स्थूल झूठ का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करता है, साथ ही वह कभी ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जिससे किसी पर आपत्ति आती हो। वह अपनी अहिंसक भावना की सुरक्षा के लिए हित, मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करता है। आचार्य उमास्वामी जी ने सत्य की परिभाषा में कहा है कि **असदभिधानमनृतम्**⁸ अर्थात् असत् कहना झूठ है। असत् के तीन अर्थ लिए जा सकते हैं पहला अर्थ जो बात नहीं है वह कहना, दूसरा अर्थ जैसी बात कही गई है वैसी न कहना, तीसरा अर्थ बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना। इसे झूठ कहा गया है।

अन्य भारतीय धर्मों में सत्य को ईश्वर का रूप कहा गया है। प्राचीन युग में एक कहावत थी कि इस संसार से यदि सत्य नष्ट हो जाए तो संसार समाप्त हो जाएगा। पारसी धर्म में नम्रता, दया, प्रेम, शान्ति के साथ सत्कथन अर्थात् सत्यता को भी धर्म की संज्ञा दी है।⁹ बुद्ध ने अपने अनुयायियों के आचरण के लिए चार नियमों का प्रतिपादन किया जिसमें मृषावाद का अर्थ असत्य नहीं बोलने का निर्देश दिया है।¹⁰ महाभारत काल में युधिष्ठिर को सत्य बोलने के कारण धर्मराज की उपाधि से भूषित किया गया था। पुराण

कथाओं में राजा हरिश्चन्द्र को सत्य की मूर्ति के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार भेदभाव से रहित होने के कारण सभी धर्मों के मूल नियमों में समानता देखी जाती है।

अचौर्य व्रत :

चोरी हिंसा का एक रूप है। अहिंसा के सम्यक् परिपालन के लिए चोरी का त्याग भी आवश्यक है। जब किसी की कोई वस्तु चोरी हो जाती है अथवा वह किसी प्रकार से ठगा जाता है तो उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है। उस मानसिक पीड़ा के परिणामस्वरूप कभी-कभी हृदयाघात भी हो जाता है। अतः चोरी करने से अहिंसा नहीं पल सकती तथा चोरी करने वाला सत्य का पालन नहीं कर सकता, क्योंकि सत्य और चोरी दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते। आचार्य उमास्वामी ने चोरी का कथन करते हुए कहा है कि **अदत्तादानं स्तेयम्**¹ अर्थात् बिना किसी के द्वारा दी हुई वस्तु को ग्रहण करना चोरी कहलाती है तथा जिस पर अपना स्वामित्व नहीं है, ऐसी किसी भी पराई वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग करता है। वह जल और मिट्टी के सिवाय बिना अनुमति के किसी के भी स्वामित्व की वस्तु का उपयोग नहीं करता। वह मार्ग में पड़ी हुई, रखी हुई या किसी की भूली हुई, अल्प या अधिक मूल्य वाली किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करता।

अचौर्यव्रती उक्त प्रकार की समस्त चोरियों का त्याग कर देता है, जिसके करने से राजदण्ड भोगना पड़ता है। समाज में अविश्वास बढ़ता है तथा प्रामाणिकता खण्डित होती है। प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। किसी को ठगना, किसी की जेब काटना, किसी का ताला तोड़ना, किसी को लूटना, डाका डालना, किसी के घर संध लगाना, किसी की संपत्ति हड़प लेना, किसी का गड़ा धन निकाल लेना आदि सब स्थूल चोरी के उदाहरण हैं। भारतीय दण्ड संहिता और भारतीय दर्शन चोरी को अपराध मानते हैं तथा चोरी करने वाले को पापी कहते हैं। इसी कारण प्राचीन समय में राजा चोरी करने वाले व्यक्ति के हाथ आदि कटवा देते थे। अतः सर्वविदित है कि चोरी अपराध है वही जैनदर्शन चोरी को सूक्ष्म और स्थूल के भेद से श्रावक और साधक को त्यागने का निर्देश करता है।

ब्रह्मचर्य व्रत :

यौनाचार के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। गृहस्थ अपनी कमजोरी वश पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण नहीं कर पाता। उसके लिए विवाह का मार्ग खुला है वह कौटुम्बिक जीवन में प्रवेश करता है। उसके विवाह का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों का सेवन करना ही होता है। विवाह के बाद वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री की तरह समझता है तथा पत्नी अपने पति के सिवाय अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र की तरह समझती हुई दोनों एक दूसरे के साथ ही संतुष्ट रहते हैं। इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदारसंतोष व्रत कहते हैं। ब्रह्मचर्य को हिन्दु एवं जैनधर्म दोनों धर्म महत्वपूर्ण मानते हैं। हिन्दुओं में नागा साधुओं को सबसे उत्कृष्ट साधु माना जाता है। वे नागा साधु आजीवन ब्रह्मचारी रहते हैं, परन्तु जैन आगमों में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यधारी जीव को इन्द्र भी नमस्कार करता है। जैनदर्शन में स्वदार संतोषी श्रावक को

भी आंशिक ब्रह्मचारी कहा गया है अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य का जितना सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है उतना सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र अप्राप्य है।

अपरिग्रह व्रत :

धन-धान्यादि बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व, मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहते हैं।¹² मनुष्य के पास जितनी अधिक संपत्ति की कामना होती है उसके पास उतनी ही अधिक मूर्च्छा आसक्ति या ममत्व होती है। अपनी इसी आसक्ति के कारण आवश्यकता न होने पर भी वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने की कोशिश करता है। यद्यपि मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति थोड़े से प्रयत्न से की जा सकती हैं, किन्तु आकांक्षाओं के अनन्त होने के कारण मनुष्य में और अधिक जोड़ने की भावना बनी रहती है इसे परिग्रह की संज्ञा दी है। संसार में परिग्रह को पाप की संज्ञा देने वाला जैनधर्म ही एक मात्र धर्म है। अन्य धर्म परिग्रह को पाप न मानकर आजीविका का साधन मानते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए पूरा जीवन समाप्त कर देते हैं। फिर भी कुछ अंशों में वैदिक धर्म में साधु जीवन को त्यागी जीवन कहा है जिससे परिग्रह का संदेश तो दिया है परन्तु पाप की संज्ञा नहीं दी।

जलगालन :

जैनधर्म में पानी छानने की एक विशेष विधि है। जिसमें एक मोटा कपड़ा लिया जाता है जिससे सूर्य की रोशनी आरपार नहीं जा सके। उसका नाप 36 अंगुल लम्बा और 24 अंगुल चौड़ा वस्त्र को दोहरा करके पानी छानने का निर्देश है।¹³ ऐसे कपड़े से पानी छानने से अनछने पानी में जो त्रस जीव होते हैं वे छन जाते हैं और पानी 48 मिनट तक के लिए त्रस जीवों की उत्पत्ति स्थान से रहित हो जाता है। परन्तु छने हुए पानी में स्थावर सूक्ष्म जीव पाये जाते हैं जो कपड़े से नहीं छन पाते क्योंकि वे बाधा रहित होते हैं। पानी को इन सूक्ष्म जीवों से रहित करने के लिए प्रासुक किया जाता है जिससे जल सूक्ष्म एवं त्रस जीव दोनों से रहित हो जाता है और इसमें शीतल स्वभाव अपने तक दोनों प्रकार के जीवों की उत्पत्ति स्थान नहीं बनते। इस प्रकार के जल को ग्रहण करने का साधु को निर्देश दिया है। साधु त्रस, स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा के त्यागी होते हैं। इसलिए वह गर्म पानी को ही ग्रहण करते हैं तथा डॉक्टर और वैज्ञानिक भी लोगों को स्वस्थता के लिए गर्म प्रासुक जल पीने की सलाह देते हैं। इससे जीवों की हिंसा से भी बचा जा सकता है तथा स्वास्थ्य भी अच्छा रखा जा सकता है। जगदीश चंद बसु ने अनछने पानी की एक बूँद में 36450 त्रस जीव बताये हैं।¹⁴ जैन ग्रन्थों के अनुसार उक्त जीवों की संख्या काफी अधिक है। ऐसा कहा जाता है कि एक जल बिन्दु में इतने जीव पाये जाते हैं कि वे यदि कबूतर की तरह उड़ें तो पूरे जम्बूद्वीप को व्याप्त कर लें। उक्त जीव के बचाव के लिए पानी को वस्त्र से छानकर पीना चाहिए। मनुस्मृति में भी दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेत् जलम् कहकर जल छानकर पीने का परामर्श दिया गया है।¹⁵

जैनदर्शन में पानी छानने का मूल उद्देश्य जीवों की रक्षा करना तथा जीवहिंसा से बचकर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करना है। इसी कारण प्राचीनकाल में और वर्तमान काल में

ग्रामों में आज भी पानी को कुओं, तालाबों से निकालकर उसकी जीवाणी अर्थात् छने हुए त्रस जीवों को यथास्थान पहुँचाने के लिए कुन्दे की बाल्टी से कुएँ या तालाब में वापस पहुँचाते हैं। इसके साथ ही पानी निकालते समय ध्यान रखा जाता है कि पानी की जीवाणी भी उस जलाशय में डालनी चाहिए नहीं तो भिन्न प्रकृति का पानी और जीव होने के कारण जीवाणी वाले जीव मरण को प्राप्त हो जाएंगे।¹⁶ इस प्रकार छने पानी के प्रयोग से स्वास्थ्य तथा धर्म दोनों की रक्षा होती है। अन्य दर्शनों में भी पानी छानने के लिए निर्देश देते हुए कहा है कि-

संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्यवेधकः।

एकाहेन तदाप्नोति अपूत जल संग्रही॥¹⁷

अर्थात् एक मछली मारने वाला वर्ष भर में जितना पाप अर्जित करता है, उतना पाप बिना छने जल का उपयोग करने वाला एक दिन में कर लेता है। इसी प्रकार उत्तर मीमांसा में जल छानने की विधि का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि-

त्रिंशदंगुलप्रमाणं विंशत्यंगुलमायतं।

तद्वस्त्रं द्विगुणीकृत्य गालयेच्चोदकं पिबेत्।

तस्मिन् वस्त्रे स्थिता जीवा स्थापयेज्जलमध्यतः

एवं कृत्वा पिबेत्तोयं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात् तीस अंगुल लम्बे और बीस अंगुल चौड़े वस्त्र को दोहरा करके उससे छानकर जल पियें तथा उस वस्त्र में जो जीव हैं उनको उसी जलाशय में स्थापित कर देना चाहिए जहाँ से वह जल लाया गया हो। इस प्रकार से जो मनुष्य जल पीता है वह उत्तम गति को प्राप्त होता है।¹⁸

अतः जैनधर्म एवं अन्य धर्मों के सिद्धान्तों में सामञ्जस्य देखने पर यह ज्ञात होता है कि पूर्व युग में जैनधर्म व्यक्तिगत किसी जाति का धर्म नहीं था वह सार्वभौमिक एवं धर्म निरपेक्ष था।

रात्रिभोजन त्याग :

जीवन में सुख का अनुभव करने के लिए स्वास्थ्य लाभ आवश्यक है। स्वास्थ्य लाभ से ही मानव जीवन तथा अन्य जीवों का जीवन सुखी और शान्त बन सकता है। इसके लिए एक कहावत चरितार्थ होती है कि **पहला सुख निरोगी काया** इस निरोगी काया के लिए प्राणी अनेक प्रयत्न करता है वह अपना पूरा जीवन शरीर को निरोगी बनाने तथा संभालने में लगा देता है। परन्तु यह शरीर फिर भी रोगी बना रहता है। इसका कारण एक ही है कि वह कार्य तो निरोगी होने के करता नहीं पर निरोगी बनना चाहता है।

आचार्यों ने शरीर को निरोगी करने के लिए रात्रिभोजन त्याग करना जीवों के लिए आवश्यक बताया है। सभी जीवों में लगभग सभी शाकाहारी जीव तो रात्रि में आहार ग्रहण नहीं करते परन्तु मानव एक ऐसा मन विकसित प्राणी है जो जानकर भी रात्रि में आहार ग्रहण कर अपनी काया को रोगी तथा आयु को कम करता है।

रात्रिभोजन के कारण :

1. रात्रिभोजन के कुप्रभावों की सही जानकारी का अभाव।
2. सामाजिक और नौकरी पेशे की अव्यवस्थाएँ।
3. कार्यालयों और दुकानों में भोजन अवकाश का समय निर्धारित न होना।
4. असमय में बालकों का स्कूल, कॉलेज और ट्यूशन आदि करना।
5. सुबह की चाय, नाश्ता, लंच आदि प्रारंभ होने से दिन में निर्धारित समय पर भूख नहीं लगना।
6. मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण का अभाव।
7. भौतिक समस्याओं की बढ़ती आवश्यकता और उसकी पूर्ति के कुप्रयास करना।
8. आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु रात-दिन श्रम करना।
9. सूर्य और कृत्रिम प्रकाश में अंतर की जानकारी का अभाव होना।
10. पाश्चात्य संस्कृति और आधुनिकता का चरम सीमा पर प्रभाव।
11. विवाह, पार्टी आदि में सामूहिक रात्रिभोजन को देखकर रात्रिभोजन त्यागी को व्यंग्य, तर्क-कुतर्क करके जबरन रात्रि भोजन करने को बाध्य करना।
12. टीवी सिनेमा आदि पर रात्रि भोजन में मौज-मस्ती का प्रदर्शन और चाट, लारी, होटल, भोजनालय आदि में रात-दिन भोजन का उपलब्ध होना।

रात्रिभोजन त्याग की आवश्यकता :

रात्रिभोजन त्याग के महत्त्व को जानने के साथ-साथ हमें शारीरिक संरचना को जानना भी परम आवश्यक है। संसार के प्रत्येक प्राणियों के शरीर की संरचना भिन्न भिन्न प्रकार है, अलग अलग आकार प्रकार से भोजन करने और पचाने की प्रक्रिया होती है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार दुनिया का सबसे बड़ा आश्चर्य मानव शरीर है। वैज्ञानिक भी इस मानव शरीर के बारे में ऊहापोह में जुड़े हैं कि आखिर यह मानव शरीर इतने वर्षों तक निरंतर कैसे चलता रहता है जो संवेदना से युक्त होता है, जो अच्छे-बुरे का ज्ञान करा देता है जो अन्दर रासायनिक पदार्थों को तैयार करके आवश्यकता पड़ने पर बाहर निकालता रहता है जो अन्दर ही अन्दर अपना भोजन पचाकर आवश्यक ऊर्जा देता रहता है और बाहरी रोगाणुओं से अपनी सुरक्षा करता रहता है परन्तु जो इसकी प्रकृति के विरुद्ध आता है उसे तत्काल दण्ड भी देता है।

अन्य धर्मों में रात्रिभोजन का निषेध :

वर्तमान युग में रात्रिभोजन का सेवन प्रत्येक धर्म का अनुयायी कर रहा है। उसे इस विषय की जानकारी नहीं है कि रात्रिभोजन करने से धर्म के साथ स्वास्थ्य भी खराब होता है। वैदिक साहित्य में रात्रि भोजन के निषेध के लिए अनेक ग्रंथों में उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत के शांतिपर्व में रात्रिभोजन को नरक का द्वार बतलाते हुए कहते हैं कि-

नरकद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनं। परस्त्रीगमनं चैव संधानानन्तकायिके।

ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः। तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते॥

नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिरः। तपस्विनां विशेषेण गृहिणां च विवेकिना॥¹⁹

अर्थात् रात्रि भोजन करना, परस्त्री गमन करना, अचार-मुरब्बा आदि का सेवन करना तथा कंदमूल आदि अनन्तकाय पदार्थ खाना ये चार नरक के द्वार हैं। उनमें पहला रात्रिभोजन करना है। जो रात्रि में सब प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं, उन्हें एक माह में एक पक्ष के उपवास का फल मिलता है। हे युधिष्ठिर! विशेषकर तपस्वियों एवं ज्ञान संपन्न गृहस्थों को तो रात्रि में जल भी नहीं पीना चाहिए। मार्कण्डेय महर्षि ने भी कहा है कि सूर्य के अस्त हो जाने पर जल को खून तथा अन्न भक्षण को माँस के समान जानना चाहिए।²⁰ अतः रात्रिभोजन त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

जैनधर्म और अन्य धर्मों के कुछ सिद्धान्तों का समावेश :

1. जैनदर्शन में प्रत्येक श्रावक को चाहे वह क्षत्रिय हो या शूद्र हो या वैश्य अथवा ब्राह्मण हो सभी को आपत्तिजनक वस्तुओं के क्रय-विक्रय का निषेध किया गया है। यदि वह आपत्तिजनक वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता है, विरुद्धराज्यातिक्रमण नामक दोष से दूषित होता हुआ पाप का बंध करता है। इसी बात की अंशतः पूर्ति वैदिक परंपरा में देखने को मिलती है। वैदिक परंपरा में कहा गया है कि ब्राह्मण आपत्तिकाल में वाणिज्य कर्म कर सकता है किन्तु वस्तु विक्रय के संबन्ध में उस पर नियंत्रण था। वह आपत्तिजनक वस्तुओं का कदापि क्रय-विक्रय नहीं कर सकता।²¹

2. जैन परम्परा में चारों वर्णों को मांस-मदिरा के त्याग का निर्देश दिया है परन्तु वैदिक परम्परा में तीनों वर्णों को श्रेष्ठ माना गया है और शूद्र वर्ण को निम्न माना गया है। निम्न वर्ण के लोग मांस, मदिरा का सेवन क्वचित् कदाचित् करते थे परन्तु वर्तमान समय में अधिकांश निम्न वर्ण के लोग मांस-मदिरा का अत्यधिक सेवन करने लगे हैं। वैदिक परम्परा में निम्न वर्ण को इन कर्मों को करने की छूट दे रखी थी। और कहा गया है कि श्रेष्ठ वर्ण के लोग इन पदार्थों का सेवन करते हैं तो वे भी निम्न वर्ण के समान माने जायेंगे।

3. जैनदर्शन में मन, वचन और काय की पवित्रता को मोक्ष का साधन कहा गया वहीं पारसी धर्म में हुमता-सद्विचार, हुमबसत्कथन, और हुबस्ता- सत्कार्य को स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधन माना गया है।²²

4. जैनदर्शन की मूल जड़ अहिंसा के साथ क्षमा, नम्रता, दया, त्याग आदि को दस धर्मों का लक्षण कहा है। इसी प्रकार जैनाचार्य सोमदेव ने नैतिकता के लिए नीतिवाक्यामृत में धर्म में नैतिकता की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है, वहीं ईसाई धर्म में महात्मा ईसा ने नम्रता, क्षमा, दया, त्याग आदि पर विशेष बल दिया है तथा ईसाई धर्म में भी नैतिकता को धर्म का केन्द्र माना है।²³

5. आचार्य उमास्वामी ने परस्परोपग्रहो जीवानाम्²⁴ सूत्र देकर जीवों को परोपकार करने का मार्ग बताया तथा कहा कि दूसरों की निंदा करने से नीच गोत्र का आश्रव होता है। इसी बात को इस्लाम धर्म में कहा है कि जो खुदा के मार्ग पर चलता है वही सही मार्ग पर चलता है। जो धन परोपकार के लिए खर्च किया गया है, वही धन तुम्हारा है शेष धन तुम्हारा नहीं है तथा कुरान शरीफ में इस बात पर भी जोर दिया है कि खुदा का बंदा शराब न पीये और जुआ न खेले इससे स्वास्थ्य और धन के साथ-साथ धर्म भी नष्ट होता

है।²⁵ जो मानव स्वयं के दोषों को निहारता है, उसे दूसरों के दोष देखने का अवकाश नहीं होता। निंदा करने वाला और सुनने वाला- ये दोनों ही समान रूप से पापी हैं। पेट और उपस्थ (जननेन्द्रिय) को हराम की जगह से बचाओ क्योंकि इन्हीं के कारण से हराम के कार्य होते हैं। तुम्हारा कर्तव्य है कि जिसने तुम्हारे साथ असद्व्यवहार किया हो उनके साथ सद्व्यवहार करो तथा यतीमों (अनाथों) की भलाई करो। इस तह जैनदर्शन के अंशतः संयम आचरण शुद्धता आदि सिद्धान्तों का दर्शन इस्लाम धर्म में भी प्रतिबिम्बित होता है।²⁶

6. जैनदर्शन के सिद्धान्तों का दिग्दर्शन सिख धर्म में भी प्राप्त होता है। सिख धर्म में आचरण पर विशेष जोर दिया गया है और कहा गया है कि सत्य से भी ऊँचा आचार है तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदि दुर्गुणों पर नियंत्रण करने से चारित्र्य उत्पन्न होता है। सिख धर्म में सबके आगे झुकना, क्षमा करना और मीठा बोलना ये तीन वचन मुक्ति के मार्ग बताये गये हैं।²⁷

सांस्कृतिक और सामाजिक धर्म निरपेक्षता :

संस्कृति किसी देश की धरोहर होती है। यदि संस्कृति का नाश हो जाता है तो वह देश भी कुछ दिनों तक जीवित रहता है। प्राचीन भारत में राजतंत्र का प्रचलन था। जिसमें राजा के अधीन होकर धर्म तथा कर्म किया जाता था। यदि राजा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने वाला होता था तो प्रजा अपना धर्म तथा कर्म निर्विघ्नता से नहीं कर सकती थी। आगम युग में देखा जाए तो सभी राजा अपनी प्रजा की भलाई के लिए प्रतिक्षण प्रयत्न करते रहते थे। वे सदैव उनकी रक्षा करते थे। परन्तु कोई भी राजा प्रजा की संस्कृति के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार नहीं करता था। राजा किसी भी संस्कृति का पालन करने वाला हो परन्तु वह प्रजा की संस्कृति पर आघात नहीं पहुँचाता था और यदि वह प्रजा की संस्कृति पर आघात करता था तो प्रजा उसे राज्यपद से च्युत कर देती थी। जैसे उपश्रेणिक ने अपने पुत्र चिलाती को राज्य प्रदान किया था परन्तु वह प्रजा के साथ अन्याय तथा प्रजा की संस्कृति के साथ आघातपूर्ण व्यवहार करने लगा था जिससे उसे प्रजा ने राजसिंहासन से च्युत करके श्रेणिक को राजा नियुक्त किया था।²⁸ इस संस्कृति के अंतर्गत मानव का रहन-सहन, आहार-विहार, वस्त्रों का पहनाव आदि करते थे।

पूर्व काल में किसी भी देश का या रियासत का रहन सहन पृथक् होता था जिससे उसके देश के काल का पता चलता था। जैनधर्म में वर्णन प्राप्त होता है कि राजा प्रजा के रहन-सहन पर हस्तक्षेप नहीं करता था तथा दूसरे राज्य से आये हुए मेहमान को उस राज्य की वेशभूषा, रहन-सहन आदि को अपनाने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ता था। हरिवंशपुराणकार ने वसुदेव के देश-विदेश भ्रमण के समय वसुदेव के रहन-सहन के परिवर्तन का संकेत नहीं दिया तथा वसुदेव देश-विदेश में परिभ्रमण करते रहे परन्तु किसी राजा ने उनके रहन-सहन को बदलने के लिए बाध्य नहीं किया।²⁹ इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति कहीं भी जाये उसे अपनी संस्कृति को परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्रता थी चाहे वह परिवर्तन करे अथवा न करे।

रहन-सहन के समान व्यक्ति आहार-विहार के लिए भी स्वतंत्र था। उसको परिभ्रमण

काल में भी अपने आहार-विहार के लिए दूसरे व्यक्ति के द्वारा बाधा नहीं पहुँचती थी। नागकुमार चरित्र में नागकुमार को अन्य देशों में परिभ्रमण करते हुए वर्णन किया है। जिसमें उसके आहार-विहार की स्वतंत्रता का वर्णन प्राप्त होता है। राजा की राज्यसभा में विभिन्न धर्म के अनुयायी पदों पर पदस्थ थे। राजा इन पदस्थ कर्मचारियों को राज्य का काम देता था राजा को उनके धर्म तथा संस्कृति से किसी प्रकार का मतलब नहीं होता था। इन पदों में मंत्री, सेनापति, राजपुरोहित, सभासद, विद्वत्वरग आदि महत्त्वपूर्ण पद थे राजा इनकी ईमानदारी तथा कार्य करने की कुशलता से प्रसन्न होकर इनको पदों पर स्थापित करता था। इस प्रकार की व्यवस्था से सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक व्यवस्था अबाधित रूप से चलती थी। यह धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना का सूचक है।

मुगल काल के बाद भारत में धर्म निरपेक्षता में हानि होने लगी। मुगल शासक अपने धर्म की स्थापना के लिए दूसरे के धर्म का नाश करने लगे तथा दूसरे धर्म की संस्कृति का नाश के अपनी संस्कृति का बल पूर्वक स्वीकार करने को बाधित करने लगे। परिणाम स्वरूप समाज में अराजकता, भय, अविश्वास की वृद्धि एवं संस्कृति का हास होने लगा।

न्यायिक धर्म निरपेक्षता :

धर्म निरपेक्षता के लिए न्याय का बहुत ही महत्त्व है यदि प्रजा को राजा न्याय नहीं देता तो प्रजा स्वयं ही निर्णय करने लगेगी। राजा को प्रजा तथा धर्म के अनुरूप न्याय करने की क्षमता होनी चाहिए। यदि राजा पक्षपातपूर्ण न्याय-अन्याय का निर्णय करेगा तो प्रजा का राजा के ऊपर से विश्वास हट जाएगा और जिस प्रजा का राजा के ऊपर से विश्वास हट जाता है वह राजा राज्य करते हुए भी राजा नहीं है। या तो वह प्रजा पर बल पूर्वक राज्य करता है या राज्य से च्युत कर दिया जाता है। इसलिए राजा को न्याय पूर्वक राज्य करना चाहिए। पुरा काल में रामराज्य को अच्छा माना जाता था क्योंकि राम ने न्याय के लिए अपनी प्रिय पत्नी का भी त्याग कर दिया था। राजा विक्रमादित्य का शासन काल भी कुछ ऐसे ही न्याय परायण राजा का स्मरण कराता है। न्याय पूर्ण राज्य करने वाला राजा युगों-युगों तक इतिहास में प्रसिद्ध होता है।

धर्म निरपेक्षता से लाभ :

एकता में वृद्धि-

यदि जाति वर्ग आदि असमान हो परन्तु मन समान हो तो मित्रता में वृद्धि होती है। मन के समान होने के कारण धर्म निरपेक्षता है इसी धर्म निरपेक्षता के कारण विभिन्न वर्गों के लोगों में संगठन दिखाई देता है।

सुख, शांति, निर्भयता में वृद्धि-

वर्तमान समय में समाज में प्रत्येक व्यक्ति दुःखी है क्योंकि उसका मन दुःखी है वह अशान्त है इस कारण उसे भय है। अपनी एकांत धारणा के कारण दूसरों का अप्रिय बन चुका है। इससे वह भय से जीवन व्यतीत करता है। दूसरी ओर साधु दोनों पक्षों को जानकर मन को एकाग्र कर सुख शांति तथा निर्भयता का जीवन व्यतीत करते हैं।

पापकर्म बंध में मंदता-

संसार में सबसे अधिक पापकर्म का बंध रागद्वेष के कारण होता है तथा जब व्यक्ति के अन्दर धर्म निरपेक्षता अर्थात् भेदभाव से रहित अवस्था का आगमन हो जाएगा तो वह रागद्वेष नहीं करेगा और निष्पक्ष भाव से निर्णय करेगा।

समाज में सम्मान वृद्धि-

समाज में जो व्यक्ति निष्पक्ष भाव से निर्णय करता है अथवा निर्णय सुनता है उस व्यक्ति का सम्मान प्रत्येक व्यक्ति अंतरंग से करता है।

भेदभाव रहित समाज का निर्माण-

धर्म निरपेक्ष होने पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अच्छे विचारों को ग्रहण करने में स्वतंत्र होगा। उस पर किसी प्रकार का दबाव नहीं होगा तथा वह उच्च-नीच भावना से ग्रसित नहीं होगा, जिससे भाईचारे में वृद्धि होगी तथा आतंकवाद जैसी समस्याओं का निवारण हो सकेगा। आतंकवाद का प्रचलन मात्र आपसी मतभेद के कारण बढ़ रहा है जब मतभेद नहीं होगा तो समस्या नहीं रहेगी। वर्तमान समय में प्रत्येक घर में या समाज में आपसी झगड़े का कारण मनभेद है और वह मनभेद स्वयं की अपेक्षा की पूर्ति दूसरे के द्वारा नहीं होने के कारण से होता है। इस अपेक्षा से रहित जीवन का नाम निरपेक्ष भाव है।

सम्यक् कार्य के निर्णय की शक्ति में वृद्धि-

आपसी कलह या एकान्त धारणा के साथ मन कुण्ठित हो जाता है जिससे मन में शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता में कमी होती है। जब मनुष्य दोनों पक्षों को सुनकर अनेकान्त या धर्म निरपेक्षता से मन को एकाग्र करता है मन में किसी के प्रति संदेह नहीं रहता तो अच्छे कार्यों के प्रति निर्णय शीघ्रता से ले लेता है।

धर्म निरपेक्षता के अभाव से हानि :

१. सांप्रदायिक मतभेद एवं वैमनस्यता-

आज वर्तमान में संगठन के नाम पर या धर्म के नाम पर झगड़े प्रारंभ हो गये हैं। सभी लोगों में अपना मत स्थापित करने की तथा दूसरे के मत को बहिष्कृत करने की भावना बलवती हो गई है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों से अपने संगठन या धर्म को मजबूत करना चाहता है, परन्तु वह धर्म के मर्म को भूलकर अपने मत की पुष्टि करता है यदि वह धर्म के मर्म को समझ जाये तो वह अपने साधर्मी भाई के मत के बहिष्कार करने से पहले उसकी अपेक्षा को समझेगा। इसे ही धर्म निरपेक्षता कहते हैं परन्तु इस बात को जाने बिना एक-दूसरे के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न कर लेते हैं और संगठनों में वैमनस्यता प्रारंभ हो जाती है। सांप्रदायिक मतभेद एवं वैमनस्यता समाप्त करने के लिए धर्म निरपेक्षता आवश्यक है।

धर्म से आस्था समाप्त होना-

सांप्रदायिक मतभेद के कारण धार्मिक स्थलों में और धार्मिक कार्यक्रमों में झगड़े, मनमुटाव प्रारंभ हो गये हैं। इस कारण लोग धार्मिक मंचों को भी राजनीतिक मंचों के समान उपयोग करने लगे हैं। वर्तमान युवापीढ़ी या सामान्य जन जब इस प्रकार का वातावरण

धार्मिक स्थलों में देखते हैं तो उन्हें धर्म की अपेक्षा आपसी मतभेद दिखाई देते हैं। जिस कारण वह धार्मिक कार्यक्रमों से हटता जाता है और एक समय ऐसा आता है कि उसकी धर्म से पूर्ण रूप से श्रद्धा समाप्त हो जाती है।

पाप कार्यों में स्वतंत्रता-

जब युवापीढ़ी धार्मिक स्थलों में पुण्य की क्रियाओं की अपेक्षा विकथाओं की क्रिया को करते देखती है तो अज्ञान होने के कारण वे उस क्रिया को ही धर्म मान लेते हैं तथा दया आदि क्रियाओं से रहित क्रिया काण्डों को ही धर्म मानकर धर्म के नाम पर स्वतंत्र रूप से पाप करते हैं तथा इन क्रियाओं के अतिरिक्त धार्मिक स्थलों में धार्मिक संस्कार नहीं मिलने के कारण वे अन्य स्थलों में पाप की क्रियाओं को अधिक करते हैं। अतः धार्मिक मतभेद को मिटाकर एक दूसरे के विचारों की अपेक्षा से समझकर धर्म निरपेक्ष भाव से वैमनस्यता को समाप्त करना चाहिए।

धर्म निरपेक्षता के अभाव के कारण-

प्राचीय युग में धर्म निरपेक्षता पूर्ण व्यवहार किया जाता था परन्तु वर्तमान में धर्म निरपेक्षता के अभाव के कारण बहुत हैं। जिनके कारण व्यक्तियों का निरपेक्ष राज्य से विश्वास समाप्त हो गया है उनमें से कुछ कारण निम्न हैं-

मान कषाय-

पूर्व काल से व्यक्ति जिस भेदभाव रूपी गलत मान्यता का अनुसरण कर रहा है उस मान्यता में अथवा परंपरा में सुधार लाने का विचार बनाता भी है तो उसकी मान कषाय उस काम में विघ्न रूप से उपस्थित हो जाती है। वह मान कषाय की पूर्ति के लिए भेदभाव रूप नीति को अपनाने में बाध्य हो जाता है उसे लगता है कि यदि वह धर्म निरपेक्षता को स्वीकार करके सभी से समानता का व्यवहार करने लगेगा तो उसके परिवार की परंपरा का क्या होगा उसे लोग क्या कहेंगे? इस कारण वह मान कषाय को बचाने के लिए धर्म निरपेक्षता से दूर रहता है।

हठधर्मिता-

यह मान कषाय का ही दूसरा रूप है। इसमें व्यक्ति एक बार किसी मान्यता को ग्रहण कर लेता है तो अपने हठीले स्वभाव के कारण वह उसे छोड़ नहीं पाता। जिससे उसका पतन तो होता है और उसके संगठन में भी मिथ्या मान्यता का प्रचार होता है।

पराधीनता-

आज वर्तमान में पराधीन व्यक्ति धर्म निरपेक्षता के लिए स्वतंत्र नहीं है। वह जिसके अधीन काम करता है उसकी मान्यता का अनुसरण करना पड़ता है वरना उसे उसके कार्य से बहिष्कृत किया जा सकता है। स्वामी अपने नौकर को अपने धर्म को स्वीकार कराने के लिए प्रयत्न करता है। पत्नि पति के धर्म के अनुसार गमन करती है।

स्वार्थपरायणता-

व्यक्ति का अपना कोई धर्म निश्चित नहीं रह गया है वह जहाँ अपना स्वार्थ देखता

है वह उसी में अपना विचार बना लेता है चाहे वह सही हो या गलत हो इस स्वार्थी जीवन के कारण धार्मिक स्थलों में भी अपना लाभ देखने लगे हैं। अतः धर्म को निष्पक्ष भाव से देखकर ही ग्रहण करना चाहिए।

निष्कर्ष-

पुराकाल में और वर्तमान काल में धर्म निरपेक्षता का अतिमहत्त्व है। अराजकता, अन्याय, पक्षपात, दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप न करे इसलिए आवश्यक है एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना होनी चाहिए। सांप्रदायिकता में भेदभाव हो गया है प्रत्येक धर्म में मतभेद के कारण नये सांप्रदायिकों का जन्म हो रहा है। जिससे समाज के कई विभाग हो रहे हैं और विदेशी संस्कृति भारत की संस्कृति पर अपना कुप्रभाव दिखा रही है। बुढ़े बुजुर्गों की बात कोई भी सुनता नहीं जब तक पूर्ण रूप से धर्म निरपेक्षता नहीं होगी तब तक मतभेद होता रहेगा और समाज के टुकड़े होते रहेंगे। अतः समाज की अखण्डता के लिए एवं परिवार में सुख शांति के लिए धर्म निरपेक्षता की नितांत आवश्यकता है।

संदर्भ सूची :

1. भावना द्वात्रिंशतिका- आचार्य अमितगति पद्य-1, जैन पूजापाठ संग्रह, पृ. 324, सं.- कस्तूरचंद छावड़ा, जवाहर प्रेस कलकत्ता।
2. रत्नकरण्डक श्रावकाचार-आचार्य समन्तभद्र स्वामी, टीकाकार- पं. सदासुखदास जी, अधिकार-1, श्लोक-2 पृष्ठ-1, प्रकाशक- पं. सदासुख ग्रंथमाला- अजमेर, संस्करण-प्रथम
3. श्रावकाचार संग्रह- यशस्तिलक चम्पू, श्री सोमदेव सूरि, संपादक- पं. हीरालाल शास्त्री, भाग-2, श्लोक-2, पृष्ठ-123
4. सर्वार्थसिद्धि, आचार्य पूज्यपाद स्वामी, संपादक-पं. फूलचंद शास्त्री, अध्याय-9 पृ.-321 प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण-चतुर्थ।
5. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वामी, संयोजक-प्रदीप शास्त्री, अध्याय-7, सूत्र-13, पृ.-120, प्रकाशक- श्री दि. जैन साहित्य प्रकाशन समिति बरेला, जबलपुर (म.प्र.) संस्करण-2000
6. प्रवचनसार, आ. कुन्दकुन्द स्वामी, तात्पर्यटीका- आ. जयसेन, चारित्राधिकार, गाथा-232, 233, पृष्ठ-323, 324
7. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-7, सूत्र-4, पृष्ठ-117
8. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-7, सूत्र-14, पृष्ठ-121
9. जैन आचार मीमांसा, आ. देवेन्द्र मुनि, पृ.74, प्रकाशक-श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर (राज.) 1995
10. सिंगालोवाद सुत्त-दीर्घनिकाय, अध्याय-8, सूत्र-1, पृ.-4, अनुवादक- राहुल सांकृत्यायन महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी 1936
11. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-7, सूत्र-15, पृष्ठ-121
12. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-7, सूत्र-17, पृष्ठ-121
13. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश भाग-2, प्रकरण-जलगालन निर्देश, पृ. 325
14. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश, भाग-2, प्रकरण जलगालन निर्देश, पृष्ठ-325
15. मनुस्मृति, रणधीर बुक सेल, हरिद्वार-6/46
16. सागर धर्माभूत, पं. आशाधर जी, संपादक-कैलाशचंद सिद्धांत शास्त्री, अध्याय-3, श्लोक-16, पृष्ठ-131, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005

17. लिंगपुराण, 202
18. उत्तर मीमांसा, 203
19. महाभारत शांतिपर्व, गीता प्रेस, गोरखपुर, श्लोक-16
20. मार्कण्डेय पुराण, महर्षि मार्कण्डेय, गीता प्रेस, गोरखपुर, अध्याय-33/53
21. गौतम धर्मसूत्र- सं.- श्री निवासाचार्य, अध्याय-7, सूत्र-8, पृ.-24, गवर्मेट ओरियंटल लाइब्रेरी सीरीज मैसूर 1917
22. जैन आचार मीमांसा, पृष्ठ-74
23. जैन आचार मीमांसा, पृष्ठ-75
24. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-5, सूत्र-21, पृष्ठ-96
25. कुरान शरीफ-अनु. हजरत मौलाना फतेह मोहम्मद खाँ जालंधरी, आयत 235, प्रकाशक-एम. शरीफ एण्ड संस जामा मस्जिद, दिल्ली
26. कुरान शरीफ आयत- 235
27. गुरु ग्रंथ साहिब, पंचम गुरु अर्जुनदेव
28. श्रेणिक चारित्र आचार्य शुभचंद, संपादक-नंदलाल जैन, अध्याय-5, पृ.52, प्रकाशन- जैन पुस्तक भवन, कोलकाता
29. हरिवंश पुराण, आचार्य जिनसेन, संपादक-डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकरण-वसुदेव भ्रमण, पृष्ठ-280-399, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-2004

-द्वारा, ओमप्रकाश जैन
लक्ष्मीनाथ मंदिर की गली
केकड़ी, जिला-अजमेर (राजस्थान)

Concept of Functional Consciousness (Upayoga) in Jainism

-Samani Chaityapragya

It is quite clear that the world comprises two different types of entities (I) living (II) non-living. Life in this universe is an association and dissociation of matter and soul. Philosophers and other scholars have pondered on the meaning of life since ancient times. The Jain philosophy is essentially focused on existence of life (jiva or the living being) thus also describes in detail its nature and properties. Within the dawn of science, man began to study the different kinds of organisms as living being. They learned how organisms grows, what condition they need to live. How they respond to their surroundings, how they reproduce etc. Scientist has built a tremendous knowledge about life but still they cannot define what life itself actually is.¹

According to modern Biology, life is an intangible quality that defies any simple definition. We can however, describe some of the characteristics of living things that taken together are not shared by non living things or objects. it consists of the following characteristics (1) adaptation (2) sensitivity (3) communication system (4) stimulation (5) metabolism (6) growth (7) development and reproduction etc. but Jainism defines living being in terms of a single characteristic called consciousness.

Consciousness as the Characteristic of Jiva

As quoted in Uttaradhyayana '*jiva cevajivya; esa loye vihaiya*'.² "The world is a product of conscious and non-conscious beings, According Jain texts, that which is characterized by consciousness is jiva³. This is further explained as '*cetanalakkhano jiva* i.e. Consciousness is the characteristic of living being. On the other hand *ajiva* is characterized by non-consciousness. Jain scriptures define *ajiva* as "*acetano ajiva*". 'The being, which is devoid of consciousness is *ajiva*.'⁴ It can be clearly derived from the different Jain texts that the only characteristic of life is consciousness as given below :

Acaranga Sutra (6th Cent. B.C.) is one of the most ancient Jain

philosophical treatises that Lord Mahavira is known to have produced. *Acaranga sutra* mainly deals with the nature of soul. There Mahavira says that *atma* (soul) is that which knows.⁵ The salient features of the *jiva* according to Jainism is to know and act of knowing is called as *upayoga*.

Upayoga (functional consciousness) : the Defining Characteristic of Soul

The words *upayoga* (functional consciousness) and *cetana* (consciousness) are used parallelly by Jain scholars. Detailed descriptions of both are available in Jain texts.

The terms *Cetana* (consciousness) and *Upayoga* (functional consciousness) have been distinguished by *Kundakunda* (1st Cent. A.D.) as one to be an attribute and the later to be a mode. The definition of the soul (*jiva*) as usually found in terms of *cetana* (consciousness) is therefore based on the substantial stand point, which integrates *upayoga* (functional consciousness) in it. In fact functional consciousness is concomitant with intrinsic nature of *jiva*.

*Bhagavati Sutra*⁶ has given six terms in the first instance and twenty three literal terms later, specifying these characteristics though there seems to be duplications because of similar meanings of terms it is seen that most of the synonyms represent observable properties. Only three seems to be non-observable. *Bhagavati* also mentions characteristics of weight, size, metabolism, irritability, growth, reproduction and adaptation of living. In contrast *Kundakunda* has described seventeen attributes of living but it has some difference as it assumes non-materiality etc., as characteristics of life which *Bhagavati* do not mention. At the same time *Veda* and *vigya*⁷ are the terms of *Bhagavati* with the meaning leading to consciousness. The same is true when *kundakunda* used two terms *cetana* and *upayoga* having similar meanings. *Umaswati* (1st Cent. A.D.) followed the tradition of *Kundakunda* defining *jiva* which has been divided in two aphorisms as follows *uaogalakkhanam jiva*'. Functional consciousness is the characteristic of living being.

Apart from the above said descriptions of the main texts, there exists elaborate explanation found about the nature of *jiva* in commentaries too. In *Tattvartha Rajavartika* (720 A.D.) consciousness is explained as the very nature of the living beings. *jivasvabhavascetana*.⁸ Here *upayoga* means the act of knowledge and *upayoga* subsists in *cetana*

(consciousness).

Consciousness (*cetana*) is a kind of energy and *upayoga* is its utilization.⁹ Thus *upayoga* can be now termed as functional consciousness *Dhavalā*¹⁰ (10th-11th Cent. A.D) defines *upayoga* as the cognitive acquisition of self and others. This definition also implicitly indicates the meaning of *upayoga* as functional consciousness.

This is a very important definition from biological point of view, because often living beings are defined in biology as one who can respond to the stimulus. Jain definition accepts receiving of stimulus itself also as a sign of living being even if it lacks the response. Some organisms may not be able to respond to the stimulus but are still living. All organisms at least receive stimulus. The terms such as consciousness, sensitivity, irritability, are included in *upayoga*. The state in which the being becomes the knower is the state of *upayoga*.¹¹

The term *upayoga* is defined by Acharya Tulasi as :

“*Cetana vyapara upayogah*”¹²

Cetana jnana darsanatmika/ tasya vyaparah prvrittirupayogah

“Cognitive activity of consciousness is functional consciousness. sentence consists of knowledge and intuition. Consciousness is the activity that is the application of the same.”

It is stated in Biology that the characteristic of sensitivity is even possessed by even a single celled organism like amoeba, which has no visible sense organs.¹³ The sensitivity here refers to the ability to respond to light, sound etc. It is the response of an organism to stimulants. But as per Jainism, as described in *Dhavalā* the basic attribute of life is sensation. It is not response of an organism to the stimulants but only the reception of the stimulants or pure cognitive activity that dichotomize living from nonliving being.

Functional Consciousness in Disembodied or Liberated Souls

In commentaries of *Tattvartha Sutra*, however, the living beings; embodied or disembodied has been defined in terms of capacitative (*bhava*) and functional (*karana*) consciousness-*upayoga*. This shows that functional consciousness remains even after liberation. But can liberated soul function?

It is usually questioned that when the *upayoga* is defined as *Cetana vyapara upayogah*,¹⁴ “Cognitive activity of consciousness is functional consciousness, How is functional consciousness possible in liberated state as there remains no activity in the state of liberation. The answer to the above question can be given through analysis of the term *vyapara* given in the above definition. In Nyaya Philosophy, it is defined in *Nyayasiddhanta muktavali* as “tat janyatvesati tat janyajanaktvamiti vyaparah”¹⁵ the word *vyapara* refers to that begetting itself is the begetter of its own begetter. To make it more clear that which is effect in itself and also cause of the effect is *vyapara*. This *vyapara* is present even in liberated state the consciousness¹ of knowledge begets the second consciousness² of intuition which (consciousness¹) was itself caused by the consciousness of intuition, as defined *Cetana jnana darsanatmika/ tasya vyaparah pravrittirupayogah*¹⁶

Consciousness consists of knowledge and intuition. Consciousness is the activity that is the application of the same.”

Thus of according to Jainism in spite absence physical activity in liberation there exist pure immediate cognitive activity in the form of infinite modes of knowledge and intuition which keeps on going in the form of chain of cause and effect or more precisely begetter and begotten. And such a consciousness is definitely functional consciousness.

Thus it is established that functional consciousness in Jainism is an defining characteristic of the soul. It is neither narrow as you cannot find any instance of soul devoid of functional consciousness, nor is it broad as you cannot an instance where consciousness remains without soul. Even in the stage of liberation, the consciousness is functional as there exists *artha parayaya* in each and every existent. Without this *artha parayaya* there can be no *artha kriya* (causal efficiency). And Without *artha kriya* nothing can exist even soul. To conclude functional consciousness is that *arthakriya* of the soul without which soul cannot exist.

Reference:

- 1 The World Book Encyclopedia, World Book & Childcraft International Inc, U.S.A, 1978. vol.12 p 242
- 2 Uttarajjhayanani, XXXVI, 2.
- 3 Bhagavai, 2.137 ... uvaogalakkane nam jive.
- 4 *Jain Siddhanta Dipika of Acarya Tulsi*, trans. By Satkari Mookerji in the

name of Illuminator of Jaina Tenets, Jain Vishwa Bharati, Ladnun, 1985, 3.79

5. Acaranga, 5.104, Je aya se vinnaya.
6. *Bhagavati Sutra*, ed by K.C. Lalawani, Bharatiya Jnanapitha, 1966, p. 232.
7. *Bhagavati Sutra*, ed by K.C. Lalawani, Bharatiya Jnanapith, 1966, p. 232.
8. Tattvartha Rajavartika of Akalankadeva, 1.4. 14, p. 26.11.
9. Acarya Mahaprajna, Philosophical Foundation of Jainism, Adarsa Sahitya Sangha, New Delhi, 2002, p. 5.
10. *Dhavalā*, 1.413.6, svaparar'pagraha'āi upayoga
11. *Yasca vigyata padarthanam paricchedaka upayoga*
12. *Jain Siddhanta Dipika of acarya Tulsi*, 2.3
13. Mind Alive, Vol. I, p. 21.
14. *Jain Siddhanta Dipika of acarya Tulsi*, 2.3
15. Nyayasiddhanta muktavali, Anumankhanda, p.2
16. *Vrtti of Jain Siddhanta Dipika of Acarya Tulsi*, 2.3

-Assistant Professor,
Jain Vishwa Bharati University,
Ladnun(Rajasthan)

वीर शासन जयंती राष्ट्रीय व्याख्यानमाला सम्पन्न

वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान), दरियागंज, नई दिल्ली-2, ज्ञान एवं शोध का कल्पवृक्ष बनकर विगत 54 वर्षों से, अपने समृद्ध पुस्तकालय के माध्यम से श्रुत-सेवा के लिए संकल्पित है। इस वर्ष 17 जुलाई, 2011 को वीर शासन जयंती के पावन प्रसंग पर, वीर सेवा मंदिर में एक राष्ट्रीय व्याख्यानमाला का भव्य आयोजन हुआ। व्याख्यानमाला समारोह की अध्यक्षता प्रो. समणी चारित्र प्रज्ञा जी, कुलपति जैन विश्वभारतीय विश्वविद्यालय-लाडनूँ (राज.) ने की जो कनाडा में चार वर्ष तक विजिटिंग प्रोफेसर के पद पर भी रही। आपका भावभीना सम्मान शॉल, खण्ड वस्त्रादि से संस्था के अध्यक्ष माननीय सुभाष जी (शकुन प्रकाशन) ने किया। आपके साथ समणी आगम प्रज्ञा जी भी पधारी थीं। जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय लाडनूँ, प्राकृत और जैनदर्शन के शोध और अनुसंधान की दिशा में महती भूमिका का निर्वहन कर रहा है। समणी आगम प्रज्ञा जी का स्वागत संस्थान के महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन ने परम्परागत ढंग से किया।

समारोह के प्रारंभ में दीप प्रज्वलन- समारोह की अध्यक्ष श्रद्धेया समणी प्रो. चारित्रप्रज्ञा जी, अध्यक्ष एवं महामंत्री वीर सेवा मंदिर तथा मुख्य वक्ता के रूप में बाहर से आये विद्वत्गणों ने किया। जिनवाणी माँ को अर्घ्य समर्पण एवं स्तुति का सस्वर वाचन पण्डित डॉ. मुकेश जैन, पं. आलोक कुमार जैन ने किया। व्याख्यानमाला का शुभारंभ प्रो. कमलेश कुमार जैन, बी.एच.यू. वाराणसी के मंगलाचरण से हुआ। प्रमुख वक्ताओं के रूप में पधारे निम्नांकित विद्वानों का स्वागत शॉल, बैग और खण्ड-वस्त्रादि एवं तिलक लगाकर उनके नाम के समक्ष अंकित वीर सेवा मंदिर के पदाधिकारियों ने किया।

1. लाल बहादुरशास्त्री संस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के प्राकृत विभागाध्यक्ष प्रो. डॉ. सुदीप जैन-मंत्री श्री योगेश जैन द्वारा।
2. अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा के प्रो. एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के परामर्श प्रमुख, प्रो. वृषभप्रसाद जी- श्री रूपचंद कटारिया कार्यकारिणी सदस्य।
3. बी.एच.यू. के जैन-बौद्ध दर्शन विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. कमलेश कुमार जैन- श्री धनपाल सिंह जैन कार्यकारिणी सदस्य।
4. मुख्य अतिथि डॉ. श्रेयांस कुमार जैन प्रो. दि. जैन संस्कृत कॉलेज बड़ौत एवं अध्यक्ष अ. भा. शास्त्री परिषद्-श्री धर्मभूषण जी द्वारा।
5. उपसाला विश्वविद्यालय स्वीडन में प्रो. हैन्ज वैसलर का स्वागत- पं. निहालचन्द जैन निदेशक वीर सेवा मंदिर द्वारा।
6. गौतम बुद्ध विश्वविद्यालय के असि. प्रो. डॉ. नवरस जाट अफरीदी का स्वागत- महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन द्वारा।

7. व्याख्यानमाला के संचालक- डॉ. जयकुमार जैन अध्यक्ष- अ. भा. विद्वत्परिषद् का स्वागत-महामंत्री जी द्वारा।

स्वागत की इस शृंखला के पश्चात् संस्थान के महामंत्री ने अपने स्वागत भाषण में आगत सभी मनीषियों का वीर सेवा मंदिर समिति की ओर से स्वागत/ अभिनंदन करते हुए कहा कि माननीय अतिथि विद्वानों के द्वारा हम ज्ञान की पूंजी लेकर यहाँ से जायेंगे। भले ही प्रबुद्ध श्रोता विद्वानों की संख्या सीमित है, परन्तु यह सत्य है कि बाजार में रत्नों के ढेर नहीं होते, वे संजोकर डिब्बिया में ही रखे जाते हैं। उन्होंने कहा कि ज्ञान के प्रचार/ प्रसार में विद्वानों की अहम् भूमिका रहती है

वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष श्री सुभाष जी ने संस्थान का परिचय देते हुए इसकी स्थापना का इतिहास एवं उद्देश्य बताया। आपने कहा कि वर्तमान में संस्थान के पुस्तकालय में 7 हजार से अधिक ग्रंथ एवं 167 हस्तलिखित ग्रंथ मौजूद हैं साथ ही 50 से अधिक ग्रंथों का यह अभी तक प्रकाशन कर चुका है। आपने शोध संस्थान के संस्थापक विद्या की महार्णव पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार साहब का स्मरण करते हुए अन्यान्य विभूतियों के नामों का उल्लेख किया जिन्होंने इस संस्थान को समय-समय पर अपनी सेवाएं देकर इसके उत्कर्ष एवं उत्थान में महती भूमिका निभायी।

प्रथम प्रमुख वक्ता के रूप में प्रो. कमलेश कुमार ने वीर शासन जयंती क्या है और यह श्रावण कृष्ण एकम् को क्यों मनाई जाती है, का ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर चर्चा करते हुए कहा कि आज के दिन भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि, केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) होने के 66 दिन बाद खिरी थी, क्योंकि उन लोकोत्तर अर्हन्त परमेष्ठी भगवान् महावीर को भी एक योग्य शिष्य की तलाश थी जिनके बिना दिव्यध्वनि के खिरने का योग नहीं हो पा रहा था। आपने प्राकृत भाषा के विकास के लिए सुझाव दिया कि प्राकृत गाथानुक्रमणिका का संवर्द्धित/ संशोधित संस्करण पुनः प्रकाशन होना चाहिए। आपने अनुपलब्ध आगम ग्रंथों के प्रकाशन पर जोर दिया। इस समारोह में समणी, सरस्वती पुत्र एवं श्रीमन्त यह त्रिकुटी विराजमान है, जिनपर श्रुत के संरक्षण का उत्तरदायित्व है।

द्वितीय वक्ता के रूप में प्रो. सुदीप जी ने प्राकृत भाषा के विकास (षट्खण्डागम के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में) कहा कि प्राकृत भाषा कालगत भाषा है। कुछ कुतर्कवादियों ने जब यह कहा कि यह बाल, स्त्री और मूर्खों की भाषा है तो भगवान् महावीर ने कहा- सही है इन्हीं को सुनाने और समझाने के लिए सहज-भाषा है। गुरुकुलों में पांच प्रकार के आचार्य हुआ करते थे उनमें उच्चारणाचार्य, व्याख्यानमाला आदि होते थे जो सही पद का सही उच्चारण एवं अर्थ बताते थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्राकृत ग्रंथों की संस्कृत छाया करने से प्राकृत भाषा का भला नहीं हो सकता। होना यह चाहिए कि संस्कृत की प्राकृत छाया हो। आज समाज में एक भी प्राकृत पाठशाला नहीं। जबकि हमारे जैनागम की मूल भाषा- प्राकृत भाषा है।

तृतीय प्रमुख वक्ता के रूप में भाषा विज्ञान के विद्वान् प्रो. वृषभप्रसाद जी ने श्रमण और वैदिक परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा कि दोनों परम्पराओं ने अपनी- अपनी भाषा

के विज्ञान का विकसित किया है और एक परंपरा ने दूसरों की परंपरा को (खासकर भाषा के क्षेत्र की) देखना प्रायः बन्द कर दिया है। संस्कृत को अपेक्षाकृत ज्यादा महत्व दिया गया और पाली/ प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा को अछूत की तरह व्यवहृत 'ओम्' कार बीज पद रूप सर्वभाषामयी थी अर्थात् सर्वमागधी भाषा थी। प्राकृत भाषा केवल जैनों की बपौती नहीं है। हाँ जैनों की पहचान- भाषा हो सकती है। प्राकृत भाषा- अखण्ड भारत का प्रतिनिधित्व करती है। वस्तुतः महावीर ने वह सब कहा जो मनुष्य के काम का था मनुष्य के कल्याण का था।

उपसाला यूनिवर्सिटी स्वीडन के प्रो. हैन्ज बैसलर ने भी हिन्दी में संक्षिप्त भाषण दिया और कहा मनुष्य चाहे तो हर भाषा को सीख सकता है। आप स्वीडन में संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के प्रोफेसर हैं। उन्होंने कहा कि भाषा विशेष से हमारी सोच में परिवर्तन होता है। कार्यक्रम के संचालक विद्वान् डॉ. जयकुमार जैन (संपादक 'अनेकान्त' वीर सेवा मंदिर त्रैमासिकी शोध पत्रिका एवं अध्यक्ष- अ. भा. विद्वत्परिषद्) ने टिप्पणी करते हुए कहा कि प्रो. वैसलर साहब की हिन्दी सुनकर हम सभी को बड़ी प्रसन्नता और प्रेरणा मिली है। इतनी अच्छी हिन्दी बोलकर आपने संसद का मन मोह लिया। प्रो. वैसलर ने कहा कि मुझे अभी जैनदर्शन का अध्ययन ज्यादा नहीं है परन्तु दो वर्ष के भीतर प्राकृत का प्रवेश पाठ्यक्रम विश्वविद्यालय में स्थापित करने का संकल्प करता हूँ। संस्थान के महामंत्री जी ने आपको एवं डॉ. अफरीदी को बैरिस्टर चम्पतराय जी की पुस्तक "Key of Knowledge एवं Jain Bibliography (छोटेला जैन) की पुस्तक भेंट स्वरूप प्रदान की।

मुख्य अतिथि के रूप में जैन कॉलेज बड़ौत में संस्कृत विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. श्रेयांश कुमार जैन ने 'वीर शासन जयन्ती' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर चर्चा करते हुए कहा कि आज से भगवान् महावीर का तीर्थकाल प्रवर्तित हुआ, इसके 250 वर्ष तक पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ का शासनकाल रहा। उन्होंने कहा कि अर्हन्त भगवान् की भाषा 'बीजपद' रूप होती है जिसमें अनन्त अर्थ गर्भित होते हैं। गणधर- उन बीज पदों की व्याख्या करके ग्रंथों का प्रणयन करते हैं। मुख्य अतिथि ने कहा कि हमें आगम शास्त्र के अनुसार शास्त्रों को टटोलकर आधी अधूरी बात उसमें से निकालकर प्रस्तुत कर रहे हैं।

शोध-उपसमिति के सदस्य श्री रूपचंद कटारिया ने भी संक्षेप में डॉ. श्रेयांश जी के व्याख्यान की अनुमोदना की। व्याख्यानमाला का समापन करते हुए सम्माननीया अध्यक्षा प्रो. समणी चारित्र प्रज्ञा जी ने अपना मार्मिक व्याख्यान देते हुए कहा कि हमें अपने मनभेद और मतभेद दोनों को समन्वय बिन्दुओं पर स्वीकृति देते हुए दूर करना चाहिए। उन्होंने कहा कि जब तक सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ-साथ नहीं चलते, तब तक सम्यक्चारित्र पैदा नहीं होता। आज विश्व को पूरी तरह आश्वस्त करना है कि जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म है न तो यह हिन्दू धर्म की शाखा है और न ही बौद्धधर्म का अपर रूप है। उन्होंने आगे बोलते हुए कहा कि जहाँ नय, निक्षेप है वहाँ अनेकान्त है और जहाँ अनेकान्त है वहाँ फिर कोई आग्रह नहीं है। पुस्तकालयों के ग्रंथ- केवल प्रदर्शन की वस्तु न रह जावें बल्कि वे ज्ञान प्रकाश का माध्यम बनें। आज का बालक तर्कशील हो गया है। माता-पिता यदि

स्वाध्याय नहीं करेंगे, तो उनकी संतान जैनधर्म के प्रति कतई अभिरुचि नहीं दिखायेगी। संकल्प करें कि हम स्वाध्याय करेंगे।

अन्त में आभार प्रदर्शन- संस्थान के मंत्री श्री योगेश जैन ने किया। कार्यक्रम के पश्चात् सम्माननीय अतिथियों के सत्कार में स्वल्पाहार रखा गया। संस्थान समय-समय पर इस प्रकार की गौरवपूर्ण व्याख्यानमालाओं का आयोजन करके ज्ञान की धारा को प्रवर्तमान किये हुए है। विशेष बात यह भी रही कि इसमें श्रोता-विद्वानों को भी आमंत्रित किया गया जिनकी संख्या लगभग 60 थी, जिन्होंने उपस्थित होकर व्याख्यानमाला की गरिमा को बढ़ाया। सभा का विसर्जन जिनवाणी स्तुति “वीर हिमाचलतैं निकसी.....” से हुआ।

प्रस्तुति: पं. निहालचन्द जैन,
निदेशक वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागंज,
नई दिल्ली-110002

भाद्रपद मास की विशेषता

अहो भाद्रपदाख्योऽयं मासोऽनेक व्रताकरः।

धर्महेतुः परो मध्येऽन्य मासानां नरेन्द्रवत्॥ मल्लिनाथ पुराण

अर्थात् अहो! भाद्रपद मास की क्या विशेषता है कि जो अनेक व्रतों का समूह है और धर्म का अर्जन करने में सहायक है। भाद्रपद मास अन्य सभी मासों में राजा के समान शोभा को प्राप्त होता है। जिस प्रकार मनुष्यों में चक्रवर्ती श्रेष्ठ होता है। इसका नाम भी सार्थक है- भाद्रपद अर्थात् कल्याण का परम स्थान। इस महीने में सोलह कारण, रोट तीज, पुष्पाञ्जलि व्रत, दशलक्षण पर्व, सुगन्ध दशमी, अनन्त चतुर्दशी, भगवान् वासुपूज्य का मोक्ष कल्याणक और रत्नत्रय व्रत (तेला) आदि व्रत होते हैं। इन सब में सबसे प्रमुख दशलक्षण महापर्व होता है जो कर्म निर्जरा का परम साधन है।

पुस्तक समीक्षा

- आलोक कुमार जैन

पुस्तक- 'पाइय गज्ज-पज्जसंगहो' लेखक- डॉ. जिनेन्द्र जैन, लाडनू,
प्रकाशक- जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध-संस्थान, श्री पिसनहारी
मढ़िया, जबलपुर (म.प्र.), प्रथम संस्करण: 2011, कुल पृष्ठ-128

भगवान् महावीर ने 2537 वर्ष पूर्व अपनी दिव्य-देशना में जिस भाषा का आश्रय लिया था उसी भाषा में गुंफित कथाओं से सम्बन्धित साहित्य का गद्य-पद्य संग्रह जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान, जबलपुर ने प्रकाशन करके आज पुनः जन-जन में प्राकृत को अंगीकार करने के लिए प्रस्तुत किया है। प्राकृत जनसामान्य की भाषा होने से ही भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन प्राकृत भाषा में देकर जनकल्याण किया। डॉ. जिनेन्द्र जैन प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के मूर्धन्य विद्वान् हैं और इन भाषाओं पर अच्छा अधिकार है। **पाइय गज्ज-पज्जसंगहो** में संकलित गद्य-पद्य कथायें अत्यधिक प्रेरित करने वाली हैं। इन कथाओं में प्रयुक्त प्राकृत भाषा सरल एवं मधुर है। इससे प्राकृत के सामान्य प्रयोग करने में और समझने में सामान्य व्यक्ति को सुगमता रहेगी।

जिन कथाओं को इसमें संकलित किया गया है उनमें जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों को कथा के साथ प्रस्तुत किया गया है जिससे जनसामान्य सिद्धान्तों को भी समझ लेंगे। जैसे-लोभ का अन्त नहीं, जैसा कर्म करोगे वैसा फल अवश्य मिलता है, भोलेपन के साथ वाक्चातुर्य भी होना चाहिए, साहस, दृढ़ता, भक्ति, धैर्य, संतोष आदि मूल्यों से परिचय, जैसा गुरु वैसा शिष्य, संयम का महत्त्व, अपने ज्ञान/योग्यता पर घमण्ड नहीं करना, संसार की असारता को व्यक्त करने वाली मधुबिन्दु नामक कथा, शिष्य की विनय और मर्यादा आदि गुणों से परिचय, किसी भी वस्तु की कीमत उसकी उपयोगिता पर निर्भर है और भारतीय परम्परा के आदर्श चरित्र को अगडदत्त की कथा में प्रस्तुत किया गया है एवं सुभाषितावली में नैतिक एवं जीवनमूल्यों को प्ररूपित किया गया है। एक विशेषता यह है कि इसमें सम्पादक ने कठिन शब्दों के अर्थ तथा वस्तुनिष्ठ, लघु और दीर्घ प्रश्न कथा के बाद उल्लिखित किए हैं जिससे उनके विषय ज्ञान में और दृढ़ता आयेगी। दूसरी विशेषता यह है कि कथा के मूल पाठ के बाद उसका हिन्दी अनुवाद दिया है जिससे कथा को प्राकृत भाषा में भलीभाँति समझा जा सकता है। पूर्व में भूमिका के रूप में प्राकृत भाषा का सामान्य परिचय और भेद, भारतीय भाषाओं का परिचय एवं उद्गम आदि मौलिक विषय प्रस्तुत किया गया है जिससे प्राकृत भाषा को समझना और भी सरल हो गया है। एक प्रकार से यह कृति अत्यन्त समाजोपयोगी है। इसके लिये हम सब डॉ. जिनेन्द्र जैन एवं प्रकाशक के परम आभारी हैं।

-उपनिदेशक

वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली-२

विद्वानों और पाठकों से निवेदन

मान्यवर,

जैसा कि आपको विदित है कि भारत की राजधानी दिल्ली में वीर सेवा मन्दिर जैनदर्शन शोध संस्थान की स्थापना प्राच्य विद्या महार्णव आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने 21 अप्रैल सन् 1929 में की थी। पं. जी की ही प्रेरणा से अनेकान्त त्रैमासिक शोध पत्रिका का प्रकाशन पिछले 82 वर्षों से लगातार हो रहा है।

इसके प्रकाशन में पं. पद्मचन्द्र शास्त्री जी का कई वर्षों तक संरक्षण प्राप्त रहा है। अब वर्तमान में डॉ. जयकुमार जी जैन का सम्पादक के रूप में भरपूर सहयोग मिल ही रहा है। वीर सेवा मन्दिर में जो कार्य पूर्व में संजीव जैन, रजनीश शुक्ला और श्री सुरेश चन्द्र जी ने किया है, अब आलोक कुमार जैन, ललितपुर निवासी एवं श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान सांगानेर, जयपुर से अध्ययन कर चुके, को नियुक्त किया है। आशा है कि जैसा स्नेह और सहयोग पूर्व में पदस्थ लोगों को मिला है वैसा ही सहयोग आलोक कुमार जैन को भी मिलता रहेगा। जुलाई 2011 से वरिष्ठ विद्वान् पं. श्री निहालचन्द जैन, बीना (म. प्र.) संस्था में निदेशक पद पर पदस्थ हो चुके हैं।

आप जैसे विद्वानों के शोधालेखों के कारण ही अनेकान्त शोध पत्रिका निरन्तर प्रकाशित हो रही है। अतः आप अपने मौलिक, आगम-सम्मत और समसामयिक विषयों पर शोधपूर्ण आलेख प्रेषित कर सहयोग देते रहेंगे। सम्पादक मण्डल के द्वारा चयनित होने पर उसका प्रकाशन कर शोधालेख का उचित मानदेय भी आपको पत्रिका सहित प्रेषित किया जायेगा। आप अपने आलेखों के साथ उनके मौलिक एवं अप्रकाशित होने का प्रमाण पत्र भी प्रेषित करें।

महामंत्री
वीर सेवा मन्दिर
दरियागंज, नई दिल्ली

अनेकान्त 64/4, अक्टूबर-दिसम्बर 2011

1

Year-64, Volume-4
RNI No. 10591/62

October-December 2011
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

णमोकार मन्त्र-स्तुति

णमोकार मन्त्र को, प्रणाम हो प्रणाम हो।

हे अनादि महामन्त्र, मंगल निष्काम हो॥

पहला अरिहन्त नाम, करता है कर्म नाश,
जीवों को देता है ज्ञान सूर्य का प्रकाश,
जय हो अरिहन्त देव, तुम्हीं धर्मधाम हो।
णमोकार मन्त्र को प्रणाम हो प्रणाम हो।

दूजा है सिद्ध नाम, जन्म-मृत्यु से विहीन,
अविचल हो वीतराग, सदा सर्व आत्म लीन।
हे अनन्त सिद्ध शुद्ध, स्रष्टि के ललाम हो।
णमोकार मन्त्र को, प्रणाम हो प्रणाम हो।

महाव्रती ज्ञानी, आचार्य नमस्कार हो,
उपाध्याय ज्ञान-ज्योति, जहां अंधकार हो,
विनयशील वीतराग साधु ज्ञानवान हों।
णमोकार मन्त्र को प्रणाम हो प्रणाम हो।

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
णमोकार मन्त्र-स्तुति	संकलन	03
विषयानुक्रमणिका		4
1. सम्पादकीय	-डॉ० जयकुमार जैन	5
2. कर्मसिद्धान्त के कतिपय तथ्यों का विवेचन-विश्लेषण	-प्राचार्य अभयकुमार जैन (से.नि.)	09-24
3. मन (ध्यान में एक आवश्यक)	-डॉ. संजय कुमार जैन एडवोकेट	25-27
4. जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा एवं विश्वशान्ति	-प्राचार्य पं. निहालचन्द जैन	28-38
5. जैन विद्या में अनुशासन	-डॉ. ज्योतिबाबू शास्त्री	39-42
6. मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त	-डॉ. रमेशचन्द जैन	43-53
7. तत्त्वार्थवार्तिक में वर्णित अणुव्रत और महाव्रत	-प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द जैन	54-59
8. जैनदर्शन में गुणस्थानः एक अनुचिन्तन	-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	60-69
9. उत्तराध्ययन की सुखबोधा वृत्ति (टीका) का समीक्षात्मक अध्ययन	-डॉ. एच. सी. जैन -डॉ. इन्दुबाला जैन (डबोक)	70-73
10. श्रावक और उनके षड् आवश्यक कर्तव्य	-डॉ. सारिका त्यागी	74-83
11. सर्वार्थसिद्धि में वर्णित निक्षेप	-पुलक गोयल	84-91
12. आचार्य ज्ञानसागर जी और स्याद्वाद	-डॉ. चन्द्रमोहन शर्मा	92-94
13. प्रायश्चित्त-पाठ	-डॉ. सुपाशर्व कुमार जैन	95
14. विज्ञप्ति		96

सम्पादकीय

संसार में मानवजन्म और उसमें भी सम्यक्त्व की प्राप्ति अति दुर्लभ है। आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने अपने दंसणपाहुड में 'दंसणमूलो धम्मो' कहकर सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल स्वीकार किया है। सम्यग्दर्शन के स्वरूप की आगमवेत्ताओं ने कभी आचरण की दृष्टि से तो कभी अध्यात्म की दृष्टि से विवेचना की है। आचरण प्रधानता को दृष्टि में रखकर श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में लिखा है-

‘श्रद्धानं परमार्थनामाप्तागमतपोभृताम्।

त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥४॥

अर्थात् परमार्थ (सच्चे) आप्त (देव), आगम (शास्त्र) और तपोभृत् (गुरु) का तीनमूढताओं से रहित, अष्टांग सहित एवं आठ मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

यतः इस जगत् में तरह-तरह के विरोधी कथन करने वाले शास्त्रों, विविध स्वरूप वाले गुरुओं तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट अनेकविध आराध्य देवों की भक्ति देखी जाती है, अतः यह परीक्षा करना आवश्यक है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप क्या है? क्योंकि इन्हें ही पूज्यता की कोटि में रखा गया है।

देव शब्द का प्रयोग सामान्यतया तीन रूपों में दृष्टिगोचर होता है-

1. देवगति के भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव।
2. केवलज्ञान को प्राप्त सर्वज्ञ, वीतरागी एवं हितोपदेशी अर्हन्त देव।
3. आठों कर्मों से रहित निरंजन लोकाग्रवासी देहमुक्त सिद्ध परमात्मा।

इनमें प्रथम देवगति के देव हमारे पूज्य नहीं कहे गये हैं। यद्यपि वैमानिकों में सर्वार्थसिद्धि के देव तथा पञ्चम स्वर्ग के लौकान्तिक देव एक भवावतारी तथा विजयादिक के देव दो मनुष्य भवावतारी होकर

नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क भवनत्रिक के देवों को धवला जी में 'भवनवास्यादिष्वधमदेवेषु' कहकर कुदेव या अधम देव माना गया है। अतः ध्यान देने की आवश्यकता है कि मन्दिरों में भगवान् के सेवक के रूप में स्थापित पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि देवगति के देवों को भगवान् की तरह पूजना कथमपि समीचीन नहीं है। भगवान् के भक्त होने से उनके प्रति साधर्मी का वात्सल्य रखा जा सकता है।

वर्तमान समय में ऐसे विशालकाय जनलुभावन पोस्टर छप रहे हैं, जिनमें ऐहिक कामनाओं से श्रावक तो श्रावक साधु तक पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि की आराधना में तत्पर दृष्टिगत हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में हमें अपनी मूल संस्कृति के संरक्षण की महती आवश्यकता है। श्री समन्तभद्राचार्य तो स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

हे नाथ ! पूजा से आपको कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं। निन्दा से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वैरभाव से रहित हैं। परन्तु फिर भी आपकी पुण्य गुणों की स्मृति हमारे चित्त को पापों से छुड़ाकर पवित्र कर देती है। रागी-द्वेषी देवी-देवताओं की आराधना में आकण्ठ डूबता जा रहा तथाकथित आर्षमार्गी जनों की टोली से प्रार्थना है कि वे आत्ममन्थन करें कि श्री समन्तभद्राचार्य में उनकी आस्था है या नहीं ? वे जैन धर्मियों की अस्मिता को बचाना चाहते हैं या नहीं? जैनधर्म में तो अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठियों को ही पूज्यता की दृष्टि से देव माना गया है। संसार से मुक्ति की कामना करने वालों के लिए ये ही आराध्य हैं।

'शासनात् शास्त्रम्' जो ग्रन्थ करणीय- अकरणीय का अनुशासन करते हैं उनकी शास्त्र संज्ञा अन्वर्थ है। प्रामाणिक शास्त्रों को आगम कहते हैं। सर्वज्ञ देव के उपदिष्ट वचन, जो हमें गणधर एवं तदनन्तर आचार्य परम्परा से प्राप्त हैं, वे आगम कहलाते हैं। यह आगम अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य के रूप में द्वादश एवं चतुर्दश भेदों वाला था, जो कालदोष के

कारण पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं रह पाया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम ग्रन्थों की प्रामाणिकता के लिए यह जरूर निश्चय कर लें कि वह आचार्य परम्परा से आगत कथन के अनुरूप है या नहीं तथा युक्ति से अबाधित है या नहीं ?

आधुनिक साधु परमेष्ठियों एवं अन्य पुरुषों के द्वारा लिखित वही साहित्य प्रमाण मानना चाहिए जो आचार्य परम्परा से आगत अर्थ के अनुकूल हो। क्योंकि छद्मस्थों का ज्ञान तभी प्रमाण है, जब वह परम्परापुष्ट हो। आवश्यकता इस बात की है कि एक निर्धारित समय के पश्चात् के साहित्य को आगम मानने से दूरी रखी जाये। वर्तमान में कुछ दिगम्बर वेषधारी डंके की चोट पर घोषणा कर रहे हैं कि जो हम कहते हैं, वही आगम है। मेरी प्रार्थना है समाज के कर्णधारों से, कि वे धार्मिक साहित्य में अपने द्रव्य का उपोग करते समय शास्त्रज्ञ परमेष्ठियों या आगम के अध्येताओं को अवश्य दिखा लें। कहीं ऐसा न हो कि पुण्यार्जन के नाम पर वे आगमबाह्य साहित्य को छपा दें और उसे पढ़कर अज्ञान जिनवाणी को विपरीत समझ लें।

अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठी को श्री जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में त्रिलोकगुरु कहा है। किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धारण करने के कारण आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की गुरु संज्ञा है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कहा गया है- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्गुरुतया गुरुव इत्युच्यन्ते आचार्योपाध्याय-साधवः।' तीनों में पद की भिन्नता होने पर भी गुरुपना समान है। मूलाचार में जो आहार, वचन एवं हृदय का शोधन करके नित्य ही सम्यक् आचरण करते हैं, वे साधु भगवान् कहे गये हैं-

‘भिवक्कं वक्कं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।

एसो सुट्ठद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं॥’

साधु में चारित्र की प्रधानता होना आवश्यक कहा गया है। चारित्रहीन साधु का बहुश्रुतपना भी निरर्थक ही माना गया है। आजकल कुछ वक्तृत्व के धनी, सुभग नामकर्मोदय से मनोज्ञता को प्राप्त साधु

श्रुताराधक गृहस्थ विद्वानों के प्रति जिस तरह की अभद्र भाषा का प्रयोग कर रहे हैं वह चिन्तनीय है। उन्हें यह समझने की आवश्यकता है कि विशाल भीड़ को तो मायावी भी जुटा सकते हैं। साधु जीवन में तो आत्मशोधन की प्रधानता रहना चाहिए। साधु जीवन, स्वाभाविक आत्मसुख की ओर प्रयत्नशील रहकर अपने चित्त को विषय सुखों से पराङ्मुख करके संसार रूप समुद्र के जल को सुखाने वाली आत्म ज्योति पर ही ध्यान धरना चाहिए।

विषय विमुखं कृत्वा चेतो निसर्गसुखोन्मुखै-

विमलमतिभिर्ध्येयं ज्योतिर्भवारणवशोषकृत॥ बोधप्रदीप-३८॥

उनसे विनम्रतापूर्वक निवेदन है कि वे आत्ममीमांसा के इस श्लोक को भी स्मरण रखें कि-

‘देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।

मायादिष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्॥

अर्थात् देवों का आगमन, आकाश में गमन एवं चँवर आदि का वैभव तो मायावियों में भी देखा जाता है। अतः इस कारण तुम महान् नहीं हो।

अभी कुछ दिन पूर्व कुछ आचार्य एवं साधु परमेष्ठियों के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला। इनके प्रति मेरी अटूट श्रद्धा रही है और है किन्तु उनके प्रवचनों में अन्य साधुओं के प्रति जो कटाक्ष एवं व्यंग्य वाणों का प्रयोग देखने को मिला, वह सर्वथा असंभावित होने से खिन्नताजनक रहा। उन पूज्य परमेष्ठियों से मेरी सहस्रशः नमोऽतु पूर्वक प्रार्थना है कि वे आत्मसाधना एवं साहित्यसपर्या में ही निरत रहें तो ही समाज का कल्याण है। समाज तो ताली बजाना अपना कर्तव्य समझ रही है, फिर साधु चाहे कोई भी हो और कुछ भी कहे। किमधिकं सुविज्ञेषु।

-डॉ० जयकुमार जैन

कर्मसिद्धान्त के कतिपय तथ्यों का विवेचन-विश्लेषण

-प्राचार्य अभयकुमार जैन (से.नि.)

जीवतत्त्व को प्रभावित करने वाली किसी एक सत्ता को सभी आस्तिक दर्शन स्वीकारते हैं; क्योंकि इसे स्वीकारे बिना जीवों में दिखने वाली विषमता, विविधता तथा विभिन्न कालों में घटित होने वाली विभिन्न अवस्थाओं के बीच सामन्जस्य हो पाना किसी भी प्रकार संभव नहीं है। सभी जीव जब स्वभावतः समान हैं, तो फिर उनमें परस्पर वैमनस्य क्यों है? कोई धनी है तो कोई निर्धन है, कोई काला है तो कोई गोरा है, कोई सुन्दर है तो कोई कुरूप है, कोई ज्ञानी है तो कोई अज्ञानी है, कोई मनुष्य है तो कोई पशु है इत्यादि। इसी तरह यदि यह जीव अमूर्त है तो देह के कारागृह में क्यों कैद है? इन सारे प्रश्नों का समाधान किसी **जीव-प्रभावक सत्ता** को स्वीकारे/ माने बिना संभव नहीं है। उस सत्ता को वेदान्त दर्शन में 'माया' सांख्यदर्शन में प्रकृति, वैशेषिक दर्शन में "अदृष्ट" और जैनदर्शन में "कर्म" कहा गया है।

वस्तुतः यह सारा संसार कर्मों की ही विचित्र लीला/ क्रीड़ा है; क्योंकि संसार की समस्त क्रियाओं का आधार ये कर्म ही हैं। जैनागमों में कर्म और कर्मसिद्धान्त का मौलिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से बड़ा सूक्ष्म तथा विस्तृत विवेचन है। इसकी विस्तृत सांगोपांग विवेचना से जैनदर्शन की वैज्ञानिकता, श्रेष्ठता सिद्ध और पुष्ट होने के साथ ही साथ प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता तथा कर्मठता भी प्रमाणित होती है। यह सिद्धान्त वैज्ञानिक तात्त्विक तथा तार्किक दृष्टियों से व्यक्ति के आचरण और अध्यात्म की ओर उसमें विद्यमान उसके व्यवहार की कार्य-कारण-लक्ष्यी मीमांसा करता है। जीव के साथ बँधने वाले विशेष जाति के पुद्गलस्कन्धों की बड़ी सूक्ष्म विवेचना करता है। अतः इसका परिज्ञान और पारायण एक ओर हमें कर्मों की शक्ति का बोध कराता है तो दूसरी ओर इस अनादिकालीन कर्मचक्र को तोड़ने-भेदने का उचित उपाय भी बतलाता है। इस दृष्टि से जैनाभिमत यह कर्मवाद किसी को भी भाग्यवादी बनाकर निराश और अकर्मण्य नहीं करता, अपितु आत्माहितकारी श्रेष्ठ पुरुषार्थ करने की पावन प्रेरणा ही देता है। यह व्यक्ति को विद्यमान विपदाओं-बाधाओं और कठिनाईयों को समताभावों के साथ सहने की अपूर्व शक्ति देकर भावी जीवन को तथा भविष्य की पर्याय को सुधारने का शुभ-संदेश भी देता है।

कर्म स्वरूप मीमांसा-

'कर्म'- शब्द के अनेक अर्थ हैं- (1) कर्मकारक (2) क्रिया तथा (3) जीव के साथ बँधने वाले पुद्गल स्कन्ध/ कर्मरूप परिणत इन पुद्गल-स्कन्धों का विशेष रूप से प्ररूपण केवल जैनदर्शन ही करता है। वास्तव में 'कर्म' का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। मन-वचन-काय के द्वारा यह जीव कुछ न कुछ करता है, वह सब उसकी क्रिया या

कर्म है। यह “योगक्रिया” कहलाती है, जो परिस्पन्द रूप से प्रतिसमय होती है। मन-वचन-काय ये तीनों उसके द्वारा हैं। इसे **जीवकर्म** या **भावकर्म** कहते हैं। इसी के निमित्त से जो पुद्गल-स्कन्ध आकर ज्ञानावरण आदि भाव को प्राप्त होते हैं, वे ‘द्रव्यकर्म’ कहे जाते हैं। **भावकर्म (जीवकर्म)** को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं, परन्तु भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गल-स्कन्ध जीव-प्रदेशों में प्रवेश कर उसके साथ बंधते हैं¹— यह तथ्य केवल जैनागम ही बताता है। यही सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध **अजीवकर्म** या **द्रव्यकर्म** कहलाते हैं। ये रूप-रस-गंध-स्पर्श के धारी-मूर्तिक होते हैं। जैसे-जैसे कर्म यह जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर ये द्रव्यकर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल बाद परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत/ ढँक जाते हैं। इसे “**कर्मों का फल देना**” कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण ये कर्मरूप पुद्गल-स्कन्ध दिखाई नहीं देते।²

जीव को जो परतंत्र करते हैं अथवा जीव जिन के द्वारा परतन्त्र किया जाता है, उन्हें “कर्म” कहते हैं। अथवा जीव के द्वारा मिथ्या-दर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं उपार्जित होते हैं वे “कर्म” हैं।³

सिद्धांताचार्य पं. श्री कैलाशचन्द जी ने लिखा है⁴— “साधारणतः जो किया जाता है, वह ‘कर्म’ है। जैसे— खाना-पीना, चलना-फिरना, सोचना-विचारना, हँसना-खेलना आदि। दूसरे धर्म, रागद्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं, और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी वे संस्कार को स्थायी मानते हैं, जबकि जैनदर्शनानुसार कर्म केवल संस्कार मात्र ही नहीं है, अपितु वस्तुभूत पदार्थ हैं। रागी-द्वेषी जीव की प्रत्येक क्रिया— (मानसिक-वाचिक-कायिक) के साथ एक द्रव्य जीव में आता है और रागद्वेष भावों का निमित्त पाकर जीव से बंध जाता है, वही ‘कर्म’ है, जो आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है।

प्रवचनसार में आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है⁵— ‘रागद्वेष से युक्त आत्मा जब अच्छे या बुरे कर्मों में लगती है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है। इस तरह कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीव के साथ बंधता है। यही **द्रव्यकर्म** है। कर्मसिद्धान्त का समस्त वर्णन द्रव्यकर्मप्रधान है। पुद्गलिपिंड को ‘द्रव्यकर्म’ और उसमें रहने वाली फलदान-शक्ति को “**भावकर्म**” कहते हैं। जो कर्मवर्गणाँ आत्मा के साथ बंधती है, वे “कर्म” कहलाती है।

(अनादिकालीन कर्मों के वशीभूत होकर) कर्मबद्ध संसारी जीव नाना प्रकार का विकृत परिणमन (अशुद्धभाव)— रागद्वेष मोहभाव करता है। जिससे पुद्गल परमाणु अपने आप कर्मरूप परिवर्तित होकर तत्काल जीव के साथ संबद्ध हो जाते हैं⁶ बंधने के पूर्व इन्हें ‘**कार्मण-वर्गणा**’ कहते हैं और बंधने पर वे ‘कर्म’ कहे जाते हैं।

पुद्गलजातिय 23 वर्गणाओं में से केवल पांच वर्गणाँ ही ग्रहण के योग्य हैं— (1) आहारवर्गणा (2) भाषा वर्गणा (3) मनोवर्गणा (4) तैजस वर्गणा और (5) कार्मण-वर्गणा। कार्मण-वर्गणा से कर्म और शेष चार वर्गणाओं से ‘नोकर्म’ बनते हैं। जीव

के आत्मप्रदेशों पर स्थित जो **विम्लसोपचयरूप** पुद्गल हैं⁶, वे ही कर्मरूप से परिणत होते हैं। कर्म कहीं बाहर से आकर नहीं बँधते हैं। जीव के प्रदेशों के साथ बँधे कर्म और नोकर्म के प्रत्येक परमाणु के साथ जीवराशि से अनन्तानन्त गुणे 'विम्लसोपचयरूप परमाणु भी संबद्ध हैं, जो कर्मरूप या नोकर्मरूप तो नहीं है, किन्तु कर्मरूप या नोकर्मरूप होने के लिए उम्मीदवार हैं, उन्हें ही 'विम्लसोपचय' कहते हैं।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया-

(पुद्गल कर्म परमाणुओं का जीव के आत्म प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाही संबन्ध स्थापित कर लेना 'कर्मबन्ध' कहा जाता है। आ. श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में- (8/2) कहा है⁷ कषाय सहित होने से/ रागद्वेषरूप भावनात्मक परिणामन करने के कारण जीव कर्मण-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है, इसी का नाम बन्ध है- सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते सः बन्ध'- 8/2 त.सूत्र। इस बन्ध का मूल कारण जीव की मनसा-वाचा-कर्मणा होने वाली विकृत परिणति है। इसी के फलस्वरूप पुद्गल द्रव्य का जीवद्रव्य के साथ संयोग ही बंध कहलाता है। **पंचाध्यायी में भी कहा है** कि आत्मा में एक वैभाविक शक्ति है, जो पुद्गलपुंज के निमित्त को पाकर आत्मा में विकृति उत्पन्न करती है।

अनेक जड़ परमाणुओं या वर्गणाओं का परस्पर में अथवा जीव के आत्मप्रदेशों के साथ विशेष प्रकार के घनिष्ठ संश्लिष्ट संबन्ध होने को 'बन्ध' कहते हैं। इसमें जड़ और चेतन दोनों ही पदार्थ अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर किन्हीं विचित्र विजातीय भाव-विकारों को धारण कर लेते हैं। जीवों की योग तथा उपयोगात्मक क्रिया अथवा द्रव्यकर्म के रूप में बँध जाती हैं। जैविक रासायनिक प्रक्रिया से ये पुद्गल-परमाणु जीव के साथ बँधते हैं। तब जीव और कर्म अपने स्वरूप में नहीं रहते। यह बन्ध एकक्षेत्रावगाही, एकाकार और अखण्ड होता है। जैसे-

ऑक्सीजन और हाईड्रोजन गैसों वायुरूप हैं और अग्नि को भड़काने की शक्ति रखती हैं; परन्तु दोनों मिल जाने पर जल बन जाती हैं जिसमें आग को भड़काने के बजाय उसे बुझाने की शक्ति आ जाती है- ऐसा बन्ध ही संश्लेष बन्ध कहलाता है। समस्त रासायनिक प्रयोगों का आधार भी यही बन्ध होता है। जैसे- सोना और ताँबा तथा पीतल और कांसा मिलकर एक विजातीय पिंड बन जाते हैं। दोनों ही धातुएँ अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं रहतीं। इस संश्लिष्ट बन्ध का यही वैशिष्ट्य है कि द्रव्य के स्वचतुष्टय ही बदलकर विजातीय रूप धारण कर लेते हैं। वे विकारी हो जाते हैं। फलतः बन्ध को प्राप्त सभी जड़ परमाणुओं का तथा जीव का परिणामन एक दूसरे की अपेक्षा रखकर होता है। उसका यही तो विकार है कि अपने शुद्ध स्वतंत्ररूप को छोड़कर अन्य के अधीन हो जाना और अपने कार्य में अन्य की सहायता की अपेक्षा रखना। विकारी भाव से द्रव्य अपने शुद्ध स्वभाव से व्युत्पन्न होकर विजातीय प्रकार का हो जाता है। जैसे- दूध की मिठास दही की खटास के रूप में बदल जाती है।⁸

-यहाँ यह **आशंका** होना स्वाभाविक है कि जीव जानने-देखने वाला है और इसमें संकोच-विस्तार की भी शक्ति है तथा यह अमूर्तिक भी है। जबकि कर्म जड़ है,

मूर्तिक है। मूर्तिक कर्मों का अमूर्तिक जीव के साथ बन्ध कैसे संभव है? **समाधान-** तत्त्वार्थसार में आ. श्री अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि अपेक्षा से आत्मा भी मूर्तिक है। अमूर्तिक आत्मा का द्रव्यकर्मों के साथ धाराप्रवाहीरूप से सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। मूर्तिक द्रव्यकर्मों के साथ एक क्षेत्रावगाही अनादि संबन्ध होने से आत्मा भी कथंचित् मूर्तिक है। अतः कथंचित् मूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध होना संभव है। जैसे- सोना-चांदी गलाने पर मिलकर एकरूप हो जाते हैं। **द्रव्यसंग्रह** में आ. श्री नेमिचन्द्रजी भी कहते हैं कि जीव में यद्यपि पांच वर्ण, 5 रस, दो गंध और आठ स्पर्श नहीं होते। अतः निश्चय से वह अमूर्तिक ही है, परन्तु कर्मों से बँधा होने के कारण व्यवहार से वह मूर्तिक है। अतः कथंचित् मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्मों का बंध होने में कोई बाधा नहीं है। देखिए-

“घी मूलतः दूध में और सोना मूलतः पाषाण में मिलता है। इन्हीं की तरह जीव भी मूलतः द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप संश्लेष संबन्ध को प्राप्त अपने अमूर्तिक स्वभाव से च्युत हुआ ही प्राप्त होता है। अतः वह मूलतः अमूर्तिक न होकर कथंचित् मूर्तिक है। ऐसा मान लेने पर संसार दशा में अमूर्तिक आत्मा का मूर्तिक कर्म से बन्ध होने में कोई विरोध नहीं आता।”

-कर्म सिद्धान्त-श्री जिनेन्द्रवर्णी

प्रश्न/शंका- इन पुद्गल कर्मों में ऐसी क्या शक्ति है, जो चेतनस्वभावी आत्मा को विभावभावों में परिणमाती है?

समाधान- जैसे पीने वाले को शराब पागल/ मोहित कर देती है। शराब के नशे में मदहोश होकर शराबी सब कुछ भूल जाता है वैसे ही जड़कर्म भी जीव को विमोहित कर अपने स्वभाव से च्युत कर देते हैं अर्थात् विभावभावों में परिणत करा देते हैं। **इस विषय में श्री टोडरमलजी कहते हैं-** जैसे किसी पुरुष के सिर पर मंत्रित धूलडाल दी जाती है तो वह उसके निमित्त से अपने को भूलकर- विपरीत चेष्टा करता है; क्योंकि मंत्र के निमित्त से धूल में ऐसी शक्ति आ जाती है कि सयाना पुरुष भी विपरीत परिणमन करने लगता है। इसी प्रकार आत्मप्रदेशों में रागादि के निमित्त से बंधे हुए जड़कर्मों के प्रभाव से आत्मा अपने को भूलकर नानाविध विपरीत भावों से परिणमन करती है। फलतः जड़ कर्मों में ऐसी शक्ति आ जाती है जो चैतन्य पुरुष को विपरीत परिणमाती है। चेतनस्वभावी जीव के स्वभाव का पराभव कर यह जड़ कर्म ही मनुष्य आदि पर्यायों में उत्पन्न कराता है।”

श्री पद्मपुराण में¹⁰ भी कहा है कि बलों में कर्मकृत बल ही प्रबल है। ‘बलानां हि समस्तानां बलं कर्मकृतं परम्’ तथा बड़े खेद की बात है कि ये संसारी प्राणी इन कर्मों के द्वारा चतुर्गति में कैसे नचाये जाते हैं?¹¹

संसारी जीव कर्माधीन है वस्तुतः संसार दशा में सभी जीव कर्माधीन होते हैं। जैनदर्शनानुसार कर्म करने में जीव स्वतंत्र है, परन्तु कर्मों का फल भोगने में वह कर्माधीन होता है- ‘स्वयं किए जो कर्म शुभाशुभ फल निश्चय ही वे देते’ “**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्**” तथा “**स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्**”- भावना द्वात्रिंशिका।

आप्तपरीक्षा में भी कहा है कि “कर्मों के द्वारा संसारी जीव परतंत्र होता है। सभी संसारी जीव अपने-अपने कर्मों से बंधे होते हैं। अतः कर्मों के अनुसार ही उनकी बुद्धि और प्रवृत्ति होती है। “बुद्धि कर्मानुसारिणी” अच्छे कर्मों के अनुसार उत्पन्न हुई बुद्धि मनुष्य को सन्मार्ग की ओर ले जाती है तथा बुरे कर्मों के अनुसार उत्पन्न बुद्धि कुमार्ग की ओर ले जाती है। सन्मार्ग पर चलने से मुक्तिलाभ होता है और कुमार्ग पर चलने से संसार में भटकना होता है। अतः बुद्धि के कर्मानुसार होने से मुक्ति की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती। **जयध्वला भाग-१६ पृष्ठ १८७** में भी कहा है कि संसारी जीव अनादिकालीन कर्म के संबन्ध में पराधीन है।

दोनों की स्वतन्त्र सत्ता- आत्मा के साथ कर्मों का एकक्षेत्रावगाही संश्लेष संबन्ध होने पर भी इन दोनों की सत्ता स्वतंत्र बनी रहती है। वह सत्ता अव्यक्त या तिरोभूत अवश्य हो जाती है, पर समाप्त नहीं होती। बंध दशा में दोनों की वैभाविक परिणति रहने से वे अपने-अपने स्वभाव से च्युत रहते हैं। कर्म-नोकर्म से बँधकर जीव विजातीय बने रहते हैं; परन्तु सत्पुरुषार्थ से जीव जब कर्मों से मुक्त हो जाता है तो वह पूर्ण शुद्ध होकर अपने स्वभाव में आ जाता है और जड़कर्म भी बंधनमुक्त होकर अपने शुद्धस्वभाव को पा लेता है। **जैसे-** जल रासायनिक प्रयोग से ऑक्सीजन और हाईड्रोजन रूप मूलस्वभाव में आ जाते हैं। यह अवश्य है कि पूर्ण कर्ममुक्त हुआ जीव फिर कर्मों से नहीं बंधता। **जैसे-** घी फिर दूध नहीं बनता।

एकक्षेत्रावगाही संबन्ध में रहते हुए भी जीव जीव ही रहता है और पुद्गल पुद्गल ही रहता है। दोनों अपने मौलिक गुणों को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते। जीव की प्रक्रिया जीव में और पुद्गल की प्रक्रिया पुद्गल में ही होती है। जीव की जीव के द्वारा और पुद्गल की पुद्गल के द्वारा प्रक्रिया संपन्न होती रहती है; परन्तु इन दोनों की प्रक्रियाओं में ऐसी समता/ एकरूपता रहती है कि जीवद्रव्य कभी पुद्गल की प्रक्रिया को अपनी और अपनी प्रक्रिया को पुद्गल की मान बैठता है। जीव की यही भ्रान्त मान्यता मिथ्यात्व, मोह या अज्ञान कहलाती है और यही संसार की बीज है।¹²

प्रत्येक जीव अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार अलग-अलग कर्म करता है। वह कर्म प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न ढंग से स्वतंत्ररूप से व्यक्त होता है। यही कारण है कि मानव की बाह्य रचना बनावट एक जैसी होने पर भी उनके आकार-प्रकार, बुद्धि, वैभव, स्वास्थ्य, हावभाव तथा व्यक्तित्व आदि पृथक्-पृथक् होते हैं। एक ही माता की संतानों में भी व्यवहार, बुद्धि, आचार-विचार आदि अलग-अलग पाये जाते हैं। इससे भी कर्मों की स्वतंत्रता सिद्ध होती है।¹³

बंध दशा में जीव के स्वाभाविक गुण कर्मों से आवृत्त होने के कारण उसकी दृष्टि विकारयुक्त रहती है। अतः प्रत्येक पदार्थ को विपरीत देखता-जानता है और तदनुसार क्रियाएँ/ चेष्टाएँ करता है, परन्तु बंध दशा में भी जीव और कर्मरूप पुद्गल अपने-अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर अन्यरूप नहीं होते। जीव कर्म नहीं बन जाता और कर्म जीवरूप परिणत नहीं होते। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों के साथ दोनों की सत्ता स्वतंत्र बनी रहती है।

आत्मा और कर्म-सम्बन्ध अनादि से है- जब से जीव है तभी से जीव के साथ कर्मों का संयोग भी है। चूँकि जीव अनादि है। अतः उसके साथ कर्मसंबन्ध भी अनादि है। अनादिकाल से ही ये दोनों बंधी हुई दशा में पाये जाते हैं। जैसे सोने की खान में सोना तथा अन्य विजातीय पदार्थ अनादि से ही संयुक्त अवस्था में पाये जाते हैं। खदान में उन्हें किसी ने मिलाया नहीं है। इसी तरह किसी ने जीव के साथ कर्मों का जबरन संबन्ध नहीं कराया है।

परमात्म प्रकाश में भी उल्लेख है¹⁵ “जीवों के कर्म अनादिकाल से हैं। इस जीव ने कर्म नहीं उत्पन्न किये तथा कर्मों ने भी जीव को नहीं उपजाया; क्योंकि जीव और कर्म का संबन्ध अनादि है।” कर्मप्रकृति में भी ऐसा ही कथन है-¹⁶ ‘संसारी जीव का स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और कर्म का स्वभाव उसे रागादिरूप से परिणमाने का कहा जाता है। इस तरह जीव और कर्मों का यह स्वभाव अनादिकालिक है। अतः दोनों की सत्ता भी अनादिकाल से है।’

पंचास्तिकाय में आ.श्री कुन्दकुन्ददेव ने कहा है¹⁷ “जन्म-मरण के चक्र में पड़े हुए संसारस्थ प्राणी के रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं। उनसे नये कर्म बँधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है। विषयों के ग्रहण से इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट विषयों में द्वेष करता है। इस तरह संसारचक्र में पड़े हुए जीव के भावोंसे कर्मबंध और कर्मबंध से रागद्वेषरूप भाव होते रहते हैं। यह संसारचक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादिअनंत है तथा भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त है।” निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जीव और कर्म का संबन्ध अनादि है।

तत्त्वार्थसूत्र में¹⁸ आ. श्री उमास्वामी कर्मजन्य शरीरों की विशेषताएं बतलाते हुए कहते हैं कि औदारिक, वैक्रयिक, आहारक, तैजस और कार्मण- इन पांचों में से अन्तिम दो शरीर तैजस औ कार्मणशरीर पूर्व शरीरों से उत्तरोत्तर अनन्तगुणे- अनन्तगुणे सूक्ष्म हैं, प्रतिघात रहित हैं, सभी संसारियों के अनादिकाल से संबन्धित हैं तथा अन्तिम कार्मणवर्गणाओं से बना हुआ कार्मण-शरीर भोग रहित है।¹⁹ अस्तु, कर्म और जीव परस्पर अनादिकाल से सम्बद्ध हैं।

कर्मसिद्धान्त का आधार जीव-पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध²¹ जड़ कर्म/ मूर्त पुद्गल तथा अमूर्त जीव के बीच निमित्त-नैमित्तिक-भावरूप- संबन्ध है। कर्म-संश्लिष्ट शरीर और संयोगी धन-धान्यादि पदार्थों का प्रभाव हम सभी के जीवन पर पड़ता है जिसकी प्रतीति हम सभी सदा करते रहते हैं। इनके प्रति हमारी चित्तवृत्तियाँ आकृष्ट होती हैं। शरीर में रोग/ पीड़ा होने पर दुःख होता है। इससे सिद्ध है कि जड़ पदार्थों में भी अमूर्तिक जीव के भावों को प्रभावित करने की शक्ति है। इसी से इनके बीच निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध होने की पुष्टि होती है।

ऐसा ही संबन्ध इस जीव का अन्य चेतन पदार्थों के साथ भी है। तभी तो हम पुत्र-कलत्र आदि चेतन पदार्थों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं। क्रोधी को

देखकर भय तथा वीतरागी सन्त को देखकर श्रद्धा-भक्ति के भाव जाग्रत होते हैं। इससे भी एक जीव का अन्य जीवों के भावों के साथ **निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध** सिद्ध होता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि जीव के अमूर्तिक भावों में बाह्य जड़ पदार्थों पर तथा अन्य जीवों के अमूर्तिक भावों पर निमित्तरूप से प्रभाव डालने की सामर्थ्य है।

इनके सिवाय जीव की इच्छा का निमित्त पाकर हाथ-पांव का संचालित होना, इच्छावान कुम्हार द्वारा घटादि पदार्थों की उत्पत्ति होना जड़-चेतन दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक शक्ति को सिद्ध करते हैं।

कर्म एक रूप अनेक- संसार का मूलभूत मिथ्याभावरूप **भावकर्म** तथा द्रव्यरूप में बद्ध हुआ पुद्गल पिण्डरूप **द्रव्यकर्म** मूल में एक रूप ही (भेदरहित) होता है, परन्तु बंधने के बाद द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिरूप से आठ भेदरूप तथा 148 उत्तर प्रकृतिरूप परिणत हो जाता है। जैसे एक बार में खाये गये एक ही अन्न का रस रुधिर आदि सात धातुरूप से परिणमन होता है वैसे ही एक आत्म परिणाम से ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरणादि अनेक भेदरूप हो जाते हैं।²³ आ. श्री अकलंकदेव ने भी कहा है कि जैसे एक अग्नि में दाह, पाक, प्रताप, प्रकाश और सामर्थ्य है, वैसे ही एक पुद्गल में आवरण तथा सुख-दुःख आदि में निमित्त होने की शक्ति है- उसमें कोई विरोध नहीं है।- (तत्त्वार्थ राजवा. 8/4)

आ. श्री वीरसेन स्वामी का भी कथन है²⁴ कि एक कर्म अनेक प्रकृतिरूप हो जाता है। जीव स्वयं ऐसी आठ शक्तियों वाला है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययों के आश्रय से जीव के साथ एक अवगाहना में स्थित कार्मण-वर्गणा के पुद्गल स्कन्ध एकरूप होते हुए भी आठकर्मों के आकाररूप परिणत हो जाते हैं। जैसे- मेघ का जल पात्र विशेष (नीम, ईख, नदी, सरोवर आदि) में पड़कर विभिन्न रसों में परिणमन कर जाता है। उसी तरह ज्ञानशक्ति का उपरोध होने पर ज्ञानावरण सामान्यरूप से परिणमित हो जाता है। इसी तरह अन्य कर्मों का भी मूल और उत्तर प्रकृति रूप से परिणमन हो जाता है।²⁵ श्री भास्करनन्दी का कथन है कि जैसे खाये हुए अन्न आदि को विकारोत्पादक वाले पित्त-कफ उसे रस रक्त आदि परिणमनरूप भेद को करा देते हैं, वैसे ही आत्म-परिणाम द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल प्रवेश करते समय ही अपनी सामर्थ्य से आवरण अनुभवन, मोहोत्पादन, भवधारण, नाना जातिरूप नामकरण, गोत्र और विघ्नकरण की सामर्थ्य युक्त होने से अनेक रूप से परिणमन करते हैं।²⁶

कर्मभेद- द्रव्यकर्म और भावकर्म के भेद से कर्म दो प्रकार का है- पुद्गलपिंड रूप द्रव्यकर्म और उसकी शक्ति भावकर्म है- “पोगलपिंडं दव्वं तस्सत्ति भावकम्मं तु” - गो. कर्मकाण्ड 116। शास्त्रों में प्रधान रूप से पुद्गल की पर्याय क्रियाप्रधान और जीव की पर्याय भावप्रधान है। इसलिए पुद्गल-वर्गणाओं के आपसी संबन्ध से बना स्कन्ध **द्रव्यकर्म** है और जीव के उपयोग में राग आदि के कारण ज्ञेयों के साथ हुआ बन्ध **भावकर्म** है। योगों की परिस्पन्द क्रिया के फलस्वरूप द्रव्यकर्मरूप पुद्गलस्कन्ध जीव के आत्म प्रदेशों के साथ बँधते हैं। वर्गणाभेद की अपेक्षा- पुद्गल की 23 वर्गणाओं में से

केवल पांच वर्गणाएँ- (1) आहारवर्गणाएँ (2) भाषावर्गणाएँ (3) मनोवर्गणाएँ (4) तेजोवर्गणाएँ (5) कर्मवर्गणाएँ) ही जीव के द्वारा कर्मरूप से ग्रहण करने योग्य हैं। उन्हें जीव द्रव्यकर्म रूप से ग्रहण करता है और छोड़ता है। इनमें से कर्मवर्गणा से कर्मवर्ग-शरीर, तैजसवर्गणा से तैजसशरीर और शेष तीन वर्गणाओं से शरीर, भाषा श्वासोच्छ्वास, द्रव्यमन आदि बनते हैं। इसे **नोकर्म** कहते हैं। इस प्रकार कर्म और नोकर्म- ये द्रव्यकर्म के दो भेद हैं। जीव जिस प्रकार योगों द्वारा कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है, उसी प्रकार शरीर संबन्धी नोकर्म-वर्गणाओं को भी ग्रहण करता है। इसमें नामकर्म निमित्त होता है।

जीव का उपयोग रूप भावकर्म संकल्परूप होने से गणनीय नहीं है, परन्तु स्थूलरूप से भावकर्म को चौदह प्रकारों में विभक्त किया गया है- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा तीन वेद। ये सभी मोह, राग, द्वेष में गर्भित हैं। मिथ्यात्व- **मोह में**, मान, लोभ, हास्य, रति और तीनों वेद- ये सात **राग में** तथा क्रोध, माया, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा- ये छह **द्वेष में** समाहित हैं। राग भी शुभ और अशुभ- दो प्रकार का है। दान, पूजा, दया, संयम, तप आदि शुभराग है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ हैं। शुभ को **पुण्यकर्म** और अशुभ को **पापकर्म** कहा गया है। द्वेष तो सर्वथा अशुभ/ पापरूप ही होता है।

भाव से प्रभावित कर्म और कर्म से प्रभावित भाव²⁷- जैसे शराब पीने से पीने वाले के शरीर, मन, नाडीतंत्र, क्रियाकलाप प्रभावित होते हैं, वैसे ही जीव के योग (आत्मप्रदेशों के कंपन) एवं उपयोग (भाव विचार, संवेग-आवेग) से भी कर्म प्रभावित होते हैं। शुभ योग- उपयोग से कर्म परमाणु पुण्य-प्रशस्त/ सुखदायी कर्मरूप में परिणमन करते हैं तो अशुभ योग-उपयोग से ही वे कर्म परमाणु पाप (अशुभ-अप्रशस्त/दुःखदायी) कर्मरूप से परिणमन कर लेते हैं। शुद्धोपयोग से/ आत्मा के निर्मल परिणाम से कर्मपरमाणु पुण्य या पापरूप से परिणमन नहीं करते हैं। शुभ अशुभ और शुद्ध योग-उपयोग से केवल बंधने वाले नवीन पुद्गल परमाणुओं में भी परिवर्तित होते हैं। अर्थात् पूर्वबद्ध कर्म भी प्रभावित होते हैं। शुद्ध परिणामों से बंधे हुए प्राचीन कर्म-परमाणुओं के बन्धन में स्थितिलता आती है और निर्जरा या क्षय हो जाता है। इस सिद्धान्त को मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान, चिकित्साविज्ञान, जीनोमथ्योरी, विधि-कानून आदि भी स्वीकार करते हैं तथा अनुभव में भी ऐसा आता है। देखिए-

शरीर विज्ञान के अनुसार अच्छे भावों से शरीर-ग्रंथियों से स्रवित रस बड़ा गुणकारी होता है और दूषित भावों से स्रवित रस हानिकारक होता है। प्रेम एवं वात्सल्यभाव से पिलाया गया माँ का दूध अमृत-तुल्य प्रभावक होता है तथा दूषित परिणामों से पिलाया दूध विषतुल्य बन जाता है। इसी तरह आत्मविश्वास अनुकूल सद्बिचार आदि अच्छे परिणामों से रोग-प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है और रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं। दुश्चिन्ता, क्रोध, ईर्ष्या, तनाव, आवेग-उद्वेग आदि दूषित भावों से विभिन्न शारीरिक मानसिक रोग होते हैं तथा दया, सेवा, क्षमा, परोपकार, नम्रता, सरलता और सद्बिचारों में प्रायः आधि-व्याधि नहीं होतीं,

रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है, श्वेत रक्त-कणिकाओं में वृद्धि होती है, आभामंडल दीप्त/उदीप्त होता है।

जीनोमथ्योरी के अनुसार-

जीनों की विविधतानुसार भाव, रोग, अंग-उपांग होते हैं। जीव में परिवर्तन के साथ जीनसंबन्धी भाव आदि में भी परिवर्तन होता है। **प्रायश्चित विधि के अनुसार** जो सच्चे भावों से दोषों को स्वीकार कर विनय करता हुआ पुनः दोष न करने की प्रतिज्ञा लेता है, उसके भावों में निर्मलता आती है, तनाव दूर होता है। गुरु भी उसे दोषमुक्त कर कम दण्ड देते हैं। इस विवेचना से यह सिद्ध होता है कि “अमूर्तिक सूक्ष्मभावों में बाहर के जड़ तथा चेतन पदार्थों को प्रभावित करने की विचित्र सामर्थ्य होती है।

बन्ध के कारण-

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये 5 कर्मबन्ध के कारण कहे गये हैं।²⁸ कषायसहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गल-स्कन्धों को जो ग्रहण करता है, वह बन्ध है।²⁹ बंध योग्य सूक्ष्म पुद्गल वर्गणाएँ लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त स्थित हैं। काजल की डिब्बी की भाँति ये संपूर्ण लोक में परिव्याप्त हैं। अतः ये जीव के आत्मप्रदेशों में/ पर भी स्थित हैं। बंधयोग्य इन वर्गणाओं को ‘विम्रसोपचय’ कहते हैं। जीव के रागद्वेषादि भावों का निमित्त पाकर ये ही द्रव्यकर्म और नोकर्मरूप से परिणत हो जाती हैं।

कर्मण-शरीर-

द्रव्यकर्म रूप कर्मण-वर्गणाओं से ही सूक्ष्म शरीर ‘कर्मण-शरीर’ की रचना हुई है। ये वर्गणाएँ आत्मप्रदेशों पर एकक्षेत्रावगाही रूप से स्थित हैं। कर्मण-शरीर ही जीव का मूलभूत शरीर है, जो जीव की एक पर्याय समाप्त होने पर भी साथ नहीं छोड़ता। अनादिकाल से ही यह जीव के साथ बंधा चला आ रहा है। इसमें यद्यपि प्रतिक्षण कुछ पुराने कर्म झड़ते हैं और कुछ नये जुड़ते चले जाते हैं। संतानक्रम से यह शरीर ध्रुव बना रहता है। जीव के बाह्य शरीरों का और रागादिभावों का प्रेरक यही कर्मण शरीर है। इसका पूर्ण नाश (क्षय) होने पर ही मुक्ति होती है। मुमुक्षु साधक इसी मुक्ति को पाने हेतु सतत साधनारत रहते हैं।

बन्ध-भेद-

प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार का है।³⁰ (क) **प्रकृतिबन्ध**- आत्मा के संबन्ध के साथ बन्ध को प्राप्त कर्मों में स्वभावों का प्रकट होना प्रकृतिबन्ध है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। जैसे नीम का स्वभाव कड़ुवा तथा ईख का स्वभाव मीठा होता है। जीव का स्वभाव जानना-देखना है और पुद्गल का स्वभाव रूप-रसादिरूप है। जैसा-जैसा चित्र-विचित्र योग तथा उपयोग यह जीव करता है वैसा-वैसा विचित्र स्वभाव इस कर्मण-शरीर में पड़ जाता है। जैसे यह औदारिक शरीर चलने-बोलने, देखने-सुनने आदि विभिन्न प्रकृतियों को पाकर अनेक अंगोपांग वाला हो जाता है वैसे ही यह एक कर्मण-शरीर भी विभिन्न स्वभावों को पाकर अनेक भेदों वाला हो जाता है। इस

तरह द्रव्यकर्म की ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ तथा 148 उत्तर प्रकृतियाँ कर्म प्रतिपादक शास्त्रों में कही गई हैं।

आठ प्रकृतियाँ और उनका स्वभाव-^{३१}

(१) **ज्ञानावरण**- जो ज्ञान को ढके। इसका स्वभाव देवता के मुख पर वस्त्र जैसा है। वस्त्र देवता विशेष का ज्ञान होने में बाधक है। (२) **दर्शनावरण**- जो वस्तु को नहीं देखने देवे। जैसे- प्रतिहार-राजद्वार पर बैठा पहरेदार। यह राजा को देखने से रोकता है। इसी तरह दर्शनावरण वस्तु का दर्शन नहीं होने देता। (३) **वेदनीय**- सुख-दुःख का वेदन (अनुभवन) कराता है। इसका स्वभाव शहदलपेटी तलवार की तरह है जिसे चखने पर कुछ सुख मिलता है पर जीभ के कटने से बहुत दुःख होता है। इसी तरह साता-असाता वेदनीय सुख-दुःख वेदन कराते हैं। (४) **मोहनीय**- मोहित/अचेत करना। इसका स्वभाव मदिरा जैसा है। मदिरा शराबी को मदहोश/अचेत कर देती है। उसे अपने स्वरूप का/अपने का कुछ भी बोध नहीं रहता। इसी प्रकार मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित/बेभान बना देता है जिसे उसे अपने स्वरूप का बोध ही नहीं हो पाता। (५) **आयुर्कर्म**- जो किसी पर्याय-विशेष में रोक रखे। इसका स्वभाव लोहे की सांकल या काठ के यंत्र की तरह है। आयुर्कर्म सांकल या काठ के यंत्र की भाँति अपने ही स्थान/पर्याय में रोके रखता है। आयुसमाप्ति के पूर्व अन्य पर्याय में नहीं जाने देता। (६) **नामकर्म**- नाना तरह के कार्यों को करने वाला। इसका चित्रकार की तरह है। चित्रकार की भाँति यह नामकर्म भी नाना रूपों का निर्माण करता है। (७) **गोत्रकर्म**- ऊँच-नीचपने को प्राप्त कराना। इसका स्वभाव कुंभकार के समान है। जैसे कुम्हार मिट्टी के छोटे-बड़े बर्तन बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म ऊँच-नीच गोत्रों में जन्म कराता है। जीव की ऊँच-नीच अवस्था बनाता है। (८) **अन्तराय**- जो अन्तर/बाधा या व्यवधान करे। इसका स्वभाव भंडारी (खजांची) की तरह होता है। जैसे भंडारी दूसरे को दानादि देने में विघ्न करता है, वैसे ही यह अन्तरायकर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग में बाधा उपस्थित करता है।

घाती-अघाती प्रकृतियाँ-

जीव में दो प्रकार के विकार होते हैं। (1) द्रव्य-प्रदेशविकार और (2) भावविकार। (१) **प्रदेशविकार** अर्थात् बाह्यसंयोग-वियोग। जैसे जीव का शरीर काला-गोरा, दुबला-पतला या छोटा-बड़ा होना। **भावविकार** अर्थात् जीव के राग-द्वेष मोह भावों का होना, ज्ञान की हानि-वृद्धि होना। जीव के अंतरंग/शुद्धभाव मुख्यतः ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य हैं। 'घातिया कर्म' जीव के इन्हीं गुणों को प्रकट नहीं होने देते। ये कर्म जीव के भावों को आच्छादित/विकृत करते हैं। इसी से **घाती/घातिया कहलाते हैं**। ऊपर कही गई कर्म की 8 मूल प्रकृतियों में से ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय- ये चार घातिया कर्म हैं। ये भी सर्वघाती और देशघाती के भेद से दो प्रकार के हैं। कर्मों की कुल 148 उत्तर प्रकृतियों में से 20 सर्वघाती और 26 देशघाती उत्तर प्रकृतियाँ हैं।³²

(2) जीव के यदि मोह-मिथ्यात्व नहीं है। तो उसके प्रदेशविकारों का (बाह्य संयोग-वियोगरूप द्रव्यविकारों का) उसके शुद्ध स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे

अरिहन्त अवस्था में अघातिया कर्मों के रहते हुए भी उनके ज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता, जीव के रागद्वेषात्मक भाव नहीं होते, स्वाभाविक गुणों का घात नहीं होता। इसीलिए ये **अघातिया** कहे जाते हैं। वेदनीय, आयु नाम और गोत्र- ये चार अघातिया कर्म हैं। प्रशस्त (पुण्यरूप) और **अप्रशस्त** (पापरूप) के भेद से ये भी दो प्रकार के हैं। **प्रशस्त प्रकृतियों** की संख्या भेदविवक्षा से 68 और अभेदविवक्षा से 42 हैं।³³ अप्रशस्त प्रकृतियों की संख्या भेदविवक्षा से बंधयोग 82 और उदययोग्य 84 प्रकृतियां हैं।³⁴ 5 वर्ण 5 रस 2 गंध और 8 स्पर्श- ये 20 प्रकृतियां प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों रूप होती हैं। अतः इनकी गणना दोनों में होती है।

वेदनीय को अघातिया कर्मों में गिनाया है परन्तु यह सर्वथा अघातिया नहीं है। मोहनीय के सदभाव में यह सुख-दुःख का तीव्र वेदन कराती है। अतः वेदनीय अघातिया मूल प्रकृति होते हुए भी घातीवत् मानी गई है। यह मोही जीवों को ही सुख-दुःख को वेदन कराती है, निर्मोही वीतरागियों को नहीं।

(ख) **स्थितिबन्ध**- जीव के रागादि भावों के निमित्त से कर्मण-वर्गणाओं का ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियों के रूप में परिणमन हो जाने के बाद जितनी अवधि तक वह जीव के आत्मप्रदशों के साथ बद्धरूप से टिकी रहे उतना काल उस बन्ध की स्थिति कहलाती है अर्थात् बद्ध कर्म में स्थिति (कालावधि) का निश्चित होना **“स्थितिबन्ध”** कहलाता है। जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक इसके अनेक भेद हैं। सबसे जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है।

प्रत्येक कर्मप्रकृति की जघन्य उत्कृष्ट अथवा मध्यम बन्ध स्थिति अवश्य होती है। दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोड़ाकोड़ी सागर है। आठों कर्मों की स्थिति में यह सर्वोत्कृष्ट है। चारित्र मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोड़ाकोड़ी सागर है। नाम और गोत्र कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोड़ाकोड़ी सागर है। आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागर मात्र है।³⁵ वेदनीय की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त, नाम-गोत्रकर्मों की जघन्य स्थिति 8 मुहूर्त तथा शेष सभी कर्मों की जघन्य स्थिति, अन्तर्मुहूर्त है।³⁶

बन्ध-सत्त्व-उदय-निर्जरा- बद्धकर्मविशेष बन्धस्थिति से लेकर जितने काल तक बिना फल दिए बेकार सा पड़ा रहता है, इसे **“कर्म की सत्ता”** कहा जाता है। परन्तु बन्धस्थिति काल पूरा होने पर जब वह कर्म फलोन्मुख होता है, जीव के भावों पर अपना प्रभाव डालने के लिए तत्पर होता है, तो यह उसका --परिपाक या उदयकाल” कहलाता है। स्थितिकाल का अन्तिम क्षण ही वस्तुतः **“उदयकाल”** है, क्योंकि उस क्षण में वह फल देकर उत्तरवर्ती क्षण में ही आत्मप्रदेशों से छूटकर पुनः कर्मण-वर्गणाओं में मिल जाता है। इसे ही **“कर्म-निर्जरा”** कहा जाता है।³⁷

निषेक रचना- समय-समय पर जो कर्म खिरें/ निर्जीर्ण हों, उनके समूह को **“निषेक”** कहते हैं। कर्मों की स्थिति में निषेकों की रचना होती है। किसी एक समय में बंधा हुआ कर्म-वर्गणाओं का एक पिण्ड **“एक समय प्रबद्ध”** कहलाता है। इसमें आठों

कर्म प्रकृतियों के कार्मण-स्कन्ध शामिल रहते हैं। प्रत्येक प्रकृति के स्कन्ध में अनन्तों कार्मण-वर्गणाएं होती हैं; जो समान स्थिति वाली नहीं होतीं। कुछ की स्थिति सबसे कम होती है, कुछ की अधिक और कुछ की उससे भी अधिक होती है। इस क्रमानुसार अन्तिम कुछ वर्गणाओं की स्थिति सबसे अधिक होती है। यही उस विवक्षित कर्म की **सामान्यस्थिति** कही जाती है।

कर्मविशेष की विवक्षित स्थिति के समयों को ईंटों की भांति नीचे ऊपर क्रम से स्थापित करके एक समयप्रबद्ध की एक-एक प्रकृति के द्रव्य को वर्गणाओं में विभाजित कर उन क्रमबद्ध समयों पर नीचे से ऊपर की ओर स्थापित करें। सबसे अधिक वर्गणाएं स्थितिकाल के सबसे निचले प्रथम समय पर रखें। उनसे कुछ कम वर्गणाएं उसके ऊपर दूसरे समय पर स्थापित करें। उससे कम तीसरे समय पर रखें। इस प्रकार हानिक्रम से प्रत्येक समय पर कुछ-कुछ कम वर्गणाएं रखते जाएँ। सबसे ऊपर अन्तिम समय पर सबसे कम अन्तिम शेष भाग रखकर उस विवक्षित द्रव्य को समाप्त करें।³⁸ इस प्रकार एक-एक समय पर स्थापित वर्गणाओं का पिंड ही उस-उस समय का **निषेक** होता है।

उदय- सत्तारूप से निश्चेष्ट पड़ा कर्म जब फलोन्मुख होता है तब वह “उदय में आया” कहा जाता है, परन्तु उदयोन्मुख होने पर भी नींद से उठे व्यक्ति की खुमारी की तरह वह कर्म कुछ काल तक फल देने में समर्थ नहीं हो पाता। उतने काल को “आबाधाकाल” कहा जाता है।³⁹

एक समयप्रबद्ध का सारा द्रव्य एक ही बार फल देकर नहीं खिरता, अपितु उपर्युक्त निषेक रचना के अनुसार प्रतिसमय क्रम से एक-एक निषेक उदय में आकर फल देकर खिरता है। इस क्रम से खिरते हुए अन्तिम समय पर स्थित अन्तिम निषेक उदय में आकर झड़ जाता है। इस प्रकार खिरते हुए, जितने समयों में कुल द्रव्य खिर जाता है, वह उस विवक्षित कर्म की “**सामान्यस्थिति**” कही जाती है तथा जितने-जितने काल के पश्चात् जो-जो निषेक खिरता है उतने-उतने कालप्रमाण उस निषेक की “**विशेष स्थिति**” कहलाती है। यह विशेष स्थिति एक विवक्षित निषेक की अपेक्षा कवेल एक सूक्ष्म समयप्रमाण होती है। उदयागत निषेक के अलावा आगामी समयों पर स्थित निषेक “सत्तागत निषेक” कहलाते हैं। उदय में आने पर ही ये अपना अच्छा या बुरा फल देते हैं।

(ग) **अनुभाग बन्ध**- ‘विपाकोऽनुभवः’-8/21 त.सूत्र। बद्धकर्म का परिपाक होना, उसमें फलदान शक्ति का पड़ना “अनुभागबन्ध” है। कर्म की फलदान शक्ति की तरन्तमता का नाम अनुभाग है, जो भावात्मक होता है। इसलिए इसका माप “अविभागप्रतिच्छेद”⁴⁰ से किया जाता है। आज की भाषा में इसे “**डिग्री**” कह सकते हैं। ताप का माप ‘डिग्री’ में किया जाता है। ‘शक्ति-अंश’ या “भावानात्मक-यूनिट” का नाम “**अविभाग प्रतिच्छेद**” है।

प्रकृति और अनुभाग में अन्तर- प्रकृति कर्म के स्वभाव को बतलाती है जबकि अनुभाग कर्म की तीव्र या मन्द फलदान शक्ति (रस) को कहा जाता है। **प्रकृति** सामान्य है और **अनुभाग** उसका विशेष है। जैसे आम की प्रकृति सामान्यतः उसकी मिठास है,

परन्तु वह कितना मीठा है? कम या अधिक? यह उसका अनुभाग है। इसी प्रकार दूध भी सभी समान प्रकृतिवाले होते हैं, परन्तु भैंस के दूध में गाय की अपेक्षा ज्यादा चिकनाहट होती है और बकरी के दूध में गाय के दूध से भी कम होती है। इसी तरह बद्ध कर्म में फलदान शक्ति की तरत्तमता का नाम अनुभाग है।

राग-द्वेषात्मक भावकर्म की तीव्रता और मन्दता के अनुसार ही कर्मों में फलदान की शक्ति पड़ती है। अधिक तीव्रता वाले भावकर्म से अधिक अनुभाग वाले द्रव्यकर्म का बन्ध होता है और हीन या मन्द कषाय वाले भावकर्म से हीन अनुभाग युक्त द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। यह अनुभाग बन्ध ही जीव के गुणों के विकास में बाधक है, प्रकृति बाधक नहीं होती है।

घातिया कर्मों की फलदानशक्ति लता, काठ, हड्डी और पत्थर के समान है। इनमें जैसा क्रम से अधिक-अधिक कठोरपना है, वैसा ही इन कर्मों के अनुभाग में होता है। दारुभाग के अनन्तर्वे भाग तक शक्तिरूप स्पर्द्धक सर्वधाती है। इनके उदय होने पर आत्मा के गुण प्रकट नहीं होते।⁴¹

अघातिया कर्मों में प्रशस्त प्रकृतियों के शक्ति भेद गुड़, खांड, मिश्री और अमृत के समान उत्तरोत्तर मीठापन लिए हुए हैं। अप्रशस्त प्रकृतियों के शक्तिभेद नीम, कांजीर विष और हालाहल के समान जानना चाहिए अर्थात् सांसारिक सुख-दुःख की कारण भूत दोनों ही पुण्य और पापकर्म-प्रकृतियों की शक्तियों को चार-चार तरह से तरन्तम रूप से समझना चाहिए।⁴²

(घ) प्रदेशबन्ध-बद्ध कर्मस्कन्ध में स्थित परमाणुओं की संख्या “प्रदेशबन्ध” है। द्रव्यकर्म की प्रत्येक प्रकृति में जिसने कर्मपरमाणु बंध को प्राप्त होते हैं, उन्हें उस कर्मप्रकृति का ‘प्रदेशबन्ध’ कहते हैं। एक समय प्रबद्ध की तो बात ही क्या है, एक निषेक में भी अनन्तानन्द प्रदेश होते हैं। आ. श्री उमास्वामी ने कहा है⁴³ कि प्रति समय योग विशेष से कर्मप्रकृतियों के कारणभूत एकक्षेत्रावगाहीरूप से स्थित सूक्ष्म अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब ओर से आत्म प्रदेशों में संबन्ध हो प्राप्त होते हैं। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि प्रदेश बंध से जीव को कोई हानि या लाभ नहीं होता, क्योंकि कम प्रदेश हों या अधिक प्रदेश हों, फल तो तीव्र या मन्द अनुभाग का ही होता है, प्रदेश संख्या का नहीं।

समयप्रबद्ध का ८ कर्मप्रकृतियों में बंटवारा- एक समय में ग्रहण किया हुआ समय प्रबद्ध आठ मूल प्रकृतिरूप परिणमता है। सभी मूल प्रकृतियों में आयुर्कर्म का हिस्सा सबसे थोड़ा है। नामकर्म और गोत्रकर्म का भाग आपस में बराबर होता है, पर आयुर्कर्म से अधिक होता है। अन्तराय, दर्शनावरण और ज्ञानावरण का भाग भी आपस में समान है, तो भी नामकर्म, और गोत्रकर्म से अधिक है। इससे भी अधिक मोहनीय कर्म का हिस्सा है तथा मोहनीय से भी अधिक भाग वेदनीय कर्म का रहता है।⁴⁴ चूंकि वेदनीय कर्म सुख-दुःख का कारण है। इसलिए इसकी निर्जरा भी अधिक होती है। इसी से द्रव्यकर्म का सबसे अधिक भाग इसवेदनीय कर्म के खाते में जाता है⁴⁵ बाकी सब मूल प्रकृतियों के द्रव्य का स्थिति के अनुसार बटवारा होता है। जिसकी स्थिति अधिक होती है, उसे

अधिक हिस्सा जाता है, कम स्थिति को कम तथा समान स्थिति वाले को समान हिस्सा मिलता है।⁴⁶

उपर्युक्त चारों में से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध जीव के योगों द्वारा होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायरजित उपयोग द्वारा होते हैं।⁴⁷ इन चारों में स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ही घातक है। इन्हें रोकने के लिए आत्म हितैषियों को सतत सावधान रहना चाहिए।

सभी कार्य स्वभाव से ही निष्पन्न होते हैं- कर्मबन्ध के कार्य/द्रव्यबन्ध के बंध उदय आदि कार्य सहज स्वभाव से ही निमित्त-नैमित्तिक भाव के द्वारा निष्पन्न होते रहते हैं। इनका कोई संचालक, दिशानिर्देशक या नियंत्रणकर्ता नहीं है। संसार के सारे क्रियाकलाप अपने आप इसी कर्मसिद्धान्त के अनुसार संचालित होते रहते हैं। इन कार्यों के निष्पादन में किसी भी नियन्ता की आवश्यकता नहीं होती। जब तक द्रव्यकर्म और भावकर्म का निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध रहेगा, तब तक संसार इसी भाँति चलता रहेगा। भावों की शुद्धिपूर्वक साधनारत रहकर संसार-भ्रमण का अन्त किया जा सकता है।

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की मुख्यता- उपर्युक्त चारों बन्धों में स्थिति और अनुभागबन्ध ही हानिप्रद और बाधक हैं, प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध नहीं, क्योंकि कम अनुभाग वाले अधिक प्रदेशों का उदय जीव को थोड़ी ही बाधा पहुँचाता है, जबकि अधिक अनुभाग वाले थोड़े भी प्रदेशों का उदय अधिक हानि पहुँचा सकता है। जैसे खौलते हुए जल की एक कटोरी ही देह में फोड़े और जलन पैदा कर देती है, जबकि कम गरम जल की एक बाल्टी भी व्यक्ति को कोई हानि नहीं पहुँचाती। अतः कर्मसिद्धान्त में सर्वत्र स्थिति और अनुभाग के बन्ध, उदय, उत्कर्षण आदि ही मुख्य हैं, प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध नहीं।

कर्मबन्ध के मुख्य दो कारण- (1) योग और (2) कषाय से ही कर्म आकृष्ट होकर जीव के साथ बंधते हैं। योगों-मन-वचन-काय की हलनचलन रूप क्रिया से कार्मण वर्गणा जीव की ओर आकृष्ट होती हैं, और कषाय से ये आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं। आगे चलकर ये ही उदय में आकर अपना फल देती हैं।

जीवात्मा को स्वच्छ दीवाल, कषायों को गोंद और योग को वायु मान लें तो कर्मबन्ध की प्रक्रिया सरलता से बोधगम्य हो जाती है। योग की आँधी से उड़कर आयी हुई कर्मरूपी धूल कषायरूपी गोंद से अनुरजित जीव की आत्मप्रदेशरूपी दीवाल पर चिपक जाती है। कषायरूपी गोंद की पकड़ जितनी सबल या निर्बल (तीव्र या मन्द) होगी, बंध भी उतना ही प्रगाढ़ या शिथिल होगा। अस्तु जीव यदि कषायभाव न करे तो योगों से कर्मों का आगमन भले ही होता रहे, परन्तु वे आत्मप्रदेशों से चिपकेंगे नहीं; क्योंकि कषाय के अभाव में आत्मप्रदेश स्वच्छ, सूखी दीवाल की भाँति रहेंगे। अतः कर्म आकर उनसे चिपकेंगे नहीं, सूखे-कषायरहित आत्मप्रदेशों से लगकर तुरन्त खिर/गिर जायेंगे। सकषायी जीवों के ही कर्मबन्ध होता है, अकषायी-वीतरागी जीवों के नहीं। अरिहन्त दशा में योग के सद्भाव

में कर्म आत्मप्रदेशों की ओर आते अवश्य हैं पर वे कषाय के अभाव में बंधते नहीं हैं।, तुरन्त झड़/ गिर जाते हैं। इसी से अरिहन्तों के ईर्यापथ आस्रव होना ही कहा गया है।

कर्मसंगति से जीव दुःखी हैं- कर्म जड़ हैं, निर्बल है और जीव चेतन है, सबल है, अनन्त शक्ति संपन्न है, परन्तु अनादिकाल से कर्मों की संगति से चतुर्गति के भ्रमण के दुःखों को भोग रहा है। जैसे लोहे की संगति से अग्नि भी घनों से पीटी जाती है। किसी विचारक ने ठीक ही तो कहा है- 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घन-घात, लोह की संगति पाई॥ (चन्द्रप्रभपूजन)

उपसंहार- जैनदर्शन का यह कर्मसिद्धान्त अनेक वैशिष्ट्य संपन्न है, जो विश्व के अनेक रहस्यों को उद्घाटित करता है। यह विश्व विविधता का तर्क पूर्ण वैज्ञानिक समुचित समाधान करता है। संसार-संचरण की सटीक सरल बोधगम्भ व्याख्या करता है। कर्मबन्ध की प्रक्रिया का बोध कराके उससे मुक्ति हेतु मोक्षमार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देता है तथा ईश्वरकर्तृत्ववाद, भाग्यवाद, नियतिवाद जैसी मिथ्या भ्रान्त एवं एकान्त मान्यताओं का युक्तिपूर्वक निराकरण करता है। कर्मविषयक सत्य तथ्यों को उद्घाटित करता है। जीव और कर्मों के अनादिकालिक सम्बन्ध की उद्घोषणा कर सच्चे सुखशांति के सन्मार्ग को प्रकाशित करता है। आत्मा की अनन्तशक्तियों को उद्घाटित करने का मार्ग प्रशस्त कर उन्हें उद्घाटित करने की प्रेरणा देता है। थर्मामीटर की भांति जीव के ऊँच-नीच भावों/ परिणामों का परिचय कराता है। जीव और कर्म दोनों में स्वतंत्र सत्ता का दिशाबोध देता है। जैनसिद्धान्त और तत्त्वज्ञान में सुदृढ़ आस्था पैदा करता है। जीव को स्वयं के सुख-दुःख का कर्ता-भोक्ता-हर्ता का बोध कराके संतोषी, स्वावलम्बी और आत्मनियंता बनने का प्रेरणा भी देता है। अस्तु जैनाभिमत यह कर्मसिद्धान्त जीवन और दृश्य जगत के अनेक रहस्यों को उद्घाटित कर चिंतकों तथा विचारकों को चमत्कृत करता है।

संदर्भ:

1. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश- भाग-2, पृष्ठ-25
2. "जीवं परतन्त्रीकृवन्ति स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि, जीवेन वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते रति कर्माणि"- आप्तपरीक्षा- टीका-113/296
3. जैनधर्म (कर्मसिद्धान्त) पृष्ठ- 142-143
4. प्रवचनसार- गाथा 187- सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी
5. जीवकृतं पणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र, पुद्गलः कर्मभावेन॥12॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय- आ. श्री अमृतचन्द्र
6. गो. जीवकाण्ड- गाथा- 249
7. तत्त्वार्थसूत्र 8/2 तथा कर्मकाण्ड- गाथा-3
9. कर्मसिद्धान्त (कर्मबन्ध प्रकरण) पृष्ठ-83- श्री जिनेन्द्रवर्णी
9. द्रव्यसंग्रह- गाथा 7, "वण्ण-रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्चया जीवे। णो सति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधा दो॥7॥"
10. पद्मपुराण, सर्ग-10, पद्य-27
11. कष्टं पश्यत नर्त्यन्ते कर्मभिर्-जन्तवः कथम- पद्मपुराण- सर्ग-11, पद्य-923
12. एवमयं कर्मकृतै- भावैरसमाहितोऽपि युक्त इण।

- प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥१४॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय
13. जैनदर्शन में कर्मवाद, पृष्ठ-1- डा0 श्री शेखर जैन
 14. जैनधर्म- पृ. 92 पं. श्री कैलाशचन्द्र
 15. परमात्मप्रकाश- पृष्ठ-0/59
 16. कर्मप्रकृति- गाथा-24
 17. पंचास्तिकाय- गाथा- 128-130
 18. तत्त्वार्थसूत्र, अ.-2- अनन्तगुणे परे॥३९॥ अप्रतिघाते॥४०॥
अनादि सम्बन्धेन च॥४१॥ सर्वस्य॥४२॥ निरुपभोगमन्त्यम्॥४४॥
 - 19-20 पद्मपुराण, सर्ग-14, पद्य-18, 19, 37, कर्मकाण्ड-गाथा-2
 21. कर्मसिद्धान्त- पृष्ठ 54-57- श्री जिनेन्द्रवर्णी
 22. जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति। पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमई॥४०॥
-णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णेण णिमित्तेण दु परिणामं जो दोण्हं
पि॥ ४१॥
 23. गो. कर्मकाण्ड- गाथा-33 तत्त्वप्र. टीका, सर्वार्थसिद्धि-8/4, त.रा.वा., तत्त्वार्थवृत्ति,
 24. धवला, पृ.12, सूत्र-11 (4, 2, 8, 11) पृ. 287
 25. तत्त्वार्थरा. 814 पृष्ठ-568
 26. तत्त्वार्थवृत्ति, 8/4 पृष्ठ 464 तथा तत्त्वार्थराजवा. 8/4 पृष्ठ-568
 27. 'अनन्त शक्तिसंपन्न परमाणु से लेकर परमात्मा- पृष्ठ 336-337, ले. वैज्ञानिक धर्माचार्य
श्री कनकनन्दी जी महाराज
 - 28-29. तत्त्वार्थसूत्र- 8/1, 8/2
 30. तत्त्वार्थसूत्र- अध्याय 8/3
 31. णाणस्स दंसणस्सय आवरणं वेदणीय-मोहणियं।
आउगणामं गादंतरायमिदि पढिद मिदि सिंह॥२०॥
पड-पडिहारसिमज्जहलि चित्त-कुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तह विय कम्मा गणेयव्वा॥२१॥ गो. कर्मकाण्ड गाथा- 20-21
 32. गो. क. गा. 39-40
 33. गो. क. गाथा 41-42
 34. गो. क. गाथा 43-44
 35. गो. कर्मकाण्ड- गाथा-127, 128 तथा तत्त्वार्थसूत्र अ. 8/14, 15, 16, 17 सूत्र
 36. तत्त्वार्थसूत्र- अ. 8/18, 19, 20 सूत्र तथा गो. कर्मकाण्ड गाथा- 139
 37. तत्त्वार्थसूत्र- अ. 8/21, 22, 23 सूत्र
 38. गो. कर्मकाण्ड- गाथा-161-162
 39. गो. कर्मकाण्ड गाथा-155
 40. जिसका दूसरा अंश न हो हो सके ऐसे शक्ति के अंश को 'अविभाग प्रतिच्छेद' कहते हैं।
 41. गो. कर्मकाण्ड गाथा-180
 42. वही गाथा- 184
 43. त. सूत्र अ. 8/24
 44. गो. कर्मकाण्ड गाथा- 192
 45. वही गाथा- 193
 46. वही गाथा- 194
 47. जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभाग कसायदो होंति॥३३॥ द्रव्यसंग्रह

मन (ध्यान में एक आवश्यक)

-डॉ. संजय कुमार जैन एडवोकेट

मन एक बहुत बड़ी ऊर्जा का स्रोत है, किन्तु उस पर नियन्त्रण न होने के कारण उस ऊर्जा का विभिन्न विचारों के रूप में बहिर्गमन होता रहता है, एवं दुरुपयोग भी होता रहता है। मन विद्युत के मेन स्विच की तरह है इसे बन्द कर दें तो इन्द्रिय-लम्पटता रूपी उपकरण स्वतः ही बन्द हो जाते हैं। संसार को जीतना आसान है, लेकिन अपने मन को जीतना ही सच्ची जीत है।

मन भोगों से कभी तृप्त नहीं होता। मन की इच्छायें अग्नि-कुण्ड सम कभी मनचाहा ईंधन डालने पर भी बुझती नहीं; उसे तृप्त करना है तो उस पर त्याग का अंकुश रखना पड़ेगा। मन आकांक्षाओं में जीता है, और आकांक्षाएँ अगणित होती हैं। यदि मन अनावश्यक छोड़ आवश्यकता में जीना प्रारम्भ कर दे तो आज ही तृप्त हो सकता है। मन को जीतना है, जीना है; तो हमें आवश्यकता में जीना होगा क्योंकि आवश्यकता की पूर्ति सीमित होने के कारण मन को जीतने की साधना सम्भव है।

मन का ध्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी का आलम्बन पर मन को केन्द्रित करना ध्यान है। **एकाग्रचिन्तानिरोधः** का अर्थ है एक ही अग्र अर्थात् मुख या विषय में चिन्ता को रोक देना।

अन्य मतों में जो ध्यानं निर्विषयं मन ऐसी मान्यता है, उसका निरसन करते हुए जैनमत की अवधारणा है कि ध्यान का एक विषय मन और निचली अवस्था में एक विषयभूत मन की परिणति ध्यान है। किसी एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित करना ध्यान है। मन के विकार से अशुभ ध्यान, अपध्यान, मन की पवित्रता से प्रशस्त-ध्यान की सिद्धि, मन की एकाग्रता के अभाव ध्यान में बाधाएँ और पवित्र चिन्तन से चिन्ताओं, विकल्पों से मुक्ति इस प्रकार मन की विभिन्न अवस्थाएँ हमारे ध्यान में बाधक व साधक बनती हैं। जैन दर्शन में तो ध्यान का लक्षण-एकाग्र चिन्ता निरोध- किसी पदार्थ या विषय में स्थिर होना ध्यान है। अब वह ध्यान किस कोटि का है यह मन की शुद्धि और विशुद्धि पर निर्भर करता है।

जैनदर्शन में मन एक अभ्यन्तर इन्द्रिय है। ये दो प्रकार की हैं- द्रव्य व भाव। हृदय स्थान में अष्टपांखुड़ी के कमल के आकार रूप पुद्गलों की रचना विशेष द्रव्य मन है। चक्षु आदि इन्द्रियवत् अपने विषय में निमित्त होने पर भी अप्रत्यक्ष व अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इसे इन्द्रिय न कहकर अनिन्द्रिय या ईषत् इन्द्रिय कहा जाता है। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार, चिन्तवन, आदिरूप ज्ञान की अवस्था विशेष भाव मन है।

मन इन्द्रिय को सहायता करता है, उसी मन के द्वारा क्रमशः विशेष और क्रिया

होती है तथा जिसके द्वारा देखे सुने गये पदार्थों का स्मरण होकर हेय उपादेय का ज्ञान होता है, वह मन है।

वैशेषिक मत का कहना है मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह रूप आदि रूप परिणामन से रहित है और अणु मात्र है।

बौद्ध मत का कहना है कि विज्ञान ही मन है और इसके अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है।

सांख्य मत का कहना है कि प्रधान का विकार ही मन है और इसके अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है।

शंकराचार्य के अनुसार कर्म से केवल मन की ही शुद्धि होती है। तत्त्व वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। इसका मुख्य उपाय ध्यान है।

स्वामी शिवानन्द के अनुसार ध्यान ही मोक्ष प्राप्त करने का एकमात्र राज है।

चिन्तन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। अपने ध्येय में लीन हो जाना स्वयं के चेतन स्वरूप में रम जाना ध्यान है।

श्री श्री रविशंकर कहते हैं कि जब मन विश्राम करता है तब बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है। जब मन आकांक्षा, ज्वर या इच्छा जैसी छोटी-छोटी चीजों से भरा हो, तब बुद्धि क्षीण हो जाती है। और जब बुद्धि तथा ग्रहण क्षमता तीक्ष्ण नहीं होती, तब जीवन को पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिलती है, नए विचार नहीं आते तथा हमारी सामर्थ्य दिन-प्रतिदिन कम होने लगती है। इस ज्ञान से हम अपने छोटे मन के दायरे से बाहर कदम निकाल सकते हैं और कदम जीवन की कई समस्याओं का समाधान देगा।

स्वामी चैतन्य कीर्ति कहते हैं कि जब बात मन, आत्मा के नवीनीकरण की हो, शुद्धता की हो, नए नजरिये की हो, नई आदतों की हो, तो ध्यान की महत्ता काफी अहम हो जाती है। ध्यान आपको निरंतर तरोताजा रखता है नकारात्मक विचार नहीं आने देता। हमेशा नया बनाए रखता है। आपके मन मस्तिष्क में नई ऊर्जा का संचार करता है। यही ऊर्जा जिंदगी को सकारात्मक बनाती है। जीवन में नई चीजों के उद्भव में सहायक बनती है। लिहाजा, अगर जीवन में परिवर्तन चाहिए तो ध्यान कीजिए। ध्यान से संबल आता है, चीजों को ज्यादा बेहतरीन ढंग से समझने की क्रिया का विकास होता है। दरअसल, अतीत का बोझ हमारी जिंदगी को बासी बना देता है। जब तक बासीपन दूर नहीं होगा, जीवन में नवीनता की उम्मीद करना बेमानी होगा।

आधुनिक विज्ञान मन के अस्तित्व को नहीं मानता; बल्कि उसके स्थान पर स्मृति, विचार, साहचर्य आदि के साथ मानसिक वृत्तियों को भी स्वीकार करता है। जबकि भारतीय मनोविज्ञान में विशेष अध्ययन का विषय यह रहा है कि मन की शक्ति को कैसे संयमित किया जावे। मन; तत्त्व का मनन करता है और चित्त या बुद्धि उसे ग्रहण करता है।

मन को जीतने का मंत्र है अध्यात्म। अध्यात्म से मन का सौन्दर्य खिलता है। अध्यात्म की शिक्षा, अध्यात्म की चर्चा, मन को उर्ध्वगामी बनाती है जबकि भौतिकता से

मन अधोगामी बनता है। अध्यात्म ही जीवन का परम सत्य है, जीवन की तर्ज है एवं देवत्व/अमरत्व की ओर ले जाता है। जिस मनुष्य के जीवन से अध्यात्म और धर्म उससे दूर हो गया है, वे पीड़ित हैं चिंतित हैं। जो अध्यात्म और आत्मा के पथ पर चलते हैं, वे मन के मालिक बनते हैं, मन को जीत पाते हैं समझो वे मृत्यु को भी जीत लेते हैं, मन को परमात्मा के चरणों में मिटाकर जिया जा सकता है। मन को मिटाने का अर्थ अपने अहंकार (ईगो) क्रोधादि दुर्गुणों को मिटा देना है।

यदि हम अपनी जीवन-चर्या पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तथा सूक्ष्मता से दृष्टिपात करें तो हम पायेंगे कि हमारी अन्तश्चेतना बहुत ही क्षुद्र कोटि की वस्तुओं व व्यवस्थाओं में उलझी हुई है। हम येन-केन प्रकारेण अधिक से अधिक धन के लिए, अधिक से अधिक जानकारी के लिए और अधिक से अधिक मान-सम्मान के मालिक होने के लिए प्रयासरत है। धन, व्यक्ति, वस्तु, विचार, आदि के परिग्रह की हमारी कोई सीमा नहीं है। हमारी मांग अधिक से अधिक की है। इतना ही नहीं हमने अपने मन को बहुत सारी अनावश्यक सूचनाओं से, अर्थहीन हो चुकी भूतकाल की स्मृतियों से तथा भविष्य की असम्बद्ध कल्पनाओं से भी भर लिया है। शरीर व मन स्तर पर आघटित हुए इस जटिल परिग्रह की आपा-धापी में स्वविषयक प्रश्न- मैं कौन हूँ? तथा अपने जन्म विषयक-क्यों? कैसे? कहाँ से? आदि प्रश्न हमारे मन में उठते ही नहीं हैं और यदि उठते हैं तो उनमें कोई गंभीरता हो भी तो इस तरह की आकांक्षाओं से भरे मन के द्वारा इन प्रश्नों के उत्तरों को नहीं जाना जा सकता। इस प्रकार शरीर व मन के स्तर पर आघटित हुई यह परिग्रह की अवस्था, स्वबोध और जन्म विषयक कथन्ता के बोध में बहुत बड़ी बाधा है। जब साधक भलीभाँति विचार करके शरीर व मन के स्तर पर पैदा हुई परिग्रह की मृग-मरीचिका से अपने आप को मुक्त कर लेता है तो प्रायः स्वतः ही उसे जन्म विषयक कथन्ता का बोध होने लगता है।

मानव जीवन हमारे लिए सबसे बड़ी सौगात है। मनुष्य का जन्म ध्यान, तप, साधना, करके भगवान सम बनने के लिए हुआ है। यह जीवन ज्योतिर्मय बेहद कीमती है। जीवन को छोटे-छोटे उद्देश्यों के लिए जीना जीवन का अपमान है। अपनी मन व ध्यान की समस्त शक्तियों को तुच्छ कामों में व्यर्थ करना, व्यसनों एवं वासनाओं में जीवन का बहुमूल्य समय बर्बाद करना जीवन का तिरस्कार है। जीवन अनन्त है, हमारी शक्तियाँ भी अनन्त हैं और हमारी प्रतिभाएँ भी विराट हैं, लेकिन हम अपनी शारीरिक, मानसिक, व आध्यात्मिक शक्तियों का लगभग 5 प्रतिशत ही उपयोग कर पाते हैं। हमारी अधिकांश शक्तियाँ सुप्त ही रह जाती हैं। यदि हम अपनी आंतरिक क्षमताओं से मन, ध्यान, साधना, योग और तप का पूरा उपयोग करें तो हम पुरुष से महापुरुष, युगपुरुष, मानव से महामानव बन सकते हैं। हमारी मानवीय चेतना से वैश्विक चेतना अवतरित होने लगती है, भगवान सम आलौकिक शक्तियाँ, सिद्धियाँ हमारी आत्मा के भीतर सन्निहित हैं। इस पृथ्वी पर मेरा जन्म आत्म कल्याण कर भगवान सम बनने के लिए हुआ है।

-सहारा आफिस के सामने,

वार्ड नं.15, तह. पथरिया जिला दमोह (म.प्र.)

जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा एवं विश्वशान्ति

-प्राचार्य पं. निहालचन्द्र जैन

१. अहिंसा की पृष्ठभूमि -

अहिंसा मनुष्य की पहली पहचान है। मनुष्य की मौलिकता और स्वभाव का जीवन सूत्र है- अहिंसा। हिंसा- मनुष्य की निर्मिति है। जितनी कम हिंसा हो, उतना ही जीवन श्रेष्ठतर होगा। Less Killing is better living मनुष्य जो चाहे हो सकता है, हिंसक भी बन सकता है और अहिंसक भी। यह स्वतंत्रता पशु में नहीं है। वह जो हो सकता है वही है। परन्तु मनुष्य की वर्तमान की वास्तविकता, भविष्य में उससे कहीं श्रेष्ठ होने की सम्भावना से जुड़ी है। अहिंसा पौरुषेय आचरण है। हिंसा भले ही अपरिहार्य हो, परन्तु यह जीवन का नीति निर्देशक तत्व नहीं बन सकता। अहिंसा समस्त नैतिकताओं एवं धर्मों का मूल है।

अहिंसा- पंथ विशेष का न तो दर्शन है और न ही किसी सम्प्रदाय का धार्मिक नारा है। यह तो प्राणी के मूल अस्तित्व से जुड़ी एक स्वाभाविक जीवन शैली है। अहिंसा को जब हम सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक जीवन फलक की दृष्टि से विचारते हैं तो यह अनेक गुणों की समष्टि है। शांति, प्रेम, करुणा, दया, कल्याण, अभय, रक्षा और अप्रमाद आदि अहिंसा के पर्यायवाची हैं। आत्मीयता, त्याग, समता और करुणा अहिंसा के आधार हैं। वस्तुतः ये सभी गुण मनुष्य के उदात्त जीवन मूल्यों की धरोहर हैं। जो भी मानव के लिए आदर्श निर्धारित किये गये हैं वे सभी एकमात्र अहिंसा को अपनाने पर प्राप्त किये जा सकते हैं। अहिंसा एक समग्रचिन्तन है, एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है।

विश्व समन्वय अनेकान्त-पथ, सर्वोदय का प्रतिपल गान।

मैत्री करुणा सब जीवों पर, धर्म अहिंसा ज्योति महान॥

२. अहिंसा की प्रासंगिकता-

अमेरिका का विश्व व्यापार केन्द्र और सुरक्षा केन्द्र (पेंटागन) आतंकवादी हिंसा की बलि चढ़ जाने के बाद विश्व के तमाम राष्ट्रों ने अहिंसा की अनिवार्यता महसूस की अतएव अमन-चैन और शान्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा महात्मा गांधीजी के जन्मदिन 2 अक्टूबर 2007 को विश्व भर में 'अहिंसा दिवस' मनाए जाने की घोषणा की गई। भारतीय संस्कृति एवं जैनधर्म में पंच महाव्रतों में प्रथम एवं सर्वोच्च स्थान अहिंसा को दिया गया। अहिंसा न केवल वैयक्तिक जीवन साधना के रूप में बल्कि वैश्विक नव समाज रचना के लिए इसकी अनिवार्यता स्वीकार की जाने लगी। लोकतंत्र में अहिंसा के बल पर ही कमजोर वर्ग को वैसी ही सुरक्षा व भरण-पोषण सुलभ हो सकता है, जैसा सबल लोगों को। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति और रूस में साम्यवाद के लिए हिंसा का ताण्डव हुआ और

परिणाम में तानाशाही शासन स्थापित हुआ। जिससे न केवल हिंसा की व्यर्थता सिद्ध हुई अपितु विश्व में लोकतंत्र के प्रति रुझान बढ़ा, क्योंकि लोकतंत्र में लोकहित, लोकशक्ति और लोकसत्ता निहित है, जो अहिंसा के बिना संभव नहीं है। सर्वोदय का सिद्धान्त भी अहिंसा की बुनियाद पर खड़ा है।

३. जैनाचार्य अमृतचन्द्र और अहिंसा की अवधारणा-

1. हिंसा और अहिंसा के विश्लेषण में अमृतचन्द्राचार्य ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या पुरुषार्थसिद्धयुपाय में की, जहाँ उनके चिन्तन में मनोविज्ञान एवं अध्यात्म का सहज समवाय है।

जैन धर्म में पाँच पाप माने गये हैं- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। लेकिन उनका मानना है कि यथार्थ में कोई पाप है तो हिंसा ही है। उस हिंसा से बचने के लिए ही आगम में शेष चार पापों की चर्चा की है। किसी के द्रव्य का हरण करना या चाहे किसी हेतु से चोरी की हो, वह हिंसा है। सत्य व प्रिय वाणी यदि वीणा की भाँति सुखकर लगती है जो असत्य/झूठ वचन वाण की भाँति दुःखदायी होने से हिंसा ही है। एकबार के अब्रह्म सेवन में नवकोटि जीवों की हिंसा होती है। इसी प्रकार भले ही पुण्य से विभूति व सुखसमृद्धि का योग होता है, परन्तु परिग्रही पापार्जन ही करता है, क्योंकि वह शोषण और अनाचार का पोषक होने से हिंसा की श्रेणी में आता है।

2. अमृतचन्द्राचार्य ने कषाय भाव से परिमित हुए, मन वाणी और काय के योग से द्रव्य (भौतिक रूप से) एवं भाव दोनों प्रकार से जीव के प्राणों का घात करना हिंसा कही है। उन्होंने राग भाव को हिंसा और उसके अभाव को अहिंसा के दायरे में रखकर कहा-

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

तथा

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥^९

3. अमृतचन्द्राचार्य ने अहिंसा को जीवन का परम रसायन निरूपित किया है। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के विषयों का न्यायपूर्वक सेवन करने वाले श्रावकों को अल्प व अपरिहार्य एकेन्द्रिय घात के अलावा शेष स्थावर जीवों को मारने का भी त्याग करने योग्य है, क्योंकि अहिंसारूपी रसायन मोक्ष का कारणभूत परम रसायन है।

४. हिंसा के विविध समीकरण आचार्य अमृतचन्द्र की दृष्टि में-

1. स्वामी अमृतचन्द्राचार्य जीव की स्वपरिणति से हिंसा व अहिंसा का विधान निश्चित करते हैं। एक जीव हिंसा नहीं करके भी हिंसा के फल का पात्र होता है, जबकि दूसरा हिंसा करके भी हिंसा के फल का पात्र नहीं होता। उदाहरणार्थ- दो भाईयों में एक सबल है और दूसरा कमजोर। कमजोर भाई बैठा-बैठा ऐसे खोटे भाव करता रहता है कि मैं इसे किसी कीमत पर नहीं छोड़ूँगा। उसने अपने हाथों से सबल भाई की हिंसा नहीं की, परन्तु

कलुषित भावों के कारण वह हिंसा के पाप का भागी होता है। ईर्यापथ से विवेकपूर्ण मार्ग में जाते हुए एक व्यक्ति के पैर तले अचानक एक छोटे जीव की मृत्यु हो जाती है, फिर भी वह हिंसा पाप का बंध नहीं करता, क्योंकि उसके वध करने के परिणाम नहीं थे।

२. परिणामों की तीव्रता या मंदता के कारण हिंसा का फल भोगना-

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं, एक जीव तीव्र परिणामों में यदि थोड़ी हिंसा भी करता है तो उदयकाल में उसे बहुत फल भोगना पड़ता है, जबकि दूसरा बड़ी हिंसा करके भी थोड़ा फल पाता है। डॉक्टर द्वारा शल्य क्रिया करते, रोगी मर जाता है, परन्तु जीवन सुरक्षा के लिए शल्य क्रिया करते हुए डॉक्टर को अल्पदोष ही लगता है। ड्रायवर द्वारा अप्रत्याशित रूप से दुर्घटना के कारण बहुत लोगों की मृत्यु हो जाती है फिर भी उसे अल्प हिंसा का दोष लगता है।^३

३. कषाय भावों के अनुसार हिंसा का फल-

कोई हिंसा पहले ही फल देती है, कोई करते करते फलती है और कोई हिंसा कर चुकने पर फलती है। हिंसा करने का आरंभ करके, न करने पर भी फल देती है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि कषाय भावों के अनुसार ही हिंसा का फल प्राप्त होता है।^४

४. करे एक भोगे अनेक, करे अनेक भोगे एक-

क्रूरता पूर्वक पशु-पक्षियों के खेल प्रदर्शन करने वाला एक व्यक्ति होता है, परन्तु हजारों दर्शकों को हिंसा पाप का भागी होना पड़ता है। इसी प्रकार दो देशों के बीच युद्ध में, दोनों ओर के अनेक सैनिक हताहत होने पर उन्हें हिंसा का फल नहीं भोगना पड़ता। वे वेतनभोगी होते हैं और युद्ध करवाने वाले के आदेश पर शस्त्र संचालित करते हैं। अतः युद्ध करवाने वाला प्रमुख राजा या सेनाधिकारी को उसका फल भोगना पड़ता है।^५

५. समन्तभद्राचार्य और अहिंसा-

आचार्य समन्तभद्र का मानना है कि अहिंसा केवल दर्शन मात्र नहीं है। यह आचारगत ऐसा वैशिष्ट्य है, जो तुरन्त दिखाई दे जाता है। वास्तव में समन्तभद्रस्वामी ने जो पहचान व पैठ बनाई वह उनकी अमरकृति 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के रूप में विश्रुत है। यह श्रावकों की आचार संहिता है। समन्तभद्रस्वामी ने श्रावकों के लिए अहिंसाणुव्रत को धारण करने की बात कही। आचार्य श्री कहते हैं कि मन, वचन और काय के योग से संकल्प पूर्वक त्रस जीवों का अर्थात् द्विइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों का वध न खुद करना, न किसी से कराना और न वध का अनुमोदन करना, स्थूल हिंसा से विरत होना है। यही अहिंसाणुव्रत है।^६ इसके क्रमशः पाँच अतिचार (विक्षेप/व्यतिक्रम) हैं। किसी मनुष्य या पशु-पक्षी को छेदना, बांधना, पीड़ा देना, क्षमता से अधिक भार लादना और आहार देने में कमी रखना, ये हिंसा के ही रूपान्तरण हैं।^७ इसी प्रकार शेष चार अणुव्रतों का धारी श्रावक, अवधिज्ञान, अणिमा आदि आठ ऋद्धियों का धारी होकर दिव्य शरीर के साथ सुरलोक को प्राप्त करता है।^८ सर्वप्रथम सर्वोदयतीर्थ (अहिंसा) की उद्घोषणा करने वाले महान मानवतावादी दार्शनिक कवि समन्तभद्रस्वामी थे, जिनका नाम निर्ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी के समकक्ष प्रमुख आचार्यों में लिया जाता है।

६. आचार्य उमास्वामी और अहिंसा विवेचन-

जैन तत्त्व चिन्तन को सूत्रों में प्रस्तुत करने का कार्य उमास्वामी देव ने सर्वप्रथम किया। ईसा की दूसरी सदी के आचार्य उमास्वामी का तत्त्वार्थसूत्र इतना स्वांगीण है कि परवर्ती आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इसकी टीका रूप सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ और भट्टअकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक जैसे महान ग्रन्थों का प्रणयन किया परन्तु किसी, नये सूत्र को अपनी ओर से नहीं लिखा। आचार्य उमास्वामी ने हिंसा को कितने व्यापक दृष्टिकोण से लिया। वे कहते हैं-

प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा॥^९

अर्थात् प्रमाद से सहित व्यक्ति के योग अर्थात् मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा प्राणों का वियोग करने से प्राणी की हिंसा होती है। प्राण आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है। प्राण वियोग होने पर आत्मा को ही दुःख होता है। अतः वह हिंसा व अधर्म है। यहाँ विशेष ध्यातव्य यह है कि एक के भी अभाव में हिंसा नहीं होती।

उक्त सूत्र से एक शंका उठायी जा सकती है कि केवल प्रमत्तयोग से हिंसा कैसे संभव है जबकि प्राणव्यपरोपण न हो?

समाधान- 'प्रमादवान्, प्रमत्तयोग से स्वयं के ज्ञानदर्शनादि भाव प्राणों का वियोग (घात) करने से अपनी हिंसा करता है फिर भले ही दूसरे प्राणी का वध हो या न हो। इस संदर्भ में अमृताचन्द्राचार्य कहते हैं कि कषाय सहित परिणाम होने से, वह पहले अपने आपको घातता है फिर पीछे चाहे अन्य जीव की हिंसा हो अथवा न हो। हिंसा रूप परिणाम होने से प्रमाद के कारण निरन्तर प्राणघात का सद्भाव बना रहता है।^{१०} दूसरा प्रसंग यह है कि जल, थल एवं आकाश में स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के जीव हैं। अप्रमत्त साधु द्वारा उनके प्राण वियोग होने पर वह अहिंसक बना रहता है, क्योंकि सूक्ष्म जीव न तो किसी से रुकते हैं न किसी को रोकते हैं अतः उनकी तो हिंसा होती नहीं है, परन्तु जो स्थूल जीव हैं उनकी वह यथाशक्ति रक्षा करता है, तब भला प्रयत्नपूर्वक रोकने वाले संयत के हिंसा कैसे हो सकती है^{११}?

इस प्रकार जैनदर्शन में जैनाचार्यों द्वारा हिंसा व अहिंसा की इतनी सूक्ष्म व्याख्या की गई, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

७. अहिंसा से सम्बन्धित भावनाएँ-

अहिंसा व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए आचार्य उमास्वामी ने ये चार भावनाएँ निरूपित की हैं-

‘मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनेयेषु’^{१२}

अर्थात् प्राणीमात्र में मैत्री (मैत्री भाव में अभय एवं क्षमा भाव निहित रहता है) गुणीजनों में प्रमोद या हर्ष भाव, दुखी जीवों के प्रति करुणा तथा विरुद्ध चित्त या स्वभाव वाले दुर्जन व्यक्तियों में माध्यस्थ भाव (उदासीन वृत्ति) रखना चाहिए।

आचार्य अमितागति ने अपने सामायिक पाठ में अहिंसा की इन भावनाओं को इस प्रकार उद्धृत किया है-

सत्त्वेषु मैत्रीः गुणिषु प्रमोदं।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्॥
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तोः।
सदा ममात्मा विदधातु देव॥ (सामायिक पाठ)

८. अध्यात्म के शिखर पुरुष आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में हिंसा-

डॉ. जयकुमार 'जलज' ने अष्टपाहुड के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना में एक बोधपूर्ण वाक्य लिखा है कि 'जैन परम्परा में वे कुन्दकुन्द और उमास्वामी ही हैं जो आखिरी अदालत हैं।' समयसार कुन्दकुन्द स्वामी की वह अभिव्यक्ति है, जिसमें वह अपने आत्मानुभव को अतल गहराई से अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने अहिंसा को एक मौलिक अन्दाज या परिप्रेक्ष्य में व्याख्यापित किया है। कुन्दकुन्दाचार्य अपनी अमर कृति 'प्रवचन सार' में कहते हैं-

मरदु व जियदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ २१७॥

जीव मरे या न मरे, परन्तु अयत्नाचारी नियमतः हिंसक है। इसके विपरीत यदि यत्नाचारी व्यक्ति सावधानीपूर्वक चर्या या वर्तन कर रहा है, और अनजान में जीव का विघात हो जाये तो भी वह अहिंसक है। यह आगम दृष्टि है। रागादि के वशीभूत होकर प्रमाद अवस्था में जो भी प्रवृत्ति या कृत्य होता है, वह हिंसा के दायरे में आता है। उदाहरणार्थ- एक व्यक्ति वाण छोड़ता है, परन्तु लक्ष्य पर नहीं लगा और वह अपने पुण्य से बच गया। लेकिन उस व्यक्ति की परिणति तो मारने की थी। कर्मसिद्धान्त कहता है कि आप जिस दृष्टि से भरकर आये हो, उसी दृष्टि से बंध चुके हैं। आप हिंसक ही हो भले ही आपने उसके प्राणों का घात किसी योग से नहीं कर पाया हो।

कालुष्य भाव, घोर हिंसा का निमित्त होता है। स्वयंभूरमण समुद्र का महामच्छ जब छः माह सोता है, तो उसका दो सौ पचास योजन का मुख खुला रहता है। उस समय अनेक जीव उसके मुख में आते व जाते रहते हैं। उस महामच्छ के कान में तन्दुल मच्छ बैठा हुआ सोचता है कि यदि मुझे इतना बड़ा शरीर मिलता, तो मैं एक को भी नहीं छोड़ता। कान के मल को खाने वाला वह तन्दुलमच्छ ऐसे कलुषित भाव करके भाव हिंसा से इतना पाप बंध कर लेता है कि मरकर सातवें नरक जाता है। इस प्रकार कषाय योग से यानी कालुष्य भावों से जो प्राणों का व्यपरोपण चल रहा है उससे निरन्तर हिंसा हो रही है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के इसी अभिप्राय को अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निम्नांकित गाथा में स्पष्ट करते हैं-

व्युत्थानावस्थायां रागादिनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥ ४६॥

रागादिक भावों के वश में प्रवृत्त हुई अयत्नाचार रूप प्रमाद अवस्था में, जीव मरे अथवा न मरे, परन्तु हिंसा तो निश्चय से होती ही है।

जैनाचार्य विशुद्धसागर महाराज- पुरुषार्थ देशना में इसे अध्यात्मदेशना के रूप में

समझाते हैं- हे मनीषी! लगता ऐसा है कि मैंने दूसरे का घात किया, परन्तु दूसरे की तो पर्याय का घात होता है लेकिन परिणामों का घात तेरा ही होता है' पर्याय जितनी महत्त्वशाली है, परिणति उससे कई गुनी महत्त्वशाली है। पर्याय पुनः मिल जाती है, परन्तु वैसी परिणति पूरी पर्याय में नहीं मिल पाती है।^{१३}

९. आचार्य सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन में कहा कि प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है। आचार्य सोमदेव सूरि प्रमादी का विषय विस्तार से बताते हैं कि जो जीव चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और मोह के वशीभूत हैं, वह प्रमादी है। देवता के लिए, अतिथि व पितरों के लिए मंत्र सिद्धि व औषधि के लिए प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

१०. आचार्य अमितगति, अमितगति श्रावकाचार^{१४} में लिखते हुए श्रावकों को प्रबोधन देते हैं कि अहिंसा के बिना श्रावक के लिए व्रत नियमादिक सुख के उत्पादक नहीं होते। जैसे पृथ्वी के बिना पर्वत नहीं ठहर सकते हैं, उसी प्रकार आत्मगुणों की आधारभूत अहिंसा को विनाश करने वाला पुरुष, अपनी आत्मा को नरक में गिराता है। आचार्य अमितगति हिंसा के 108 भेद कहते हैं- समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप तीन प्रकार की हिंसा मन-वचन-काय तीन योगों से कृत, कारित और अनुमोदना पूर्वक क्रोध, मान, माया व लोभ रूप कषाय भावों से निरन्तर करता रहता है। इसका परस्पर गुणा करने पर हिंसा के एक सौ आठ (3x3x3x4=108) भेद हो जाते हैं। समरम्भ से तात्पर्य है- हिंसा करने का विचार करना (वैचारिक हिंसा) समरम्भ है- हिंसा की क्रियान्वित के प्रयोजन से हिंसा के उपकरण, साधन आदि जुटाना समारम्भ और हिंसा को प्रयोगात्मक कृत्य में बदलना आरम्भ है।^{१५}

जैन गृहस्थ (श्रावक) एवं साधु क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत के रूप में उक्त 108 प्रकार से होने वाली हिंसा की सम्भावनाओं से बचता है। जब आचारागत अहिंसा जाति, देश, काल एवं समय के द्वारा अविच्छिन्न होता है तो अणुव्रत रूप से होती है, परन्तु जब अहिंसा जाति, देश, कालादि द्वारा अविच्छिन्न न होकर सदा, सर्वदा, सर्वावस्था में पालन की जाती है तो वही श्रेष्ठ व महाव्रत संज्ञा को प्राप्त होती है, जिसका पालन योगीजन करते हैं। गृहस्थों को महाव्रत सम्भव नहीं, परन्तु वे जानबूझकर किसी भी प्राणी की शरीर से हिंसा नहीं करते। भले ही परिस्थितिजन्य हिंसा करवानी या अनुमोदना करना पड़े अस्तु वह अणुव्रत रूप होती है।^{१६}

उक्त प्रमुख आचार्यों के अनुभव व आगम कथनों से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि हिंसा को द्रव्य हिंसा व भाव हिंसा के रूप में वर्गीकृत किया गया है। भौतिक रूप से द्रव्य हिंसा भले ही घटित न हो पर यदि मन में, विचारों में हिंसा की चिनगारियाँ उठ रही हों तो वह भाव हिंसा का कर्ता है। वैचारिक हिंसा से आतंकवादी हाथों में शस्त्र उठाता है और फिर उसे कृत्य में बदलने के लिए द्रव्य हिंसा करता है। 26 नवम्बर 2008 को आतंकवादियों द्वारा मुम्बई में जो क्रूर हिंसा को अंजाम दिया गया था। लगातार 90 घण्टे

उन आतंकवादियों को पाकिस्तान में वार रूप में बैठे मास्टर माइंड आतंकवादी नेताओं से बराबर निर्देश प्राप्त होते रहे कि हर अगला कदम तुम्हें कैसे रखना है, कहां छिपना है, कब आग लगाना है, कब ग्रेनेड फेंकना आदि आदि। भारत के मुम्बई महानगर में घुसे आतंकवादी क्रूर अंजाम तब तक देते रहे जब तक कि वे ढेर नहीं हो गये। इस प्रकार मूल जड़ है वैचारिक हिंसा।

यदि अहिंसा के सिद्धान्त का विकास किया जाना हो तो पहले व्यक्ति का भाव रूपान्तरण किया जावे। उसके विचारों में यह बात पल्लवित की जानी चाहिए कि समस्या का समाधान हिंसा या प्रतिहिंसा नहीं है बल्कि शान्ति, समझाइस, समता और प्रेम रूप अहिंसक तरीके से सम्भव है। जैसे हम भीतर होते हैं, वैसा ही बाहर निर्मित करने लगते हैं। यदि भीतर हिंसा के भाव मौजूद हैं तो हिंसा का परिमण्डल या वर्तुल हमारे आसपास मौजूद रहेगा और यदि भीतर अहिंसा व करुणा भाव बैठा हो तो वही हमारे आचरण में अभिव्यक्त होता है।

११. आचारांग में अहिंसा के सूत्र-

दूसरे के अस्तित्व को सुरक्षित रखना अहिंसा है, क्योंकि

सव्वे जीवाणि इच्छंति जीविउं न मारिज्जउं।

तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति ण॥

अर्थात् सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते। अतः प्राणी का वध करना घोर पाप है उसका निषेध किया गया है।¹⁷

आचारांग के सूत्र में कहा गया है कि-

सव्वे पाणा पिया उया सुहसाया दुह पडिकूला।

पिय जीविणो जीविउं कामा सव्वेसि जीवियं पियंनइ॥¹⁸

सुख सबको अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सबको अप्रिय है और जीवन प्रिय है। अतः किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसलिए आचार्य कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि 'जीवाणां रक्खणं धम्मो'।

१२. विश्वशान्ति के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा और अनेकान्त-

अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्तवाद है। अनेकान्त दृष्टि के तीन आधार बिन्दु हैं, जो विश्वशान्ति में सहायक, परन्तु सक्रिय साधन हैं। 1. सापेक्षता 2. समन्वय, 3. सहअस्तित्व यदि अहिंसा की व्यापक व वैश्विक धरातल पर समीक्षा की जावे तो मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त तत्त्व बहुत महत्वपूर्ण हैं।

सापेक्षता- अनाग्रह/दुराग्रह और दुरभिसंघ को दूर करके मैत्री भाव को प्रेरित करता है। आग्रही शान्ति का पक्षधर नहीं हो सकता। आग्रही अहंकारी होता है। अनाग्रही दूसरे के प्रति सम्मानजनक व्यवहार करता है। उसकी सोच सकारात्मक होती है। वह संकुचित दृष्टि वाला नहीं होता है। वह सापेक्ष सत्य का ग्राही होता है। वह 'ही-की भाषा में नहीं बल्कि 'भी' की सम्भावनाओं में जीता है। अहिंसक व्यक्ति अनाग्रही होने से वह सदैव शान्ति की वकालत करता है।

समन्वय या सहिष्णुता- अहिंसा पौरुषेय आचरण है। यह ऐसा अस्त्र है जिसका संचालन सहिष्णु या वीर व्यक्ति ही कर सकता है, क्योंकि कमजोर व भयभीत व्यक्ति की अहिंसा नपुंसक (स्त्रैण) बन जाती है। अहिंसा के अस्त्र को योद्धा-महावीर जैसा सर्वव्यापी, समन्वयशील व्यक्तित्व ही हो सकता है, जो आत्म प्रज्ञा से सम्पन्न होते हैं। अहिंसा की लोकप्रभुता को वही देख व अनुभव कर सकता है।

सहअस्तित्व व समता- अहिंसा के ध्वज पर मानव कल्याण का संकल्प मंत्र लिखा होता है, जो सदैव समता और सहअस्तित्व के क्षितिज पर लहराता रहता है। अहिंसा के पुष्प का सुरभित पराग है- समता व सहअस्तित्व। उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के साथ अहिंसा हमारे व्यावहारिक जीवन का मुख्य पहलू बनता है।

१३. विश्वशान्ति के सन्दर्भ में अहिंसा व विज्ञान-

बिना अहिंसा के, विज्ञान की ताकत सृजनात्मक नहीं बन सकती। एक जगह आचार्य विनोबा भावे ने अहिंसा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया।

विज्ञान+ हिंसा = सर्वनाश।

विज्ञान+ अहिंसा = सर्वोदय।

आज परस्पर दो राष्ट्रों के बीच राजनैतिक परिदृश्य में क्या घटित हो रहा है? राष्ट्रों के बीच Balance of Power यानि शक्तिसंयोजन की होड़ चल रही है। वस्तुतः आतंकवाद-राजनैतिक धार्मिक उन्माद है जो राजनीति और सत्ता की उपज है। व्यक्ति का स्वभाव क्रूरता में जीने या दूसरे की अकारण जान लेने का नहीं है। सत्ता के आलाकमान धार्मिक उन्माद का जहर इन्जेक्ट करते हैं, जिससे मानवीय सम्बन्धों की ऊष्मा ठण्डी पड़ने लगती है। पड़ोसी देश के धार्मिक उन्माद की पीड़ा भारत झेल रहा है। आत्मघाती 'मानव बम्ब' विज्ञान की राजनैतिक गुलामी है, जो क्रूरता का ताण्डव रचता है। जिसने शांति व सौहार्द का वातावरण समाप्त कर दिया है।

विज्ञान को अहिंसा व विवेक की आँख चाहिए। अन्यथा विज्ञान के द्वारा उत्पन्न आण्विक शक्ति सर्वनाश करने को बैठी है। आज विज्ञान का गठबंधन हिंसा के साथ है। आतंकवादी माहौल में करुणा का पैगाम उतना ही जरूरी है जितना जीने के लिए हवा और पानी। करुणा के इस सूखते स्रोत पर गहरी चिन्ता होना आवश्यक है। मनुष्य की मौलिकता को बचाए रखना आज के विज्ञान और वैज्ञानिकों के लिए चुनौती है।

वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने संहति ऊर्जा का सूत्र $E=MC^2$ अन्वेषित कर इसके आधार पर बने आण्विक बम्ब और नागासाकी व हिरोशिमा पर आण्विक हथियारों से हुई विनाश लीला ने आइन्स्टीन को एक पछतावा और मानसिक ग्लानि से भर दिया था और उन्होंने प्रायश्चित्त भरी टिप्पणी दी थी कि हमको ऐसे काम नहीं करना चाहिए जिससे दुनिया का संहार हो, अशान्ति व क्षोभ का पर्यावरण फैले व मानवता अपंग बन जाये। अशान्ति के कहर ढाते हैं Atomic Weapons (मिसाइल) तथा Ballistic Weapons (प्रक्षेपास्त्र) आदि जो सियासत के इशारे पर 2 हजार किमी दूर तक लक्ष्य को भेदकर काम तमाम कर सकते हैं। आदमी को उस स्थान तक जाने की जरूरत अब नहीं है।

सेटेलाइट की दूरबीनी आँख उसे बखूबी देखकर उसको अपना टारगेट बना सकती है। आज अणुबमों की विसात पर विश्व, भय और अशान्ति के शिकंजे में कसता जा रहा है।

ऐसे समय में अहिंसा दृष्टि का विकास आवश्यक हो गया है। हिंसा की मानसिक वैचारिक दुष्प्रवृत्ति ने विश्व को युद्ध के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। विश्व के राष्ट्र, आतंकवाद की काली छाया से त्रस्त हैं। अस्त्रशस्त्र की होड़ाहोड़ तथा अपने-अपने देश की सुरक्षा व शान्ति के लिए अस्त्र-शस्त्रों में प्रशिक्षण केम्प और परीक्षणों में बेहिसाब धन लगा रहे हैं। यदि यही धन उस देश के विकास कार्यों में लगने लगे, तो विश्व में सामंजस्य और शान्ति का एक नूतन आलोक नजर आ सकता है।

१४. हिंसा बनाम अशान्ति का कारण-

हिंसा अशान्ति का पर्यायवाची है। हिंसा के मूल में एक और कारण है 'साधन शुद्धि' का अभाव। वर्तमान उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तारीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारवाद ने, पूरी न होने वाली लालसाओं को प्रश्रय दिया है जिससे सामाजिक विषमता बढ़ी है। अस्तु विश्वशान्ति व अहिंसक समाज रचना में साधन शुद्धि एक महत्वपूर्ण आयाम है। पूरी दुनिया शान्ति से जीना चाहती है क्योंकि शान्ति के बिना विकास नहीं हो सकता। अनावश्यक संग्रहवृत्ति एवं व्यक्तिवाद ने मानव समाज में व्यर्थ की जरूरतों की सूची लम्बी कर दी है। व्यक्तिवाद से संवेदनशीलता का ग्राफ भी निरंतर गिरता जा रहा है। स्वार्थपरता व्यक्तिवाद को हवा देता है। अतः अहिंसा का एक और महत्वपूर्ण सूत्र है-

उपभोग का संयमीकरण। होता यह है कि उपभोग की सामग्री को अमीर लोग ज्यादा बटोर लेते हैं। परिग्रह की इस अप्रतिम लालसा में शोषण और शोषक का फर्क बढ़ता जाता है और यह स्थिति अशान्ति का मूल कारण बन जाती है। अतः शान्ति का मूल जैनधर्म में अधिक संग्रह का त्याग करके 'परिग्रहपरिमाणव्रत' अंगीकार करने को कहा। यही व्रत अंतहीन इच्छाओं को सीमित कर समाज में शोषणवृत्ति, अविश्वास, ईर्ष्या-द्वेष को समाप्त कर सकता है।

शान्ति की मैत्री सन्तोष धन से है जो जितना तृष्णा रहित सन्तोषी होगा वह निराकुल शान्ति का सहज वरण करता है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने तृष्णावान पुरुष पर एक यथार्थ व्यंग्य किया है परिग्रह प्रियता के कारण, जीवन का काल बीतते हुए उसकी धनवृद्धि हो जाती है जो उसको प्रिय लगती है, परन्तु इस तृष्णा में वह यह भूल जाता है कि काल बीतने से उसकी आयु भी क्षीण हो रही है।

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्ष, हेतु कालस्य निर्गमम्।

वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्पुत्रां धनम्॥५॥^{१९}

अतः शान्ति चाहने वाले को आयु का सार्थक उपयोग कर अपने पुरुषार्थ को केवल धनवृद्धि के लिए नहीं लगाना चाहिए अपितु धर्म-वृद्धि भी करना चाहिए।

१५. उपसंहार-

अहिंसा परम धर्म है। जीव के लिए अहिंसा से बढ़कर हितकारी मित्र और सुख शान्ति देने वाला दूसरा कोई नहीं है।

अहिंसा परमोधर्मः अहिंसा परमो तपः।
 अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
 अहिंसा परमो यज्ञः अहिंसा परमो फलम्।
 अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥^{१०}

महाभारत के शान्ति पर्व में बड़ी महत्वपूर्ण बात कही गई है:-

अहिंसा धर्म संयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः
 स वो देशः सेवितव्यो, मा वो धर्मः पदास्पृश्यते।

अर्थात् अहिंसा धर्म का पालन जिस क्षेत्र में होता हो, वहीं व्यक्ति को निवास करना चाहिए।²¹

यदि विश्व के सभी राष्ट्र शान्ति और सौहार्द को पाना चाहते हैं, तो उन्हें अहिंसा की प्रतिष्ठा का मापदण्ड अपनाकर परस्पर सहयोग और सहअस्तित्व की मूलधारा से जुड़ना होगा। विज्ञान की आण्विक भट्टियाँ शान्ति की जय यात्राओं का मंगलघोष कर सकती हैं यदि विज्ञान का नजरिया अहिंसा की मानवतावादी दृष्टि से जुड़ जाए। पूरी मनुष्य जाति को एक मंच पर आकर संवेदना का पक्षधर बनाना होगा। आज अभिनव विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अभिनव अहिंसा की तलाश शुरू हो जाना चाहिए तभी व्यक्ति के व्यक्तित्व को एक रचनात्मक दिशा मिल सकेगा। कब वह सुनहरा भविष्य दस्तक देगा जब जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का स्वरूप विज्ञान की पोथी में रेखांकित हो सकेगा? उस कल की प्रतीक्षा में हम आशान्वित हैं।

संदर्भः

1. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, आचार्य अमृतचन्द्र, 43, 44 एवं स्तोत्रकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्य विषयाणाम्। शेष स्थावर मारण विरमणमयि भवति करणीयम्॥78॥ अमृतत्व हेतु भूतं परमहिंसा रसायन लब्धावा। अवलोक्य बालिशानाम् समंजसमाकुलैर्न भवितव्यम्। (78)
2. पुरुषार्थसिद्धयुपाय अविधायपि हि हिंसा हिंसाफल भाजनं भवत्येकः। कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफल भाजनं न स्यात्॥51॥
3. वही। एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्। अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥52॥
4. वही। प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलतिव कृतापि। आरभ्य कतुमकृतड्पि फलति हिंसानुभावेन॥54॥
5. वही। एकः करोति हिंसा भवन्ति फलभागिनो बहवः। बहवो विदधति हिंसा फलभुग् भवत्येकः॥55॥ कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले। अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥56॥
6. संकल्पात् कृतकारितमननाद्योगं त्रयस्य चरसत्वान्। न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधा द्विरमणं निपुणाः॥53॥ रत्नकरण्डश्रावकाचारा।

7. वही। छेदन बन्धन पीडनमति मारारोपणं व्यतीचारः।
आहार वारणीय व स्थूल वधाद् व्युपरते पंच॥54॥
8. वही। पञ्चाणुव्रत निधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणाः दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥63॥
9. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामी, सूत्र-13, अध्याय-7 अर्थात् (7/13)
10. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, हिंसाया अविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राण व्यपरोपण नित्यम्॥48॥
11. राजवार्तिक- भट्ट अकलंकदेव अध्याय-7 सूत्र 13 की वार्तिका-12
12. तत्त्वार्थसूत्र, 7/11
13. पुरुषार्थदेशना आ. विशुद्धसागर द्वितीय संस्करण, 2008 पृष्ठ-141
14. श्रावकाचार संग्रह, भाग-1, सं. पं. हीरालाल शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर,
तृतीय आवृत्ति पृष्ठ-160 श्लोक-303 से 305 तक
15. श्रावकाचार संग्रह, भाग-1 वही पृष्ठ 313 श्लोक क्र. 12, 13 एवं 15,16
16. 'अहिंसा परमो धर्मः' लेखक स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जैन भारती, वर्ष-56, अंक-5, मई-2008,
गंगाशहर
17. दशवैकालिक-6/11 (भगवान महावीर स्मृतिग्रंथ) प्रकाशक-महावीर निर्वाण समिति
उ.प्र. लखनऊ, संपादक-डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, 1975
18. वही
19. मानवता की धुरी, नीरज जैन, पृष्ठ 37 एवं 38 तृतीय संस्करण-1993
20. महाभारत/अनुशासन-पर्व-5-23 एवं 116-29
21. शान्ति पर्व/340/89

- जवाहर वार्ड, बीना (म.प्र.)
सम्प्रति-निदेशक वीर सेवा मन्दिर,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
09311250522

जैन विद्या में अनुशासन

-डॉ. ज्योतिबाबू शास्त्री

धरती पर प्रतिवर्ष वर्षा के साथ ही सृजन का नूतन- क्रम प्रारम्भ होता है। एक बार पृथ्वी की प्यास बुझते ही चारों ओर हरियाली छा जाती है। बांध बनाकर एकत्रित किया गया, और नहरों के कूल-किनारों में अनुशासित करके बहाया गया वह पानी रेगिस्तान को भी हरा-भरा कर देता है। परन्तु जब कभी वही पानी बाढ़ का प्रकोप बनकर, एकदम अनियन्त्रित होकर लक्ष्य-विहीन और दिशा विहीन प्रवाहित होने लगता है तब उसी जल से प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। चारों ओर विनाश ही विनाश दिखाई देने लगता है। बस ऐसे ही आज अनुशासन विहीन शिक्षा की स्थिति है।

नियन्त्रण के अभाव में किया गया विकास प्रगति समृद्धि का कारण न होकर विनाश का कारण बन जाता है। जीवन के सारे स्वप्न उसमें विलीन हो जाते हैं। अनुशासित शिक्षा वह जल का प्रवाह है जो शक्ति संपन्न होता है। परन्तु उस शक्ति का उपयोग यदि अनुशासन के साथ होगा तो वह सृजन का कारण होगा और यदि लक्ष्य विहीन होकर अनियन्त्रित ढंग से बहता है तो वही विनाश का कारण भी बन सकता है।

अपने आप पर नियन्त्रण करना ही सबसे बड़ा अनुशासन है- अपने आप पर नियन्त्रण किये बिना इन्द्रिय संयम नहीं होता और इन्द्रिय संयम के बिना जीव स्वयं की स्वाधीनता मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते। कहा है-

No man is free who is not master of him self.

“कोई भी आदमी मुक्त नहीं है जो अपने आपका स्वामी नहीं है” अर्थात् जिसने विकार भावों को नहीं जीता है, अपने गुण रत्नों का स्वामी नहीं बना है वह आत्मसंयम नहीं पाल सकता।

“निज पर शासन ही अनुशासन है।” आत्म संयम ही अनुशासन का मूल है। जैन विद्या के द्वादश अंगों में आचारांग का प्रथम स्थान है। इसके प्रणेता प्रबुद्ध साधक भगवान महावीर ने स्वयं निजपर शासन और इन्द्रिय संयम के द्वारा किसी प्रकार के भौतिक सुखों की कामना के बिना जिस चर्या को स्वीकार किया उसी का निरूपण आचारांग सूत्र में किया है-

एस विही अणुक्कन्तो, महणेण मईमया।

वहुसो अपिडन्नेणं भगवया एवं रीयन्ते-त्ति बेमि॥१॥

अर्थात् मतिमान प्रतिज्ञा रहित उन महान भगवान महावीर ने अनुशासित संयम पूर्ण आचरण किया एवं उसी को अपने जीवन में उतारने का अन्य को भी उपदेश दिया।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण और मन पर नियन्त्रण करना इन्द्रिय संयम है। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय जीवों की रक्षा

करना प्राणी संयम है। इन दोनों संयम में इन्द्रिय संयम मुख्य है क्योंकि इन्द्रिय संयम प्राणी संयम का कारण है। इन्द्रिय संयम होने पर ही प्राणी संयम होता है, बिना इन्द्रिय संयम के प्राणी संयम नहीं हो सकता।

इन्द्रिय संयम का अर्थ है पांचों इन्द्रियों के विषयों में मन को न जाने देना और प्राणी संयम का अर्थ है, हिंसात्मक प्रवृत्ति से दूर रहना। मन को नियंत्रित करना क्योंकि सबसे अधिक हिंसा मन के द्वारा होती है। मन में तरह-तरह के दुर्विचार आते हैं। उसके बाद वचनों से हिंसा होती है और सबसे कम हिंसा काय से होती है। इन्द्रिय का निरोध करना ही संयम है।

“वदसमिदिकसायाणां दंडाणं इंदियाण पंचणहं।

धारण पालणणिग्गह-चाय-जओ संजमो भणियो॥”

पांचों महाव्रतों का धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना, मन वचन काय रूप तीन दण्डों का त्याग करना और पांचों इन्द्रियों को जीतना संयम कहा गया है।

संयम का बंधन है स्वतंत्रता के लिये। अगर हम संसार से मुक्त होना चाहते हैं तो संयम के बंधन में तो बंधना ही होगा यह एक ऐसा बंधन है जो मनुष्य को स्वच्छन्द से बचाता है। आत्मा को शरीर स्वतंत्र करता किन्तु आज हम शरीर से स्वतंत्र नहीं शरीर से स्वच्छन्द होना चाहते हैं। शरीर की स्वच्छन्दता दुःख का कारण है और शरीर की स्वतंत्रता परम सुख का कारण है।

महावीर ने बंधनों की मुक्ति के लिये संयम को धारण किया वे महान इन्द्रियों के विषय से पराङ्मुख थे। अल्पभाषी होकर विचरण करते थे। कभी शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे। ग्रीष्म ऋतु में तापाभिमुख होकर उत्कृष्ट आसन से बैठते और आतापना लेते थे। जुलाब, वमन, शरीर पर तेल मर्दन करना, स्नान करना, हाथ-पैर आदि दबवाना और दांत साफ करना आदि क्रियाएं शरीर को अशुचि जानकर वे नहीं करते थे।³

उत्तराध्ययन सूत्र में अनुशासन के लिए भगवान महावीर ने कहा है-

मेरे द्वारा संयम और तप से आत्मा का दमन हो, यही श्रेष्ठ है। दूसरों के द्वारा बन्धन और बध से मैं दबाया जाऊं, यह ठीक नहीं। लोगों के समक्ष अथवा अकेले में वचन या कर्म से कभी भी प्रबुद्ध लोगों के प्रतिकूल आचरण न करें।

आज्ञा को न मानने वाले और अट-संट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। गुरु की इच्छानुसार चलने वाले और शीघ्र पटुता को प्राप्त करने वाले शिष्य दुष्ट अभिप्राय वाले क्रोधित होने वाले गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

बिना पूछे कुछ भी न बोले अथवा पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध को असत्य विफल कर दे तथा प्रिय और अप्रिय को समान रूप से धारण करे।

आत्मा का ही दमन (संयम) करना चाहिए। आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।⁴

आज सारा संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। बड़े-बड़े बलवान योद्धा और विचारशील विद्वान भी इन्द्रिय के गुलाम बने हुए हैं और अपना अधिकतर समय इन्द्रियों को तृप्त करने में लगाया करते हैं।

अनुशासन बहुत जरूरी है। अश्व को लगाम, हाथी को अंकुश, ऊँट को नकील और साइकिल स्कूटर आदि वाहनों के लिए ब्रेक जरूरी है। ब्रेक है तो सुरक्षा, नहीं तो एक्सीडेंट। लगाम है तो हासपावर (अश्व) नियंत्रित अन्यथा अनियन्त्रित। अंकुश है तो हाथी राह पर नहीं तो उन्मत्त स्वच्छन्द। सच ही तो कहा है कि ब्रेक है तो कार नहीं तो बेकार। ऐसी स्थिति में जीवन की गाड़ी का क्या होगा? इन्द्रिय संयम में पंचेन्द्रिय के विषयों की विरक्ति का आचरण है। एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हो एक-एक प्राणि अपने प्राण गवां बैठते हैं तो पंचेन्द्रिय के वशीभूत प्राणियों की क्या स्थिति होगी? हाथी स्पर्श के लोभ में आकर जंगल में बनी हुई कृत्रिम हथिनी की तरफ दौड़ता है और उस जगह बने हुए अदृश्य गड्ढे में गिर जाता है। कुछ दिनों बाद जब कोई वहां पहुंचता है तो वह भूखा प्यासा हाथी निर्मद होकर दीन हीन स्थिति में देखता है। ऐसी स्थिति में हाथी पकड़ने वाला थोड़ा थोड़ा पानी, थोड़ी-थोड़ी घास पत्ती देता है। हाथी उसे हितैषी/ रक्षक समझने लगता है और फिर एक दिन वह बलशाली हाथी के एक छोटे से अंकुश के इशारे पर चलने लगता है। मछली मारने वाले, मछली पकड़ने के कांटे में आटा लगाकर पानी में डालते हैं। मछली आटा खाती है जिससे उसका कण्ठ उस नुकीले कांटे से छिद जाता है और वह प्राण गवां बैठती है। पतंगा सुनहरी ज्योति में आसक्त होकर दीपक की लौ पर अपने प्राण गवां बैठता है। गंध लोलुपी भ्रमर गंध पान में इतना आसक्त हो जाता है कि वह भूल ही जाता है कि फूल की पंखुरी बंद होने वाली है। दिन ढलता है, फूल मुरझाता है और भ्रमर उसी में बंद हो जाता है। यद्यपि उसमें छेदने की क्षमता है। वह कठोर से कठोर लकड़ी में भी छेद कर देता है किन्तु इस प्रलोभन में कि यदि आज कलियां छिद जायेंगी, टूट जायेंगी तो कल मुझे यह गंध/पराग कहां से मिलेगा? और इसी आसक्त भावना से वह वहीं बैठा रहता है, सांस रूंधती है और भ्रमर प्राण गवां बैठता है।

मोहक स्वरों में आसक्त हिरण ठिठक जाता है, कीलित हो जाता है। वह इस तरह बेभान हो जाता है कि घात लगाये बैठे शिकारी की तरफ ध्यान ही नहीं जा पाता और वह प्राणी अपने प्राणों को गवां बैठते हैं। सर्प के बारे में कहा जाता है कि वह बांसुरी के स्वरों में इतना मग्न हो जाता है कि सब कुछ भूल जाता है, सपेरे उसे पकड़कर उसका दांत तोड़ देते हैं फिर काल माना जाने वाला सर्प भी एक पिटारे में बंद हो जाता है। मन तो सभी इन्द्रियों का राजा है। इसी के आर्डर से सारी इन्द्रियां काम करती हैं। इन्द्रियां तो प्रवृत्त होती हैं किन्तु इन सब का शासक सम्राट तो मन है और यही मन इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषयों का वास्तविक रस लेता है। मन की पूर्ति के लिये ही इन्द्रियां विषयरत रहती हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने समितियों में प्रवृत्ति करने वाले मुनि को उनका परिपालन करने के लिये जो प्राणियों का और इन्द्रियों का परिहार होता है वह संयम है।

समितिषु वर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारस्संयमः॥*

अनुशासन और इन्द्रिय संयम में सम्यक आचार की भूमिका

जैन दर्शन की आचार संबन्धी विशेषताएँ अन्य भारतीय दर्शनों से महत्त्वपूर्ण हैं जैनाचार की मूलभूति अहिंसा है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन इस दर्शन में किया गया है वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। अहिंसा के मूल से अमृषवाद, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह के आदर्श उपस्थित होते हैं। यथा शक्ति जीवन को स्वावलम्बी, सम्यक्, पुरुषार्थी बनाकर, सादा सरल, संयमी, सद्चारित्रवान बनाना जैनाचार है। चित्तशुद्धि या मुक्ति के लिए अहिंसा की साधना अत्यन्त आवश्यक है। मानसिक, वाचनिक और कायिक अहिंसा की पूर्ण साधना वस्तु स्वरूप के यथार्थ ज्ञान के बिना संभव नहीं इसके लिए जैनाचार को समझना भी आवश्यक है।

आचार के अन्तर्गत संयम, त्याग, तपश्चरण और ध्यान की गणना की जाती है। निःसंदेह जैन दर्शन का विकास तत्त्व ज्ञान की भूमि पर न होकर आचार की भूमि पर हुआ है। जीवनशोध की व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया एवं समाज और विश्व में शान्ति स्थापन की पद्धति अहिंसा पर ही अवलम्बित है। जैन दर्शन का विस्तार, जीवनशोधन और चरित्र वृद्धि के लिए हुआ है। उस ज्ञान या विचार का कोई विशेष मूल्य नहीं, जो जीवन में उतारा न जा सके; जिसके प्रकाश से जीवन आलोकित न हो सके। यही कारण है कि जैनदर्शन में ज्ञान की अपेक्षा चरित्र को अंतिम महत्त्व दिया गया है। तप और साधना के द्वारा वीतरागता प्राप्त की जाती है और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसा की दिव्यज्योति को विश्व में प्रसारित करने के हेतु तत्त्वों को साक्षात्कार किया जाता है। इस दर्शन में विचार साध्य नहीं, चरित्र साध्य है।

जैनाचार का प्रमुख उद्देश्य जीव के अनादिकालीन मिथ्या रागद्वेष काम क्रोधादि के संस्कारों को नष्ट कर आत्मा की शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना है।

हमारा जीवन एक शक्तिशाली प्रवाह की भांति ही तो है। मन वाणी और इन्द्रियाँ हमारी प्रमुख शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार मनुष्य अपने विवेक से जल, विद्युत, वायु आदि प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करके उसका उपयोग जीवन के विकास के साथ देश एवं समाज की उन्नति के लिए करता है। मन, वचन और इन्द्रियाँ जहाँ भी अनुशासन-बद्ध प्रवर्तन करती हैं, वहाँ अपने आप सुख, समृद्धि और शान्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगती है।

संदर्भ:-

1. आचारांग सूत्र- (उपधान सूत्र) प्रथम उद्देशक गाथा-23, प्राकृत काव्य सौरभ संपादक- डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशक- श्री तारक गुरु ग्रंथालय उदयपुर
2. आचार्य अमितागति पंचसंग्रह-गाथा-107, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी-1957
3. आचारांग सूत्र- वही चतुर्थ उद्देशक- गाथा- 55,56
4. उत्तराध्ययन सूत्र- (विनय सूत्र) गाथा-13,17 प्राकृत काव्य सौरभ संपादक-डॉ. प्रेमसुमन जैन, प्रकाशक-श्री तारक गुरु ग्रंथालय, उदयपुर।
5. आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि अध्याय- 9/16, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली सं. 2005

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त

-डॉ. रमेशचन्द्र जैन

चन्द्रगुप्त का कुल-

चन्द्रगुप्त के पूर्वजों के विषय में मतभेद है। हिन्दू ग्रंथों में चन्द्रगुप्त को मगध के नन्दवंश से सम्बन्धित बतलाया गया है। मुद्राराक्षस में उन्हें न केवल मौर्यपुत्र वरन् नन्दान्वय भी लिखा है।¹ क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव ने उसे पूर्वनन्द सुत कहा है। मुद्राराक्षस के आलोचक दुण्डिराज ने लिखा है कि वह मौर्य (नन्द राजा सर्वार्थीसिद्धि तथा वृषक (शूद्र) की कन्या मुरा का पुत्र था। मध्यकालीन शिलालेखों के अनुसार मौर्यवंश सूर्यवंशियों से सम्बन्धित था। सूर्यवंश के एक राजकुमारर मान्धातृ से मौर्यवंश का उद्भव हुआ था।² जैन ग्रंथ परिशिष्ट पर्वन् में कहा गया है कि चन्द्रगुप्त मयूरपोषकों के गांव के मुखिया की पुत्री से उत्पन्न हुआ था।³ महावंश के अनुसार चन्द्रगुप्त उस क्षत्रिय वंश का था, जो बाद में मौर्य कहलाने लगा।⁴ दिव्यावदान में चन्द्रगुप्त तथा/ दिव्यावदान में चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने अपने को क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त घोषित किया है।⁵ उसी ग्रंथ में बिन्दुसार के पुत्र अशोक ने अपने को क्षत्रिय कहा है।⁶ महापरिनिब्बान सुत्त में मौर्यों का विष्पलिवन का शासक और क्षत्रियवंश माना है। इन सब प्रमाणों से यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय वंश का था।

तात्कालिक परिस्थितियाँ-

एण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) ने सिकन्दर से मुलाकात की थी। उस समय वह किशोर ही था। चन्द्रगुप्त कहा करता था कि सिकन्दर बड़ी आसानी से समूचे भारतवर्ष पर कब्जा कर सकता था; क्योंकि यहाँ के राजा से उसकी प्रजा उसके दुर्गुणों के कारण घृणा करती थी। अनुमानतः चन्द्रगुप्त ने मगध के अत्याचार भरे शासन को समाप्त करने के लिए भेंट की होगी। किन्तु चन्द्रगुप्त को सिकन्दर औरग्रसैन्य (अंतिम नन्द सम्राट्) जैसा ही सख्त शासक लगा; क्योंकि उसने भारत के इस किशोर सेनानी का वध किए जाने की आज्ञा में देर नहीं लगाई। बाद में चन्द्रगुप्त ने भारत को यूनान तथा भारत के अत्याचारियों (सिकन्दर तथा औरग्रसैन्य) से मुक्त करने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त ने तक्षशिला के एक ब्राह्मण कौटिल्य की सहायता से नन्दवंश के बदनाम राजा को गद्दी से उतार दिया। मिलिन्दपञ्च में लिखा है कि उस समय नन्द की सेना का नायक भद्रसाल (भद्रशाल) था।⁷

चन्द्रगुप्त का शासन-

हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्वन् से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त महावीर भगवान् की कैवल्य प्राप्ति के 155 वर्ष बाद सिंहासनारूढ़ हुआ। नन्दों और मैसिडोनियनों को हराकर

चन्द्रगुप्त एक विस्तृत प्रदेश का स्वामी बन गया था, जो पूर्व में मगध और बंगाल से पश्चिम में एरियाना के पूर्वी क्षत्रय प्रदेश तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र और प्रसिआई के राजा का प्रभुत्व गंगा के सभी प्रदेशों तक ही नहीं, बल्कि सिंध के किनारे के प्रदेशों पर भी था, जिन पर कभी ईरान का राजा और सिकन्दर शासन कर चुके थे। पश्चिम के महत्त्वपूर्ण प्रान्त सौराष्ट्र और काठियावाड़ की विजय और उसे अधीन कर लेने के सम्बन्ध में रुद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख का प्रमाण अवश्य है, जिसमें चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा सुदर्शन झील के निर्माण का उल्लेख आया है। इस प्रदेश के मगध साम्राज्य में सम्मिलित होने से अवन्ति या मालवा पर मौर्य अधिकार अवश्य प्रकट है। जैन लेखकों ने अवन्ति के पालक⁸ उत्तरा पालक उत्तराधिकारियों में मूरियों अथवा मौर्यों की गणना की है। चन्द्रगुप्त के पोते अशोक के समय में मौर्य साम्राज्य की सीमायें उत्तर मैसूर तक पहुंच गई थीं। अशोक ने मात्र एक प्रदेश कलिंग पर विजय का दावा किया है। अतः तुंगभद्रा के पार साम्राज्य के विस्तार श्रेय उसके पिता बिन्दुसार या पितामह चन्द्रगुप्त को रहा होगा। कतिपय मध्यकालीन अभिलेखों में मैसूर के कतिपय भागों के चन्द्रगुप्त द्वारा रक्षित होने का उल्लेख आया है।⁹ ईसा की प्रथम शताब्दी के अनेक तमिल लेखक 'मोरियार' द्वारा हिमाच्छादित गगनचुंबी पहाड़ के लॉघने के निर्देश करते हैं। ई.पू. तीसरी शताब्दी में चितलद्रुग जिला दक्षिण में मौर्य साम्राज्य का सीमांत था।¹⁰ चन्द्रगुप्त ने देश को विदेशी दासता से मुक्ति दिलाई थी। वह एक ऐसे साम्राज्य का निर्माता था, जिसमें सारा भारत तो नहीं, किन्तु उसका अधिकांश भाग आ गया था। भद्रशाल और सेल्यूकस के विजेता चन्द्रगुप्त की सेना में 6 लाख पैदल, 30 हजार घुड़सवार और 8 या 9 हजार हाथी थे। जैसे ही स्थिति सामान्य हो गई, वह शान्ति का पुजारी बन गया।¹¹ सिकन्दर के आक्रमण के बाद उसके सेनानियों में युनानी साम्राज्य की सत्ता के लिए संघर्ष हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सेल्यूकस पश्चिमी एशिया में प्रभुत्व के मामले में एन्टिगोनस का प्रतिद्वंदी हो गया। ई.पू. 312 में उसने बेबीलोन पर अपना अधिकार स्थापित किया। इसके बाद ईरान के विभिन्न भागों को जीतकर उसने वैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया। अपने पूर्वी अभियान के दौरान वह भारत की ओर बढ़ा। ईस्वी पूर्व 305-4 में काबुल के मार्ग से होते हुए वह सिन्धु नदी की ओर बढ़ा। उसने सिन्धुनदी पार की और चन्द्रगुप्त की सेनाओं से उसका सामना हुआ। किन्तु इस समय राजनैतिक परिस्थिति भिन्न थी। पंजाब और सिन्ध परस्पर युद्ध करने वाले राष्ट्रों में विभक्त नहीं थे, बल्कि एक साम्राज्य के अंग थे।

सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से युद्ध छोड़ा, किन्तु अन्त में उनमें संधि हो गयी और वैवाहिक संबन्ध स्थापित हो गया। सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को चार प्रांत एरियन, अराकोसिया, जेड्रोसिया और पेरीपेमिसदाई (अर्थात् काबुल, कंधार, मकरान और हैरात प्रदेश दहेज में दिए। प्लूटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को 500 हाथी उपहार में दिए। सम्भवतः इस संधि के परिणामस्वरूप ही हिन्दुकुश मौर्य साम्राज्य और सेल्यूकस के बीच राज्य की सीमा बन गया, जिसके लिए अंग्रेज तरसते रहे और जिसे मुगल सम्राट भी पूरी तरह प्राप्त करने में असमर्थ रहे। वैवाहिक सम्बन्ध से मौर्य सम्राटों और सेल्यूकस राजाओं के बीच

मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ। सेल्यूकस ने अपने राजदूत मेगस्थनीज को चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा। ये मैत्री सम्बन्ध दोनों के उत्तराधिकारियों के बीच भी बने रहे।

चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था सुदृढ़ थी। उसने नन्दकालीन शासन व्यवस्था का विकास किया। उस समय की शासन व्यवस्था के विषय में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला है। उसकी राज्य व्यवस्था पर यूनानी प्रभाव भी था। मेगस्थनीज ने उसके कार्यकलापों का विवरण अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में लिखा है। अब वह पुस्तक उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके संदर्भों का उपयोग यूनानी लेखकों ने किया है।

धार्मिक जीवन-

चन्द्रगुप्त की धर्म में गहन रुचि थी। उसकी धार्मिक रुचि का कारण संभवतः दार्शनिकों से सम्पर्क था। मेगस्थनीज का कहना है कि भारतीय राजाओं में 'हाइलोविओइ' नाम के दार्शनिकों के पास दूत भेजकर मंत्रणा करने का रिवाज है। ये 'हाइलोविओइ' सर्मनीज (श्रमणाज) के ही एक संप्रदाय के थे, जो वनों में रहते थे और संयम का जीवन बिताते थे। राजा लोग इनसे सृष्टि के कारण और अन्य बातों पर परामर्श करते थे। देवताओं की पूजा और प्रसन्नता के लिए भी इन दार्शनिकों की सेवायें ली जाती थीं। वर्ष के प्रारंभ में राजा दार्शनिकों का एक महासम्मेलन बुलाते थे, जिसमें ये लोग फसलें, पशु या सार्वजनिक हित की वृद्धि के संबन्ध में लिखित रूप में अपने सुझाव देते थे। यह अनुमान अतर्कपूर्ण नहीं होगा कि यूनानी राजदूत ने पाटलिपुत्र में अपने निवास के समय स्वयं देखकर ये बातें लिखी होंगी।¹³ श्रमणों में निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) साधुओं में ही ये बातें घटित होती हैं। इन्हें यूनानी लेखकों ने 'जिम्नोसोफिस्ट' भी कहा है, जिसका अर्थ होता है- नग्न दिगम्बर साधु। चन्द्रगुप्त ब्राह्मणों का भी आदर करता था।

भारतीय सन्यासियों से यूनानियों की पहली भेंट तक्षशिला में हुई थी। इन सन्यासियों में एक सन्यासी कोलोनास (कल्याण मुनि) भी थे। प्लूटार्क के अनुसार टेक्सीलीज के कहने पर तक्षशिला को कोलोनास सिकन्दर से मिलने गये। उसके साथ वे ईरान गए। तेहत्तर वर्ष की अवस्था में जब वे पहली बार अस्वस्थ हुए तो सिकन्दर के अनुनय विनय करने पर भी उन्होंने आत्मदाह कर लिया। संभवतः उन्होंने सल्लेखना व्रत धारण कर समाधि ली हो; क्योंकि जैन परंपरा में आत्मदाह का कोई विधान नहीं है। अवकाश के समय ये लोग बाजारों में समय बिताते थे, उन्हें भोजन मुफ्त मिल जाता था। वे सिकन्दर द्वारा दिए हुए भोज पर आए थे और उन्होंने खड़े-खड़े ही भोजन किया। जैन साधुओं (दिगम्बरों) के 28 मूलगुणों में एक मूल गुण स्थिति भोजन- खड़े-खड़े भोजन लेना आज भी अनिवार्य है। उन्होंने अपनी शारीरिक सहिष्णुता के भी कमाल दिखाए- जैसे सारे दिन धूप में खड़े रहना (इसे जैन परंपरा में आतपन योग कहते हैं) या एक पाँव से खड़े रहना। ओनेसिक्रटस ने लिखा है कि सिकन्दर ने पहले उसे भारतीय सन्यासियों के पास भेजा; क्योंकि उसने यह सुन रखा था कि ये लोग वस्त्रादि धारण नहीं करते और अन्य लोगों का निमंत्रण भी स्वीकार नहीं करते। (ये दोनों बातें आज भी दिगम्बर और जैन साधु पालन करते हैं। तक्षशिला से करीब तीन मील दूरी पर उसे पन्द्रह व्यक्ति अलग अलग

आसनों में खड़े मिले, उन्हें भी एक कोलोनस तथा दूसरा मंडनिस- मण्डल (अन्य ग्रंथों का दंड मिस-दण्डायन) भी थे। कोलोनस ने अतीत सतयुग का सामान्य विवरण दिया, किन्तु आगे बढ़ने से इंकार कर दिया और कहा कि वह तब तक बात नहीं करेंगे, जब तक यवन अतिथि अपने को निर्वस्त्र नहीं कर देता और उसके साथ उसकी प्रस्तर शिला पर नहीं लेटता। मंडनिस ने यवन अतिथि की जिज्ञासा को शांत करने का अधिक प्रयत्न किया। उन दोनों ने यवन और भारतीय दार्शनिकों के विचारों पर बातचीत की। ओनिसिक्रिटस ने पिथागोरस, सोक्रेटीज और डायोजिनीज के यवन दर्शन के विषय में जो बताया, उसकी तो मंडनिस ने सराहना की, परन्तु उसने यवनों की इसके लिए आलोचना की कि वे प्रकृति की अपेक्षा बाह्याडम्बरों को अधिक मानते हैं और कपड़े पहनना छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। इस प्रकार दश दार्शनिकों से सिकन्दर की भेंट हुई थी। सिकन्दर ने उनसे बड़े पैने प्रश्न किए और उन्होंने उनके इतने सुन्दर और संतोषजनक उत्तर दिए कि उसने प्रसन्न होकर उनका यथोचित सम्मान किया। कुछ श्रमणों के साथ स्त्रियाँ भी दर्शन का अध्ययन करती थीं, किन्तु उन्हें कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता था¹⁵ निर्वस्त्र होने पर बल देना दिगम्बर जैन साधुओं की विशेषता है, उन्हें बौद्ध मानना भ्रामक है। ये ब्राह्मण धर्मी भी नहीं हो सकते हैं।

चन्द्रगुप्त का धर्म-

चन्द्रगुप्त का धर्म कौन सा था, इस विषय में समस्त जैन साक्ष्य एकमत है कि वह जैन था। ब्राह्मण ग्रंथों में उसे वृषल, दासी पुत्र आदि कहकर उसे निन्दित सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उसका यही कारण है कि वह जैन था। कहा जाता है कि जब मगध में 12 वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा तो चन्द्रगुप्त राज्य त्यागकर जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ श्रवणवेलगोला चले गए और सच्चे जैन भिक्षु की भांति निराहार समाधिस्थ होकर प्राण परित्याग किया। 900 ई. के बाद के अनेक अभिलेख भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का एक साथ उल्लेख करते हैं।¹⁶

दिगम्बर जैन साहित्य में इस विषय का सबसे प्राचीन उल्लेख हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश (कथांक 131) में पाया जाता है। इस ग्रंथ की रचना शक संवत् 853 में हुई थी। इसमें बतलाया है कि पोण्ड्रवर्द्धन नामक सुन्दर देश में पहले 'कोटिमत्' तथा वर्तमान में 'देवकोट्ट' नगर है। इसमें पद्मरथ नामक राजा राज्य करता था। इस राजा का सोमशर्मा नामाक ब्रह्मण था। इसकी सोमश्री नामक स्त्री से भद्रबाहु नामक पुत्र हुआ। एक बार श्रुतकेवली गोवर्द्धन कोटिनगर पहुंचे। उन्होंने वहां चौदह गोल पत्थरों को एक के ऊपर एक रखे हुए भद्रबाहु को देखा। उन्होंने अपने निमित्त ज्ञान से जानकर उस बालक को उसके पिता से ले लिया। उनके समीप रहकर भद्रबाहु नाना शास्त्रों के ज्ञाता बन गये। एक बार वे अपने पिता से मिलकर पुनः गोवर्द्धन स्वामि के पास आकर प्रव्रजित हो गए। अनन्तर थोड़े ही काल में वे श्रुत के परगामी हो गए। एक बार वे उज्जयिनी के समीप शिप्रा के तट पर एक उपवन में पहुंचे। उस समय उस नगर में चन्द्रगुप्त नामक राजा था। सम्यग्दर्शन से सम्पन्न होकर वह महान् श्रावक हो गया। एक बार भद्रबाहु भिक्षार्थ एक घर

में प्रविष्ट हुए वहां स्थित एक शिशु ने उनसे कहा कि हे भगवान् मुनि! यहाँ से शीघ्र जाओ। बालक का यह कथन सुनकर श्रुतकेवली भद्रबाहु ने जान लिया कि यहां बारह वर्ष का दुर्भिक्ष होने वाला है। उन्होंने समस्त संघ से कहा कि इस देश में निश्चित रूप से वर्षा नहीं होगी तथा बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पार करना कठिन है। यह शीघ्र ही राजा तथा तस्करों के लूटने से शून्य हो जायेगा। मैं यहीं पर ठहरता हूँ; क्योंकि मेरी आयु अब क्षीण हो गई है। आप लवण समुद्र के समीप जायें।

भद्रबाहु का वचन सुनकर चन्द्रगुप्त राजा ने इन्हीं योगी के समीप जैनेश्वर तप धारण कर लिया। प्रथम दशपूर्वधारी चन्द्रगुप्त मुनि विशाखाचार्य नाम से समस्त संघ के नायक हो गए। गुरुवाक्य के अनुसार समस्त संघ दक्षिणपथ देश के पुन्नाट नामक विषय की ओर गया। रामिल्ल, स्थूलभद्र एवं भद्राचार्य ये तीनों अपने समुदाय के साथ सिन्धु आदि देश की ओर चले गये। भाद्रपद देश की उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु स्वामी ने चार प्रकार की आराधनाओं की आराधना कर समाधिमरण प्राप्त कर स्वर्गगमन किया। आगे इस कथा में अर्द्धस्फालक संप्रदाय की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है। इस कथा से स्पष्ट है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ही श्रुतकेवली भद्रबाहु की आज्ञा से विशाखाचार्य नाम धारण कर दक्षिण की ओर चले गए थे। दुर्भिक्ष का काल विद्वानों ने ई.पू. 363 से ई.पू.351 के मध्य अनुमानित किया है। हरिषेण परवर्ती ग्रंथकारों ने चन्द्रगुप्त तथा विशाखाचार्य दोनों को भिन्न भिन्न माना है। तिलोयपण्णती (लगभग चौथी शती ई.) के अनुसार मुकुटधारी राजाओं में अंतिम राजा चन्द्रगुप्त ही था, जिन्होंने दीक्षा धारण की। उसके बाद कोई भी मुकुटधारी राजा दीक्षित नहीं हुआ-

मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरिदं चंदगुत्तो य।

तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्जं णेव गिण्हंति॥ ति.प. ४/१४८१

विक्रम सं. 1296 में हुए आचार्य रत्ननन्दी या रत्नकीर्ति कृत भद्रबाहु चरित के अनुसार सोमशर्मा ब्राह्मण और सोमश्री ब्राह्मणी से उत्पन्न बालक भद्रबाहु को गोवर्द्धनाचार्य ने एक के ऊपर एक, इस प्रकार चौदह गोली चढ़ाते हुए देखकर निमित्त ज्ञान से जाना कि यह अंतिम श्रुतकेवली होगा। अतः उसे लेकर उन्होंने समस्त शास्त्र का पारगामी बना दिया। उसने एक बार पद्मधर राजा की सभा में विद्यमान मदोद्धत ब्राह्मणों को वाद-विवाद में पराजित कर दिया। यह देखकर राजा जैन धर्मी हो गया। उसने माता-पिता की आज्ञा से जिनदीक्षा धारण कर ली। एक बार वे उज्जयिनी के सेठ के घर पारणा के लिए गए। उसके घर में एक साठ दिन के बालक ने जाओ! जाओ! ऐसा कहा। बालक के अद्भूत वचन सुनकर मुनिराज ने पूछा- वत्स! कहो कितने वर्ष तक? बालक ने कहा- बारह वर्ष पर्यन्त। बालक के वचन से मुनिराज ने निमित्त ज्ञान से जाना कि मालवदेश में बारह वर्ष पर्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। मुनि महाराज अन्तराय समझकर वापिस वन में चले गए। अपने स्थान पर आकर उन्होंने साधुओं को बारह वर्ष के दुर्भिक्ष की सूचना देकर उस देश को छोड़ने की सलाह दी। श्रावकों की प्रार्थना पर रामल्य, स्थूलाचार्य स्थूलभद्रादि वहीं रह गए। शेष साधु दक्षिण की ओर चले गए। भद्रबाहु स्वामी जब गहन अटवी में पहुंचे तो एक

आकाशवाणी सुनकर उन्होंने अपने आपको अल्पायुस्क जान लिया। उन्होंने दशपूर्वधारी विशाखाचार्य को पट्ट पर नियोजित कर साधुओं को दक्षिण की ओर भेजा। स्वयं कन्दरा में रहने का निश्चय किया। साधुजनों ने कहा कि आपको हम अकेला कैसे छोड़ सकते हैं, तब नवदीक्षित मुनि चन्द्रगुप्त ने कहा कि आप चिंता न करें मैं बारह वर्ष पर्यन्त स्वामी के चरणों की सभक्ति परिचर्या करता रहूँगा। चन्द्रगुप्त मुनि आचार्य भद्रबाहु की परिचर्या में रहे। विशाखाचार्य अन्य साधुओं को ज्ञान दान देते हुए चोलदेश में आए। योगिराज भद्रबाहु मुनि ने सल्लेखनापूर्वक शरीर छोड़ा। चन्द्रगुप्त मुनि के पुण्य से देवों ने समीप में नगर रचना कर दी। मुनिराज वहीं आहार करते रहे। बाद में यथार्थता को जानकारी होने पर उन्होंने देवोपनीत आहार का त्यागकर प्रायश्चित्त किया। इस प्रकार इस कथा में विशाखाचार्य और चन्द्रगुप्त को पृथक् पृथक् साधु निरूपित किया है।

शक सं. 1602 के मुनिवंशाभ्युदय काव्य में कहा है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु बेलगोल आए और चिकबेट्ट (चन्द्रगिरि) पर ठहरे। चन्द्रगुप्त यहां तीर्थयात्रा को आए और दक्षिणाचार्य के बनवाए मंदिर तथा भद्रबाहु के चरणों की पूजा करते हुए वहाँ रहे। कुछ कालोपरान्त दक्षिणाचार्य ने अपना पद चन्द्रगुप्त को दे दिया।

देवचन्द्र कृत राजबली कथे (शक सं. 1761) के अनुसार चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र सिंहसेन को राज्य दे भद्रबाहु से जिनदीक्षा ग्रहण की। वे दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु आदि 1200 मुनियों के साथ दक्षिण को आए। भद्रबाहु ने अपनी आयु कम जानकर विशाखाचार्य को संघनायक बना चौल और पाण्ड्यदेश को भेज दिया। केवल चन्द्रगुप्त को उन्होंने अपने साथ रहने की अनुमति दी। गुरु की समाधि के पश्चात् चन्द्रगुप्त उनके चरणचिह्न पूजते रहे। यहाँ पर सिंहसेन नरेश के पुत्र भास्कर वहाँ आए, उन्होंने उस स्थान पर जिनमंदिरों का निर्माण कराया और चन्द्रगिरि के समीप बेलगोल नामक नगर बसा था। चन्द्रगुप्त ने इसी गिरि पर समाधिमरण किया। यहाँ चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र का राजा बनाकर उनके सोलह स्वप्न निरूपित हैं। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की राजधानी उज्जयिनी के समान पाटलिपुत्र भी थी।

श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ वसदि के पास एक शिलालेख है¹⁷ यह शिलालेख श्रवणबेलगोल के समस्त लेखों में प्राचीनतम (शक सं. 922) है। इस लेख में कथन है कि “महावीर स्वामी के पश्चात गौतम, लोहार्य, जम्बू, विष्णुदेव, अपराति, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, कृतिकार्य, जय, सिद्धार्थ, धुतिश्रेण बुद्धिलादि गुरुपरम्परा में होने वाले भद्रबाहु स्वामी के त्रैकाल्यदर्शी निमित्तज्ञान द्वारा यह कथन किए जाने पर कि वहाँ द्वादश वर्ष का वैषम्य (दुर्भिक्ष) पड़ने वाला है, सारे संघ ने उत्तरापथ से दक्षिणापथ को प्रस्थान किया और क्रम से वह एक बहुत समृद्धियुक्त जनपद में पहुँचा। यहाँ आचार्य प्रभाचन्द्र ने व्याघ्रादि व दरीगुफादि संकुल सुन्दर कटवप्र नामक शिखर पर अपनी आयु अल्प ही शेष जानकर समाधितप करने की आज्ञा लेकर समस्त संघ को आगे भेजकर व केवल एक शिष्य साथ रखकर देह की समाधि-आराधना की। लेख में प्रभाचन्द्रानामानितल में में प्रभाचन्द्रेण पाठ स्वीकार करने पर यह अर्थ निकलता है कि

भद्रबाहु स्वामी संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा देकर स्वयं प्रभाचन्द्र नामक शिष्य के साथ कटवप्र पर ठहर गए और वहीं समाधिमरण किया। सम्भवतया चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम प्रभाचन्द्र (दीक्षा नाम) रहा हो। पुष्पास्रव कथाकोश में भद्रबाहु का मगध से दक्षिण की ओर जाने का उल्लेख है। हेमाचन्द्राचार्य परिशिष्ट पर्व से भी सिद्ध होता है कि भद्रबाहु के समय बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा था तथा उस भयंकर दुष्काल पड़ने पर बसाधु समुदाय को भिक्षा का अभाव होने लगा तब सब लोग निर्वाह के लिए समुद्र के समीप गाँव में चले गये। इस समय चतुर्दशपूर्वधारी भद्रबाहु स्वामी ने बारह वर्ष के महाप्राण नामक ध्यान की आराधना प्रारम्भ कर दी थी। परिशिष्ट पर्व के अनुसार भद्रबाहु स्वामी इस समय नेपाल की ओर चले गये थे और श्रीसंघ के बुलाने पर भी पाटलिपुत्र को नहीं आए, जिसके कारण श्रीसंघ ने उन्हें संघबाह्य करने की धमकी दी। उक्त ग्रंथ में चन्द्रगुप्त के समाधिपूर्वक मरण करने का भी उल्लेख है।¹⁸

दि. जैन ग्रन्थों के अनुसार भद्रबाहु का आचार्य पद वीर निर्वाण संवत् 133 से 162 तक 29 वर्ष रहा जो प्रचलित निर्वाण संवत् के अनुसार ई. पू. 394 से 365 तक पड़ता है। इतिहासकार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य ई. पूर्व 321 से 398 तक माना जाता है। इस प्रकार भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के अन्तकाल में 67 वर्ष का अन्तर पड़ता है।¹⁹

रङ्ग ने अपने भद्रबाहुचरित में जिस चन्द्रगुप्त के भद्रबाहु से दीक्षित होने की बात कही है उसे चन्द्रगुप्त मौर्य ने मानकर उसके पौत्र अशोक का पौत्र बतलाया है। कुछ विद्वानों ने इसकी पहचान सम्प्रति से की है, किन्तु न तो सम्प्रति का नाम चन्द्रगुप्त था- ऐसा कोई प्रमाण मिलता है और न श्रुतकेवली भद्रबाहु से अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त की समकालिकता ही सिद्ध होती है।²⁰

डॉ. सागरमल जैन ने कहा है कि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष कहाँ पड़ा, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। हरिषेण, देवसेन एवं रत्ननन्दी ने उज्जयिनी में बतलाया तो रङ्ग ने उसे सिन्धु-सौवीर देश बताया। इसका समाधान यह हो सकता है कि सम्पूर्ण उत्तर भारत दुष्काल की चपेट में था।

भद्रबाहु दक्षिण गए अथवा नहीं, इसके विषय में मतैक्य है, किन्तु प्रायः सभी ने यह माना कि चन्द्रगुप्त ने उनसे जैनदीक्षा ग्रहण की थी।

चन्द्रगुप्त जैन था या नहीं। उसके समय में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। चन्द्रगुप्त भद्रबाहु से दीक्षित होकर उनके साथ चल पड़ा, इसके विषय में स्मिथ को प्रारम्भ में सन्देह था, किन्तु समस्त प्रमाणों पर पुनर्विचार करने पर तथा कथा के सत्यता के विषय में की गई आपत्तियों पर विचार करने पर स्मिथ साहब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह कथा सम्भवतः मूलतः सत्य है तथा चन्द्रगुप्त ने यथार्थ में राज्य त्यागकर दीक्षा धारण कर ली थी। यद्यपि पारम्परिक कथाओं की बहुत समीक्षा हुई है तथा शिलालेखीय प्रमाण किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाता, फिर भी मेरा वर्तमान विचार (प्रभाव) यह है कि इस परम्परा की नींव सुदृढ़ तथ्य पर आधारित है।

चन्द्रगुप्त के समय का निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय:

मेगस्थनीज के एक वर्णन के अनुसार निर्ग्रन्थ एक वर्ग के दार्शनिक थे, जो आजीवन नग्न रहते थे और कहते थे कि ईश्वर ने आत्मा के लिए शरीर का आवरण बनाया है। वे न मांस का आहार करते थे, न पकवान का। वे पृथ्वी पर गिरे हुए फलों को खाकर रहते थे। इस वर्णन की अनेक बातें उन वर्णनों से मिलती है, जो निर्ग्रन्थों के विषय में बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है। दोनों सिद्धान्तों में बहुत समानता है। वे आत्मा के अस्तित्व को मानते थे, किसी जीव का वध नहीं करते थे यहाँ तक कि वे वनस्पतियों में भी जीवन मानते थे और उन्हें नष्ट नहीं करते थे। वे नग्न साधु थे। जिनको मेगस्थनीज ने नग्न कहा वे निर्ग्रन्थ ही मालूम होते हैं। मेगस्थनीज उन्हें श्रमण नहीं ब्राह्मण कहता है, क्योंकि निर्ग्रन्थ साधु आचार की शुद्धता और धार्मिक विश्वासों में ब्राह्मणों के निकट थे। ये परिव्राजक साधुओं से अपने को भिन्न मानते थे, जो प्रायः निम्न जातियों के होते थे।²²

21- Jain Tradition overs that Chandragupta Maurya was a Jain and that when a great twelve years famine occurred, he abdicated, accompanied Bhadrabahu, the last of the saints called Srutakevalies to the south, lived as an ascetic at sharvangola in mysore and ultimately committed suicide by starvation at that place, were his name is still held in remembrance. In the second editon of this book I rejected that tradition and dismissed the tale as Imaginery history but on reconsideration of the whole evidence and the objections urged against the exdibility of the story,. I am now disposed to believe that the tradiion probably is true in its main outline and that Chandragupta realy abdicated and become a Jain ascetic. The traditional at Narratives, of course, like all such relation, are open to much criticism and the epigraphical support is for from conclusive. Nevertheless, my present impression is that the tradion has a solid foundation on fact.

चन्द्रगुप्त की शान शौकत:

चन्द्रगुप्त के समय नदियों और समुद्र के तटों पर स्थित नगरों के घर लकड़ी के बनाये जाते थे; क्योंकि उन्हें बाढ़ और वर्षा का खतरा था। शानदार स्थानों या ऊँचाई पर बसे घर ईंट और मिट्टी के गारे से बनाए जाते थे। गंगा और सोन के संगम बसा पाटलिपुत्र नगर सबसे बड़ा था। राजा चन्द्रगुप्त के प्रासाद की भव्यता सूसा और एकबतना के प्रासादों की भव्यता को मात करती थी। उसके उद्यानों में पालतू मोर और चकोर रखे जाते थे। उनमें छायादार कुंज और घास के मैदान होते थे, जिनमें खड़े पेड़ की शाखाओं को माली बड़ी कुशलता से एक दूसरे से गूँथ देते थे। पेड़ बराबर हरे और ताजे रखे जाते थे। कुछ पेड़ देशी थे, कुछ बाहर से लाए जाते थे। इन पेड़ों में जैतून का पेड़ शामिल नहीं था। चिड़ियाँ भी थीं, किन्तु उन्हें पिंजड़ों में नहीं रखा जाता था। वे अपनी इच्छा से आतीं थीं और पेड़ों की डालियों पर अपने घोंसले बनाती थी। तोते बड़ी संख्या में रखे जाते थे। वे प्रायः झुण्ड बनाकर राजा के आसपास मडराते रहते थे। प्रासाद के प्रांगण में बड़ी सुन्दर बावड़ियाँ भी बनी थीं, जिनमें बड़ी बड़ी, किन्तु पालतू मछलियाँ रहती थीं। किसी को उन्हें पकड़ने की आज्ञा नहीं थी। राजा और महल के विषय में कर्टियस लिखता है—‘राजाओं की ऐश्वर्यशीलता की कोई इंतहा नहीं, वे संसार में बेजोड़ हैं। जब राजा, प्रजा को दर्शन देने

की कृपा करता है तो उसके परिवार हाथों में चांदी के इत्रदान लेकर चलते हैं, वह एक सोने की पालकी में आराम से बैठता है, जिसमें मोती जड़े होते हैं, उसकी झालरें चारों ओर लटकती रहती हैं। राजा महीन मलमल के कपड़े पहनता है, जिससे सोने के काम किए होते हैं। पालकी के पीछे सशस्त्र सैनिक और उसके अंगरक्षक चलते हैं। इनमें कुछ अपने हाथों में पेड़ों की डालें लिए चलते हैं। इन पर ऐसी चिड़ियाँ बैठी रहती हैं, जिनको अपनी चीख से काम रोकने की ट्रेनिंग मिली रहती है।

राजमहल के खम्भों पर सोने का काम है, जिसमें सोने की अंगूर की बेलें बनी हैं, जिनमें चांदी की चिड़ियाँ बनाई जाती हैं। ये बड़े नयनाभिराम हैं। महल के दरवाजे सबके लिए खुले हैं। उस समय भी लोग राजा से मिल सकते हैं, जब वह अपने बाल संवारता और कपड़े पहनता है। उसी वक्त वह राजदूतों से मिलता है और प्रजा को न्याय देता है। इसके बाद उसके जूते उतार दिए जाते हैं, और उसके पैरों में सुगन्धित उबटन की मालिश होती है। छोटी यात्राओं के लिए घोड़े पर चढ़ता है। बड़ी यात्राओं के लिए हाथियों पर बैठता है, जिन पर हौदे कसे होते हैं। इनका सारा शरीर झालरों से ढका होता है, जिन पर सोने का काम होता है। उसके साथ गणिकाओं की एक जमात चलती है। यह जमात रानियों के लवाज में से अलग होती है। इनकी नियुक्ति पर बड़ा खर्च होता है। राजा का भोजन औरतें बनाती हैं।²³

चन्द्रगुप्त के विषय में विद्वानों के मत:

ऊपर कहा जा चुका है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन मुनि हो गया था। डॉ. स्मिथ कहते हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्ण राज्यकाल किस प्रकार से समाप्त हुआ, उसकी सीधी और एकमात्र साक्षी जैन दन्तकथा ही है। जैसी इस महान् सम्राट् को बिम्बसार जैसा ही जैन मानते हैं और इस मान्यता में अविश्वास करने का कोई भी पर्याप्त कारण नहीं है। परवर्ती शैशुनागों, नन्दों और मौर्यों के काल में जैनधर्म निःसन्देह मगध में अत्यन्त प्रभावशाली रहा था। यह बात कि चन्द्रगुप्त ने एक ब्राह्मण विद्वान् की युक्ति से राज्य पाया था, इस धारणा से कदापि असंगत नहीं कि जैनधर्म तब राजधर्म था। जैन गृहस्थानुष्ठानों में ब्राह्मणों से काम लेते हैं, यह एक सामान्य प्रथा है और मुद्राराक्षस नाटक में मन्त्री राक्षस का विशिष्ट मित्र जैन साधु ही बताया गया है, जिसने पहले नन्द की और बाद में चन्द्रगुप्त की सेवा की थी।

यदि यह तथ्य कि चन्द्रगुप्त जैन था या जैन हो गया था, एक बार स्वीकृत हो जाता है तो उसके राज्य त्यागने एवं अन्त में सल्लेखना व्रत द्वारा मृत्यु का आह्वान करने की दन्तकथा भी सहज विश्वसनीय हो जाती है। यह बात तो निश्चित है कि ई.पूर्व 322 अथवा उसके आसपास जब चन्द्रगुप्त गद्दी पर आया था, तब एकदम युवक और अनुभवहीन था। 24 वर्ष पश्चात् जब उसके राज्यकाल का अन्त हुआ, तब वह 50 वर्ष से कम ही आयु का होना चाहिए। राज्य त्याग कर इतनी कम आयु में दूर भाग जाने का और कोई कारण समझ में नहीं आता है। राजाओं के संसार त्याग के अनेक दृष्टान्त उपस्थित हैं और बारह वर्ष का दुष्काल भी स्वीकृत किया जाता है। संक्षेप में जैन दन्तकथा जहाँ

एक ओर स्वस्थान की रक्षा करती है, वहाँ दूसरा और कोई विकल्प भी हमारे सामने नहीं छोड़ती है।²⁴ श्रवणवेलगोल के जैन शिलालेखों के प्रखर अभ्यासी राइस और नरसिंहाचार भी इसी का समर्थन करते हैं।²⁵ मैगस्थनीज की साक्षी इसी तरह मान लेती है कि चन्द्रगुप्त श्रमणों की भक्ति और उपदेशों का मानने वाला था, न कि ब्राह्मणों के धर्म सिद्धान्त का। याकोबी का कहना है कि हेमचन्द्राचार्य से लेकर आधुनिक सब विद्वान् भद्रबाहु की समाधि की तिथि वीर निर्वाण संवत् 170 मानते हैं।²⁶ अपनी गणना के अनुसार ई.पू. 297 के लगभग यह तिथि पड़ती है। महान् आचार्य के स्वर्गवास की यह तिथि चन्द्रगुप्त के राज्यकाल ई.पूर्व 321-297 से बराबर मिल जाती है।²⁷ हिस डेविड्स का कहना है कि यह निश्चित है कि उपलब्ध राजकीय साहित्य में लगभग दश शताब्दियों तक चन्द्रगुप्त बिल्कुल उपेक्षित ही रहा था। यह संभव लगता है कि ब्राह्मण लेखकों की चुप्पी या उपेक्षा का यही कारण हो कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन था।

संदर्भ सूची:

1. मुद्राराक्षस अंक 4
2. महावंश की टीका अनुसार मौर्यों का संबन्ध शाक्यों से जो आदित्य (सूर्य) के वंशज थे- अवदान कल्पलता संख्या- 19
3. परिशिष्ट पर्वन् पृ. 56, 8-229
4. गेगर का अनुवाद पृ. 27 मोरियानं खत्तियानं वंशे जातं।
5. दिव्यावदान पृष्ठ- 409
6. सेक्रिड बुक्स ऑफ ईस्ट प्र. 134-45
7. प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास पृ. 198
8. जैकोबी, कल्पसूत्र ऑफ भद्रबाहु 1879 पृ. 7, परिशिष्ट पर्वन् द्वि. सं. 20
9. राइस- मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम ईस्क्रिप्टशंस पृष्ठ-10
10. नंद मौर्ययुगीन भारत पृष्ठ-172-173
11. नंद मौर्ययुगीन भारत पृष्ठ-173
12. द्विजेन्द्रनारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्री माली: प्राचीन भारत का इतिहास, पृष्ठ-175-176
13. नंद मौर्ययुगीन भारत, पृष्ठ-182
14. नंद मौर्ययुगीन भारत, पृष्ठ-111-112
15. वही पृष्ठ- 113
16. प्राचीन भारत का इतिहास पृष्ठ-177
17. जैन शिलालेख संग्रह- डॉ. हीरालाल जैन की भूमिका पृष्ठ-61-64
18. जैन शिलालेख संग्रह, पृष्ठ 67 (भूमिका)
19. वही पृष्ठ- 66 (भूमिका)
20. श्रमण- अक्टूबर- दिसम्बर 2000

21. Vincent A. Smith: The early history of India P.154
22. नन्द मौर्ययुगीन भारत, पृष्ठ-339
23. नन्द मौर्ययुगीन भारत, पृष्ठ-127-128
24. स्मिथ: ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ-75-76
25. राइस ल्यूइस: मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम दी इस्क्रिप्शन्स, लन्दन, 1909
26. याकोबी: कल्पसूत्र, प्रस्तावना पृष्ठ-13
27. याकोबी: परिशिष्ट पर्वन् पृष्ठ-61-62

-बिजनौर (उ. प्र.)

जितेन्द्रिय : सच्चा सम्राट

जिसने अपने आपको जीत लिया वह जितेन्द्रिय है। अपने आपको जीतने वाला, किसी से पराजित नहीं होता। एक आत्म साधक सन्त, सम्राट से भी बड़ा होता है। संत किसी अपेक्षाओं का दास नहीं होता। वह विजय और पराजय के द्वन्द्व से परे रहता है।

चीन में एक महान दार्शनिक संत हो गया- कन्फ्यूशियस। एक बार चीन का राजा वहाँ से गुजरा, जहाँ कन्फ्यूशियस विचार मग्न अपनी कुटिया में बैठा था। राजा को निकलते देखकर भी न तो वह अभिवादन के लिए उठा और न ही कोई स्वागत की औपचारिका की। राजा, कन्फ्यूशियस के पास जाकर बोला! तुम्हें पता है तुमसे मिलने कौन आया है? संत ने कहा कि मैं सिर्फ अपना पता रखता हूँ कि मैं सम्राट हूँ। फकीर के इस उत्तर से चीन के सम्राट को गुस्सा भी आया और उसे आश्चर्य हुआ कि यह कितना निडर व्यक्ति है। राजा के अहंकार को जैसे किसी ने आसमान से धरती पर पटक दिया हो। यह व्यक्ति स्वयं को सम्राट बोल रहा है जबकि इसके पास न सेना है न सेवक, न राजकोष है न कोई हुकुमता। संत कन्फ्यूशियस, सम्राट की यह बात सुनकर हंस दिये। संत ने कहा सेना उसे चाहिए जिसके पास सत्ता हो। सेवक उसे चाहिए जो पराधीन हो, राजकोष की संपत्ति उसे चाहिए जो गरीब और आकांक्षाओं का भूखा हो। मेरे पास तो संतोष का अक्षय भण्डार है। मैं स्वयं का मालिक हूँ मुझे सेवक की क्या आवश्यकता। कन्फ्यूशियस ने थोड़ा अफसोस जाहिर करते हुए पुनः सम्राट से कहा- हाँ! इतना अवश्य है कि मैं अभी संपूर्ण सम्राट नहीं बन पाया हूँ मेरे शरीर पर अभी लंगोटी है जिस दिन यह छूट जायेगी मैं सही में सम्राट बन जाऊँगा। संत की इस अलौकिक वाणी को सुनकर सम्राट निरुत्तर हो गया। वह इस रहस्य को भी जान गया कि जिसने अपने आपको जीत लिया, ऐसा जितेन्द्रिय ही सच्चा सम्राट है।

- साभार, “आस्था के आयाम” से कृतिकार-पं. निहालचन्द जैन

तत्त्वार्थवार्तिक में वर्णित अणुव्रत और महाव्रत

—प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द जैन

आचार्य अकलंकदेव द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पर तत्त्वार्थवार्तिक ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें प्रमेय का विचार आगमिक एवं दार्शनिक पद्धति से किया गया है। प्रस्तुत आलेख में अणुव्रत और महाव्रतों पर विचार किया जायेगा। जब व्रतों पर विचार करते हैं तो सर्वप्रथम व्रत के स्वरूप पर विचार करना भी आवश्यक है। तत्त्वार्थसूत्रकार लिखते हैं कि हिंसा, अनृत, अस्तेय, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरति व्रत है।¹

समन्तभद्राचार्य लिखते हैं कि अनिष्टपन और अनुपसेव्यपन के कारण छोड़ने के योग्य विषय से अभिप्रायपूर्वक जो निवृत्ति होती है वही व्रत है।²

पूज्यपाद आचार्य ने सवार्थसिद्धि में व्याख्या करते हुए लिखा कि प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है या यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना व्रत है।³

आचार्य अकलंकदेव ने व्रत के स्वरूप पर विशेष विवेचना करते हुए लिखा है कि विरमण का नाम विरति है। चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकचारित्र की प्रकटता होने से जो विरक्ति होती है, उसे विरति कहते हैं और अभिसन्धिकृत नियम व्रत कहलाता है। बुद्धिपूर्वक परिणाम या बुद्धिपूर्वक पापों का त्याग अभिसन्धि है। यह ऐसा ही करना, अन्य प्रकार से निवृत्ति है, ऐसे नियम को अभिसन्धि कहते हैं। अर्थात् बुद्धिपूर्वक किया हुआ नियम सर्वत्र व्रत कहलाता है। शुभ कार्यों में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति ही व्रत है।⁴

व्रतमभिसन्धिकृतो नियम :

व्रत को जो स्वरूप पूर्ववर्ती आचार्य समन्तभद्र ने बताया इसके बाद पूज्यपाद आचार्य ने भी प्रतिपादन किया परन्तु आचार्य अकलंकदेव ने अभिसन्धिकृतः का अर्थ बुद्धिपूर्वक परिणाम करके यह स्पष्ट कर दिया कि व्रत बुद्धिपूर्वक ही लिये जाते हैं। अतः इससे स्पष्ट है कि आज जो मुमुक्षुओं में यह धारणा बनती जा रही है कि व्रत तो सहज में होते हैं जब उसकी काललब्धि आयेगी तो व्रत सहज और स्वयं हो जायेंगे। अतः उक्त कथन से मुमुक्षुओं की यह 'सहज' की अवधारणा निर्मूल हो जाती है।

आचार्य अकलंकदेव ने व्रतों को दो भागों में बाँटने का कारण सर्वप्रथम बताया है कि व्यक्तियों के आत्मभूत धर्मों के दैविध्य होने से व्यक्तियों के द्वैविध्य के समान उन धर्मों के भी दो भेद हो जाते हैं अर्थात् व्यक्ति के भेद से व्रत दो प्रकार के होते हैं— 'देश सर्वतोऽणुमहती' अर्थात् हिंसादि से एक देश विरक्त होना अणुव्रत और सम्पूर्ण रूप से

विरक्ति महाव्रत है।

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि किसी व्यक्ति ने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं हिंसा नहीं करूँगा, झूठ नहीं बोलूँगा इत्यादि प्रतिज्ञा के बावजूद भी वह भावना स्थिर रखने में असमर्थ है तो ऐसी स्थिति में क्या करें? तो स्पष्ट किया है कि उन व्रतों की स्थिरता के लिये प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं को भावे तो व्रतों में स्थिरता आयेगी। जिन पच्चीस भावनाओं का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्रकार ने किया है वे भावनायें मुख्यरूप से महाव्रतियों को है क्योंकि कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्रपाहुड में महाव्रत की परिभाषा बताकर⁷ इन व्रतों की पाँच-पाँच भावनायें भी गिनायी है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार 'देशसर्वतोऽणुमहती' सूत्र कह करके कहते हैं कि इन व्रतों की पाँच-पाँच भावनायें हैं। इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि ये भावनायें अणुव्रती और महाव्रती दोनों को मानना चाहिए क्योंकि आचार्य अकलंकदेव ने स्पष्ट कहा है कि कोई पुरुष यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि मैं झूठ नहीं बोलूँगा, हिंसा नहीं करूँगा, पर स्त्री गमन नहीं करूँगा इत्यादि। ऐसी भावना स्थिर रखने में असमर्थ है तो ये पाँच-पाँच भावनायें भावे⁸ ज्ञातव्य है कि पर स्त्री गमन का त्याग अणुव्रती के होता है। महाव्रती तो स्त्रीभाव के त्यागी हैं। अतः अकलंक ने यह स्पष्ट कर दिया कि ये पाँच-पाँच भावनायें अणुव्रती और महाव्रती दोनों को व्रतों में स्थिरता के लिये भाना चाहिए।

तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंक कहते हैं कि इन भावनाओं के सिवा और भी जिन बातों से व्रतों की दृढ़ता रहती है वे हैं व्रतों की विरोधी हो रही पाप क्रियाओं में प्रतिकूल भावनायें भावते हुए सामान्यरूप से सम्पूर्णव्रतों की स्थिरता के लिये और भी इस प्रकार भावनायें करनी चाहिये कि हिंसादि पापों के करने से इस लोक में भी और परलोक में भी अपाय (अनर्थ) और अवद्य (निन्दा) दर्शन होता है।⁹ इसी प्रकार इनके सिवा हिंसादि के विषय में और भी भावनाएँ हैं, वे भी मानी चाहिए जैसा सूत्रकारा कहते हैं कि ये हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पाप दुःख रूप ही हैं।¹⁰

हिंसादि पाप दुःख स्वरूप ही है इसको सिद्ध करते हुए कहते हैं कि 'कारण कारणे वा धनप्राणवत्'। जैसे धन से अन्न आता और अन्न से प्राणों की स्थिति होती है। अतः कारण के कारण में कार्य का उपचार करके धन को प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादि पाप असाता वेदनीय कर्म के कारण है और असाता वेदनीय कर्म दुःख का कारण है। अतः दुःख के कारण के रूप हिंसादि भी दुःख रूप ही है। इस प्रकार आचार्य अकलंकदेव दार्शनिक शैली में हिंसादि को दुःखरूप ही है, सिद्ध करते हैं।¹¹

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि जिस प्रकार ये भावनायें भावपूर्वक भाने से व्रत को पूर्णता प्रदान करती है उसी प्रकार इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा कर ये मैत्री आदिक भावनायें भी यदि भायी जावें तो व्रत सम्पत्ति स्थिर होती है। प्राणीमात्र में मैत्री, गुणिजनों में प्रमोद, दुःखी जीवों में करुणा तथा विरुद्ध चित्तवालों में माध्यस्थ्यभाव रखना इन चार भावनाओं का विशेषरूप विचार करते हुए व्रती को अपना, आत्मा सर्वदा संस्कारित रखना चाहिये।

महाव्रतियों द्वारा उक्त सभी भावनाओं का चिन्तन करने से नवीन पापाम्रव

रूकेगा¹² परन्तु संवेग और वैराग्य के लिये संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिये।

आचार्य अकलंकदेव अपनी तार्किक बुद्धि से कहते हैं कि जो संसार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करेगा उसे आरम्भ परिग्रह में दोष दिखेंगे। तो वह व्रती इनसे विरत होगा और इनसे विरत होना ही धर्म है और धर्म से धर्म में, धार्मिकों में, धर्मश्रवण में और धार्मिक-दर्शन में बहुमान होता है। उनके प्रति मानसिक आह्लाद होता है। उत्तरोत्तर गुणों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति) में श्रद्धा और वैराग्य होता है। यही संसार शरीर भोगोपभोग वस्तु से निर्वेद होता है तथा भावना भाने वाला मानव अच्छी तरह से व्रतों का पालन करता है।

आगे आचार्य अकलंकदेव दार्शनिक शैली से प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ये सभी व्रतभावनायें सर्वपदार्थों को जो सर्वथा नित्य मानता है अथवा अनित्य उन एकान्तवादियों के एकान्तमत में ये भावनायें नहीं बन सकती अपितु नित्यानित्य आत्मद्रव्य में ये सभी भावनायें बन सकती हैं।

अणुव्रत और महाव्रतों की चर्चा में व्रत के स्वरूप में हिंसा आदि पाँच पापों से विरत होना सो व्रत कहा है। अतः हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह को वार्तिक में विस्तार से विवेचित किया गया है जो यहाँ अपेक्षित नहीं है।

इस प्रकार इन भावनाओं के द्वारा जिसका चित्त स्थिर हो गया है, जो हिंसादि पापों को जीव के नाश अथवा अहित का कारण समझता है और इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों के कौतूहल से जो निरुत्सुक हो चुका है, समस्त प्राणियों में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों के प्रणिधान से जो वात्सल्य भाव धारण कर चुका है, जिसने शरीर के स्वभाव को अच्छी तरह से पहिचान लिया तथा जो मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है, ऐसे जिस पुरुष के व्रत है वही शल्यों से रहित होता हुआ व्रती कहलाता है।

आचार्य उमास्वामी ने 'निःशल्यो व्रती' अर्थात् माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों से रहित को व्रती कहा है।

तत्त्वार्थवार्तिक में व्रती के लक्षण को लेकर आचार्य अकलंक स्वामी ने 8 वार्तिक लिखी है¹³ जिसमें शंका उपस्थित की गई निःशल्यत्व और व्रतित्व ये दोनों के विरुद्ध है अर्थात् पृथक-पृथक है क्योंकि निःशल्यत्व होने से व्रती नहीं हो सकता। कोई दण्ड के सम्बन्ध में छत्री नहीं हो सकता। अतः व्रत के सम्बन्ध से व्रती कहना चाहिये और शल्य के अभाव में निःशल्य। अतः व्रत के सम्बन्ध से व्रती कहना चाहिये और शल्य के अभाव में निःशल्य। अतः व्रत या निःशल्य में से एक से व्रती सिद्ध हो जाने से दो विशेषण देना निरर्थक है। यदि व्रती होने से निःशल्य है तो व्रती ही कहना चाहिये निःशल्य नहीं। यदि निःशल्य होने से व्रती है तो निःशल्य ही कहना चाहिये व्रती नहीं। इस प्रकार निःशल्यों व्रती में फल विशेष नहीं है क्योंकि 'निःशल्य कहो या व्रती कहो' दोनों विशेषणों से विशिष्ट एक ही व्यक्ति इष्ट हैं।

उक्त शंका का समाधान सहेतुक दिया है और कहा है कि उभय विशेषण विशिष्ट होने से निःशल्यो व्रती कहना दोष नहीं। अंगागीभाव विवक्षित होने से निःशल्योव्रती

कहना अनुचित नहीं है।

निःशल्यत्व और व्रतित्व में अंग-अंग भाव विवक्षित है क्योंकि केवल हिंसादि विरक्ति रूप व्रत के सम्बन्ध में व्रती नहीं होता जब तब कि शल्यों का अभाव न हो। शल्यों का अभाव होने पर ही व्रत के सम्बन्ध से व्रती होता है। उदाहरण दिया गया है कि जैसे बहुत दूध और घी वाला गोमान कहा जाता है। बहुत दूध और घृत के अभाव में बहुत सी गायों के होने पर भी गोमान नहीं कहलाता। उसी प्रकार सशल्य होने पर व्रतों के रहते हुए भी व्रती नहीं कहा जा सकता है। जो कि निःशल्य होता वही व्रती होता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्रती वही है जो निःशल्य होकर व्रत पालन करता है। केवल व्रत पालन करें और निःशल्य न हो तो व्रती नहीं है निःशल्य है और व्रत नहीं है तो भी व्रती नहीं।

व्रती की यह परिभाषा अणुव्रती और महाव्रती दोनों पर बराबर लागू होती है। इसीलिये आगे सूत्र कहना पड़ा कि 'आगार्यनगारश्च' अर्थात् अगारी गृहस्थ और अनगारी-मुनि के भेद से व्रती दो प्रकार के हैं:-

अगार जिसके है, वह अगारी कहलाता है जिसके अगार नहीं है, वह अनगारी कहलाता है। इस प्रकार अगारी- अनगारी की परिभाषा करने पर प्रश्न उठता है कि किसी कारणवश जो घर छोड़कर वन में रहने लगा उसके (गृहस्थ) अनगारपना सिद्ध होगा। इसका समाधान आचार्य अकलंकदेव ने किया है कि यहाँ भावागार विवक्षित है।¹⁵

इसी प्रकार सम्पूर्णव्रतों का पालन न कर एक देशव्रत पालन करता है तब भी वही व्रती है। जैसा घर के कोठे में रहने वाले भी नगरवासी कहा जाता है। अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तरगुणों को धारण करने वाला मुनि जैसे पूर्णव्रती है वैसे अणुव्रतधारक संयतासंयत व्रती नहीं है फिर भी अणुव्रतधारी भी व्रती कहलाता ही है।

हिंसादि पाँचों पापों में से किसी एक पाप का त्याग करने से अगारी नहीं अपितु पाँचों का एक देश त्याग करने वाला अगारी है। इसलिये सूत्रकार को सूत्र बनाना पड़ा कि 'अणुव्रतोऽगारी' अर्थात् अणुव्रतों का धारक अगारी है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार अणुव्रतोऽगारी सूत्र दिया उस प्रकार महाव्रतोऽनगारी सूत्र भी देना चाहिये था परन्तु इस विषय में न सर्वार्थसिद्धि में समाधान है और न तत्त्वार्थवार्तिक में परन्तु आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में समाधान दिया है:-

तत्र चाणुव्रतोऽगारी सामर्थ्यात्स्यान्महाव्रतः।

अनगार इति ज्ञेयमत्र सूचांतराद्विना॥

वहाँ अगारी और अनगार दो व्रतियों का निरूपण करने के अवसर पर सूत्र द्वारा एक सूक्ष्मव्रत वाले को अगारी कह देने की सामर्थ्य से यहाँ अन्य सूत्र के बिना ही 'महान व्रतों की धारी पुरुष अनगार है' यो दूसरा व्रती समझ लेना चाहिये।

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि अणूनि व्रतानि अस्य सोऽणुव्रतः। अणु है व्रत जिसके वह अणुव्रत कहलाता है। फिर प्रश्न है कि व्रतों में अणुपना कैसे? आचार्य अकलंकदेव समाधान देते हैं कि सर्व सावद्य योग की निवृत्ति असम्भव होने से अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रती द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस प्राणियों के व्यपरोपण

से मन, वचन, काय से निवृत्त अहिंसाणुव्रती कहलाता है।

स्नेह, द्वेष और मोह के आवेश से बोले जाने वाले असत्य का त्यागी सत्याणुव्रती होता है।

अन्य को पीड़ाकारक और राजभय आदि से परित्यक्त जो अदत्त है, उस अदत्त से निवृत्ति अचौर्याणुव्रत है।

उपात्त (दूसरे के द्वारा गृहीत) अनुपात्त (दूसरे के द्वारा अनुगृहीत कुमार, कन्या आदि से परस्त्री से विरक्त होना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।)

धन धान्य क्षेत्रादि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का स्वेच्छा से परिमाण कर लेना परिग्रह परिमाणुव्रत है।

अणुव्रतीश्रावक के इन पाँच व्रतों के अतिरिक्त दिग्विरति, देशविरति, अनर्थ-दण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोवपास, उपभोग परिभोग परिमाण और अतिथि संविभागव्रत भी होते हैं।

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि 'ततो बहिर्महाव्रत प्रसिद्धि' अर्थात् अहिंसाणुव्रती परिमित दिशा की अवधि के बाहर मन, वचन, काय योग और कृत कारित तथा अनुमोदन आदि सर्व विकल्पों के द्वारा हिंसादि सर्व सावद्य से निवृत्त हो जाता है, अतः दिग्विरति व्रतधारी के दिग्विरति बाहर महाव्रतत्त्व जानना चाहिये। इसी प्रकार देशविरति के भी महाव्रतत्त्व होता है और सामायिक में अणु और स्थूल हिंसा आदि से निवृत्त होने के कारण इसमें भी महाव्रतपना समझना चाहिये परन्तु यह महाव्रतपना अगारी के उपाचार से कहा है।

वार्तिककार अकलंकदेव ने अनर्थदण्ड के विषय में कहा है कि मध्य में अनर्थदण्ड का ग्रहण पूर्वोत्तर अतिरेक के आनर्थ के ज्ञापनार्थ है। पूर्व में कहे गये दिग्व्रत और देशव्रत तथा आगे कहे जाने वाले उपभोग परिभोग परिमाण व्रत से अवधृत मर्यादा में भी निष्प्रयोजन गमन आदि तथा मर्यादित विषयों का भी सेवन आदि नहीं करना चाहिये। इस प्रकार अतिरिक्त निर्वृत्ति की सूचना देने के लिये मध्य में अनर्थदण्डवचन को ग्रहण किया गया।

दिग्देशानर्थविरति इत्यादि सूत्र में जो 'सम्पन्न' शब्द आया है उस सम्बन्ध में पूज्यपाद एवं अकलंक ने व्याख्यायित नहीं किया परन्तु विद्यानन्द श्लोकवार्तिक में कहते हैं कि¹⁷ सम्पन्न शब्द साभिप्राय है जैसे कोई बड़ा श्रीमान् (धनाढ्य) निज सम्पत्ति से अपने को भाग्यशाली मानता रहता है, मेरे कभी लक्ष्मी का वियोग नहीं होवे ऐसी सम्पन्न बने रहने की अनुक्षण भावना रहती है। उसी प्रकार गृहस्थ उन व्रतों से अपने को महान सम्पत्तिशाली बने रहने का अनुभव करता रहता है।

तत्त्वार्थवार्तिक में अणुव्रतीश्रावक का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा है कि दिग्देशानर्थ इत्यादि सूत्र में ही सल्लेखना को जोड़ा जा सकता था परन्तु उस सूत्र में सल्लेखना इसलिये नहीं जोड़ा क्योंकि घर का त्याग नहीं करने वाले के लिये दिग्विरति आदि सप्त प्रकार के शील का उपदेश है और घर का त्याग कर देने पर उस गृहस्थ के श्रावकव्रत रूप से ही सल्लेखना होती है। अतः इस वैशिष्ट्य के साथ यह भी बताना इष्ट था कि सल्लेखना

केवल दिग्विरति आदि सात शीलव्रतों के धारण करने वाले श्रावकों को ही नहीं अपितु महाव्रती साधु के भी सल्लेखना होती है। अतः सल्लेखना के लिये सूत्र पृथक् करना पड़ा।¹⁸

सूत्रकार ने जब अणुव्रतों और सप्तशीलव्रतों के अतिचारों को बताया तो इसके पूर्व सम्यग्दृष्टि के अतिचारों की चर्चा की। अतः प्रश्न उठता है कि अणुव्रतों के अतिचारों के पूर्व सम्यग्दृष्टि के अतिचार क्यों कहें? इसका समाधान पूज्यपाद ने नहीं किया अपितु वार्तिककार ने किया है। ये सम्यग्दृष्टि के अतिचार अणुव्रती और महाव्रती दोनों के लिये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थवार्तिक में अणुव्रतों के साथ महाव्रतों की चर्चा पारिशेष न्याय से की है। परन्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि जो गृहस्थ अणुव्रत और सप्तशीलों का पालन करता है वह महाव्रतों की शिक्षा के लिये है। अणुव्रतों के पालन के साथ जब तक सप्तशीलों का पालन नहीं करता तब तक महाव्रतों की ओर कदम नहीं बढ़ा सकता है।

संदर्भ:-

1. तत्त्वार्थसूत्र अ. 7/सू. 1
2. रत्नकरण्डश्रावकाचार परि. 3/रत्ने३४०
3. सर्वार्थसिद्धि अ. 7/1/342/6
4. तत्त्वार्थवार्तिक अ.7/1/2/3
5. तत्त्वार्थवार्तिक अ./7/20
6. तत्त्वार्थसूत्र अ./7/सू.2
7. चारित्रपाहुड् गाथा 31 पृष्ठ 90
8. न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्त माददे नाङ्गनां स्पृशामि न परिग्रहमुवा ददे।
त. वा. सूत्र 2/पृष्ठ-535
9. तत्त्वार्थवार्तिक अ. 7/9
10. तत्त्वार्थवार्तिक अ. 7/10
11. तत्त्वार्थवार्तिक आ.7 वार्तिक 1
12. अभिनवाऽकुशल कर्मादान निवृत्ति परेण महाव्रत धारिणा क्रियाकलाप प्रणिधातव्यः? (नवीन पापास्त्रवको रोकने में सावधान महाव्रती द्वारा क्या इतना ही क्रिया कलाप धारण करना चाहिये। क्या इतनी ही भावनायें भाने योग्य हैं?)
13. तत्त्वार्थराज. अ.7/18, 1-8
14. तत्त्वार्थसूत्र 19 वा. 2
15. तत्त्वार्थवार्तिक 7/21
16. वही 7/21
17. तत्त्वार्थश्लोक वा. 7/21/पृष्ठ-604
18. वेश्यापरित्यागिनः दिग्विरत्यादि सप्ततय शीलपदेशः। वेश्यापरित्यागेन तु श्रावकत्वेनैव गृहिणः सल्लेखनेत्येवमर्थो भेदेनोपदेशः।

- जयपुर (राजस्थान)

जैनदर्शन में गुणस्थान: एक अनुचिन्तन

-डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

आत्मा की प्राथमिक अवस्था अज्ञानपूर्ण होती है। यह प्रथम अवस्था निकृष्ट है। इस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास के परिणाम स्वरूप उत्थान को प्राप्त करता है। शनैः शनैः इन शक्तियों के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ वह आत्मा विकास की पूर्णकला को प्राप्त हो जाता है। विकास की पूर्णता गुणस्थानों द्वारा ही होती है। 'गुणस्थान' यह शब्द गुण+स्थान दो शब्दों के सुमेल से बना है। गुण का अर्थ आत्मशक्ति है और स्थान का अर्थ विकास की अवस्था है। इस प्रकार 'गुणस्थान' का अर्थ आत्मशक्तियों के विकास की अवस्था फलित है। गुणस्थान की परिभाषा बताते हुए आचार्य लिखते हैं-

जेहिं दुलक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।

जीवा ते गुणसण्णा णिददट्ठा सब्बदरसीहिं॥

धवल पु.१/गो.जी.-८

कर्मों की उदयादि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन परिणामों से जीव लक्षित किये जाते हैं, उन्हें सर्वदर्शियों ने गुणस्थान इस संज्ञा से निर्दिष्ट किया है।

इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्यों का आशय आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की उनके शुद्धकार्य रूप में परिणत होते रहने की तरतम भावापन्न अवस्थाओं से है।

“आत्मा के गुणों को आवृत करने वाले कर्मों में मोह ही प्रधान है। मोहनीयकर्म के उदय से मिथ्यात्व और सासादन ये दो गुणस्थान होते हैं। दर्शनमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से मिश्रगुणस्थान होता है। दर्शनमोहनीयकर्म एवं चारित्रमोहनीयकर्म की अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उपशम या क्षयोपशम या क्षय से चतुर्थ गुणस्थान होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदयाभाव से पञ्चम गुणस्थान होता है। प्रत्याख्यानावरणकषाय के उदयाभाव से 6 से 10 तक पांच गुणस्थान होते हैं। चारित्रमोहनीयकर्म के उपशम से 11वां तथा क्षय से 12वां गुणस्थान होता है। चार घातिया कर्मों के क्षय से 13-14 वां गुणस्थान होता है किन्तु 13वें गुणस्थान में शरीरनामकर्मोदय का कारण योग है और शरीरनामकर्मोदय के अभाव हो जाने से 14वें गुणस्थान में योग भी नहीं होता है। इस प्रकार इन 14 गुणस्थानों में से 1 से 12 तक के गुणस्थान दर्शनमोह और चारित्रमोहकर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय से उत्पन्न होने वाले भावों के निमित्त से होते हैं। 13वां और 14वां गुणस्थान योग के सद्भाव और अभाव से होता है।

इस प्रकार जो चौदह गुणस्थानों की उत्पत्ति जीवात्मा की बतायी है उन्हीं चौदह

गुणस्थानों की संज्ञाओं का उल्लेख करते हुए नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं-

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।

विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहमो य॥

उवसंत खीणमोहो सजोगकेवलजिणो अजोगि य।

चोद्दस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा॥ गो.जी. ९-१०

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण संयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसांपरायसंयत, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, संयोगकेवली, अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान होते हैं तथा सिद्धों के गुणस्थानातीत अवस्था जानना चाहिए।

इन्हीं गुणस्थानों का धवल के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है-

मिथ्यात्वगुणस्थान:-

मिथ्यात्वकर्म के उदय से तत्त्वार्थ के विषय में जो अश्रद्धान उत्पन्न होता है अथवा विपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं। आचार्य वीरसेन इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं- **सन्ति मिथ्यादृष्टयः मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्त विनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः।** मिथ्यादृष्टि जीव हैं। यहाँ पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।¹ ऐसे जीव देह, स्त्री पुत्रादि में अनुरक्त होते हैं, विषय कषाय से संयुक्त होते हैं और अपने आत्मस्वभाव से विरत होते हैं।² बाह्य पदार्थों से अनुरक्त होने के कारण मिथ्या श्रद्धा युक्त जीवों को बहिरात्मा भी कहा जाता है।³ ये जीव नाना कर्मों से बद्ध संसार परिभ्रमण करते हैं। संसार में अनन्त आत्माएँ इसी गुणस्थान में रहती हैं। इसमें मिथ्या श्रद्धान के कारण संवर का अभाव है।⁴ धवल ग्रन्थ में मिथ्यादृष्टि जीव को एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान इन पांच प्रकार के मिथ्या परिणामों से कलुषित कहा है। इन्हीं का वर्णन भी किया है। विपरीत श्रद्धानी इस जीव की दशा ऐसी होती है कि जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त जीव को मीठा रस अच्छा मालूम नहीं होता, उसी प्रकार ऐसे जीव को यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता।⁵ यह जीव औदयिक भाव युक्त रहता हुआ दुःख का ही भोक्ता होता है।

सासादनगुणस्थान:-

इस गुणस्थान का स्वरूप निरूपित करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है कि सम्यक्त्व की विराधना को आसादन कहते हैं, जो इस आसादन से युक्त है, उसे सासादन कहते हैं, किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है किन्तु जो मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रूप परिणामों को नहीं प्राप्त हुआ है, फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थान के अभिमुख है, उसे सासादन कहते हैं।⁶

सासादनगुणस्थानवर्ती का विपरीत अभिप्राय रहता है, अतः वह असद्दृष्टि ही

होता है, विपरीत अभिप्राय वाला होने से उसे मिथ्यादृष्टि कदापि नहीं कह सकते, क्योंकि इस गुणस्थानवर्ती के मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ विपरीत अभिनिवेश नहीं होता, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि नहीं है। यहाँ रहस्य यह है कि विपरीताभिनिवेश दो प्रकार का होता है, अनन्तानुबन्धी जनित और मिथ्यात्वजनित। उनमें से दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी जनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता है। यही कारण है कि यह मिथ्यात्व गुणस्थान से भिन्न स्वतंत्र गुणस्थान है। इस गुणस्थान को स्वतंत्र मानने से अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों की द्विस्वभावता का कथन सिद्ध हो जाता है।

दर्शनमोहनीयकर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से सासादन रूप परिणाम नहीं होता। यही कारण है कि सासादन को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं कहा गया, जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से द्वितीय गुणस्थान में जो विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय का भेदन होकर चारित्र का आवरण होने से चारित्रमोहनीय का भेद है इसलिए यह सासादनगुणस्थान है।

यह गुणस्थान गिरती हुई अवस्था का है अर्थात् सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत के शिखर से गिरकर जो जीव मिथ्यात्व रूपी भूमि के सम्मुख हो चुका है, जिसका सम्यक्त्व नष्ट हो रहा है परन्तु अभी तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है वह जीव सासादनगुणस्थानवर्ती जानना चाहिए।⁷ यह अपर्याप्त नारकियों को नहीं होता है। यह स्पष्ट है कि कोई भी जीव प्रथम गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता। चतुर्थादि गुणस्थान से कषायों के उदय के कारण जब वह नीचे गिरने लगता है तब यह गुणस्थान आता है।

यह गुणस्थान उत्क्रान्ति का नहीं है अपितु अपक्रान्ति का है। पूर्ण मिथ्यात्व में जाने से पहले इसमें सम्यक्त्व का थोड़ा सा आभास रहता है, जैसे सूर्य छिपने के पश्चात् रात्रि का पूर्ण अंधकार आने के बीच की अवस्था इस गुणस्थान में जीव के परिणामिकभाव होते हैं क्योंकि इसमें दर्शनमोहनीयकर्म के उदय, क्षय एवं क्षयोपशम का अभाव होता है।

इस गुणस्थान का अधिक से अधिक समय छः आवली होता है। एक जीव की अपेक्षा सासादनसम्यग्दृष्टि का जघन्यकाल एक समय है और उत्कृष्ट काल छः आवली प्रमाण है और एक समय से लेकर एक-एक समय अधिक करते हुए एक समय कम छः आवली तक मध्यम काल है। आचार्य वीरसेन स्वामी इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

उवसमसम्मत्तद्धा जत्तियमेत्ता हु होई अवसिट्ठा।

पडिवज्जंता साणं तत्तियभेत्ता य तस्सद्धा॥

उवसमसम्मत्तद्धा जइ छावलिया हवेज्ज अवसिट्ठा।

तो सासणं पवज्जइ णो हेट्ठुक्कट्ठकालेसु॥ ३१-३२॥

ध.पु.४ पृ.३४१-३४२

जितने प्रमाण उपशमसम्यक्त्व का काल अवशिष्ट रहता है उस समय सासादनगुणस्थान को प्राप्त होने वाले जीवों का भी उतने प्रमाण ही सासादनगुणस्थान का काल होता है। यदि उपशमसम्यक्त्व का काल छः आवलि प्रमाण शेष हो तो जीव सासादनगुणस्थान को प्राप्त हो सकता है। यदि छः आवलि से अधिक काल शेष रहने पर

इस गुणस्थान में नहीं पहुँचता।

जयधवल में यतिवृषभाचार्य ने चूर्ण में लिखा है कि जिसने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करके द्वितीयोपशम को प्राप्त कर लिया है वह भी द्वितीयोपशम से गिरकर सासादन को प्राप्त हो सकता है।⁸ षट्खण्डागम में उक्त कथन को स्वीकार न कर यही बात स्वीकार की है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व से युक्त कथन को स्वीकार न कर यही बात स्वीकार की है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर सासादनगुणस्थान को प्राप्त होता है।⁹ गोम्मटसार ने “आदिसम्मत्त” पद द्वारा प्रथमोपशम से गिरकर सासादन में जाना कहा है।¹⁰ द्वितीयोपशम से गिरकर सासादन को प्राप्त नहीं होता है।

प्रथमोपशमसम्यक्त्व से गिरने वाले जीव के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें से किसी का भी उदय होते ही सासादनगुणस्थान होता है किसी को अनन्तानुबन्धी क्रोध से प्रेरित सासादनसम्यग्दर्शन होता है। किसी को मान से, किसी को माया से, किसी को लोभ से प्रेरित सासादनपना होता है।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) :-

सम्यग्मिथ्यात्व नामक जात्यन्तर¹¹ सर्वधातिप्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर भिन्नरूप परिणाम होते हैं। जिस प्रकार दही और गुड़ को इस प्रकार मिलाने पर जिससे उनको भिन्न नहीं किया जा सके, उस द्रव्य के प्रत्येक परमाणु का रस मिश्ररूप होता है, उसी प्रकार मिश्रपरिणामों में भी एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं।¹² समीचीन असमीचीन श्रद्धा वाला सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है। इस गुणस्थान में मृत्यु नहीं होती, न मारणान्तिक समुद्धात होता है, न नवीन आयु का बन्ध होता है। इस गुणस्थान में रहने वाला जीव पतन करे तो प्रथम गुणस्थान में जाता है और ऊपर चढ़े तो चतुर्थ गुणस्थान में जाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि :-

जो प्रत्याख्यानवरणादि चारित्रमोह की प्रकृतियों का उदय होने से चारित्र धारण नहीं कर सकता मात्र जिनेन्द्र प्रणीत तत्त्वों का श्रद्धान करता है, उसे अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं।¹³ इस गुणस्थानवर्ती प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव प्रगट होते हैं। सम्यग्दर्शन का घात या उसका अवरोध करने वाले दर्शनमोहनीयकर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम करके जो आत्मा सम्यग्दर्शन (शुद्ध श्रद्धा की प्राप्ति कर लेता है किन्तु चारित्र-विघातक मोहनीयकर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम न कर सकने के कारण जो अहिंसादि व्रतों को अंगीकार नहीं कर सकता, उस आत्मा की संज्ञा अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान कहलाती है।¹⁴ यह कुलाचार का पालक और विवेकी होता है। क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का सम्यक्त्व होता है। क्षायिक सम्यक्त्व अपतन रूप होता है। इस गुणस्थान से देशविरत या अप्रमत्तगुणस्थान में पहुँच सकता है अथवा प्रथमोपशम वाला या क्षयोपशम वाला गिरकर तीसरे दूसरे प्रथम गुणस्थान में भी पहुँच जाता है।

देशविरत:-

(संयतासंयत) संयत और असंयत इन दोनों भावों के मिश्रण से जो गुणस्थान होता है, उसको संयतासंयत कहते हैं।¹⁵ इसमें प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम तो नहीं रहता किन्तु यहाँ इतनी विशेषता होती है कि अप्रत्याख्यानावरण का उदय न होने से एकदेशव्रत होते हैं। इस गुणस्थान वाला अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों को धारण कर संख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करता है। यह उसी मनुष्य या तिर्यञ्च के होता है या तो किसी आयु का बन्ध न किया हो या देवायु का बन्ध किया हो।¹⁶ तीनों सम्यक्त्वों में यह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान वाला 12व्रतों का पालन सम्यक् प्रकार से करता है। व्रतों का अणुव्रत रूप में पालन करता है। अतः एकदेशव्रती कहलाता है। देशव्रती का चिन्तन जब ऐसा चलने लगता है कि मैंने एकदेश व्रतों का पालन किया तो इतना अधिक शान्ति लाभ हुआ यदि मैं सर्वविरति को प्राप्त करूँगा, तब कितनी अधिक शान्ति से प्राप्त होगी? इस विचार से प्रेरित होकर व प्राप्त आध्यात्मिक शान्ति के अनुभव से बलवान् होकर वह विकासगामी आत्मा चारित्रमोह को अधिकांश में शिथिल करके पहले की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप स्थिरता व स्वरूप लाभ प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में कृतकृत्य होते ही उसे सर्वविरतिसंयम प्राप्त होता है।

प्रमत्तसंयत:-

जहाँ प्रत्याख्यानावरणकषाय का क्षयोपशम होने से हिंसादि पांच पापों का सर्वदेश त्याग हो जाता है, परन्तु संज्वलनकषाय का अपेक्षाकृत तीव्र उदय रहने से प्रमाद विद्यमान रहता है, वहाँ प्रमत्तसंयत नामक गुणस्थान है। सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र इस गुणस्थान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहते हैं “जिसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीन चौकड़ी रूप बारह कषायों के उदयाभाव से संयम तो होता है किन्तु संज्वलन चतुष्क और नौ कषायों के तीव्र उदय से मलिन करने वाला प्रमाद भी साथ में रहता है, अतः यह अवस्था प्रमत्तसंयत गुणस्थान वाले की होती है, या यह प्रमत्तसंयत गुणस्थान है। चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा) क्रोधादि चार कषायें, पांच इन्द्रियाँ, निद्रा और प्रणय से पन्द्रह प्रमाद माने जाते हैं। इनमें संयम की विरोधी चर्चा को विकथा कहा गया है। संज्वलन और नौ नो कषाय अनुभवगम्य है दूसरे प्रकार से मदिरा, इन्द्रियविषय, कषाय, निद्रा, और विकथा इन पांचों में से किसी एक को अथवा सभी को प्रमाद माना जाता है। जिस प्रकार राग से प्रमाद को प्राप्त हुआ जीव गुण दोष को नहीं सुनता है, उनका विचार नहीं करता है, उसी प्रकार जो गुप्ति और समिति के विषय में प्रमाद से युक्त होता है, उसे प्रमत्तविरत जानना चाहिए।¹⁷

इस गुणस्थान को धारण करने वाला निर्ग्रन्थ मुद्रा का धारक होकर अट्ठाईस मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है। यह गुणस्थान मात्र मनुष्यगति में पुरुषों को ही प्राप्त होता है। मुनिव्रत धारण करने की इच्छा रखने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि या देशव्रती श्रावक अपने हाथ से केशलुञ्चन करते हुए शरीर से सर्वथा निर्मोहवृत्ति होता हुआ नग्नता को धारण करता है। आचार्य केशलोंच, आचेलक्य, प्रतिलेखन, शरीर पर निर्मोहवृत्ति को

औत्सर्गिकलिंग¹⁸ कहते हैं। दिगम्बर साधु की पहिचान के लिए जो प्राकृतिक चिह्न चाहित वह इन बातों से प्रकट होता है जैसा कि मूलाचार के समयसाराधिकार में कहा है-

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।

एसो हि लिंगकप्पो चटुव्वियो होदि णादव्वो॥१०८॥

अर्थात् कपड़े आदि सर्वपरिग्रह का त्याग (आचेलक्य) केशलोंच, शरीर संस्कार का त्याग, मयूरपिच्छ यह चार साधु के लिंग है। ये चारों अपरिग्रह भावना, वीतरागता एवं दयापालन के चिह्न हैं।

इन औत्सर्गिकलिंगों का दिगम्बर साधु में होना आवश्यक है इनके बिना दिगम्बर साधु नहीं कहला सकता है। आचेलक्यधर्म मुनिचर्या का आवश्यक अंग ही नहीं अपितु अनिवार्य है। द्रव्य के साथ भाव नैर्ग्रन्थ ही मोक्ष का कारण है। इस संबन्ध में कहा भी है-

जइया मणु णिगंथु जिय तइया तुहुं णिगंथु।

जइया तुहुं णिगंथु जिय तो लब्भइ सिवपंथु॥ योगसार (योगीन्द्र)

अर्थात् हे जीव! तुम्हारा मन जब निर्ग्रन्थ होता है, तभी तुम वास्तव में निर्ग्रन्थ हो। इस प्रकार वस्तुतः निर्ग्रन्थ होने पर ही तुम मोक्षमार्ग के पथिक बन सकते हो। इससे सिद्ध हुआ कि मोक्षमार्ग के लिए नैर्ग्रन्थ (आचेलक्य) की परम आवश्यकता है। यह नैर्ग्रन्थ्य अवस्था प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान बालों के ही प्राप्त होती है।

अप्रमत्तसंयतः-

संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का उदय मन्द पड़ जाने पर जब प्रमाद का अभाव हो जाता है, तब अप्रमत्तगुणस्थान होता है। इस गुणस्थान के दो भेद हैं एक स्वस्थान दूसरा सातिशय। वर्तमान के मुनियों में स्वस्थान अप्रमत्त की अवस्था ही संभव है। सातिशय भाग में अधःकरण परिणाम होते हैं अतः इस गुणस्थान का दूसरा नाम अधःकरण भी है।

सातवें से छठवें गुणस्थान में आना और छठवें से सातवें गुणस्थान में आना यह क्रिया साधक की हजारों बार होती रहती है। परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है।

प्रत्याख्यानारण कषाय के उत्तरोत्तर मन्दोदय होने पर जब कोई मुमुक्षु आचार्यदेव के पास जाकर दीक्षा देने की प्रार्थना करता है आचार्यदेव उसकी योग्यता की परीक्षा करके उसे दीक्षा प्रदान करते हैं वह पञ्च महाव्रत पञ्च समिति, पञ्च इन्द्रियनिरोध, षड्वावश्यक केशलोंच आदि शेष सात गुण रूप 28 मूलगुणों को धारण कर दिगम्बरमुनि अवस्था को प्राप्त होता है उस समय उसे सीधा सप्तम अप्रमत्त नामक गुणस्थान प्राप्त होता है किन्तु संज्वलन कषाय का तीव्र उदय होने से सप्तम गुणस्थान से षष्ठ गुणस्थान में आ जाता है। अनन्तर अल्प अन्तमुहुर्त में ही सप्त गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस प्रकार गुणस्थानों में सन्त रहता है।

प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थान में साधक की परणति (क्रिया) का चित्रण पं. सुखलाल संघवी के शब्दों में- पांचवें गुणस्थान की अपेक्षा इस छठे गुणस्थान में स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होने के कारण यद्यपि विकासगामी आत्मा को आध्यात्मिक शान्ति पहले से

अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति के अनुभव में जो बाधा पहुंचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता। अतएव सर्वविरति जनित शान्ति के साथ अप्रमाद जनित विशिष्ट शान्ति का अनुभव करने की प्रबल लालसा से प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमाद का त्याग करता है और स्वरूप की अभिव्यक्ति के अनुकूल मनन-चिंतन के सिवाय अन्य सब व्यापारों का त्याग कर देता है। यही अप्रमत्तसंयत नामक सातवां गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमादजन्य उत्कट सुख का अनुभव आत्मा को उस स्थिति में बने रहने के लिए उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद जन्य पूर्व वासनाएं उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानी में विकासगामी आत्मा कभी प्रमाद की तन्त्रा और कभी अप्रमाद की जागृति अर्थात् छूटे और सातवें गुणस्थान में अनेक बार आता जाता रहता है। भंवर या वातभ्रमी में पड़ा हुआ तिनका इधर से उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है उसी प्रकार छूटे और सातवें गुणस्थान के समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

अपूर्वकरण:-

जहाँ जीव के परिणाम प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व अर्थात् नये-नये होते हैं, वहाँ अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थान में पिछले गुणस्थान की अपेक्षा विशुद्धता का वेग बढ़ता जाता है। जैसे प्रथम समय में यदि एक से लेकर दश तक परिणाम थे तो दूसरे समय में ग्यारह से लेकर बीस तक के परिणाम होंगे। यहाँ नाना जीवों की अपेक्षा सम समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता और असमानता दोनों होती है परन्तु भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम में नियम से असमानता रहती है। इसमें सामान्य रूप से उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकार के जीव होते हैं।¹⁹

अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्तिवादरसांपरायिकगुणस्थान) :-

सांपराय शब्द का अर्थ कषाय है और वादर का अर्थ स्थूल है अर्थात् स्थूल कषायों को वादर सांपराय कहते हैं और अनिवृत्तिरूप वादरसांपराय को अनिवृत्तिवादरसांपराय कहते हैं, उन अनिवृत्तिवादरसांपरायरूप परिणामों में जिन संयतों की विशुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अनिवृत्ति वादरसांपरायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं। ऐसे संयतों में उपशमक और क्षपक दोनों प्रकार के जीव होते हैं,²⁰ और उन सब संयतों को मिलाकर एक अनिवृत्तिकरणगुणस्थान होता है। जहाँ एक समय में एक ही परिणाम होने से समान समयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता रहती है और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में असमानता रहती है वहाँ अनिवृत्तिकरणगुणस्थान है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है कि इसमें अपूर्वकरण की अनुवृत्ति है, उससे सिद्ध होता है कि इस गुणस्थान में प्रथमादि समयवर्ती जीवों का द्वितीयादि समयवर्ती जीवों के साथ परिणामों की अपेक्षा भेद है (अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि अनिवृत्ति पद का संबन्ध एक समयवर्ती परिणामों के साथ ही है।

सूक्ष्मसाम्पराय :-

(सूक्ष्म साम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयतगुणस्थान) सूक्ष्मकषाय को सूक्ष्मसाम्पराय

कहते हैं। जो साधक आत्मशुद्धि की अपेक्षा इस अवस्था में प्रवेश कर जाते हैं उन्हें सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयत कहते हैं। सि.च. नेमिचन्द्र ने कहा है कि जिस प्रकार धुले हुए कौसुंभी रेशमी वस्त्र में सूक्ष्म हल्की लालिमा शेष रह जाती है उसी प्रकार जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग अर्थात् लोभकषाय से युक्त होता है, उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं। मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम करके आत्माधीन साधक अन्य समस्त कषायों को नष्टकर देता है और केवल लोभ कषाय का अतिशय सूक्ष्म अंश ही उसके शेष रह जाता है। जो मोहनीयकर्म की 20 प्रकृतियों का क्षय करता हुआ इस गुणस्थान में आया है, वह क्षपकश्रेणी वाला इस गुणस्थान में शेष बचे सूक्ष्म लोभ कषाय की सत्ता व्युच्छिन्ति करके 12वें गुणस्थान में चला जाता है और जो नवम गुणस्थान में मोहनीयकर्मप्रकृति का उपशम करके उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होकर इस गुणस्थान में आया है वह सूक्ष्म लोभ का उपशम करके उपशान्तकषाय नामक 11वें गुणस्थान में चला जाता है।

उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान (उपशान्तमोह :-)

उपशमश्रेणी वाला जीव चरित्रमोह का उपशम कर उपशान्तमोह नामक गुणस्थान को प्राप्त होता है। निर्मली फल से युक्त जल की तरह अथवा शरदऋतु के उपर से स्वच्छ हो जाने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के पूर्ण उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों से युक्त आत्मदशा को उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ नामक 11वाँ गुणस्थान कहा है।²² इसमें औपशमिक यथाख्यातचरित्र प्रकट होता है।

इस गुणस्थान में आरोहण करने वाला साधक मोहनीयकर्म की 28 प्रकृतियों का पूर्ण उपशम करके अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त इस स्थिति में रहकर इस समय सीमा के बाद पुनः उक्त कर्म प्रकृतियों के उदय में आने से निश्चित रूप से नीचे के गुणस्थानों में गिर जाता है उसका गिरना दो प्रकार से होता है। कालक्षय और भवक्षय। जो कालक्षय से गिरता है वह 10-9-8 और सातवें गुणस्थान में क्रम से आता है और जो भवक्षय से गिरता है वह सीधा चौथे में आता है या प्रथम गुणस्थान में भी आ जाता है।²³

क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान (क्षीणमोह) :-

कषाय (मोह) का पूर्णक्षय होने को क्षीणकषाय या क्षीणमोह कहते हैं। कषाय क्षय से वीतराग होते हैं ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि रहते हैं अतः क्षद्मस्थ हैं। जो क्षीणकषाय वीतराग होते हुए छद्मस्थ होते हैं उन्हें क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ कहते हैं। इस गुणस्थान में आया हुआ छद्मस्थ पद अन्त दीपक है अर्थात् आगे छद्मस्थपना नहीं रहेगा।²⁴ जिस निर्ग्रन्थ का चित्त मोहनीयकर्म के सर्वथा क्षीण हो जाने से स्फटिक के निर्मल पात्र में रखे हुए जल के समान निर्मल हो गया है उसको क्षीणकषाय गुणस्थान कहा गया है।²⁵

मोहनीयकर्म के न रहने से एक अन्तर्मुहूर्त में शेष घातिकर्मों का क्षय हो जाता है। अन्तिम क्षण में केवलज्ञान प्राप्त कर 13वें का स्वामी हो जाता है।

सयोगकेवली:-

इस गुणस्थान के अधिष्ठाता अरिहन्त जिनेन्द्र हैं। आचार्य कहते हैं-²⁶ “जिनके

केवलज्ञानरूपी सूर्य की अविभाग²⁷ प्रतिच्छेद रूप किरणों के समूह से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है और जिनको नव केवललब्धियों के प्रकट होने से परमात्मा संज्ञा प्राप्त हो जाती है, उन्हें इन्द्रिय की अपेक्षा न होने के कारण और ज्ञान दर्शन प्रकट होने से केवली और मन, वचन, काय रहने के कारण सयोग तथा घातियाकर्मों को जीतने से जिन कहा जाता है। बारहवें गुणस्थान के अन्त तक उन योगी के त्रेसठ कर्मप्रकृतियों के नष्ट होने से अनन्त चतुष्टय प्राप्त हैं, किन्तु वह योग से युक्त हैं। अतः वह संयोगकेवली अरिहन्त परमात्मा जिन हैं।

अयोगकेवली:-

जो योग रहित होकर केवली हैं, वे अयोगकेवली कहलाते हैं।²⁸ जिन योगी के कर्मों के आने के द्वार रूप आस्रव सर्वथा अवरुद्ध हो गये हैं तथा सत्त्व और उदय रूप अवस्था को प्राप्त कर्मरूपी रज के सर्वथा निर्जर हो जाने से कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के सम्मुख आ गया है।²⁹ उस योग रहित केवली को चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते हैं। इस गुणस्थान में काय और वाक्व्यापार निरुद्ध होने के साथ ही साथ मनोयाग भी पूरी तरह नष्ट हो जाता है।³⁰ इसी में अघातिया कर्म की उपान्त्य समय में 72 और अन्त समय में 13 कर्म प्रकृति नष्ट हो जाती है। जीव 85 कर्म प्रकृतियों के नष्ट होने पर पूर्ण शुद्धावस्था प्राप्त कर सिद्धात्मा बन अजर अमरता को प्राप्त होते हैं।

गुणस्थानों में आत्मा का विकास होता है किन्तु सर्वथा नहीं है प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि पुरुषार्थ पूर्वक कर्मों को हल्का कर पुण्य योग से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चतुर्थगुणस्थान या व्रत सहित होने पर पंचम या सप्तम में पहुँचता है। कदाचित् प्रथमोपशम अविरतसम्यग्दृष्टि गिरा तो तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि में आकर प्रथम में भी पहुँच जाता है सादि मिथ्यादृष्टि तीसरे से चौथे में भी पहुँचता है। द्वितीयोपशम करके उपशमश्रेणी आरोहण करके पतित भी होता है क्षपकश्रेणी का आरोहण कर सिद्धावस्था को प्राप्त करता है। गुणस्थान संसार दशा के परिणाम ही हैं। सिद्ध भगवान् गुणस्थानातीत होते हैं।

संदर्भ:-

1. धवल पुस्तका पृष्ठ 163
2. देहादिषु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुता।
अप्पसहावे सुत्ता सम्मपरिचत्ता॥ रयणसार 106
3. बहिरात्मा तु प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेव नातिक्रमते। जैनदर्शनसार पृ. 9
4. मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने संवरोनास्ति द्रव्य सं० गाथा 34 की टीका।
5. धवल पु० 1 गाथा 106, पृष्ठ 106 एवं 162
6. आसादनं सम्यक्त्वविराधनं सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो
विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्त। मिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वभिमुखः सासादन इति
भण्यते घ० 1/1/10 पृ० 163
7. सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो सासणणमो मुणेयव्वो॥ धवल 1/1/11/116, पृ०-108
8. ज० ध० पु० 4 पृष्ठ-24
9. धवल पु० 4 पृष्ठ-11

10. आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो॥ गो0जी0 19
11. गोम्मटसार जीवकाण्ड 21
12. जो सद्दहदि जिणुत्तं सयाइट्ठ अविदो।
णो ईदियेषु विरदो णो जीवे वरेतसे वापि, धवल 1/1/12
13. तत्त्वार्थवार्तिक 9/1/15 पृष्ठ-586
14. धवल 1/1/13
15. गोम्मटसार जीवकाण्ड
16. संजलण णोकसाणुदयादो संजदो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो विय तम्हा हु पमत्तविरदो सो॥
वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुण सीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो॥
विकहा तहा कसाया ईदिय णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु-चदु पणमेगेगं होत्ति पमादा दु पण्णरस॥ गो0जी0 32-34
सम्यग्दर्शनादिषु गणुशीलेषु कुशलानुष्ठानेषु अनवधानमनादरः प्रमाद इति लक्षणस्य विकथादिषु
पञ्चदशष्वपि विद्यमानत्वात्! प्रमाद्यति जीवः कुशलानुष्ठानात् प्रच्यवते अनेनेति प्रमाद इति
निरुक्ति सद भावात् (मं0प्र0 टीका 34)
17. (क) पमत्तो व सो संजमो य सो पमत्त संजमो अ? पच्चक्खाणावरणोदयरहिओ
संजलणाणं उदए वटठमाणे पमाणसहिओ पमत्तसंजओ। विकहाकसायविकडे
इन्दिय-णिद्दा-पमाय पंचविहो। एए सामनन्तरे जुत्तो विरओवि हु पमत्तो॥
जहरागेणपमत्तो पमत्तविरओ त्ति णायव्वो॥ शतक चू0पू0 8/1
(ख) प्रमाद्यति स्म संयमयोगेषु सीदति स्मेति। पूर्ववत् कर्तरि क्तप्रत्यये प्रमत्तः अथवा प्रमदनं
प्रमत्तः, प्रमत्तः प्रमादः स च मदिराविषय-कषाय-निद्रा विकथानां पञ्चानामनन्यतमः सर्वे
वा। शतक हेमवृत्ति 9 पृष्ठ-1612
18. औत्सर्गिकं सचेलक्यं लोचोव्युत्सृष्ट देहताम्। प्रतिलेखनमित्येव लिंगयुक्तं चतुर्विधम्॥मूलाचार
19. अधुव्वकरण पविटठ सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खया। धवला पु0 1 पृष्ठ-180
20. अणियटिठ वादर सांपराइय पविटठ सुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमाखया। षट्खण्डागम 1/17
21. धुदकोसुंभयवत्थं होहि जहा सुहुमरायसंजुत्तं।
एवं सुहुमकसाओ सुहुमसरायोत्ति णादव्वं॥ गो.जी. 59
22. धवल 1/1/20 पृष्ठ-188
23. गोम्मटसार जी0 गाथा 61
24. धवल 1/1/20 पृष्ठ 190
25. णिस्सेसखीणमोही फलिहामल भायणुदय समचित्तो।
खीणकसाओ भण्णदि णिगंथो वीयरायेहिं॥ गो0जी0 62
26. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 63-64
27. जघन्य अंश जिस का दूसरा टुकड़ा नहीं होता उसको अविभागी प्रतिच्छेद कहते हैं।
28. धवन 1/1/22 पृष्ठ-192
29. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 65
30. धवल पृष्ठ 1 पृ0 193

- अध्यक्ष संस्कृत विभाग

दि० जैन कॉलेज, बड़ौत (उ.प्र.) 250611

उत्तराध्ययन की सुखबोधा वृत्ति (टीका) का समीक्षात्मक अध्ययन

-डॉ. एच. सी. जैन
डॉ. इन्दुबाला जैन (डबोक)

प्राकृत साहित्य में आगम, चूर्णी, भाष्य, चरित एवं कथा साहित्य लिखे गये। ईसवी पूर्व 5वीं 6ठी शताब्दी से लेकर आज तक साहित्य लिखे जा रहे हैं। उत्तराध्ययन सूत्र पर एक टीका लिखी गयी है जिसे सुखबोध टीका कहा गया है। यह टीका शान्तिसूरि की शिष्यहिता टीका पर आधारित है लेकिन स्वतंत्र रूप से लिखी गयी है।

इसे आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने 11वीं शताब्दी में लिखा है। उत्तराध्ययन 36 अध्ययन में वर्णित सूत्रों पर संस्कृत में टीका लिखी है किन्तु साथ में शब्द में व्याप्त कथा आदि की प्राकृत में व्याख्या भी की है। यह ग्रन्थ प्रकाशित है किन्तु इसका हिन्दी अनुवाद एवं शोध कार्य अभी तक नहीं हुआ है। मूल ग्रन्थ के अध्ययन के आधार पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। यह ग्रन्थ 12000 श्लोक प्रमाण है।¹ उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति के प्रारंभ में तीर्थंकर, सिद्ध, साधु एवं श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है।² इस ग्रन्थ के अन्त में गच्छ, गुरुभ्राता, वृत्तिरचना का स्थान समय आदि का निर्देश भी लेखक के द्वारा किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि लेखक ने अपने गुरु भ्राता मुनि चन्द्रसूरि की प्रेरणा से प्रस्तुत वृत्ति की रचना की। इस टीका (वृत्ति) की रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्वयं नेमिचन्द्र सूरि (देवेन्द्रगणि लिखते हैं-

आत्मस्मृतये वक्ष्ये जड़मति संक्षेप रूचि हितार्थयाय।

एकैकार्थ निबद्धां वृत्तिं शुभस्य सुखबोधाया॥

बहवर्थाद् वृढकृताद् गंभीराद् विवरणात् समुद्धृत्य।

अध्यनामुत्तर पूर्वाणामकेपाठगताम्॥

बौद्धव्यानि यतोडयं, प्रारम्भोगमनिकामात्रम्।

अर्थात् मन्दमति और संक्षिप्त रूचि प्रधान पाठकों के लिए मैंने अनेकार्थ गम्भीर विवरण से पाठान्तरों और अर्थान्तरों से दूर रहकर इस टीका की रचना की है। अर्थान्तरों और पाठान्तरों के जाल से मुक्त होने के कारण इस टीका की सुखबोध टीका संज्ञा सार्थक भी है।³ इस टीका (वृत्ति) में छोटी-बड़ी सभी मिलाकर 125 प्राकृत कथाएँ वर्णित हैं। इन कथाओं में रोमांस परम्परा प्रचलित मनोरंजक वृत्तान्त, जीव-जन्तु, जैन साधुओं के आचार का महत्त्व प्रतिपादन करने वाली, नीति उपदेशात्मक कथाएँ वर्णित हैं। कथानाक रूढ़ियों को प्रतिपादन करने वाली कथाएँ जैसे:- राजकुमारी का वानरी बन जाना, किसी राजकुमारी का हाथी द्वारा भगाकर जंगल में ले जाना ऐसी ही कथाएँ रयणचूडरायचरियं में

भी वर्णित है।

उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति प्राकृत कथाएँ विद्वानों के लिए आकर्षण का विषय रही हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. फीके ने “साम्यसुत” नामक प्राकृत कथा पर अपना शोधपूर्ण निबन्ध लिखा है। यह कथा इसी वृत्ति से ली गयी है। इसी तरह डॉ. हर्मन जेकोबी ने महाराष्ट्रीय कथाएँ नामक अपने निबन्ध में उत्तराध्ययन वृत्ति से नई कथाएँ लेकर उन पर शोधपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है।⁴ उत्तराध्ययन वृत्ति की इन कथाओं में से सात कथाओं का संकलन मुनि जिनविजय जी ने प्राकृत कथा संग्रह के नाम से विक्रम संवत् 1978 में अहमदाबाद से प्रकाशित किया है।

प्राकृत कथाओं की प्रचुरता के कारण हरिभद्र शैली का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। वैराग्यरस से परिप्लावित ब्रह्मदत्त और अगडदत्त जैसी कथाओं के संयोग से इस सुविशाल टीका में जान आ गयी है और विभिन्न ग्रन्थों और गाथाओं के उदाहरण के कारण तथा नाना विषयों की विवेचना के कारण इसकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध हुई है।

आचार्य नेमिचन्द्र सूर ने उत्तराध्ययन के प्रथमांशों की जितनी विस्तृत टीका की है। उत्तरांशों की टीका में उतना विस्तार नहीं है। अन्तिम 12,13 अध्ययनों की टीका अधिक संक्षिप्त होती गयी है उसमें न कोई विशेष कथाएँ न कोई अन्य उद्धरण ही है।

उत्तराध्ययन सुखबोध टीका सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उसमें तत्कालीन समाज और संस्कृति के सम्बन्ध में विविध सामग्री प्राप्त होती है। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन⁵ एवं देवेन्द्रमुनि⁶ ने इस टीका की सांस्कृतिक सामग्री पर कुछ प्रकाश डाला है। उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका से ज्ञात होता है कि राजा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र होता था। विरक्त होने पर लघु पुत्र को राज्य दे दिया जाता था। राजकुमार यदि दुर्व्यसनों में फँस जाता तो उसे देश निकाला भी दे देते थे।⁷ विवाह के समय तिथि और मुहूर्त भी देखे जाते थे।⁸ छोटी-छोटी बातों के लिए पत्नियों को छोड़ देने की भी प्रथा थी। एक वणिक् ने अपनी पत्नी को इसलिए छोड़ दिया कि वह सारा दिन शरीर की साज-सज्जा किया करती थी और घर का बिल्कुल ध्यान नहीं रखती थी।⁹ सामान्य स्त्रियों के अतिरिक्त वेश्याओं का भी सम्मान था। वेश्याएं नगर की शोभा, राजाओं की आदरणीय और राजधानी की रत्न मानी जाती थी।¹⁰

इस सुखबोध टीका में अनेक रोग और उनकी परिचर्या का भी उल्लेख मिलता है। यथा- श्वास, खाँसी, ज्वर, दाह, उदरशूल, भगंदर, अर्श, अजीर्ण, दृष्टिशूल, मुखरशूल, अरूचि, अक्षिवेदना, खाज, कर्ण-शूल, जलोदर और कोढ़।¹¹

चिकित्सा के मुख्य चार पाद माने गये हैं:- 1. वैद्य, 2. रोगी, 3. औषधि और 4. प्रतिचर्या करने वाले।¹²

इस वृत्ति से शिक्षा एवं विधाओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है कि विद्याथी का जीवन सादा था। कितने ही विद्यार्थी अध्यापक के घर पर रहकर पढ़ते थे और कितने ही धनवानों के यहाँ अपने खाने-पीने का प्रबन्ध कर लेते थे। कौशाम्बी नगरी के ब्राह्मण काश्यप पुत्र का पुत्र कपिल श्रावस्ती में पढ़ने के लिए गया, और कलाचार्य के

सहयोग से अपने भोजन का प्रबन्ध वहां के धनी शालीभद्र के यहां पर किया।¹³ विद्यार्थी का समाज में बहुत सम्मान था। जब कोई विद्याध्ययन समाप्त कर घर जाता तब उसका सार्वजनिक सम्मान किया जाता था। नगर को सजाया जाता था। राजा भी उसके स्वागत के लिए सामने जाता था। उसे बड़े आदर के साथ लाकर इतना उपहार समर्पित करते कि जीवनभर उसे आर्थिक दृष्टि से परेशानी नहीं उठानी पड़ती।¹⁴ बहत्तर कलाओं में शिक्षण का प्रचलन था।¹⁵ समुद्र यात्रा के भी कई वर्णन इस वृत्ति में उपलब्ध हैं। व्यापारी अपना माल भर कर नौकाओं व जहाजों से दूर दूर देशों में जाते थे। कभी-कभी तूफान आदि के कारण नौका टूट जाती थी और सारा माल पानी में बह जाता था। जहाज के वलय-मुख में प्रविष्ट होने का बहुत भय था।¹⁶

जब व्यापारी दूर देश में व्यापार करने जाते तब उन्हें वहाँ के राजा की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। जो माल दूसरे देशों से आता था उसकी जांच करने के लिए व्यक्तियों का एक विशेष समूह होता था।¹⁷ कर भी वसूल किया जाता था। कर वसूल करने वालों को सूंकपाल (शुल्कपाल) कहा जाता था।¹⁸ व्यापारियों के माल असबाब पर भी कर लगाया जाता था। व्यापारी लोग शुल्क से बचने के लिए अपना माल छिपाते थे।¹⁹

इस वृत्ति से ज्ञात होता है कि तब समाज में कई अपराध होते थे। अपराध में चौर्य-कर्म प्रमुख था। चोरों के अनेक वर्ग इधर-उधर कार्यरत रहते थे। लोगों को चोरों का आतंक हमेशा बना रहता था। चोरों के अनेक प्रकार थे।²⁰ कितने ही चोर इतने निष्ठुर होते थे कि वे चुराया हुआ माल छिपाने को अपने कुटुम्बीजनों को भी मार देते थे। एक चोर अपना सम्पूर्ण धन एक कुएँ में रखता था। एक दिन उसकी पत्नी ने उसे देख लिया, भेद खुलने के भय से उसने अपनी पत्नी को ही मार दिया। उसका पुत्र चिल्लाया और लोगों ने उसे पकड़ लिया।²¹

इस प्रकार अन्य कितने ही तथ्य इस वृत्ति में उपलब्ध हैं, जो तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन को स्पष्ट करते हैं। इस वृत्ति की कई कथाएँ भी बहुत लोकप्रिय हुई हैं। सगर पुत्र, सनत्कुमार, ब्रह्मदत्त, मूलदेव, मंडित एवं अगडदत्त आदि की कथाएँ बहुत मनोरंजक हैं।²²

इस प्रकार सुखबोधा टीका अत्यन्त सरल, सुबोध एवं मार्मिक है। इसमें भाषा शैली की रोचकता के साथ-साथ कथाओं एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस पर शोधकार्य किया जा रहा है। तभी आमजन के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

संदर्भ:-

1. श्रीवीजयोमांगसूरि द्वारा सम्पादित आत्मवल्लभ ग्रन्थावली वलाद, अहमदाबाद से प्रकाशित सुखबोधवृत्ति।
2. पूर्वोद्धृत जिनभासित श्रुत स्थविर सन्दर्भानि। वही पृ.1
3. साध्वी, संघमित्रा, जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, पृ. 311
4. विस्तार के लिए देखें, विन्टरनिस्, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-2
5. जैन, जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारती समाज, पृ. 35

6. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि, भगवान् महावीर एक अनुशीलन, पृ. 55
7. उत्तराध्ययन सुखबोधा (वृत्ति) टीका, पृ. 84
8. वही, पृ. 142
9. वही, पृ. 97
10. वही, पृ. 64
11. (अ) वही, पृ. 163
(ब) मुनि, आचार्य देवेन्द्र भगवान् महावीर का अनुशीलन, पृ. 55, पैरा 2
12. (अ) उत्तराध्ययन वृत्ति (सुखबोधा टीका), पृ. 269
(ब) मुनि, आचार्य देवेन्द्र, भगवान् महावीर एक अनुशीलन, पृ. 56, पैरा 3
13. वही, पृ. 124
14. (अ) वही, पृ. 57
(ब) उत्तराध्ययनवृत्ति, पृ. 123
15. वही, पृ. 318
16. वही, पृ. 252
17. वही, पृ. 65
18. वही, पृ. 71
19. वही, पृ. 64
20. वही, पृ. 149
21. वही, पृ. 81
22. मुनि, जिनविजय, प्राकृत कथा संग्रह, वि. संवत् 2018

-सह आचार्य (जैनालोजी एवं प्राकृत विभाग)
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राजस्थान)

श्रावक और उनके षड् आवश्यक कर्तव्य

-डॉ. सारिका त्यागी

श्रावक शब्द का अर्थ

श्रावक शब्द का सामान्य अर्थ श्रोता या सुनने वाला है। जो जिनेन्द्र भगवान के वचनों को एवं उनके अनुयायी गुरुओं के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सावधानी से सुनता है, वह श्रावक है कहा भी गया है-

“अवाप्तदृष्ट्यादि विशुद्धसम्पत् परं समाचारमनुप्रभातम्।

शृणोति यः साधुजनादतन्द्रस्तं श्रावकं प्राहुरमीर जिनेन्द्राः॥”^{११}

अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि विशुद्ध सम्पत्ति को प्राप्त जो व्यक्ति प्रातःकाल से ही साधुजन से उनकी समाचार विधि को आलस्य रहित होकर सुनता है, जिनेन्द्र भगवानों ने उसे श्रावक कहा है। श्रावक शब्द की एक निरुक्ति भी प्राप्त होती है, जिसमें श्र, व और क वर्णों को क्रमशः श्रद्धा, विवेक और क्रिया का प्रतीक मानकर श्रद्धावान् विवेकशील एवं अणुव्रती गृहस्थ को श्रावक कहा गया है। यथा-

“श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः तथा वपन्ति गुणवत्सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपन्तीति वाः तथा किरन्ति क्लिष्टकर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, ततः कर्मधारये श्रावका इति भवितः।”^{१२}

अर्थात् श्रावक शब्द में प्रयुक्त ‘श्रा’ शब्द तत्त्वार्थश्रद्धान की सूचना देता है, ‘व’ शब्द सप्त धर्म क्षेत्रों में धन रूपी बीजों को बोने की प्रेरणा करता है और ‘क’ शब्द क्लिष्ट कर्म या महान् पापों को दूर करने की सूचना देता है इस प्रकार से कर्मधारय समास करने पर निरुक्ति के रूप में श्रावक शब्द निष्पन्न हो जाता है।

श्रावक की अन्य संज्ञायें

श्रद्धावान् गृहस्थ को भिन्न-भिन्न स्थानों पर श्रावक, उपासक, आगारी, देशव्रती, देशसंयमी आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। यद्यपि यौगिक दृष्टि से इन नामों के अर्थों में अन्तर है, तथापि सामान्यतः ये एकार्थक या पर्यायवाची माने जाते हैं। देशव्रती या देशसंयमी पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक की ही संज्ञा हो सकती है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती की नहीं।

आगम और श्रावकाचारों में श्रावक शब्द को अनेक नामों से अभिहित किया गया है- उपासक, श्रावक, देशसंयमी, आगारी, श्रममोपासक, सद्गृहस्थ, सागार आदि। आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण में भी ‘श्रावक’ के लिये उपासक, गृहस्थ आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।^३

उपासक का अर्थ उपासना करने वाला होता है जो मनुष्य वीतराग देव की नित्य

पूजा उपासना करता है, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा वैयावृत्य में तत्पर रहता है और सत्यार्थ धर्म की आराधना करते हुए उसे यथाशक्ति धारण करता है उसे उपासक कहा जाता है। श्रमणों की उपासना करने वाले की अपेक्षा श्रमणोपासक, सत्यार्थ धर्म की साधना करने वाला होने से सागर कहलाता है, यद्यपि साधारणतया ये सब नाम पर्यायवाची माने गये हैं तथापि यौगिक दृष्टि से परस्पर विशेषता होने से अलग-अलग नाम उल्लिखित है।

श्रावक अणुव्रती व रत्नत्रय का पालक होता है और रत्नत्रय का धारक होने से ही उसे श्रावक संज्ञा दी गयी है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने गृहस्थ साधु के लिए 'सावय' (श्रावक) और सागर शब्द प्रयुक्त किये हैं। उन्होंने श्रावक को सग्रन्थ अर्थात् परिग्रह सहित संयमाचरण का उपदेश दिया है। पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इस तरह बारह प्रकार का संयमाचरण बताकर देशविरत श्रावक को दर्शन, व्रत सामायिक आदि बारह श्रेणियाँ भी बतायी है।⁴

श्रावक के लिये उपासक शब्द प्राचीनकाल में बहुशः प्रचलित रहा है। इसी कारण व्रती गृहस्थ के आचार विषयक ग्रन्थों का नाम प्रायः उपासकाध्ययन या उपासकाचार रहा है। स्वामी समन्तभद्र द्वारा निर्मित रत्नकरण्ड को भी उसके संस्कृत टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'रत्नकरण्डकनाम्नि उपासकाध्ययने' वाक्य में रत्नकरण्ड नामक उपासकाध्ययन ही कहा है। घर में रहने के कारण गृहस्थ की सागर संज्ञा है। इसे गृही, गृहमेधी नाम भी प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ गृह वस्त्रादि के प्रति आसक्ति का उपलक्षण प्रतीत होता है। अणुव्रत रूप देशसंयम को धारण करने के कारण श्रावक की देशसंयमी, देशव्रती और अणुव्रती भी कहा गया है।

षड् आवश्यक कर्तव्य

नित्य के अवश्यकरणीय रूप कर्तव्यों को 'आवस्सय' या आवश्यक कहते हैं। सामान्यतः अवश का अर्थ अकाम, अनिच्छु, स्वाधीन, स्वतंत्र, रागद्वेष से रहित तथा इन्द्रियों की आधीनता से रहित होता है तथा इन गुणों से युक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्यकरणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचार में आचार्य वट्टकेर ने कहा है-

‘ण वसो अवसो अवस्स कम्ममावासगं ति बोधणवा।’⁵

अर्थात् जो रागद्वेषादि के वश में नहीं होता वह अवश है तथा उस (अवश) का आचारण या कर्तव्य आवश्यक कहलता है।

श्रावकों का प्रतिदिन करने वाले छः आवश्यक बतलाये हैं। इन आवश्यकों में परिवर्तन भी हुए हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में मुनियों के षडावश्यकों को ही यथाशक्ति गृहस्थों के लिए करणीय माना है-

जिनपुंगवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।

सुनिरुप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि॥⁶

यशस्तिलक चम्पू में श्री सोमदेव सूरि षडावश्यकों का उल्लेख इस प्रकार किया है-

**देवसेवा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥**

महापुराण में आचार्य जिनसेन ने श्रावक के करने योग्य षट् आवश्यक क्रियाओं का वर्णन किया है, उन्होंने कहा है कि भरतराज ने उपासकाध्ययन नामक अंग से उन व्रती लोगों के लिए इज्या (पूजा) वार्ता, दत्ति (दान), स्वाध्याय, संयम और तप का उपदेश दिया है।⁸

चारित्रसार में पूरे छः आवश्यक जिनसेन की तरह की है-

गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्याय संयमः तप इत्यार्यषट् कर्माणि भवन्ति।

चारित्रसार में यह बात अलग है कि षडावश्यकों को पालने वाले गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं- जाति क्षत्रिय और तीर्थ क्षत्रिय। जाति क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के भेद से चार प्रकार है। तीर्थ क्षत्रिय अपनी आजीविका के भेद से अनेक प्रार के हैं। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में भी देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छः कर्म ही बतलाये हैं।⁹

प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में यत्पूर्वक, मृत्यु पर भी षडावश्यक करणीय माने गये हैं। इन्होंने समता, वन्दना दान, कायोत्सर्ग, संयम और ध्यान को अलग-अलग श्लोकों में षडावश्यक माना है।¹⁰ धर्मसंग्रहश्रावकाचार में आचार्य जिनसेन के समान ही इज्या, वार्ता, तप, दान, स्वाध्याय तथा संयम इन छः कर्मों को प्रतिदिन करने वालों को गृहस्थ माना है।¹¹ कुन्दकुन्द श्रावकाचार में सबसे अलग संख्या निर्धारित की और श्रावकों के दस गृहस्थ धर्म बतलाये हैं-

दया दानं दयो देव-पूजा भक्तिर्गुरौ क्षमा।

सत्यं शौचस्तपोऽस्तेयं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम्॥¹²

अर्थात् दया, दान, इन्द्रियदमन, देव-पूजन, गुरुभक्ति, क्षमा, सत्य, शौच, तप, अचौर्य यह गृहस्थों का धर्म कहा गया है। यद्यपि इन्हें यहाँ आवश्यक शब्द से नहीं कहा गया तथापि कही भी षडावश्यकों का पृथक् उल्लेख न होने के कारण हम इन्हीं को दशावश्यक मान लेते हैं। पद्मकृत श्रावकाचार में पुनः उन्हीं षडावश्यकों को स्वीकार किया गया है जो मुनियों में होते हैं-

१. देवपूजा-

देवदर्शन ही सम्यग्दर्शन का निमित्त है, देव पूजा को श्रावकों को प्रतिदिन करने वाले आवश्यकों में रखकर अनिवार्य माना गया। आचार्यों ने देवपूजा के बारे में एक स्वर में समर्थन दिया। देव पूजा की विधियों में यद्यपि कुछ अन्तर दिखायी देते हैं किन्तु वे सभी श्रावक को धर्म से जोड़ने रखने हेतु आवश्यक जान पड़े इसलिये उनका समावेश किया गया है। देव पूजा गृहस्थों का आवश्यक कर्तव्य है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं- गृहस्थ को आदरपूर्वक नित्य सर्वकामनाओं के पूर्ण करने वाले और कामविकार को जलाने वाले देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान् की पूजा अर्चना जरूर करनी चाहिए।¹³ महापुराण में आचार्य जिनसेन ने, अर्हन्त देव की पूजा के लिए पांच प्रकार बताये हैं, वे पांच प्रकार हैं-

(१) नित्य-मह (सदार्पण)

प्रतिदिन अपने घर से जिनालय में ले जाये गये गंध अक्षत आदि के द्वारा जिन भगवान् की पूजा नित्यमह कहलाता है। भक्ति से जिनबिम्ब और जिनालय आदि का निर्माण कराना तथा उनके संरक्षण के लिये ग्राम आदि का राज्य शासन के अनुसार, पंजीकरण करके दान देना भी नित्यमह कहलाता है। अपनी शक्ति के अनुसार, मुनीश्वरों की नित्यआहार आदि दान के साथ जो पूजा की जाती है वह भी नित्यमह कहलाती है।¹⁴

(२) चतुर्मुख-मह (महामह, सर्वतोभद्र)

महामुकुट-बद्ध राजाओं के द्वारा की जाने वाली महापूजा को चतुर्मुख-यह आदि नामों से जाना जाता है।¹⁵

(३) कल्पद्रुम-मह (कल्पवृक्ष-यज्ञ)

चक्रवर्तियों के द्वारा “तुम लोग क्या चाहते हो?” इस प्रकार याचक जनों से पूछ-पूछकर जगत् की आशा को पूर्ण करने वाला किमिच्छक दान दिया जाता है, वह कल्पद्रुम मह या कल्पवृक्ष-यज्ञ कहलाता है।¹⁶

(४) (आष्टाहिक-मह)

आष्टाहिका पर्व में सामान्यजनों के द्वारा किया जाने वाला पूजन, आष्टाहिक-मह कहलाता है।¹⁷

(५) इन्द्रध्वज-मह

उपर्युक्त चारों प्रकार की पूजनों के द्वारा इन्द्रों के द्वारा की जाने वाली महान पूजा को इन्द्रध्वज मह कहते हैं, आज के युग में प्रतिमा की प्रतिष्ठा के निमित्त प्रतिष्ठाचार्यों के द्वारा जो पंचकल्याणक पूजा की जाती है, उसे इन्द्रध्वज-मह कहा जाता है।¹⁸

इसके अलावा भी जो पूजन किया जाता है, उन सबका समावेश इन पांच भेदों में हो जाता है। आचार्य जिनसेन इस विधि से युक्त महान् पूजन को षट् आवश्यकों (कर्तव्यों) में इज्या-वृत्ति (देव-पूजन) कहते हैं।¹⁹

देव पूजा के दो रूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो पुष्पादि में जिनभगवान् की स्थापना करके पूजा की जाती है, दूसरे जिनबिम्बों में जिन् भगवान् की स्थापना करके पूजा की जाती है, अन्य दूसरे मतों की प्रतिमाओं में जिनेन्द्रदेव की स्थापना करके पूजा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार अतदाकार और तदाकार पूजन के (अतदाकार) जिनेन्द्रदेव की स्थापना करके पूजन करते हैं। उसकी पूजा विधि बताते हुए कहते हैं कि पूजा विधि के ज्ञाताओं को सदा अर्हन्त और सिद्ध को मध्य में, आचार्य को दक्षिण में, उपाध्याय को पश्चिम में, साधु को उत्तर में और पूर्व को सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को क्रम में भोजपत्र पर, लकड़ी के पाटिये पर, वस्त्र पर शिलातल पर, रेत से बनी भूमि पर, पृथ्वी, आकाश में और हृदय मतें स्थापित करना चाहिए, फिर पूजा करनी चाहिए।²⁰ इसके बाद प्रतिमा में स्थापना करके तदाकार पूजन करने की विधि आचार्यों ने बताया। आचार्य ने देव पूजा के छः प्रकार बतलाये हैं-

1. प्रस्तावना, 2. पुराकर्म, 3. स्थापना, 4. सन्निधापन, 5. पूजा, 6. पूजा का फल।²¹

२. गुरु पूजा

गुरुभक्ति भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही विख्यात है। सभी जैन आचार्यों ने गुरु भक्ति को श्रावकों का आवश्यक कर्तव्य माना है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने सत्यार्थ गुरु का लक्षण दिया है, वे कहते हैं कि जो पंचेन्द्रियों की आशा के वश में रहित हो, खेती-पशु-पालन आदि आरंभ से रहित हो, ज्ञानाभ्यास, ध्यान, समाधि और तपश्चरण में निरत हो ऐसे तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु प्रशंसनीय होते हैं।²² पण्डित मेधावी ने धर्मसंग्रह श्रावकाचार में कहा है कि दर्शनाचार, ज्ञानाचार आदि पंच प्रकार के आचार से युक्त सूरि (आचार्य) द्वादशांग शास्त्र को जानने वाले उपाध्याय तथा अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले साधु (मुनि) ये सब पूजन योग्य हैं।²³ प्रश्नोत्तरश्रावकाचार में निर्ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह रहित को ही गुरु मानने को कहा है, अन्य की नहीं-

‘निर्ग्रन्थश्च गुरुर्नान्य एतत्सम्यक्त्वमुच्यते।’

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावकाचार में भी जो रत्नत्रयधारी हो तथा स्वयं को एवं दूसरों को संसार से पार लगाये उन्हीं गुरु को पूजनीय माना है-

सन्त ते गुरवो नित्यं ये संसार-सरित्पतौ।

रत्नत्रयमहानावा स्व-परेषां च तारकाः॥^{२४}

उमास्वामीश्रावकाचार में कहा गया है कि गुरु के बिना भव्यजीवों को भव से पार उतारने वाला कोई भी नहीं है और न ही गुरु के बिना अन्य कोई मोक्षमार्ग का प्रणेता ही हो सकता है। अतः सज्जनों को श्री गुरु की सेवा करनी चाहिए।

गुरुं बिना न कोऽप्यास्ति भव्यानां भवतारकः।

मोक्षमार्गप्रणेता च सेव्याऽतः श्रीगुरुः सताम्॥

गुरुणां गुणयुक्तानां विधेयो विनयो महान्।

मनोवचनकायैश्च कृतकारितसम्पतैः॥^{२५}

अर्थात् गुणों से संयुक्त गुरुओं की मन-वचन-काय से कृत कारित अनुमोदना से महान् विनय करनी चाहिए।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में गुरु की उपासना का सुफल तथा नहीं करने पर दुष्फल इन दोनों का ही वर्णन है-

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।

समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्॥

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते।

अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे॥^{२६}

अर्थात् गुरु के प्रसाद से ही ज्ञान रूप नेत्र प्राप्त होता है, जिसके द्वारा समस्त विश्वगत पदार्थ हस्तरेखा के समान स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसलिये ज्ञानार्थी गृहस्थों को भक्तिपूर्वक गुरुजनों की वैयावृत्य और वन्दना आदि करना चाहिये। जो गुरुजनों का सम्मान

नहीं करते हैं और न ही उनका उपासना ही करते हैं, सूर्य के उदय होने पर भी उनके हृदय में अज्ञानरूप अन्धकार बना ही रहता है।

३. स्वाध्याय :

‘स्वाध्यायः परमं तपः’ – कहकर आचार्यों ने स्वाध्याय को तप के भेदों में गिना है। यद्यपि ‘तप’ भी षडावश्यकों में है। तथापि स्वाध्याय का महत्त्व इतना अधिक है तो उसे पृथक् स्थान देकर उसकी अनिवार्यता मानी है। स्वाध्याय स्व-पर का भेद ज्ञान करवाने में सबसे बड़ा निमित्त है। शेष आवश्यकों को सच्ची रीतिपूर्वक करने के लिये भी स्वाध्याय बहुत आवश्यक है। धर्मसंग्रह श्रावकाचार के अनुसार अपने लिये अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं और यही स्वाध्याय अज्ञान का नाश करने वाला है-

स्वाध्यायायोऽध्ययनं स्वस्मै जैनसूत्रस्य युक्तितः।

अज्ञानप्रतिकूलत्वात्तपः स्वेष परं तपः॥^{२७}

आचार्य स्वाध्याय को मोक्ष का कारण बताते हुए कहते हैं कि स्वाध्याय के करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, ज्ञान की वृद्धि होने से चित्त उत्कट वैराग्यवान होता है, वैराग्य के होने से और परिग्रह का त्याग होने से ध्यान होता है, ध्यान के होने आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की उपलब्धि होने से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाश होता है और कर्मों का नाश ही मोक्ष कहा जाता है। अतः यह स्वाध्याय परम्परा से मोक्ष कहा जाता है। अतः यह स्वाध्याय परम्परा से मोक्ष का कारण है। इसलिए भव्य पुरुषों को शक्त्यनुसार स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। पूर्वकाल में जितने सिद्ध हुए हैं, आगामी होंगे तथा वर्तमान में होने योग्य हैं, वे सब नियम से इस स्वाध्याय से ही हुए हैं तथा होने वाले हैं। इसलिए संसार का नाश करने वाला यही स्वाध्याय मोक्ष का कारण है। अतः भव्य गृहस्थों को स्वाध्याय परम्परा मोक्ष का कारण जानकर, एकान्त स्थान में बैठकर, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक नित्य तथा नैमित्तिक स्वाध्याय करना चाहिये।²⁸

४. संयम

संयम एक ऐसा आवश्यक है जिसमें सम्पूर्ण श्रावकाचार गर्भित हो जाता है। सभी व्रतों को अपने में संजोने वाले संयम को श्रावक का आवश्यक कर्तव्य माना गया है। असंयमी का धर्म के क्षेत्र में कोई मूल्य नहीं है। आचार्यों ने संयम की परिभाषा तथा व्याख्या विस्तार से की है। चारित्रसार में पञ्चाणुव्रत का पालन करना ही संयम कहा है- ‘संयमः पञ्चाणुव्रतवर्त्तनम्’। उमास्वामीश्रावकाचार में संयम के दो भेदों का उल्लेख करते हुए कहा है कि संयम दो प्रकार का जानना चाहिये- 1. इन्द्रिय संयम, 2. प्राणी संयम। पाँचों इन्द्रियों के विषयों के विषयों की निवृत्ति करना इन्द्रिय संयम है और छः काय के जीवों की रक्षा करना प्राणी संयम है।

संयमो द्विविधो ज्ञेय आधश्चेन्द्रिसंयमः।

इन्द्रियार्थनिवृत्त्युत्थो द्वितीयः प्राणिसंयमः॥^{२९}

अर्थात् संस्कृत-भावसंग्रह में गृहस्थों के एक देश संयम का लक्षण किया है-

प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसरार्हतः।

एकादेशमिति प्राहुः संयम गृहमेधिनाम्॥^{३०}

अर्थात् प्राणियों की मन, वचन, काय से रक्षा करना और इन्द्रियों के विषयों में बढ़ते हुए प्रसार को रोकना इसे गृहस्थों का एकदेश संयम कहते हैं।

५. तप -

जिस प्रकार साधुओं के लिए तप आवश्यक है उसी प्रकार गृहस्थों के लिये भी वह एकदेशकरणीय है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तरंग तप और बाह्य तप के दो भेद किये हैं, ये दोनों भी छः प्रकार के हैं।^{३१}

(१) अन्तरंग तप- विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान।

(२) बहिरंग तप- अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश।

चारित्रसार में भी अनशनादि बारह प्रकार के तप स्वीकृत किये गये हैं-

‘तपोऽनशनादिद्वादशविद्यानुष्ठानम्’^{३२} सागारधर्मावृत में ‘तपश्चर्यं च शक्तिः’ कहकर शक्ति के अनुसार तप करने की प्रेरणा दी गयी है।^{३३} कुन्दकुन्द श्रावकाचार में मिथ्या तप का भी फल बताया है उन्होंने कहा है कि अल्पबुद्धि पुरुष लोक पूजा, अर्थ, लाभ और अपनी प्रसिद्धि के लिये तप करता है, वह अपने शरीर का शोषण ही करता है, उसे उसके तप का कुछ भी फल नहीं मिलता है-

पूजालाभप्रसिद्ध्यर्थं तपस्तप्येत योऽल्पधीः।

शोष एवं शरीरस्य न तस्य तपसः फलम्॥३४

६. दान -

महापुराण में आचार्य जिनसेन ने दान के चार भेद करते हुए श्रावकों के लिये आवश्यक माना है। दान के चार भेद हैं- 1. दयादत्ति, 2. पात्रदत्ति, 3. समदत्ति, 4. अन्वयदत्ति।^{३५}

(१) दयादत्ति- अनुग्रह करने के योग्य दया के पात्र दीन प्राणिसमुदाय पर मन-वचन-काय की निर्मलता के साथ अनुकम्पापूर्वक उनके भय दूर करने को विद्वान् लोगों ने दयादत्ति कहा है।^{३६}

(२) पात्रदत्ति- महान् तपस्वी साधुजनों के प्रतिगृह (पडिगाहन) आदि नवद्या भक्तिपूर्वक आहार, औषध आदि का देना पात्रदत्ति कहा जाता है।^{३७}

(३) समदत्ति- क्रिया, मन्त्र और व्रत आदि से जो अपने समाज है, ऐसे अन्य साधर्मि बन्धु के लिये संसारतारक उत्तम गृहस्थ के लिए भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है तथा मध्यमपात्र को समान सम्मान की भावना से जो श्रद्धापूर्वक दान दिया जाता है, वह भी समानदत्ति है।^{३८}

(४) अन्वयदत्ति (सकलदत्ति) - अपने वंश को स्थिर रखने के लिये पुत्र को कुल धर्म और धन के साथ जो कुटुम्ब रक्षा का भार पूर्ण रूप से समर्पण किया जाता है उसे सकलदत्ति कहते हैं।^{३९} आचार्य अमितगति कहते हैं कि जिसे फल की इच्छा

है उसे दान देते समय सदा ही पात्र, कुपात्र और अपात्र को जानकर ही दान देना चाहिए। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार के होते हैं।

‘पात्रकुपात्रापात्राण्यवबुध्य फलार्थिना सदा देयम्।’^{४०}

‘पात्रं तत्त्वपटिष्ठैरुत्तममध्यमजघन्यभेदेन।’^{४१}

उनमें तपस्वी साधु उत्तमपात्र है विरताविरत श्रावक मध्यम पात्र है और सम्यग्दर्शन से भूषित व्रत रहित जघन्य पात्र है।^{४२} चारों प्रकार के दान के अलावा पं. आशाधर जी ने कन्यादान को भी महत्त्वपूर्ण माना है और कहा है कि गृहस्थ के द्वारा गर्भाधान आदिक क्रियाओं की तथा अनेक मंत्रों को, व्रतनियमादिकों की रक्षा की आकांक्षा से सहधर्मियों के लिये यथायोग्य कन्यादिक को दिया जाना चाहिए। दाता का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

भक्ति श्रद्धासत्त्व तुष्टि ज्ञानालौल्य क्षमा गुणाः।

नवकोटिविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः॥^{४३}

अर्थात् नवकोटि विशुद्ध दान को जो पति है वह दाता है। भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य और क्षमा ये सात दाता के गुण हैं। धर्मसंग्रह श्रावकाचार में भी सागार धर्माभूत के समान कन्यादान को महत्त्वपूर्ण माना है और कहा गया है जिस दाता ने अपनी कुलवती कन्या का दान दिया है तो समझना चाहिये कि उसने कन्यादान लेने वाले को धर्म, अर्थ, काम के साथ-साथ गृहस्थाश्रम ही दिया है, क्योंकि गृहिणी (पत्नी) को ही तो घर कहते हैं।^{४४} श्रावकाचारसारोद्धार में दान देने वाले दाता के उत्तम, मध्यम और जघन्य ये तीन भेद बताते हुए कहा है कि जो गृहस्थ अपनी आय के चार भाग करके दो भाग तो कुटुम्ब के भरण-पोषण में तीसरा भाग भविष्य के लिये संचय तथा चौथा भाग धर्म के लिये त्यागता है, वह उत्तम (श्रेष्ठ) दाता है। जो अपनी आय छः भाग करके दो भाग कुटुम्ब के लिये, तीन भाग कोश के लिये, छठा भाग दान देता है वह मध्यम दाता है। जो अपनी आय के दस भाग करके छः भाग परिवार में, तीन भाग संचय में, दशवाँ भाग कर्म कार्य में लगाता है, वह जघन्य दाता है।^{४५}

संदर्भ सूची :

1. अभिधान राजेन्द्र कोश, सप्तम भाग, सावय शब्द, पृ. 779
2. वही,
3. आदिपुराण, 5/21-23
4. द्रष्टव्य, चारित्रपाहुड गाथा, पृ. 20-25
5. मूलाचार गाथा, 515
6. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 200
7. यशस्तिलकचम्पू उपासकाध्ययन, 879
8. महापुराण, अष्टत्रिंशत्पर्व श्लोक, 24
9. देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥ पञ्चनन्दिपंचविंशतिका, 7

10. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, 24/100-113
11. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 6/26
12. कुन्दकुन्दश्रावकाचार, 3/5
13. देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥ रत्नकरण्डश्रावकाचार, 119
14. महापुराण, 27-29
15. महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः।
चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि॥ महापुराण, 27/30
16. महापुराण, 27/31
17. वही, 27/32
18. वही, 27/32
19. वही, 27/33-34
20. यशस्तिलक चम्पूगत उपासकाध्ययन, 8/448-449
21. प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥ उपासकाध्ययन, 8/495
22. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 10
23. धर्मसंग्रहश्रावकाचार, 43
24. धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार, 1/3
25. उमास्वामीश्रावकाचार, 193-194
26. पद्मन्दिपञ्चविंशतिकागत श्रावकाचार, 18-19
27. धर्मसंग्रह श्रावकाचार, 6/211
28. वही, 6/212-215
29. उमास्वामीश्रावकाचार, 201
30. संस्कृत भावसंग्रह, 160
31. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 198-199
32. चारित्रसार, 259
33. सागारधर्मामृत, 2/48
34. कुन्दकुन्दश्रावकाचार, 28
35. महापुराण, 35
36. सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणवृन्देऽभयप्रदा।
त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः॥ महापुराण, 36
37. वही, 37
38. वही, 40
39. वही, 40
40. अमितगतिश्रावकाचार, 10/1
41. वही, 10/2

42. अमितगतिश्रावकाचार 10/4
43. सागारधर्मामृत 5/45
44. धर्मसंग्रहश्रावकाचार 6/204
45. श्रावकाचारसरोद्धार 326-327

- शंकरनगर, दिल्ली रोड,
सहारनपुर (उ. प्र.)

एकांगी चिन्तन का दुष्परिणाम

समग्र चिन्तन के बिना सम्यक् परिणाम प्राप्त नहीं होता। बौद्धिक चिन्तन के परिणाम पर भी नजर डाल लेना चाहिए। एकांगी विचार कभी कभी खतरनाक साबित हो सकते हैं। अतः एकांगी दृष्टिकोण सही नहीं होता।

चार मित्र जंगल में से होकर जा रहे थे। उनमें तीन वैज्ञानिक और एक अवैज्ञानिक था। वे वैज्ञानिक थे, किन्तु बुद्धिमान नहीं थे। चौथा अवैज्ञानिक होकर भी बहुत बुद्धिमान था। उन्हें जंगल में एक जगह शेर का अस्थि कंकाल दिखाई दिया। वे परस्पर बात करने लगे। जो पढ़ा है, उसके प्रयोग करने का अच्छा मौका है। प्रयोग द्वारा अस्थि पंजर में प्राण डाल देना चाहिए। चौथा बोला- परिणाम क्या होगा, क्या इस पर विचार किया? यदि प्रयोग करने का मन ही बना लिया है तो ठहरो मुझे पेड़ पर चढ़ जाने दो। तीनों ने अपने अपने प्रयोग किये। पहले ने मांस चमड़ी, उत्पन्न की, दूसरे ने उसमें रक्त का संचार किया और तीसरे ने जैसे ही उसमें प्राण डाले, शेर खड़ा हो गया। वह भूखा था। उसने सामने खड़े तीनों वैज्ञानिकों को खाने के लिए आक्रमण कर दिया। चौथा व्यक्ति पेड़ पर बैठा हुआ यह सब देख रहा था। वह भावी परिणाम जानता था, सो बच गया।

अस्तु हमारा चिन्तन सभी आयामों और दृष्टिकोणों को देखकर सर्वांगीण होना चाहिए। एकांगी चिन्तन सदैव खतरनाक व दुष्परिणामदायी होता है।

-साभार, अप्रकाशित कृति 'आस्था के आयाम' से

सर्वार्थसिद्धि में वर्णित निक्षेप

- पुलक गोयल

तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है और संस्कृत में सूत्ररूप रचना द्वारा जैन सिद्धान्त का विधिवत् संक्षेप में परिचय कराने वाला सम्भवतः सर्वप्रथम ग्रन्थ है। लोकप्रियता में भी यह जैन साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की समय-समय पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में इसकी देवनन्दी पूज्यपाद आचार्य कृत सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति सर्व प्राचीन मानी जाती है। सूत्रों के गूढ़ रहस्य को सरलता से परिभाषित करते हुए आबालवृद्ध धर्माभूत पिपासुओं के लिए तृप्ति प्रदायक यह कृति अत्यन्त रुचिकर एवं प्रवाहपूर्ण है।

सर्वार्थसिद्धि में वर्णित निक्षेप की अवधारणा :

निक्षेप पद का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6 सूत्र 9 में प्राप्त होता है। यथा-
निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वित्रिभेदाः परम॥६/९॥

अर्थ- पर अर्थात् अजीवाधिकरण क्रम से दो, चार, दो और तीन भेदवाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्गरूप है।

उपर्युक्त सूत्र की टीका में सर्वार्थसिद्धिकार निक्षेप पद की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। 'निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना।' अर्थ- निक्षेप का अर्थ स्थापना अर्थात् रखना है। (पृ.250 स. सि.) यहाँ निक्षेप के चार भेद भी कहे गए हैं। 'निक्षेपश्चतुर्विधः अप्रत्यवेक्षित-निक्षेपाधिकरणं दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरणं सहसा- निक्षेपाधिकरणमनाभोगनिक्षेपाधिकरणं चेति।' अर्थ- निक्षेप चार प्रकार का है- अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण, दुष्प्रमृष्टनिक्षेपा- धिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण और अनाभोगनिक्षेपाधिकरण। (पृ.251 स.सि.)।

निक्षेप पद का पुनः प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 7 सूत्र 36 में भी दृष्टव्य है। यथा
सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः॥ ७/३६॥

अर्थ-सचित्त-निक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथिसर्वविभाग व्रत के पाँच अतिचार हैं। (पृ.288 स. सि.)।

उपर्युक्त सूत्र की टीका में यद्यपि निक्षेप पद का अर्थ सूचित नहीं किया गया, तथापि निक्षेप का अर्थ रखना है, यह भलीभाँति स्पष्ट है।

निक्षेप पद का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 9 सूत्र 5 में भी दिखाई देता है। यथा-
'ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः॥९/५॥'

अर्थ- ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं। (पृ.322 स.सि.)

उपर्युक्त सूत्र की टीका में भी आदाननिक्षेप समिति के अन्तर्गत निक्षेप पद आया है। यहाँ भी निक्षेप का अर्थ रखना ही विदित होता है। इसके अतिरिक्त भी टीका में क्षेप, निक्षिप्त, निक्षेपण प्रभृति पदों का प्रयोग यथावसर किया गया है। प्रायः सभी स्थलों में इसका अभिप्राय रखना या स्थापित करना ही प्रतीत होता है।

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्यासः॥१/५॥ (तत्त्वार्थसूत्र)

अर्थ- नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप होता है।

उपर्युक्त सूत्र की टीका करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव को निक्षेप संज्ञा प्रदान की है। निक्षेप पद के साथ विधि पद का समास करते हुए दो बार “निक्षेपविधि” शब्द का प्रयोग किया है। तत्त्वार्थसूत्र आचार्य उमास्वामि ने इस सूत्र में नामादि को निक्षेप संज्ञा से उद्घोषित किया है, तथापि पूज्यपाद स्वामी का नामादि को निक्षेप संज्ञा देना आगमपरम्परा का अनुसरण ही माना जाएगा। प्रस्तुत नामादि निक्षेप को विवेच्य मानकर लिखा जा रहा है।

निक्षेप की व्युत्पत्ति एवं स्वरूप-

‘निक्षिप्यत इति निक्षेपः स्थापना।’ अर्थ- रखना या स्थापित करना निक्षेप है।¹ इसी अर्थ को पुष्ट करते हुए राजवार्तिक में कहा गया है- ‘न्यसनं न्यस्यत इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः।’ अर्थ- सौपना या धरोहर रखना निक्षेप कहलाता है।²

न्यायविषयक ग्रन्थों में भी इसी प्रकार व्युत्पत्ति प्राप्त होती है। ‘प्रमाणनययोर्निक्षेप आरोपणं स नामस्थापनादिभेदचतुर्विधमिति निक्षेपस्य व्युत्पत्तिः।’ अर्थ- प्रमाण या नय का आरोपण या निक्षेप नाम, स्थापना आदि रूप चार प्रकारों से होता है। यही निक्षेप की व्युत्पत्ति है।³

जुत्तिसुजुत्तमगे जं चउभेयेण होइ खलु हवणं।

कज्जे सदि णामदिसु तं णिक्खेवं हवे समसं॥२७०॥

अर्थ- युक्ति मार्ग से प्रयोजनवश जो वस्तु को नाम आदि चार भेदों में क्षेपण करे, उसे आगम में निक्षेप कहा जाता है।⁴

तिलोपपण्णत्तिकार निक्षेप को उपाय के रूप में देखते हैं। ‘णिक्खेवो वि उवाओ।’ अर्थ- नामादि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं⁵

इस विषय में धवलाकार का कथन अत्यन्त स्पष्ट है। णिच्छये णिण्णये खिवदि त्ति णिक्खवो।’ अर्थ- निश्चय में अर्थात् निर्णय में जो रखता है, वह निक्षेप है।⁶ ‘संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितं तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः। अथवा बाह्यार्थ विकल्पो निक्षेपः अप्रकृतनिराकरणद्वारेण प्रकृत-प्ररूपको वा।’ अर्थ- संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है, उसे निक्षेप कहते हैं। अर्थात् जो अनिर्णीत वस्तु का नामादिक द्वारा निर्णय करावे,

उसे निक्षेप कहते हैं। अथवा बाहरी पदार्थ के विकल्प को निक्षेप कहते हैं। अथवा अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का निरूपण करने वाला निक्षेप है।⁷

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि 'नि' उपसर्गपूर्वक शिप् धातु से निक्षेप शब्द बनता है। निक्षेप का अर्थ रखना है। न्यास शब्द का भी यही अर्थ है। आशय यह है कि एक-एक शब्द का लोक में और शास्त्र में प्रयोजन के अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग कहाँ किस अर्थ में किया गया है, इस बात को बतलाना ही निक्षेपविधि का काम है।

निक्षेप की उपयोगिता-

संज्ञा, स्वलक्षण आदि के द्वारा उपदिष्ट जीवादि तत्त्वों के संव्यवहार के लिए तथा व्यभिचार की निवृत्ति के लिए निक्षेप प्रक्रिया का निरूपण किया जाता है। जीवादि पदार्थ एवं सम्यग्दर्शन आदि का शब्द प्रयोग करते समय विवक्षा भेद से जो गड़बड़ी होना सम्भव है, उसको दूर करने के लिए निक्षेप का वर्णन किया गया है।

एक ही वस्तु में लोकव्यवहार में नामादि चारों व्यवहार देखे जाते हैं। जैसे- इन्द्र शब्द को भी इन्द्र कहते हैं; इन्द्र की मूर्ति को भी इन्द्र कहते हैं; इन्द्रपद से च्युत होकर मनुष्य होने वाले को भी इन्द्र कहते हैं और शचीपति को भी इन्द्र कहते हैं। किस शब्द का क्या अर्थ है, यह निक्षेपविधि के द्वारा बताया जाता है। 'स किमर्थः अप्रकृत निराकरणाय प्रकृत निरूपणाय च।' अर्थ- शंका-निक्षेपविधि का कथन किस लिए कहा जाता है? समाधान- अप्रकृत का निराकरण करने के लिए और प्रकृत का निरूपण करने के लिए इसका कथन किया जाता है।⁸

ध्वलाजी में एक गाथा उद्धृत है, जिससे निक्षेप की उपयोगिता का सम्यगवलोकन किया जा सकता है। यथा-

अवगयणिवरणट्ठं पयदस्स परूवणा निमित्तं च।

संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारट्ठं॥१५॥

अर्थ- अप्रकृत विषय के निराकरण के लिए प्रकृत अर्थ का कथन करने के लिए, संशय को दूर करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निक्षेप का कथन करना चाहिए।⁹

प्रस्तुत प्रकरण को दृढ़ता प्रदान करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि श्रोता तीन प्रकार के होते हैं- पहला अव्युत्पन्न अर्थात् स्वरूप से अनजान, दूसरा सम्पूर्ण रूप से विवक्षित पदार्थ को जानने वाला, तीसरा विवक्षित पदार्थ को एकदेश से जाननेवाला। इनमें से पहला श्रोता तो अनजान होने से कुछ भी नहीं जानता। दूसरा विवक्षित पद के अर्थ में सन्देह करता है कि इस पद का कौन-सा अर्थ यहाँ अधिकृत है। अथवा प्रकृत अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ ग्रहण करता है और इस तरह विपरीत समझ बैठता है। दूसरे की तरह तीसरा श्रोता भी या तो सन्देह में पड़ता है या विपीत समझ लेता है। इनमें से प्रथम अव्युत्पन्न श्रोता यदि वस्तु की किसी विवक्षित पर्याय को जानना चाहता है तो उसके लिए प्रकृत विषय की व्युत्पत्ति के द्वारा अप्रकृत का निराकरण करने के लिए भाव निक्षेप का

कथन करना चाहिए। यदि वह द्रव्य सामान्य को समझना चाहता है तो उसके लिए सब निक्षेपों का कथन करना चाहिए, क्योंकि विशेष धर्मों का निर्णय हुए बिना सामान्य धर्म का निर्णय नहीं हो सकता। दूसरे और तीसरे प्रकार के श्रोता यदि सन्देह में हों तो उनका सन्देह दूर करने के लिए सब निक्षेपों का कथना करना चाहिए और यदि उन्होंने विपरीत समझा हो तो भी प्रकृत अर्थ के निर्णय के लिए सब निक्षेपों का कथना करना चाहिए।¹⁰

उपयोग का वैशिष्ट्य-

जैनदर्शन में प्रमाण, नय और निक्षेप का अद्वितीय स्थान है। इनका सही प्रयोग करने से सन्मार्ग प्रशस्त होता है। निक्षेपों को छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त सम्भव है वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जावे। तिलोपपण्णत्ति में आचार्य यतिवृषभ कहते हैं-

‘जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं।

तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥८२॥’

अर्थ- जो प्रमाण, नय और निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त, और शुक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है।¹¹

सर्वार्थसिद्धिकार ने भाव निक्षेप का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में और शेष तीन का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय में किया है। इसी का अनुसरण धवला जी, सन्मति तर्क, राजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में किया गया है।¹²

निक्षेप का अन्तर्भाव विविध नयों में हो जाने से इसका कोई भी वैशिष्ट्य सामान्य दृष्टि से नजर नहीं आता है। तथापि निक्षेप का निर्देश आगम में क्यों किया गया। यह प्रकरण राजवार्तिककार द्वारा भली प्रकार स्पष्ट किया है। प्रश्न- द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयों में अन्तर्भाव हो जाने के कारण इन नामादि निक्षेपों का पृथक् कथन करने से पुनरुक्ति होती है। उत्तर- यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि विद्वान् शिष्य हैं वे दो नयों से ही सभी नयों के वक्तव्य प्रतिपाद्य अर्थों को जान लेते हैं पर जो मन्दबुद्धि शिष्य हैं, उनके लिए पृथक् नय और निक्षेप का कथन करना चाहिए। अतः विशेष ज्ञान कराने के कारण नामादि निक्षेपों का कथन पुनरुक्ति नहीं है।¹³

भेददृष्टि से विचार करने पर संज्ञा, लक्षण और उद्देश्य कथन की अपेक्षा प्रमाण, नय और निक्षेप में भेद दिखाई पड़ता है। तिलोपपण्णत्तिकार लिखते हैं-

‘णाणं होदि पमाणं णओ वि णादुस्स हियभावत्थो।

णिक्खेओ वि उवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं॥८३॥’

अर्थ- सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं। निक्षेप उपाय स्वरूप है। युक्ति से अर्थ का प्रतिग्रहण करना चाहिए।¹⁴ णयचक्को में भी लिखा है-

‘वत्थु पमाणविसयं णयविसयं हवइ वत्थु एकसं।

जं दोहि णिण्णयट्ठं तं णिक्खेवे हवइ विसयं॥१७१॥’

अर्थ-सम्पूर्ण वस्तु प्रमाण का विषय है और उसका एक अंश नय का विषय

है। इन दोनों से निर्णय किया गया पदार्थ निक्षेप में विषय होता है।¹⁴

अभिप्राय यह है कि प्रमाण पूर्ण वस्तु को ग्रहण करता है और नय जानने वाले के अभिप्राय को व्यक्त करता है। नय और प्रमाण से ग्रहीत वस्तु में निक्षेप योजना होती है। निक्षेप योजना अप्रकृत का निराकरण और प्रकृत का निरूपण करने के लिए आवश्यक है। अर्थात् किसी शब्द या वाक्य का अर्थ करते समय उस शब्द का लोक में जितने अर्थों में व्यवहार होता है उनमें से कौन-सा अर्थ वक्ता को विवक्षित है, यह निश्चय करने के लिए निक्षेप योजना की गयी है। इसके द्वारा जहाँ जो अर्थ विवक्षित होता है वह ले लिया जाता है, इससे अर्थ में अनर्थ नहीं हो पाता है।

निक्षेप के भेद-प्रभेद एवं उनका स्वरूप-

मुख्यतया निक्षेप के चार भेद किये गये हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनका स्वरूप एवं प्रभेदों का संकलन सर्वार्थसिद्धि के अनुसार किया जाएगा।

द्रव्य निक्षेप के दो भेद हैं (i) आगम द्रव्य निक्षेप (ii) नोआगम द्रव्य निक्षेप। पुनः नो आगम द्रव्य निक्षेप के 3 भेद (i) ज्ञायक शरीर (ii) भावि एवं (iii) तद्व्यतिरिक्त। पुनः तद्व्यतिरिक्त के 2 भेद (i) कर्म एवं (ii) नो कर्म।

इसी प्रकार भाव निक्षेप के 2 भेद हैं- (i) आगमभाव निक्षेप एवं (ii) नो आगम भाव निक्षेप।

षट्खण्डागम एवं धवलाजी के अनुसार वर्गाणा निक्षेप के प्रकरण में छह भेद कहे गए हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन दोनों ग्रन्थों में प्रायः इन छह निक्षेपों के आश्रय से ही प्रत्येक प्रकरण की व्याख्या की गयी है।¹⁶

श्लोकवार्तिक में कहा गया है कि प्रश्न- पदार्थों के निक्षेप अनन्त कहने चाहिए? उत्तर- उन अनन्त निक्षेपों का संक्षेप रूप से चार में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् संक्षेप से निक्षेप चार है और विस्तार से अनन्त है।¹⁷

संज्ञा के अनुसार गुणरहित वस्तु में व्यवहार के लिए अपनी इच्छा से की गयी संज्ञा को नाम कहते हैं। जैसे नाम जीव। जीवन गुण की अपेक्षा न करके जिस किसी का 'जीव' ऐसा नाम रखना नाम जीव है।

कालकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और अक्षनिक्षेप आदि में 'वह यह है' इसप्रकार स्थापित करने को स्थापना कहते हैं। जैसे- स्थापना जीव। अक्षनिक्षेप आदि में यह 'जीव है' या 'मनुष्य जीव है' ऐसा स्थापित करना स्थापना जीव है।

जो गुणों के द्वारा प्राप्त हुआ था या गुणों को प्राप्त हुआ था अथवा जो गुणों के द्वारा प्राप्त किया जायेगा या गुणों को प्राप्त होता उसे द्रव्य कहते हैं। जैसे- द्रव्यजीव। द्रव्य जीव के दो भेद हैं- आगमद्रव्यजीव और नोआगमद्रव्यजीव। इनमें से जीव विषयक शास्त्र को जानता है किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है वह आगमद्रव्यजीव है। नोआगमजीव के तीन भेद हैं- ज्ञायक शरीर, भावी और तद्व्यतिरिक्त। ज्ञाता के शरीर को ज्ञायक शरीर कहते हैं। जो जीव दूसरी गति में विद्यमान है वह जब मनुष्य भव को प्राप्त करने के लिए सम्मुख होता है तब वह मनुष्य भाविजीव कहलाता है। तद्व्यतिरिक्त के दो

भेद हैं- कर्म और नोकर्म।

वर्तमान पर्याय से युक्त द्रव्य को भाव कहते हैं। जैसे भावजीव। भावजीव के दो भेद हैं- आगमभावजीव और नोआगमभावजीव। इनमें से जो आत्मा जीव विषयक शास्त्र को जानता है और उसके उपयोग से युक्त है वह आगमभावजीव है। तथा जीवन पर्याय से युक्त आत्मा नोआगमभावजीव है।

उपर्युक्त चार निक्षेपों के स्वरूप को उदाहरण सहित समझने के लिए निम्न गाथा उपयोगी है-

**‘णामजिणा जिणणाम, ठवजिणा पुण जिणंद पडिमाओ।
दव्वं जिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था।।’**

अर्थ- ‘जिनेन्द्र’ यह नाम जिन का नाम निक्षेप है। जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा जिन का स्थापना निक्षेप है। जिनेन्द्र का जीव जिन का द्रव्य निक्षेप है। समवसरण में स्थित जिनेन्द्र जिन का भावनिक्षेप है।¹⁹

भारतीय विचार जगत् को निक्षेप सम्बन्धी जैन परम्पराओं की देन-

भारतीय विचार जगत् को जैनदर्शन की विचार प्रणाली ने बहुधा प्रभावित किया है। जैन परम्पराओं का अनुसरण न्यूनाधिक रूप से सम्पूर्ण भारतीय परम्पराओं में दिखाई पड़ता है। जैनों पर भी अन्य भारतीय परम्पराओं का असर अवश्य हुआ है। परस्पर आदान-प्रदान की यह परम्परा अतिप्राचीन काल से निरन्तर प्रचलन में है। ग्रन्थों का लेखन प्रारम्भ हुआ, सूत्र ग्रन्थ लिखे गए, प्रायः सभी दर्शनों ने समान शैली में रचनाएँ प्रस्तुत कर भारतीय विचार जगत् की आधारशिला रखी। युग बदला, सूत्रग्रन्थों की वृत्तियाँ लिखी गईं, वार्तिक लिखे गए, टीकायें सामने आईं। आज का युग उन महान् विचार सम्प्रदायों के अध्ययन अध्यापन एवं प्रचार-प्रसार की होड़ में लगा है। प्रत्येक सम्प्रदाय में धर्मगुरुओं के द्वारा प्रवचन करने का चलन है। कहीं न कहीं जैन परम्पराएँ इस परिवर्तन में सहायक रही हैं।

प्रकरण के अनुसार यदि निक्षेपविधि को ही दृष्टिपथ पर रखकर विचार किया जावे तो सकल भारतीय विचार जगत् इस विधि में आक डूबा दिखाई पड़ता है। सम्प्रदाय विद्वेष के कारण जैनदर्शन ने भले ही निक्षेप शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु उसे अपने हृदय में समाहित कर वैचारिक एवं लोकव्यवहार संबन्धी विषयों का प्ररूपण किया।

ग्रन्थों के प्रणयन में सर्वप्रथम उद्देश्य कथन किया जाता है, फिर लक्षण निर्देश और परीक्षा द्वारा विवेच्य की प्रस्तुति होती है। यह उद्देश्य कथन निक्षेप के समान ही विवेच्य का निर्धारण करता है।

लक्षण प्रस्तुत करते समय प्रायः व्याकरण सम्मत व्युत्पत्ति की गवेषणा की जाती है, परन्तु कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें संज्ञा कहकर छोड़ दिया जाता है। जैसे- हाथी, घोड़ा आदि। व्याकरण दर्शन के नाम निक्षेप का प्रयोग करते हुए कई संज्ञाएँ निर्मित कर व्याकरण साहित्यों की रचना की। जैसे- अच्, हल्, इत् संज्ञा, भ संज्ञा, घि संज्ञा आदि।

नाम निक्षेप का सहारा लिए बिना मात्र गुणों को देखकर परस्पर में लोकव्यवहार करने पर एक ही व्यक्ति के सहस्रनाम का प्रसंग आ जायेगा, नाम स्मरण नहीं हो पायेंगे, गुणसाम्यता के कारण सभी को जीव, मनुष्य, पुरुष आदि नामों से पुकारने पर लोकव्यवहार भी संभव नहीं हो सकेगा।

स्वर्णपाषाण से ही स्वर्ण मिलता है, दूध से घी बनता है, मिट्टी से कलश का निर्माण होता है इत्यादि विचार द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप के भावों को जाने बिना सम्भव ही नहीं है। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि सकल भारतीय विचार जगत् ने निक्षेप पद्धति को अपनी आत्मा बनाकर लोकव्यवहार का सुन्दर महल रचा है। निक्षेप पद्धति के बिना लोकव्यवहार की कल्पना करना भी अशक्य है।

उपसंहार-

सर्वार्थसिद्धि जैसे महान् ग्रन्थ के रचनाकर पूज्य आचार्य पूज्यपाद स्वामी के प्रशस्त क्षयोपशम और जैनागम के प्रति दृढ़ सिद्धान्त आस्था का सुपरिणाम है उनकी प्रामाणिक प्रणयन पद्धति। इस आगमनिष्ठ विवेचन के आकाश में चमकते हुए सितारों तो अनगिनत हैं, परन्तु आगमेतर प्रसंग प्रस्तुत प्रकरण में धुंधले रूप में भी नहीं दिखता। ऐसे परम प्रामाणिक, जिनवाणी के प्रकाशक, तत्त्वार्थरहस्य के उद्घाटक महामनीषी के चरणकमलों में अनगिनत प्रणाम।

संदर्भ सूची :

1. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: सर्वार्थसिद्धि: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2009 अ. 6 सूत्र 9 पृ. 250
2. प्रो. महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक): भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2001, अ. 1 सूत्र 5, पृष्ठ 28
3. पं. रतनचन्द्र जैन: आलापपद्धति: भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया (राज.), 2004, सू. 183, पृष्ठ 28
4. सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री: गण्यचक्रको: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1999, गा. 270, पृ. 136
5. पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री: तिलोयपण्णत्ति: जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2007, अ. 1, गा. 83, पृ. 10
6. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: धवलाजी: अमरावती, प्र. सं., पु.1, पृ. 10, पृ. 13, पृ. 3, पृ. 14, पृ. 51
7. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: धवलाजी, अमरावती, प्र. सं., पृ.4, पृ. 2
8. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: सर्वार्थसिद्धि: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2009, अ. 1, सू. 5, पृ. 13-14
9. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: धवलाजी, अमरावती, प्र. सं., पु.1 गा. 15
10. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: धवलाजी, अमरावती, प्र. सं., पु.1, पृ. 30-31
11. पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री: तिलोयपण्णत्ति: जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2007, अ. 1, गा. 82, पृष्ठ 10

12. शु. जिनेन्द्र वर्णी: जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2003, भा. 2, पृ. 593
13. प्रो. महेन्द्र कुमार जैन, न्यायाचार्य: तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक): भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2001, अ.1, सू.5, पृ.32-33
14. पं. बालभद्र सिद्धान्तशास्त्री: तिलोपपण्णत्ति: जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, 2007, अ 1, गा. 83, पृ. 10
15. सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री: णयचक्रो: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1999, गा. 171, पृ. 98
16. डॉ. हीरालाल जैन: षट्खण्डागम: अमरावती, प्र. सं., 14-5; सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री: धवलाजी: अमरावती, प्र. सं., पु.1, पृ. 10
17. पं. माणिकचन्द कौन्देय न्यायाचार्य: श्लोकवार्तिक: कुन्थसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1949, पृ. 2, अ. 1, सू. 5
18. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री: सर्वार्थसिद्धि: भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2009, अ.1, सू. 5, पृ. 13-14
19. पं. रतनचन्द जैन: आलापपद्धति: भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया (राज.), 2004, सूत्र 183 की टीका, पृ. 28-29

-प्राकृत जैनागम विभाग,
श्री दि. जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय
सांगानेर, जयपुर (राज) ३०२०२९

आचार्य ज्ञानसागर जी और स्याद्वाद

-डॉ. चन्द्रमोहन शर्मा

अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली निर्दोष पद्धति का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। प्राकृत में स्यात् शब्द अव्यय निपात है, क्रिया या प्रश्नादि रूप नहीं, इसका अर्थ है कथञ्चित किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। वाद शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जो स्यात् का कथन अथवा प्रतिपादन करने वाला है, वह स्याद्वाद है। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ- विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अनेकान्तात्मक वस्तु का परस्पर सापेक्ष कथन करने की पद्धति। इसे कथञ्चित्वाद, अपेक्षावाद और सापेक्षवाद भी कहा जाता है।¹ जैसे कोई व्यक्ति किसी का पिता है तो वह सिर्फ पिता ही नहीं है अन्य सन्दर्भों में पुत्र, पौत्र, चाचा, भतीजा, मामा, भांजा, भाई आदि अनेक रिश्ते उसके साथ सम्भव हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हमें जो कुछ कहना है सापेक्ष ही कहना है। ऐसा कहकर ही हम वस्तुस्थिति का सही कथन कर सकते हैं। पुत्र की अपेक्षा से ही उसे पिता कहा जा सकता है।² आचार्य ज्ञानसागर जी ने अपने महाकाव्यों में इस सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन किया है। स्याद्वाद की परिभाषा देते हुए आचार्य ज्ञानसागर जी ने कहा है-

अनेकशक्यात्मकवस्तु तत्त्वं तदेकया संवदतोऽन्यसत्त्वम्।

समर्थयत्स्यात्पदमत्र भाति स्याद्वादनामैवमिहोक्तिजातिः॥³

अर्थात् वस्तुतत्त्व अनेक शक्यात्मक है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण, धर्म या शक्तियाँ हैं। जब कोई मनुष्य एक शक्ति की अपेक्षा से उसका वर्णन करता है तब वह अन्य शक्तियों के सत्त्व का अन्य अपेक्षाओं से समर्थन करता ही है। इस अन्य शक्तियों की अपेक्षा को जैन सिद्धान्त 'स्यात्' पद से प्रकट करता है। वस्तु तत्त्व के कथन में इस स्यात् अर्थात् कथञ्चित पद के प्रयोग का नाम ही स्याद्वाद है। अनेक उदाहरणों द्वारा इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए महाकवि ने कहा है-

मुसलमान कुरान का आदर करता है, किन्तु ईसाई उसे न मानकर बाइबिल को मानता है, किन्तु ब्राह्मण वेद को ही प्रमाण मानते हैं कुरान या बाइबिल को नहीं। इस दृष्टान्त में मुसलमान और ईसाई परस्पर विरोधी होते हुए भी वेद को प्रमाण नहीं मानने में दोनों अविरोधी हैं। इस स्थिति को एक मात्र स्याद्वाद सिद्धान्त ही यथार्थत् कहने में समर्थ है। इसी प्रकार- गाय, बकरी और ऊँट तीनों ही बेरी के पत्तों को खाते हैं किन्तु बबूल के पत्तों को ऊँट और बकरी ही खाते हैं गाय नहीं। मन्दार (आकड़ा) के पत्तों को बकरी ही खाती है ऊँट और गाय नहीं किन्तु मनुष्य बेरी, बबूल और आक इन तीनों के ही पत्तों को नहीं खाता है इसलिए अनन्त धर्म के मानने वाले भव्य, जो वस्तु एक के लिए भक्ष्य या उपादेय है वही दूसरों के लिए अभक्ष्य या हेय हो जाती है। इसे समझना ही स्याद्वाद

है, अतः सब लोगों को इसका ही एक भाव से आश्रय लेना चाहिए।⁴

जयोदय में जयकुमार द्वारा की गई जिनेन्द्र देव की स्तुति में स्याद्वाद सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है-

विरागमेकान्ततया प्रतीमः सिद्धौ रतः किन्तु भवान् सुधीम॥

विश्वस्य संजीवनमात्मनीनं स्याद्वादमुञ्जेत् किमहो अहीनः⁵

अर्थात् हे अतिशय शोभायमान ! जिनेन्द्र! हम आपके भक्त आपको यद्यपि सर्वथा विराग-रागरहित जानते हैं पर आप सिद्धि-मुक्तिवधू में लीन हैं, उसे प्राप्त करना चाहते हैं अतः सर्वथा विराग-रागरहित किस प्रकार हुए? हे अहीन! हे सर्वगुण सम्पन्न भगवन्! आप क्या समस्त जगत् के हितकारी अपने स्याद्वाद सिद्धान्त को छोड़ सकते हैं? अर्थात् नहीं छोड़ सकते। कहने का भाव यह है कि आप सांसारिक पदार्थों का राग छोड़ देने से विराग हैं और सिद्धि स्वात्मोपलब्धिः में रतलीन होने में सराग जान पड़ते हैं इसलिए स्याद्वाद सिद्धान्त की अपेक्षा आप विराग भी हैं सराग भी हैं।

काशीनरेश का दूत सुलोचना के गुण सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए जयकुमार से कहता है- कि यद्यपि उसका शरीर वही है जो बचपन में था और वे ही अंग-प्रत्यंग हैं, फिर भी युवावस्था के कारण उनमें अनोखा सौन्दर्य आ गया है जैसे कि स्यात्कार (स्याद्वाद) से वाणी में विचित्रता आ जाती है।⁶ इसी सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यद्यपि हंस बाहर से शुक्ल वर्ण है किन्तु भीतर से उसका रक्तलाल वर्ण का है उसके पैर श्वेत और लाल दोनों ही वर्णों के होते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष उसको किस रूप वाला कहे? अतएव कथाञ्चित्तवाद स्याद्वाद को स्वीकार करने पर ही उसके ठीक निर्दोष रूप का वर्णन किया जा सकता है।⁷

इसी प्रकार- घट भी पदार्थ है, पट भी पदार्थ है किन्तु शीत से पीड़ित मनुष्य को घट से कोई प्रयोजन नहीं। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित पुरुष घट को चाहता है, पट को नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थपना घट और पट में समान होते हुए भी प्रत्येक पुरुष अपने अभीष्ट को ही ग्रहण करता है अनभीप्सित पदार्थ को नहीं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को स्याद्वाद सिद्धान्त को भक्ति से स्वीकार करना चाहिए-

घटः पदार्थश्च घटः पदार्थः शैत्यान्वितस्यास्ति घटेन नार्थः।

पिपासुरभ्येति यमात्मशक्त्या स्याद्वादमित्येतु जनोऽति भक्त्या॥⁸

स्याद्वाद को बहुत सुन्दर उदाहरण से स्पष्ट करते हुए आचार्य ज्ञानसागर जी ने कहा है कि कोई रेखा न स्वयं छोटी है और न बड़ी है यदि उसी के पास उससे छोटी रेखा खींच दी जाय तो वह पहली रेखा बड़ी कहलाने लगती है और यदि उसी के दूसरी ओर बड़ी रेखा खींच दी जाय तो वह छोटी कहलाने लगती है। इस प्रकार वह पहली रेखा छोटी और बड़ी दोनों रूपों को अपेक्षा-विशेष से धारण करती है, वस्तु का स्वभाव भी ठीक उसी प्रकार से जानना चाहिए।⁹ कहने का तात्पर्य यह है कि अपेक्षा विशेष से 'वस्तु' में अस्तित्व व नास्तित्व धर्म सिद्ध होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्ति रूप है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्ति रूप है।

जैसे यव (जौ) अपने यव रूप स्वभाव से 'है', उस प्रकार गेहूँ आदि के स्वभाव से 'नहीं' है। इस प्रकार यव में अस्तित्व और नास्तित्व ये दो धर्म सिद्ध होते हैं। यदि इन दोनों ही धर्मों को एक साथ कहने की विवक्षा की जाये तो उनका कहना सम्भव नहीं, अतः उस यव में अव्यक्त रूप तीसरा धर्म भी मानना पड़ता है। इस प्रकार वस्तु में अस्ति, नास्ति और अव्यक्तव्य ये तीन धर्म सिद्ध हो जाते हैं, ज्ञानी जन इन्हें ही सप्त भंग नाम से कहते हैं। जैसे हरड़, बहेड़ा और आंवला इन तीनों का अलग-अलग स्वाद है द्विसंयोगी करने पर हरड़ और आंवले का मिला हुआ एक स्वाद होगा, हरड़ और बहेड़े का मिला हुआ दूसरा स्वाद होगा और बहेड़े और आंवले का मिला हुआ तीसरा स्वाद होगा। तीनों का एक साथ मिलाकर खाने से चौथी ही जाति का स्वाद होगा। इस प्रकार मूलरूप हरड़, बहेड़ा और आंवला के एक संयोगी तीन भंग, द्विसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग, ये सब मिलकर सातभंग जैसे हो जाते हैं, उसी प्रकार अस्ति, नास्ति, अव्यक्तव्य के भी द्विसंयोगी तीन भंग और त्रिसंयोगी एक भंग ये सब मिलाकर सात भंग हो जाते हैं। ये भंग न इससे कम होते हैं तथा न इससे अधिक¹⁰ अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अव्यक्तव्य, अस्ति-अव्यक्तव्य, नास्ति-अव्यक्तव्य और अस्ति-नास्ति-अव्यक्तव्य ये सात भंग प्रत्येक वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करते हैं। अतः उस अपेक्षा को प्रकट करने के लिए प्रत्येक भंग के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है। इसे ही स्याद्धाद रूप सप्तभंगी कहते हैं। इस स्याद्धाद रूप सप्तभंग वाणी के द्वारा ही वस्तु के यथार्थ का कथन सम्भव है अन्यथा नहीं। वस्तुतः देखा जाये तो स्याद्धाद सिद्धान्त जैनदर्शन का प्राण है।

संदर्भ सूची-

1. जैनधर्म और दर्शन, पृष्ठ 313-314
2. जैनधर्म और दर्शन, पृष्ठभूमि, पृष्ठ 21
3. वीरोदय, 19/8
4. वीरोदय, 19/10-11
5. जयोदय, 26/75
6. जयोदय, 3/43
7. वीरोदय, 19/12
8. वीरोदय, 19/15
9. वही, 19/5
10. वही, 19/6-7

- जवाहरलाल नेहरू स्मृति इण्टर कालेज
रवापुरी सठेडी खतौली (उ.प्र.)

प्रायश्चित-पाठ

मुझसे जो भी पाप हुए हों, उनका प्रायश्चित करता हूँ।
 भूल गया था तुमको प्रभुवर! सदा हृदय अब धरता हूँ॥
 शत आठ विध भावों से जो, पाप हुआ करता प्रतिफल,
 अनन्तानन्त कर्मों का आस्रव बन्ध हुआ करता हर पल।
 सपाक निर्जरा से कर्मों का, क्षय नहीं होता, हुआ कभी,
 नाश कर सकूँ कर्मों को सब, ऐसा तप धारा न कभी।
 भूल सदा पहिले भी की है, और अभी भी करता हूँ॥
 भूल गया था....॥1॥

उद्योगी आरम्भी विरोधी, हिंसा का नहीं त्याग किया,
 संकल्पी हिंसा का मैंने, भाव-पाप है सदा किया।
 त्याग नहीं जिस हिंसा का था, पापास्रव नित हुआ मुझे,
 षट्काय के जीवों की प्रभु, रक्षा तो हम कर न सके।
 मन-वच-काय त्रियोग सहित मैं नित आलोचना करता हूँ॥
 भूल गया था.....॥2॥

आत्मप्रशंसा परनिन्दा में, मेरा समय व्यतीत हुआ,
 काम भोग विषयक गाथा में, सारा काल अतीत हुआ।
 कुगुरु कुदेव कुधर्म के सेवन, में सदा तत्पर रहता,
 दुर्जन क्रूर कुमार्गियों के, साथ साथ मस्ती करता।
 अनन्त पाप किये हैं मैंने, कैसे मैं कह सकता हूँ॥
 भूल गया था.....॥3॥

कभी न ऐसा भाव बने कि पाप कार्य में लीन रहूँ,
 देवशास्त्र गुरु की भक्ति में, नित ही मैं तल्लीन रहूँ।
 नहीं घूमना है इस जग में पंचमगति का लक्ष्य बना,
 भारतीय भव-बन्धन तोड़ो ऐसा दृढ़ सम्बन्ध बना।
 चरण शरण न छुटे अब तो, यही भावना करता हूँ
 भूल गया था.....॥4॥

विज्ञप्ति

हमारे दिगम्बर आम्नाय में, दो ग्रन्थ (1) षट्खण्डागम एवं (2) कषायपाहुडसुत्त पर पूज्य 108 आचार्य वीरसेन स्वामी ने जो टीकाएँ लिखीं हैं, (धवल, जयधवला एवं महाधवला) वे हमारे लिए महान ज्ञान के भण्डार हैं। परन्तु उन टीकाओं में भी आचार्यभगवन्त ने, पूर्व से परम्परित कुछ गाथाएँ प्रमाणरूप में उद्धृत की हैं। वे गाथाएँ हमारे लिए आगम के मूल आधार हैं। अतः उनका संकलन वीर सेवा मंदिर की ओर से कराना चाहते हैं। अतः हमारा विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस कार्य में हमें अपेक्षित सहयोग प्रदान करें। इस कार्य के लिए उन्हें मानदेय की व्यवस्था भी की जा सकती है। उक्त कार्य विभिन्न विद्वान, पृथक् पृथक् खण्डों को लेकर भी कर सकते हैं। प्रत्येक खण्ड के लिए मानदेय की व्यवस्था अमुक विद्वान को देने का प्रावधान किया जा सकता है। इस कार्य में जो भी विद्वान जुड़ेंगे उन्हें इस पुनीत ग्रन्थराज का स्वाध्याय भी होगा, जिससे उनका विशेष ज्ञानार्जन के साथ पुण्यबंध होगा। इच्छुक मनीषी विद्वान, वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2 से पत्र द्वारा सम्पर्क करें ताकि यह पुनीत कार्य आगे बढ़ सके।

-वीर सेवा मन्दिर

21, दरियागंज,

नई दिल्ली-110002

दूरभाष:- 011-23250522